हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन

पाश्चात्य उपन्यास से तुलना-सहित

डा० एस० एन० गणेशन
प्राध्यापक हिन्दी-विभाग मद्रास विश्वविद्यालय
मद्रास ५

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली



हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन

पाश्चात्य उपन्यास से तुलना-सहित

डा० एस० एन० गणेशन
प्राध्यापक हिन्दी-विभाग मद्रास विश्वविद्यालय
मद्रास ५

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली



[illegible]

[illegible]

मूल्य	:	पचास रुपये
प्रथम संस्करण	:	सितम्बर, १९९२
प्रकाशक	:	राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मुद्रक	:	सीमा प्रिंटर्स, दिल्ली

HINDI UPANYAS SAHITYA KA ADHYAYAN : DR. S. N. GANESAN : LITERARY CRITICISM

प्रस्तावना

उपन्यास हमारे साहित्य का ऐसा एक क्षेत्र है जिसके प्रति हमारे लब्धप्रतिष्ठ आलोचकों का ध्यान अधिक नहीं गया है। यदि सच्ची बात कही जाए तो हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचकों ने कदाचित् ही और किसी साहित्यिक [विधा की इतनी उपेक्षा की होगी जितनी उपन्यास की। आज हमारे साहित्य में उपन्यास को जो सबसे अधिक जनसंतोष साहित्यिक विधा है वह स्थान प्राप्त नहीं हुआ है जो उसे प्राप्त होना चाहिए।

उपन्यास सबसे अधिक लोकप्रिय साहित्य विधा है अतः उसमें आभिजात्य का अभाव है उसे बालक भी पढ़ते हैं अतः वह अप्रौढ़ और बचकाना है स्त्रियों का वह प्रिय है अतः वह स्त्रैण एवं तिरस्करणीय है उसे पढ़ने में अधिक मत्थापच्ची करने की आवश्यकता नहीं रहती इसलिए हमारे प्रौढ़ आलोचक महारथियों का उसकी उपेक्षा करना अनिवार्य-सा हो गया है। यही कारण है कि हमें हिन्दी उपन्यास साहित्य के सम्बन्ध में प्रामाणिक ग्रन्थ अधिक प्राप्त नहीं हुए हैं। आलोचकों की इस अनास्था का उत्तरदायित्व बहुत कुछ हमारे उपन्यासकारों का भी है क्योंकि अधिकांश उपन्यासकारों ने उपन्यास को जीवन का गम्भीर अध्ययन न समझकर केवल 'हल्के पठन' की ही वस्तु समझ रखा है और अपनी इस धारणा के आधार पर ही उस रूप दिया है। किन्तु अब भी उपन्यास की उपेक्षा हो यह कदापि उचित नहीं है। हाल में हमारे कतिपय उपन्यासकारों का ध्यान उपन्यास के जीवन-मूल्य की ओर जाने लगा है विषय एवं शिल्प की दृष्टि से उसमें कलात्मक सौष्ठव लाने का प्रयत्न किया जाने लगा है। ऐसी दशा में उपन्यास की विभिन्न प्रवृत्तियों का शास्त्रीय अध्ययन करके उसका मूल्यांकन करने की नितान्त आवश्यकता है। इसी आवश्यकता की पूर्ति का विनीत प्रयत्न है प्रस्तुत 'हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन पाश्चात्य उपन्यास से तुलना-सहित'।

यह प्रबन्ध सन् १९५८ में 'हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन और पाश्चात्य उपन्यास से उसकी तुलना' नाम से काशी विश्वविद्यालय की पी-एच डी उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ था। अब वही यत्र-तत्र कुछ संशोधनों के साथ पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है।

क्षेत्र

यह स्वतंत्र रूप में हिन्दी उपन्यास का अध्ययन करने के साथ-साथ पाश्चात्य उपन्यास से उसकी तुलना करके परिनिष्ठित प्रतिमानों के आधार पर मूल्य निर्धारित करने का भी प्रयत्न है। वैसे केवल हिन्दी के सम्पूर्ण उपन्यास साहित्य को ही लें तो भी उसका क्षेत्र विस्तृत है भले ही यूरोपीय उपन्यास की तुलना में उसकी उपलब्धियाँ बहुत ही सीमित हों। यत्र-तत्र पाश्चात्य उपन्यासों की भी विस्तृत चर्चा करने के कारण

श्रद्धेय आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

के कर-कमलों में

मूल्य बारह रुपये

प्रथम संस्करण सितम्बर, १९६२

प्रकाशक राजपाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली

मुद्रक शोभा प्रिण्टर्स दिल्ली

HINDI UPANYAS SAHITYA KA ADHYAYAN

DR S N GANESHAN LITERARY CRITICISM

प्रस्तावना

उपन्यास हमारे साहित्य का ऐसा एक क्षेत्र है जिसके प्रति हमारे लब्धप्रतिष्ठ आलोचकों का ध्यान अधिक नहीं गया है। यदि सच्ची बात कही जाए तो हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आलोचकों ने कदाचित् ही और किसी साहित्यिक विधा की इतनी उपेक्षा की होगी जितनी उपन्यास की। आज हमारे साहित्य में उपन्यास को जो सबसे अधिक समृद्ध साहित्यिक विधा है वह स्थान प्राप्त नहीं हुआ है जो उसे प्राप्त होना चाहिए।

उपन्यास सबसे अधिक लोकप्रिय साहित्य-विधा है अतः उसमें आभिजात्य का अभाव है उसे बालक भी पढ़ते हैं अतः वह अप्रौढ़ और बचकाना है स्त्रियों को वह प्रिय है अतः वह स्त्रैण एवं तिरस्करणीय है उसे पढ़ने में अधिक मत्थापच्ची करने की आवश्यकता नहीं रहती इसलिए हमारे प्रौढ़ आलोचक महारथियों को उसकी उपेक्षा करना अनिवार्य-सा हो गया है। यही कारण है कि हमें हिन्दी उपन्यास साहित्य के सम्बन्ध में प्रामाणिक ग्रन्थ अधिक प्राप्त नहीं हुए हैं। आलोचकों की इस अनास्था का उत्तरदायित्व बहुत कुछ हमारे उपन्यासकारों का भी है क्योंकि अधिकांश उपन्यासकारों ने उपन्यास को जीवन का गम्भीर अध्ययन न समझकर केवल 'इन्द्रिय-पठन' की ही वस्तु समझ रखा है और अपनी इस धारणा के आधार पर ही उस क्षेत्र [illegible] दिया है। किन्तु अब भी उपन्यास की उपेक्षा हो यह कदापि उचित नहीं है। [illegible] में हमारे कतिपय उपन्यासकारों का ध्यान उपन्यास के जीवन-मूल्य की ओर जाने [illegible] है विषय एवं शिल्प की दृष्टि से उसमें कलात्मक सौष्ठव लाने का प्रयत्न [illegible] गया है। ऐसी दशा में उपन्यास की विभिन्न प्रवृत्तियों का [illegible] अध्ययन करके उसका मूल्यांकन करने की नितान्त आवश्यकता है। इसी आवश्यकता की [illegible] विनीत प्रयत्न है प्रस्तुत 'हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन [illegible] उपन्यास के तुलना-सहित'।

यह प्रबन्ध सन् १९५८ में 'हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन और [illegible] उपन्यास से उसकी तुलना' नाम से काशी विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० [illegible] के लिए स्वीकृत हुआ था। अब वही यत्र-तत्र कुछ संशोधनों के [illegible] के रूप में प्रस्तुत है।

क्षेत्र

यह स्वतन्त्र रूप में हिन्दी उपन्यास का अध्ययन करने के [illegible] उपन्यास से उसकी तुलना करके परिनिष्ठित प्रतिमानों के [illegible] करने का भी प्रयत्न है। वैसे केवल हिन्दी के [illegible] भी उसका क्षेत्र विस्तृत है भले ही यूरोपीय उपन्यास की [illegible] में इसका [illegible] बहुत ही सीमित हों। यत्र-तत्र पाश्चात्य उपन्यासों की [illegible]

प्रबन्ध की क्षेत्र-विस्तृति और बढ़ गई है और अध्ययन अधिक कष्ट-साध्य हो गया है। किन्तु इस क्षेत्र-विस्तृति का प्रयोजन भी नगण्य नहीं है। सम्पूर्ण हिन्दी उपन्यास साहित्य का एकसाथ निरीक्षण करने पर हमारे लेखकों की विचारधारा के क्रमबद्ध विकास का तथा हमारी सामाजिक दशाओं के क्रमिक परिवर्तन का जो सम्बद्ध इतिहास सामने आता है वह केवल किसी विशेष समय के अथवा किसी विशेष प्रवृत्ति के ही उपन्यासों के अध्ययन से प्राप्त नहीं होगा। प्रत्येक प्रवृत्ति से उसकी पूर्वापर प्रवृत्तियों का सम्बन्ध जोड़कर सबका सही दृष्टि से मूल्य निर्धारित करने के लिए इस प्रकार एक साहित्य-विधा की समस्त प्रवृत्तियों को एकसाथ लेना उपयोगी होगा।

तुलना का महत्त्व

पाश्चात्य उपन्यास से हिन्दी उपन्यास की तुलना दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। पहली बात यह है कि सैद्धान्तिक रूप में उपन्यास का अध्ययन करने के लिए उसकी अनन्त वैविध्यपूर्ण प्रवृत्तियों से परिचित रहना आवश्यक है। उपन्यास के विविध प्रकारों का तथा उनकी मुख्य प्रवृत्तियों का परिज्ञान पाश्चात्य भाषाओं के उपन्यास साहित्य के अध्ययन से तो मिलता ही है साथ-साथ उन-उन भाषाओं में उपन्यास के सम्बन्ध में जो सैद्धान्तिक ग्रन्थ लिखे गए हैं उनसे भी पर्याप्त सहायता प्राप्त हो सकती है। हिन्दी में उपन्यास-सम्बन्धी प्रौढ़ सैद्धान्तिक ग्रन्थों का एकदम अभाव है अतः इस प्रकार के अध्ययन के लिए पाश्चात्य भाषाओं के ग्रन्थों से सहायता लेना अनिवार्य सा हो गया है। विविध धाराओं में प्रवाहित तथा अत्यन्त विकसित यूरोपीय उपन्यास साहित्य के तथा उनसे सम्बन्धित समीक्षा-ग्रन्थों के अध्ययन से औपन्यासिक तत्त्वों तथा सिद्धान्तों का समुचित ज्ञान प्राप्त करने पर हिन्दी उपन्यास का शास्त्रीय अध्ययन अधिक सुगम होगा।

इस तुलनात्मक अध्ययन से दूसरा प्रयोजन यह होगा कि हम हिन्दी उपन्यास का ठीक मूल्यांकन कर सकेंगे। विश्वविख्यात कथाकारों के प्रसिद्ध उपन्यासों के सम्मुख हिन्दी उपन्यासों को भी रखकर दोनों को तटस्थ दृष्टि से देखें तो हमें ज्ञात होगा कि हमारा उपन्यास साहित्य कितनी दूर का मार्ग तय कर आया है वह कहाँ तक पहुँच सका है और उसकी वर्तमान दशा क्या है। निस्सन्देह पाश्चात्य उपन्यास के सामने हिन्दी उपन्यास दुधमुँहे बालक के समान है अतः उसकी परिमितियों को ध्यान में रखकर ही उसकी आलोचना की जा सकती है। किन्तु बालक की परिमितियों और बल हीनताओं को मानने में भी हमें आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

विदेशी उपन्यास साहित्य के मापदण्डों से मापन एवं मूल्यांकन करते समय *हिन्दी उपन्यास पर अन्याय करने की संभावना रहती है* पर हिन्दी के अवमूल्यन की आशंका से विदेशी उपन्यासों की ओर ध्यान दिए बिना अध्ययन किया जाए तो वह मूल्यांकन की दृष्टि से अधिक महत्त्व का नहीं होगा। इस तरह तुलना रहित अध्ययन करें अथवा *विदेशी उपन्यासों से तुलना करते हुए भी हिन्दी उपन्यास की* बलहीनताओं को न मानें तो पक्षपात का अपराध तो होता ही है सत्य की अवहेलना

भी संभव है । ऐसी अवस्था में हमें अत्यन्त सतर्क होकर तुलनात्मक अध्ययन करना ही उचित है । यह एक सर्वमान्य विषय है कि डिकेन्स तास्ताय तुर्गनेव दास्तायवस्की गोर्की बाल्जाक मोपासां जोला आदि उपन्यासकार विश्व-साहित्यकार हैं । सांस्कृतिक अन्तर दृष्टि-भिन्नता राजनीतिक विचार परम्परागत सामाजिक मान्यताएं आदि इन कलाकारों की रचनाओं का रसास्वादन करने में बाधक नहीं दीखते । इनकी विश्व विख्यात रचनाओं में ऐसी कौन-सी बात है जिससे उन्हें विश्व भर के आदर का पात्र बना रखा है ? और हमारे उपन्यास साहित्य में किस बात की कमी है जो उसे इस आदर से वंचित किए हुए है ? हमारी राजनीतिक पराधीनता तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हमारी दुर्बलता को ही इसके कारण मानकर संतुष्ट होना भारी भूल होगी । दास्ताय वस्की एवं तुर्गनेव का नाम कम विषम नहीं था । इब्सन के नाटक प्रमाणित करते हैं कि किसी लेखक के विश्वविख्यात होने के लिए उसके देश के प्रबल राष्ट्र होने की आवश्यकता नहीं है । ज्ञान और अनुभूति के लिए विश्व सदा तरसता रहता है अत उत्कृष्ट रचनाएं कहीं से भी किसीसे भी आविर्भूत हुई हों उनका आदर करता आया है । हमें हिन्दी उपन्यास का मूल्यांकन करते समय बाह्य परिस्थितियों से बढ़ कर उसकी अपनी ही उपलब्धियों एवं अभावों की ओर देखना होगा और तुलनात्मक अध्ययन से मूल्यांकन के अधिक परीक्षित होने की संभावना है ।

सीमाए

इस तरह कई भाषाओं के उपन्यास साहित्यों को अध्ययन का विषय बनाने पर विषय का सीमा निर्धारण आवश्यक हो जाता है । यूरोपीय भाषाओं में केवल अंग्रेजी फ्रेंच तथा रूसी के उपन्यासों को ही प्रस्तुत प्रबन्ध में अध्ययन के लिए लिया गया है । इसका कारण यही है कि इन तीनों को लेने से ही विश्व-उपन्यास की मुख्य प्रवृत्तियों का परिचय मिल जाता है । जर्मन स्कैंडिनेवियन इटालियन आदि भाषाओं में भी कुछ अच्छे उपन्यास निकले हैं किन्तु उन्होंने विश्व-उपन्यास साहित्य को कोई मौलिक प्रवृत्ति प्रदान की है इसमें सन्देह है । अत उनकी उपेक्षा से हमारे अध्ययन में कोई कमी नहीं आएगी । जिन भाषाओं के उपन्यास साहित्यों को अध्ययन के लिए लिया गया है उनकी प्राय सभी प्रवृत्तियों को स्पर्श किया गया है । इस दृष्टि से उनका सर्वांगीण अध्ययन इस प्रबन्ध में मिलेगा ।

किन्तु इसमें न किसी लेखक का संपूर्ण अध्ययन मिलेगा न किसी विशेष उपन्यास का । मेरी दृष्टि लेखक या ग्रन्थ की ओर न रहकर प्रवृत्तियों की ओर अधिक रही है । इसलिए यथाशक्ति अधिकाधिक लेखकों की रचनाओं को समाविष्ट करने का प्रयत्न करने पर भी कई प्रसिद्ध लेखक और कई उत्कृष्ट उपन्यास छूट गए हैं । किन्तु कई साधारण श्रेणी के लेखकों के उपन्यासों का अध्ययन किया भी गया है । इसका कारण यही है कि यद्यपि ये लेखक साधारण कोटि के हैं तो भी उनके उपन्यासों में जो प्रवृत्तियां हैं वे मौलिक हैं, भले ही उनका महत्व कम हो । इस तरह चार भाषाओं के सम्पूर्ण उपन्यास साहित्यों को लेने तथा प्रवृत्तियों के आधार पर

सीमा-निर्धारण करने का परिणाम यह हुआ कि भाव और कला की दृष्टि से अपार वैविध्यपूर्ण एक कुसुम हमारे सामने आया है। एक-एक करके अगणित प्रवृत्तियां सामने आती हैं, जिनमें कुछ एक-दूसरी से मिलती हैं, कुछ नहीं मिलतीं। जहां तक हिन्दी उपन्यास का सम्बन्ध है उसके पिछले साठ-सत्तर वर्षों के प्रति तीव्र विकास का क्रम बद्ध इतिहास यहां प्रस्तुत किया गया है। इन साठ-सत्तर वर्षों में हमारे देश ने राज नीति में अभूतपूर्व उथल-पुथल देखी और निश्चित ध्येयों के लिए विघ्न-बाधाओं का सामना करते हुए प्रगति-पथ से प्रयाण किया। इसी समय हमारे उपन्यास में तीव्र गति से जो विकास हुआ उसे पूर्णतया समझना सम्पूर्ण उपन्यास साहित्य को एकसाथ लेने से ही संभव हुआ है।

दृष्टिकोण

इतने वैविध्यों से पूर्ण और कई संस्कृतियों एवं विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करनेवाली विविध औपन्यासिक धाराओं का एकसाथ निरीक्षण करते समय पक्षपात होने की संभावना रहती है। विभिन्न भाषाओं के साहित्यों में और एक ही भाषा के विभिन्न काल के साहित्यों में भाव एवं शिल्प की दृष्टि से भिन्नताएं होती हैं। समय-समय पर साहित्यिक मान्यताएं बदलती आई हैं। देश-कालानुसार साहित्य के प्रतिमान बदलते आए हैं। अतः तत्कालीन और तद्देशीय परिस्थितियों के अनुसार साहित्य की प्रवृत्तियों में भी परिवर्तन होते आए हैं। इन सबके प्रति निरपेक्ष भाव से देखने का प्रयत्न मैंने किया है। अगर कहीं देशी उपन्यासों की उत्कृष्टता दिखाई गई हो तो वह आत्मप्रशंसा नहीं है और कहीं देशी उपन्यासों से विदेशी उपन्यासों को उत्कृष्ट ठहराया गया हो तो वहां परवशता का मनोभाव भी नहीं समझना चाहिए। मैंने न यथासंभव तद्देशीय परिस्थितियों का स्मरण रखते हुए सभी साहित्यों का निरीक्षण किया है। इसी तरह मैंने न प्राचीनता के सिर पर हाथ रखकर रोने को आवश्यकता समझी है न नवीनता की वाह-वाही करने की। मैंने सनातन ओंकार के नाद में मुग्ध होकर वस्तु-जगत् भूलने का प्रयत्न नहीं किया है और न इनकलाब के नारों के बीच में आत्मा की मृदु झंकार को भूलने का। व्यक्तिगत अभिरुचियों के मापदण्ड से साहित्य की उत्कृष्टता का निर्णय करने से बढ़कर भारी भूल और न होगी। अतः मैंने यथासाध्य उपन्यासों को उपन्यासकारों की आलोचकों की और पाठकों की दृष्टियों से देखकर अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया है। भलाई-बुराई का अथवा उत्कर्ष-अपकर्ष का निर्णय करना इस प्रबन्ध का ध्येय नहीं है। जैसे कोई रसायन-शास्त्रज्ञ प्रयोग करते समय इस बात का ध्यान नहीं रखता कि सोडियम क्लोराइड मैंगनीज-डाइ-आक्साइड और सल्फ्यूरिक ऐसिड मिलाकर गरम करने से उत्पन्न होनेवाली वस्तुएं अच्छी होती हैं या बुरी बल्कि उनकी विशेषताओं का अध्ययन करने का ही प्रयत्न करता है और उसीसे सन्तुष्ट हो जाता है उसी प्रकार यहां भी विशेषताओं को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है।

और एक उल्लेखनीय बात यह है कि विविध अध्यायों को तैयार करने के लिए

साहित्येतर विषयों के ग्रन्थों से सहायता ली गई है। जहां आवश्यक ज्ञात हुआ दर्शन मनोविज्ञान, राजनीति प्राणि-विज्ञान आदि विषयों का भी अध्ययन किया गया है।

विषय

विषय प्रवेश के रूप में प्रथम अध्याय में उपन्यास की परिभाषा देते हुए उस व्याख्या की गई है और उपन्यास का महत्त्व स्पष्ट किया गया है। उपन्यास जीव का ही प्रतिबिम्ब है अतः उसके मूल्य जीवन के ही मूल्यों के समान हैं। इसी दृ से मैंने उपन्यास को देखा है।

द्वितीय अध्याय में आगे के अध्यायों में प्रतिपादित विषयों की पृष्ठभूमि तैय की गई है। हिन्दी अंग्रेज़ी फ्रेंच और रूसी के उपन्यास साहित्य के विकास का इतिह प्रस्तुत करना ही इस अध्याय का ध्येय है। इस अध्याय के प्रकाश में ही अन्य अध्य लिखे गए हैं। उनमें प्रतिपादित प्रवृत्तियों के ऐतिहासिक क्रम को समझने के लिए अध्याय उपयोगी होगा। दूसरी बात यह है कि इस अध्याय में विभिन्न भाषाओं उपन्यासों की मुख्य प्रवृत्तियों का सामान्य रूप में अध्ययन भी किया गया है। अभिव्यं में जो परिवर्तन आए, उनकी रूपरेखा तैयार की गई है। विशेष लेखकों और ग्रन्थों विवेचना का विस्तार इस बात के अनुसार किया गया है कि वह आगे के अध्यायों लिए कहां तक आवश्यक है। प्रायः सभी उत्कृष्ट उपन्यासों के कथानकों के प्रति संकेत किया गया है।[1]

इसके आगे के अध्यायों में मैंने प्रायः अज्ञात भूमियों को ही खोजने प्रयास किया है। ये अध्याय उपन्यासों के विषयों से सम्बन्धित होने पर भी सांकेति पहलुओं पर अधिक ध्यान रखकर ही लिखे गए हैं। विषय-विकास सामाजिक प स्थितियों का चित्रण चरित्र-चित्रण मनोविज्ञान यथार्थवाद आदि का अध्ययन क समय विषय पर ही अधिक ध्यान रखा जाता तो विवेचना उपन्यासों के संक्षिप्त करण तक ही सीमित रह जाती। इसके बदले मैंने इन विषयों के सांकेतिक (टेक्नीका अंगों की ओर अधिक ध्यान दिया है। उदाहरण के लिए चरित्र-चित्रण में यह दिख के बदले कि उपन्यास साहित्य में भिन्न-भिन्न प्रकारों के चरित्रों का अध्ययन किया ग है यही दिखाया है कि भिन्न-भिन्न प्रकारों से चरित्र-चित्रण किया गया है। इसी प्रक द्वितीय से सप्तम तक के अध्यायों में उपन्यास के विविध तत्त्वों के टेक्नीकल पक्षों ही अध्ययन किया गया है।

तृतीय अध्याय 'विषय विकास' से सम्बन्धित है। हिन्दी के अधिकांश उपन्या कारों ने तथा आलोचकों ने उपन्यास में प्रतिपादित विषय के प्रति जितना ध्यान दिया है उस विषय के विकास के ढंग पर नहीं दिया है। हमारे अधिकांश उपन्यास

---

१. लेखक का मानना है कि पाश्चात्य उपन्यासों के अध्ययन से प्रबंध में विशेषकर द्वितीय अध्याय में हिन्दी उपन्यास के अध्ययन की आवश्यकता में कुछ व्यवधान आ गया है। पाठक इस अध्याय के ऐसे भागों को केवल रेफ़रेन्स का काम ले सकते हैं।

में सीधे ढंग से कहानी कहने की प्रथा ही दिखाई पड़ती है। अब पाश्चात्य भाषाओं में विषय-विकास की दृष्टि से दृश्य-विधान शैली पनोरमिक शैली परिदृश्य शैली चेतना प्रवाह शैली आदि अनेक विधाओं का प्रयोग हुआ है हिन्दी में इन सबका पूर्ण तया अभाव नहीं हो तो कमी अवश्य है। कुछ उपन्यासों में इनका प्रयोग हुआ है तो भी हमारे आलोचकों का ध्यान उनके प्रति नहीं गया है। यही कारण है कि हमें अब तक उपन्यास के शिल्प-विधान पर कोई प्रामाणिक ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुआ है। मैंने इस बात के प्रति ध्यान दिया है। उपन्यास में प्रतिपादित विषय ही नहीं जो मन को प्रभावित करता है उस विषय से क्रमिक विकास की प्रणाली भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होती है। विवरणात्मक उपन्यासों की सरलता दृश्य उपन्यासों की प्रभविष्णुता पनोरमिक उपन्यासों की विस्तृति तथा परिदृश्य उपन्यासों की प्रभावता आदि मन पर जो प्रभाव डालती है वे भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। उसी तरह पाठक के मनोविकारों को विकसित करने में गठन की दृढ़ता और शिथिलता का विशेष महत्त्व होता है। दृढ़ गठन का उपन्यास विकारों को कसकर चुस्त बना लेता है और मन में एक आवेग का अनुभव कराता है जो शिथिल गठन का उपन्यास मानसिक तनाव को कम करके एक प्रसन्न वैचित्र्य में विश्राम लेने को सहारा देता है। इसी तरह विषय का आधिक्य और अल्पत्व ऐक्य और ऐक्यहीनता भाव-भेद या टैम्पो की तीव्रता या मन्दता मनोदशा (मूड) के अवस्थान्तर आदि पर भी उपन्यास का प्रभाव अवलम्बित रहता है। मैंने इन सबके विस्तृत अध्ययन का प्रयास किया है।

चतुर्थ अध्याय <u>उपन्यास और समाज</u> के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट करते हुए, हमारी सामाजिक अवस्थाओं के परिवर्तनों के अनुसार विकसित होते हुए हिन्दी उपन्यास के विकास-क्रम को व्यक्त करता है। 'परीक्षा गुरु' से लेकर आज के व्यक्तिवादी उपन्यासों तक को हम एक विहंगम दृष्टि से देखें तो हमें एक बात जो स्पष्ट दिखाई पड़ेगी वह यह है कि हमारे उपन्यास <u>में विश्लेषण</u> का महत्त्व बढ़ता आया है। प्रेमचन्द के पूर्व के उपन्यासों में भी सामाजिक समस्याओं का प्रतिपादन होता था पर उनमें विश्लेषण का अभाव था भावुकता और रोमान्टिक कल्पना का आधिक्य था। इस दृष्टिकोण में प्रेमचन्द क्रान्तिकारी परिवर्तन लाए, और उनके बाद विश्लेषण की प्रवृत्ति बढ़ती ही आई है। देश की बढ़ती हुई सामाजिक एवं वैयक्तिक चेतना का उपन्यास पर जो प्रभाव पड़ा है उसीके परिणाम में उपन्यास के सामाजिक स्वरूप का भी परिवर्तन हुआ है। अतः देश की परिस्थितियों के प्रकाश में उपन्यास की सामाजिक प्रवृत्तियों का अध्ययन यहां किया गया है। इस अध्याय में मैंने यूरोपीय उपन्यास की सामाजिक परिस्थितियों और प्रवृत्तियों का विस्तृत अध्ययन नहीं किया है क्योंकि मेरा ध्येय यूरोपीय उपन्यास का अध्ययन करना नहीं है। और हिन्दी उपन्यास व यूरोपीय उपन्यास की तुलना करते समय उनके सामाजिक स्वरूप के सम्बन्ध में दूसरे अध्याय में कही गई बातें पर्याप्त ज्ञात हुईं। परन्तु जहां विशेष रूप में विस्तृत चर्चा की आवश्यकता ज्ञात हुई वहां थोड़ा-बहुत विस्तार भी किया गया है। इस अध्याय के अन्त में मैंने यूरोपीय उपन्यासों की तुलना में हिन्दी उपन्यास के समाज-निरूपण का

मूल्यांकन किया है।

उपन्यास मानव-चरित्र का अध्ययन है। अतः चरित्र-चित्रण के अध्ययन के लिए अलग एक अध्याय ही रखा गया है। ज्ञात होता है कि उपन्यास की प्रारम्भिक दशा में उसमें चरित्र चित्रण का विशेष महत्त्व नहीं रहा। किन्तु धीरे-धीरे उपन्यास मनुष्य के अध्ययन की ओर उन्मुख हुआ और आज उपन्यास का सबसे मुख्य काम मानव चरित्र का अध्ययन हो गया है चाहे वह वैयक्तिक हो या सामाजिक। व्यक्तियों को एक-दूसरे से भिन्न प्रकट करनेवाली वैयक्तिक विशेषताओं का जातियों या राष्ट्रों की जनता की सामान्य विशेषता को तथा समस्त मानव जाति की समानता और एकता को उद्घोषित करनेवाली सार्वभौमिक विशेषताओं का स्पष्ट करके मनुष्य की एकता में भिन्नता और भिन्नता में एकता को प्रकट करने का माध्यम चरित्र चित्रण ही है। इस तरह मनुष्य के विविध रूपों को समझाने का उपन्यासकारों ने जो प्रयत्न किया है उसका अध्ययन प्रस्तुत प्रबन्ध के पंचम अध्याय का विषय है। इस अध्याय में भी उपन्यास में बदलती हुई विश्लेषण प्रवृत्ति की ओर संकेत किया गया है। आरम्भ कालीन समतलीय (flat) पात्रों से लेकर आज के व्यक्तिवादी पात्रों तक का अध्ययन इस विश्लेषण प्रवृत्ति के विकास को स्पष्ट करता है। विविध प्रकारों के पात्रों की चर्चा करते समय सामाजिक पृष्ठभूमि में ही उनको समझने का प्रयत्न किया गया है और उनके सामाजिक मूल्य पर भी विचार किया गया है।

चरित्र का अध्ययन तब तक पूर्ण नहीं होगा जब तक उसके मनोवैज्ञानिक पक्ष पर विचार नहीं किया जाए। अतः मैंने छठे अध्याय में हिन्दी उपन्यास का मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों की चर्चा की है। यहाँ मैंने दो-एक बातों पर ध्यान रखा है। हाल में इस विषय पर डा॰ देवराज का एक प्रबन्ध प्रकाशित हुआ है जिसमें हिन्दी कथा साहित्य में मनोविज्ञान का विस्तृत अध्ययन किया गया है। डा॰ देवराज के अध्ययन के विषयों में कई एक को मैंने छोड़ दिया है पिष्टपेषण से बचने के लिए डा॰ देवराज के जिन विचारों से मैं सहमत नहीं हूं उनपर मैंने अपने मत प्रकट किए हैं और इन मतों को वैज्ञानिक ग्रन्थों के समर्थन द्वारा पुष्ट किया है। इसके अतिरिक्त डा॰ देवराज ने मनोव्यापारों (मैण्टल मैकेनिज्म) का जो सीमित अध्ययन प्रस्तुत किया है, उससे आगे बढ़कर मैंने हिन्दी उपन्यास के पात्रों के मनोव्यापारों का विस्तृत वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। दूसरी बात जो ध्यान में रखी गई है वह है इस अध्याय में अपने अध्ययन को केवल मनोवैज्ञानिक उपन्यासों तक ही सीमित रखना। इसका कारण यही है कि जहाँ लेखकों ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य का अध्ययन करने का प्रयत्न नहीं किया है वहाँ हम वैज्ञानिक अध्ययन के लिए उतावले हो जाएं तो लेखकों पर अन्याय करने की सम्भावना रहती है। परन्तु मैंने अन्य उपन्यासों के मनोवैज्ञानिक अंशों की उपेक्षा करना भी अनुचित समझा। अतः जिन उपन्यासकारों ने पात्रों को यथार्थ बनाने के उद्देश्य से उनका थोड़ा बहुत मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत है उनका विवेचन यथार्थवाद से सम्बन्धित अध्याय के एक परिच्छेद में कर दिया है। अर्थात् जहाँ लेखक की दृष्टि मनोवैज्ञानिक रही

वहां मैंने मनोविज्ञान ढूंढा है पर जहां लेखक की दृष्टि यथार्थवादी रही वहां मैंने यथार्थवाद की खोज की है।

इस अध्याय के सम्बन्ध में एक और उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें पूर्णतया वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर ही अध्ययन किया गया है। मनोविज्ञान के विभिन्न अंगों से सम्बन्धित कतिपय ग्रन्थों के अध्ययन की पृष्ठभूमि में हिन्दी उपन्यासों का अध्ययन करना ही मेरा प्रयत्न रहा है। मूलवृत्तियां मानसिक कार्य-पद्धतियां अचेतन ...तित्व सेक्स आदि के अध्ययन में यह वैज्ञानिकता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ...न्दी उपन्यासों के अध्ययन के साथ-साथ कई स्थानों पर पाश्चात्य उपन्यासों से ...लना भी की गई है।

आशा है कि मार्क्सवाद तथा यथार्थवाद की विवेचना करनेवाला सातवां अध्याय इन दोनों के सम्बन्ध में हमारे उपन्यासकारों तथा आलोचकों में फैली हुई कई अपरीक्षित धारणाओं के परीक्षण का अवसर देगा। 'जो है सो' का चित्रण अथवा 'जैसे का तैसा' चित्रण प्रायः यथार्थवाद माना जाता है। इस धारणा में ही बड़ा भ्रम है। प्रस्तुत अध्याय के आरम्भ में मैंने यथार्थ और आदर्श के स्वरूप दिखाते हुए यथार्थवाद और मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला है। तत्पश्चात् आदर्श और यथार्थ से सम्बन्धित विभिन्न वादों का अध्ययन किया गया है और उनकी मुख्य प्रवृत्तियों को हिन्दी उपन्यास में जो स्थान मिला है उसके प्रति भी संकेत किया गया है। इन प्रसंगों में वस्तु-निरूपण के साथ-साथ सिद्धान्त-विवेचन भी करने के कारण विस्तार कुछ बढ़ गया है। पर यह विवशता थी इसके बिना विषय को स्पष्ट करना कठिन ज्ञात हुआ। प्रकृतिवाद की विवेचना से सम्बन्धित परिच्छेद में कही गई बातें विशेष रूप से विचारणीय हैं। प्रकृतिवाद का उदय और विकास फ्रांस में हुआ था और उसके प्रणेताओं के आलोचनात्मक और रचनात्मक ग्रन्थ ही उसके तत्त्वों के समुचित परिज्ञान के लिए सहायक हो सकते हैं। जोला आदि के ग्रन्थों के अध्ययन से हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि हिन्दी के आलोचकों ने उग्र चतुरसेन आदि जिन-जिन लेखकों को प्रकृतिवादी समझ रखा है वे वस्तुतः प्रकृतिवादी नहीं हैं और 'प्रकृतिवाद' भी उतनी कुत्सित वस्तु नहीं है जैसा प्रायः समझा जाता है।

आदर्श और यथार्थ में किसीके प्रति मेरा पक्षपात नहीं है। अतः मैंने दोनों के उत्कृष्ट गुणों को दिखाने के साथ उनकी कमजोरियों की ओर भी संकेत किया है। आदर्श और यथार्थ का अपना-अपना महत्त्व होता है और अपनी-अपनी सीमाएं होती हैं। आदर्श के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसकी सफलता उसके यथार्थ होने में या उसके यथार्थ होने की संभावना में ही निहित रहती है। और यथार्थ भी जीवन की नीच वृत्तियों में ही नहीं होता मानव की उदात्त वृत्तियों में भी होता है। कांटे ही नहीं फूल भी यथार्थ होते हैं। कांटों को यथार्थ और फूलों को आदर्श समझना भारी भूल होगी। वस्तुतः वास्तविक जीवन मार्क्सवाद और यथार्थवाद की सीमाओं में बांधा नहीं जा सकता है। अतः उपन्यास को भी इनकी सीमाओं में बांधना नहीं चाहिए। यथार्थ और आदर्श जीवन नहीं है, जीवन के अंश-मात्र हैं अतः उपन्यास में भी उनको

यही स्थान देना चाहिए। इसी दृष्टिकोण से मैंने आदर्शवाद और यथार्थवाद पर विचार किया है और उनके विभिन्न भेदों की विशेषताओं को स्पष्ट किया है।

अन्तिम अध्याय मूल्यांकन है—पाश्चात्य उपन्यासों की पृष्ठभूमि में हिन्दी उपन्यास का ही मूल्यांकन नहीं बल्कि भाषागत अन्तर पर अधिक ध्यान दिए बिना एक विशाल दृष्टि से किया हुआ मूल्यांकन। मेरा प्रयत्न यही देखने का रहा है कि उपन्यास मनुष्य को समझने में उसकी अनुभूतियों को जागरित करने में और उनकी पारस्परिक सहानुभूति को बढ़ाने में कहां तक सफल हुआ है। इन गुणों से युक्त उपन्यास किसी भी भाषा के हों वे कला की दृष्टि से श्रेष्ठ माने जाएंगे। हां यूरोपीय भाषाओं में ऐसे उपन्यास कई लिखे गए हैं, पर हिन्दी में कम। इस बात को अगर मैंने दिखाया है तो उसे आत्मपरीक्षण का कार्य ही समझा जाना चाहिए।

काल निर्णय

अन्त में परिशिष्ट के रूप में हिन्दी उपन्यासों की जो तालिका दी गई है उसमें किसी विशेष मौलिक अध्ययन के न होने पर भी बहु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसमें उपन्यासों की प्रकाशन तिथि ठीक-ठीक देने का प्रयत्न किया गया है। हिन्दी साहित्य का सबसे बड़ा अभिशाप यह रहा है कि लेखक (अथवा प्रकाशक) अपने-अपने पुस्तक की प्रकाशन तिथि मुद्रित नहीं करते। कई उपन्यासों में किसी भी संस्करण की प्रकाशन तिथि नहीं मिली। जो प्रकाशक प्रकाशन-तिथि छपाते हैं वे भी प्रथम संस्करण में तो उसकी तिथि छपाते हैं पर बाद के संस्करणों में प्रथम संस्करण की प्रकाशन-तिथि छपाने की आवश्यकता नहीं समझते। ऐतिहासिक क्रम से अध्ययन करनेवाले शोध-छात्रों को संयोगवश प्रथम संस्करण ही मिल गया तो उसका कार्य सुगम हो जाता है अन्यथा कभी-कभी सतत प्रयत्न करने पर भी उसे सही-सही तिथि नहीं मिलती।

तिथि न देना त्रुटि होने पर भी क्षम्य है। लेकिन इसस भी कुत्सित और एक प्रवृत्ति भी चल रही है जो असम्य है। यह है ग्रन्थों के नाम ही बदलकर विभिन्न कालों में प्रकाशित करना जिससे बड़ा भ्रम हो जाता है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी का 'मुस्कान' चतुरसेन शास्त्री का 'अमर अभिलाषा' उग्र का 'बुधुआ की बेटी' इलाचन्द्र जोशी का 'सन्यासी' अश्क का 'गिरती दीवारें' और विष्णु प्रभाकर का 'ढलती रात' क्रमश: 'त्यागमयी' 'बहते आंसू' 'मनुष्यानन्द' 'पुण्यमयी' 'चेतन' और 'निशिकान्त' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें 'मुस्कान' और 'अमर अभिलाषा' को छोड़कर *अन्य उपन्यास थोड़े बहुत परिवर्तन या संक्षिप्तीकरण के साथ ही नये रूप में आए हैं* और लेखकों ने नये संस्करणों में यह बात बताने की सहृदयता दिखलाई है, फिर भी इनके पूर्व संस्करणों से बाद के संस्करणों का पता नहीं चलता दोनों को देखने पर ही भ्रम दूर होता है। 'त्यागमयी' और 'बहते आंसू' की बात बिलकुल भिन्न है। 'त्यागमयी' का तृतीय संस्करण सं १९९७ में सरस्वती प्रकाशन मन्दिर इलाहाबाद से और 'बहते आंसू' का द्वितीय संस्करण चौधरी एण्ड सन्स बनारस से (तिथि नहीं दी गई है) प्रकाशित हुए हैं। इनके प्रथम संस्करणों की खोज में कई पुस्तकालय

जहां मैंने मनोविज्ञान छुआ है पर जहां लेखक की दृष्टि यथार्थवादी रही वहां मैंने यथार्थवाद की खोज की है।

इस अध्याय के सम्बन्ध में एक और उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें पूर्णतया वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर ही अध्ययन किया गया है। मनोविज्ञान के विविध पक्षों से सम्बन्धित कतिपय ग्रन्थों के अध्ययन की पृष्ठभूमि में हिन्दी उपन्यासों का अध्ययन करना ही मेरा प्रयत्न रहा है। मूलवृत्तियां मानसिक कार्य-प्रणालियां अचेतन व्यक्तित्व सेक्स आदि के अध्ययन में यह वैज्ञानिकता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हिन्दी उपन्यासों के अध्ययन के साथ-साथ कई स्थानों पर पाश्चात्य उपन्यासों से तुलना भी की गई है।

आशा है कि आदर्शवाद तथा यथार्थवाद की विवेचना करनेवाला सातवां अध्याय इन दोनों के सम्बन्ध में हमारे उपन्यासकारों तथा आलोचकों में फैली हुई कई अपरीक्षित धारणाओं के परीक्षण का अवसर देगा। 'जो है सो' का चित्रण अथवा 'जैसे का तैसा' चित्रण प्रायः यथार्थवाद माना जाता है। इस धारणा में ही बड़ा भ्रम है। प्रस्तुत अध्याय के प्रारम्भ में मैंने यथार्थ और आदर्श के स्वरूप दिखाते हुए यथार्थवाद और आदर्शवाद के मूल सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला है। तत्पश्चात् आदर्श और यथार्थ से सम्बन्धित विभिन्न वादों का अध्ययन किया गया है और उनकी मुख्य प्रवृत्तियों को हिन्दी उपन्यास में जो स्थान मिला है उसके प्रति भी संकेत किया गया है। इन प्रसंगों में वस्तु निरूपण के साथ-साथ सिद्धान्त विवेचन भी करने के कारण विस्तार कुछ बढ़ गया है। पर यह विवशता थी इसके बिना विषय को स्पष्ट करना कठिन ज्ञात हुआ। प्रकृतिवाद की विवेचना से सम्बन्धित परिच्छेद में कही गई बातें विशेष रूप से विचारणीय हैं। प्रकृतिवाद का उदय और विकास फ्रांस में हुआ था और उसके प्रणेताओं के आलोचनात्मक और रचनात्मक ग्रन्थ ही उसके तत्त्वों के समुचित परिज्ञान के लिए सहायक हो सकते हैं। जोला आदि के ग्रन्थों के अध्ययन से हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि हिन्दी के आलोचकों ने उग्र चतुरसेन आदि जिन-जिन लेखकों को प्रकृतिवादी समझ रखा है वे वस्तुतः प्रकृतिवादी नहीं हैं और 'प्रकृतिवाद भी उतनी कुत्सित वस्तु नहीं है जैसा प्रायः समझा जाता है।

आदर्श और यथार्थ में किसीके प्रति मेरा पक्षपात नहीं है। अतः मैंने दोनों के उत्कृष्ट गुणों को दिखाने के साथ उनकी कमजोरियों की ओर भी संकेत किया है। आदर्श और यथार्थ का अपना-अपना महत्त्व होता है और अपनी-अपनी सीमाएं होती हैं। आदर्श के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसकी सफलता उसके यथार्थ होने में या उसके यथार्थ होने की संभावना में ही निहित रहती है। और यथार्थ भी जीवन की नीच वृत्तियों में ही नहीं होता मानव की उदात्त वृत्तियों में भी होता है। कांटे ही नहीं फूल भी यथार्थ होते हैं। कांटों को यथार्थ और फूलों को आदर्श समझना भारी भूल होगी। वस्तुतः वास्तविक जीवन आदर्शवाद और यथार्थवाद की सीमाओं में बांधा नहीं जा सकता है। अतः उपन्यास को भी इनकी सीमाओं में बांधना नहीं चाहिए। यथार्थ और आदर्श जीवन नहीं हैं जीवन के अंश-मात्र हैं अतः उपन्यास में भी उनको

यही स्थान देना चाहिए। इसी दृष्टिकोण से मैंने प्रादर्शवाद और यथार्थवाद पर विचार किया है और उनके विभिन्न भेदों की विशेषताओं को स्पष्ट किया है।

अन्तिम अध्याय मूल्यांकन है—पाश्चात्य उपन्यासों की पृष्ठभूमि में हिन्दी उपन्यास का ही मूल्यांकन नहीं बल्कि भाषागत अन्तर पर अधिक ध्यान दिए बिना एक विशाल दृष्टि से किया हुआ मूल्यांकन। मेरा प्रयत्न यही देखने का रहा है कि उपन्यास मनुष्य को समझने में उसकी अनुभूतियों को जागरित करने में और उनकी पारस्परिक सहानुभूति को बढ़ाने में कहां तक सफल हुआ है। इन गुणों से युक्त उपन्यास किसी भी भाषा के हों वे कला की दृष्टि से श्रेष्ठ माने जाएंगे। हां यूरोपीय भाषाओं में ऐसे उपन्यास कई लिखे गए हैं, पर हिन्दी में कम। इस बात को अगर मैंने दिखाया है तो उसे आत्मपरीक्षण का काम ही समझा जाना चाहिए।

काल निर्णय

अन्त में परिशिष्ट के रूप में हिन्दी उपन्यासों की जो तालिका दी गई है उसमें किसी विशेष मौलिक अध्ययन के न होने पर भी वह परयन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि उसमें उपन्यासों की प्रकाशन तिथि ठीक-ठीक देने का प्रयत्न किया गया है। हिन्दी साहित्य का सबसे बड़ा अभिशाप यह रहा है कि लेखक (अथवा प्रकाशक) जाने-अनजाने पुस्तक की प्रकाशन-तिथि मुद्रित नहीं करते। कई उपन्यासों में किसी भी संस्करण की प्रकाशन तिथि नहीं मिली। जो प्रकाशक प्रकाशन-तिथि छपाते हैं वे भी प्रथम संस्करण में तो उसकी तिथि छपाते हैं पर बाद के संस्करणों में प्रथम संस्करण की प्रकाशन-तिथि छपाने की आवश्यकता नहीं समझते। ऐतिहासिक क्रम से अध्ययन करनेवाले शोध छात्रों को संयोगवश प्रथम संस्करण हो मिल गया तो उनका काम सुगम हो जाता है अन्यथा कभी-कभी लाख प्रयत्न करने पर भी उसे सही-सही तिथि नहीं मिलती।

तिथि न देना त्रुटि होने पर भी क्षम्य है। लेकिन इससे भी दूषित और एक प्रवृत्ति भी चल रही है जो अक्षम्य है। यह है ग्रन्थों के नाम ही बदलकर विभिन्न नामों में प्रकाशित करना जिससे बड़ा भ्रम हो जाता है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी का 'मुस्कान' चतुरसेन शास्त्री का 'अमर अभिलाषा' उग्र का 'बुधुआ की बेटी' इलाचन्द्र जोशी का 'सन्यासी' मदन का 'गिरती दीवार' और विष्णु प्रभाकर का 'ढलती रात' क्रमशः 'त्यागमयी' 'बहते आंसू' 'मनुष्यानन्द' 'तृणामयी' 'चेतन' और 'निशिकान्त' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें 'मुस्कान' और 'अमर अभिलाषा' को छोड़कर अन्य उपन्यास थोड़े बहुत परिवर्तन या संक्षिप्तीकरण के साथ ही नये रूप में आए हैं और लेखकों ने नए संस्करणों में यह बात बताने की सहृदयता दिखाई है फिर भी इनके पूर्व संस्करणों से बाद के संस्करणों का पता नहीं चलता। दोनों को देखने पर ही भ्रम दूर होता है। 'त्यागमयी' और 'बहते आंसू' की बात बिलकुल भिन्न है। 'त्यागमयी' का तृतीय संस्करण सं० १९९७ में सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद से और 'बहते आंसू' का द्वितीय संस्करण चौधरी एण्ड सन्स बनारस से (तिथि नहीं दी गई है) प्रकाशित हुए हैं। इनके प्रथम संस्करणों की खोज में कई पुस्तकालय

ध्यान डालने पर भी कोई प्रमाणन नहीं हुआ। अन्त में लेखकों की सभी पुस्तकों का अध्ययन करने से ज्ञात हुआ कि इनके प्रथम संस्करण क्रमशः 'मुस्कान' नाम से १९२९ में साहित्य मन्दिर प्रयाग से तथा 'अमर अभिलाषा' नाम से १९३३ में साहित्य मण्डल दिल्ली से प्रकाशित किए गए थे। पर नये संस्करणों में इस बात का उल्लेख तक नहीं!

साहित्य के इतिहासों में और आलोचना-ग्रन्थों में जो तिथियाँ दी गई हैं उनमें भी कई त्रुटिपूर्ण निकलीं। साधारण लेखकों की साधारण पुस्तकों की बात छोड़िए। यह निश्चित ही बड़े आश्चर्य की बात है कि इस बीसवीं शती में ही हुए हमारे 'उपन्यास सम्राट' प्रेमचन्द की ही कृतियों की प्रकाशन तिथियों के सम्बन्ध में हमारे आलोचकों में 'मतान्तर' है।

उपर्युक्त कारणों से हिन्दी उपन्यासों के प्रथम प्रकाशन की तिथि निश्चित करके परिशिष्ट में दी हुई तालिका बनाने में बहुत प्रयत्न करना पड़ा है। इस काम में कई प्रकाशकों तथा लेखकों ने मेरी सहायता की है उनके प्रति अतीव कृतज्ञ हूँ। जो भी हो यह तालिका पूर्ण न होने पर भी बहुत कुछ (पूर्णतया नहीं) प्रामाणिक समझी जा सकती है। हो सकता है कठिन प्रयत्न करने पर भी कुछ त्रुटियाँ आ गई हों।

प्रस्तुत प्रबन्ध में उठाई हुई कई बातें अधिक अध्ययन के लिए मार्ग-संकेत कर सकती हैं। विषय के विस्तार के कारण प्रत्येक परिच्छेद को सीमित रखना मेरे लिए आवश्यक था। जिन-जिन बातों की चर्चा की गई है उनको यथासम्भव स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। फिर भी इन सब विषयों के सम्बन्ध में अधिक अध्ययन के लिए क्षेत्र खुला पड़ा है। मेरे इस लघु प्रयत्न से अध्येताओं को उन क्षेत्रों के प्रति तनिक भी संकेत मिले और यह प्रबन्ध ज्ञान-भण्डार के विस्तार में थोड़ा-सा भी सहयोग दे सके तो मैं अपने-आपको कृतकृत्य समझूँगा।

श्रद्धेय गुरुवर डा० हजारीप्रसादजी द्विवेदी के निर्देशन में प्रस्तुत प्रबन्ध तैयार किया गया है। आचार्यजी ने मुझे शोध प्रणाली से परिचित कराकर समय-समय पर जो अमूल्य निर्देश दिए थे उन्हीं के परिणामस्वरूप यह प्रबन्ध इस रूप में प्रस्तुत हो सका है। धन्यवाद देकर मैं आचार्यजी से उऋण नहीं हो सकूँगा।

कई पुस्तकालयों विविध विषयों के प्राध्यापकों तथा अन्य पण्डितों से मुझे बहुत सहायता मिली है उन सबके प्रति अतीव कृतज्ञ हूँ। मद्रास विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० शंकर राजू नायुडु ने जो महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए हैं उनके लिए उनका आभारी हूँ। इसे सुन्दर आकार-प्रकार में इसे प्रकाश में लाने का श्रेय उत्कृष्ट हिन्दी पुस्तकों के प्रकाशक राजपाल एण्ड सन्ज़ दिल्ली को है।

ज्ञान-क्षेत्र के विस्तार में यह प्रबन्ध तनिक भी उपयोगी सिद्ध हो तो अपने प्रयत्न को सफल मानूँगा।

मद्रास विश्वविद्यालय मद्रास ५ —एस० एन० गणेशन

मालूम हैं। इनमें चलते फिरते सजीव पात्रों को देख सकते हैं, उनके हृदय के स्पन्दनों का अनुभव कर सकते हैं। बालकृष्ण भट्ट के उपन्यासों के पात्रों से उनके कुछ निबन्धों में आये हुए पात्र कहीं अधिक सजीव एवं स्वाभाव हैं। 'एक इंगलिशपढ़े नये मित्र की मुलाकात' 'कट्टर सूम की एक नकल'[1] आदि अच्छे उदाहरण हैं। 'सुशिक्षित' और 'हिन्दुस्तान के रईस' सामान्य रूप में सफल हैं। गोपालराम गहमरी के 'ऋद्धि-सिद्धि' और बालमुकुन्द गुप्त के 'शिवशम्भु का चिट्ठा' आदि में भी सुन्दर चरित्र चित्रण हैं।

मदा —कैसा दिवालो ?

कम —क्या भूल गये ? याद नहीं है कि एक दिन तुमने मुझसे पानी में डालकर दिवालो देने का इकरार किया था ?

शिवप्रसाद ने कहा—हाँ ठीक है इस बात की तो हम भी गवाही देंगे। ...

महादेव ने कहा—फिर यह भी तो हमने कहा था कि जब हमारे पास रुपये होंगे तब देंगे।

कम —भैया ! अब यह बात मैं नहीं मानूँगी।

विश्वनाथ ने कहा—अरी पगली ! जरा सब्र कर, तेरे लिए भैया आराम से दिवालो लेते आये हैं।

कम —हूँ, तब मुझे चिढ़ा क्यों रहे हैं ? —चपला भाग ४ पृ ७८

१ उदाहरण के लिए 'कट्टर सूम की नकल' से एक अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है।

डाकखाने का चपरासी साह क्षेमकरण सूम के घर आता है। दोनों में बातचीत होती है।

चपरासी—साहजी, तुम्हारे नाम की बैरंग चिट्ठी है दो आना पैसा दो और चिट्ठी लो।

क्षेम—(चिट्ठी कई बार उलट-पुलट देखकर मोहर बनाम लिफाफा खोलने लगा)

चप —हां ! हां ! यह क्या करते हो ? बिना महसूल दिये चिट्ठी मत खोलो।

क्षेम —हां हां ! सबर करो महसूल देंगे।

चप —नहीं नहीं ! बिना महसूल दिये चिट्ठी खोलने का हुक्म सरकार से नहीं है।

... ...

क्षेम०—सुनो हमारी-तुम्हारी पुरानी दिनों की जान-पहचान। क्यों जरा-सी बात के लिए बे-मुलाहिजे होते हो। खोलने दो देखें इसमें क्या है। जो कोई मतलब की होगी तो दो आने देंगे ही नहीं तो ऐसी हिकमत से बन्द कर देंगे कि कोई न जान सकेगा।

चप —न कोई जाने भगवान जो हमारे ईमान-धर्म का साखी है यह तो जानता है।

....

[अन्त में क्षेमकरण की बेटी विनता महसूल देने को तैयार हो जाती है।]

विनता—(चपरासी से) तुम हमारा विश्वास करो। अब हम पैसा कहीं से धर रखेंगी। तुम बाजार से आना।

... ...

क्षेम —भला तू पैसा कहां से लावेगी जो देगी महसूल। ऐसी अक्लमन्दी में हमारा

इन सब पात्रों की तुलना एडिसन स्टील सा बये और सेंट साइमन के निबन्धों[1] के पात्रों से की जा सकती है। इस तरह हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासों की कुछ निबन्धों से तुलना करते हुए कहना पड़ता है कि हमारे प्रारम्भिक उपन्यासकार उपन्यास को जीवन का अध्ययन न समझकर मनोरंजन का विषय-मात्र समझते थे।

४७ (घ) प्रेमाख्यान—प्रेमचन्द-पूर्व सभी प्रकार के उपन्यासों में प्रेम और तत्सम्बन्धी क्रिया-कलाप मुख्य रूप में आये हैं। सामाजिक उपन्यासों में यही एकमात्र विषय है पर जासूसी उपन्यासों तक में प्रेम प्रायः मुख्य विषय है। प्रेम-प्रसंगों में भी हृदय-विकारों का अध्ययन नहीं मिलता रीतिकालीन प्रेम-क्रीड़ा या उर्दू-फारसी की कहानियों की इश्कबाजी के समान ऊपरी सतह के कुछ क्रिया-कलापों से ही काम लिया गया है। केवल 'नूतन ब्रह्मचारी' 'आदर्श हिन्दू' 'निस्सहाय हिन्दू' आदि कुछ गिने अब उपन्यास इन सबसे मुक्त हैं।

४८ (ङ) उद्देश्य—प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यासों के प्रायः तीन उद्देश्य हैं (१) नैतिक शिक्षा (२) सामाजिक समस्याओं का प्रकटन तथा सुधार का मार्ग-निर्देशन (३) मनोरंजन। नैतिक मूल्य के उपन्यासों में उत्कृष्ट चरित्र-निर्माण मर्यादा-पालन और सामाजिक नीति के संरक्षण के उपदेश दिए गये हैं। 'परीक्षागुरु' 'नूतन ब्रह्मचारी' 'सौ अजान एक सुजान' आदि का ध्येय नैतिक सुधार है। 'नूतन चरित' में एक प्रेमकथा में यत्र-तत्र कुछ नीतिवाक्य जोड़े गये हैं। सामाजिक समस्यामूलक उपन्यासों में अधिकांश स्त्री-समस्या से सम्बन्धित हैं। 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' तथा 'ठेठ हिन्दी का ठाट' में अनमेल विवाह की समस्या का 'काजर की कोठरी' 'चन्द्रावली' 'वारांगना-रहस्य' आदि में वेश्या-समस्या का 'स्वर्गीय कुसुम' में देवदासी प्रथा का और 'प्रणयिनी-परिणय' 'चपला' 'तरुण तपस्विनी' 'प्रेममयी' 'सौन्दर्योपासक' आदि में स्वच्छन्द प्रेम के मार्ग के विघ्नों और बाधाओं का निरूपण है। गार्हस्थ्य जीवन की उलझनों को स्पष्ट करके सुलझानेवाले उपन्यासों में 'आदर्श दम्पति' 'सास-पतोहू' 'बड़ा भाई' 'देवरानी-जिठानी' 'दो बहनें' 'तीन पतोहू' आदि मुख्य हैं। 'त्रिवेणी' 'आदर्श हिन्दू' आदि में प्राचीन सनातन मर्यादा का समर्थन किया गया है। ये सब समस्यामूलक होने पर भी विश्लेषणात्मक नहीं हैं। सामाजिक समस्याओं के विश्लेषण

निबाह कैसे हो होगा ?

विमला—मैं किसौनी कर पैसा दे दूँगी तो भला ब्याज बड़ी बात है ? तुम खातिर रखो तुम्हें न देना पड़ेगा।

प्रेम —बेटी यह बात अच्छी नहीं है। जो पैसा तुम मेहनत कर कमाओ, वह हमें दे डाला करो; तुम अभी जानती नहीं हो कि पैसा कैसी मेहनत से मिलता है।— खैर, अब की बार तो कुछ हुआ सो हुआ। आइन्दा से चौकसी रक्खो कि ऐसी फिजूलखर्ची न करा करो; बेटी मैं तुम्हारे ही फायदे के लिए कहता हूँ।

—भट्ट निबन्ध-माला भाग १ पृ० १४८-१२

[1] देखिये अनुच्छेद २२।

के लिए जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण आवश्यक है, वह इन लेखकों में लुप्त-सा है। फिर भी सामाजिक अन्यायों और अत्याचारों के प्रति अपने घोर विरोध को प्रकट करने में और समाज में व्याप्त अनीतियों और दुराचारों को गाढ़े रंग में चित्रित करने में इन्हें कुछ सफलता प्राप्त हुई। जिन समस्याओं की ओर इन लेखकों का ध्यान आकृष्ट हुआ वे निश्चित ही हमारे समाज की घोर दुर्दशा के कारण थीं और उनका निरूपण अत्यन्त आवश्यक था। किन्तु जिस ढंग से इनका चित्रण हुआ वह विवेक और विचार से बढ़कर कल्पना और आवेश का ही परिचय देता है। 'चपला' के प्रारम्भ में किशोरी लाल गोस्वामी ने अपना ध्येय स्पष्ट किया है "एक दीन-हीन परिवार की शोचनीय स्थिति के साथ वर्तमान समय का शिथिल उच्छृंखल और बन्ध-विहीन समाज का चित्र इस इच्छा से यथावत् चित्रित किया गया है कि हमारे भ्राता लोग इस विशृंखल समाज को पुनश्शृंखलाबद्ध करने के लिए मनसा वाचा कर्मणा प्रयत्न करने में तत्पर हों।"[1] किन्तु इस शिथिलता और उच्छृंखलता को 'यथावत् चित्रित' करने के लिए घटनाचक्र का आश्रय लिया गया है उसे देखते हुए सहज विश्वास नहीं किया जाता कि इसमें चित्रित जीवन हमारे समाज का वास्तविक रूप ही है। न उसके पात्र साधारण हैं न वातावरण। प्रत्येक पात्र किसी अच्छे या बुरे वर्ग का प्रतिनिधि-मात्र रह कर अपनी मनुष्यता खो बैठा है, अधिकांश घटनाएं सनसनीदार—किन्तु असाधारण—होकर स्वाभाविकता खो बैठी हैं। उपर्युक्त अन्य उपन्यास भी इस दृष्टि से बहुत भिन्न नहीं हैं। इन सबमें सुधारवादी दृष्टि से कुछ आदर्श पात्रों द्वारा समस्याओं का सुलझना दिखाया गया है।

मनोरंजन वस्तुतः सभी उपन्यासों का एक ध्येय होता है। पर प्रेमचन्द के पूर्व के उपन्यासों में वही मुख्य ध्येय ज्ञात होता है।

४

हिन्दी उपन्यास का विकास

(२) प्रौढ़ता की ओर :: प्रेमचन्द और उनका युग

सामान्य परिस्थिति

४६ बीसवीं शती के प्रारम्भिक दशकों ने भारतीय राजनीति तथा हिन्दी उपन्यास-साहित्य को एक नया मोड़ दिया। नेशनल कांग्रेस की स्थापना १८८५ में हो चुकी थी। भारत की राजनीति में उथल-पुथल मचने लगी थी। बीसवीं शती तक आते-आते भारत का राजनीतिक ध्येय काफी स्पष्ट हो गया था और जनता इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित धारणाएं बना चुकी थी। जब गांधीजी ने राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण किया तब राष्ट्रीय चेतना पूर्ण वेग से उत्तेजित हो उठी और सामन्त-शासन

---

१ चपला निवेदन।

की नींव डोलने लगी तभी ही उसे संभालने का भरसक प्रयत्न किया गया हो।

इसी काल में प्रेमचन्द का आगमन हुआ। हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द का आगमन एक आकस्मिक घटना थी। उनके पूर्ववर्ती उपन्यास-साहित्य से उनकी रचनाओं की तुलना करें तो स्पष्ट होगा कि उस समय तक परम्परा की जो शृंखला चलती आयी उसकी एक कड़ी के रूप में वे नहीं आये। उनके प्रारम्भिक उपन्यासों में ही कई क्रान्तिकारी विशेषताएं दृष्टव्य हैं। उन्हें केवल युग-परिचालक के रूप में ही नहीं युग-स्रष्टा के रूप में भी मान्यता देनी पड़ेगी। उनके 'प्रेमा' और 'सेवासदन' से लेकर 'गोदान' तक के उपन्यासों में जो विकास दृष्टिगत होता है वह सचमुच आश्चर्य जनक है। इतने छोटे काल में किसी भी देशी अथवा विदेशी भाषा में ऐसा महान और तीव्र विकास नहीं हुआ होगा।

सन् १६ १ से १६३६ तक के पैंतीस वर्षों में हमारे उपन्यास-साहित्य ने जो क्रान्तिकारी परिवर्तन देखा उसके मूल कारण क्या हैं? कुछ सतर्कता से देखा जाय तो विकास का यह काल और भी सीमित किया जा सकता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में भी 'प्रेमा' 'वरदान' और 'सेवासदन' को छोड़कर सभी १६२० और १६३६ के बीच में निकले। १६२ के पहले के अन्य लेखकों के उपन्यासों में विशेष विकास की परि चायक कोई प्रवृत्ति नहीं मिलती। देवकीनन्दन खत्री किशोरीलाल गोस्वामी गोपाल राम गहमरी आदि का हिन्दी उपन्यास की पृष्ठभूमि सजाने में जो महत्व है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती किन्तु उनके उपन्यास जीवन से बहुत दूर थे। उनके मुख्य आधार कुचक्र रहस्य और रहस्योद्घाटन षड्यंत्र अर्धरात्रि का आवागमन व्यभिचार, अत्याचार आदि हैं। पर इन उपन्यासों के कुचक्रों षड्यंत्रों हास-विलासों रंगरेलियों और लोमहर्षणों के बीच में इधर-उधर से झांकते हुए जीवन के मर्मस्पर्शी स्वरों के चित्रण[१] यह प्रमाणित करते हैं कि साहित्य के इस उर्वर क्षेत्र में उपन्यास के बीज बोये जा चुके थे पर कृषक के अज्ञान या असावधानी के कारण अथवा परिस्थिति की प्रति कूलता के कारण वे ठीक तरह से अंकुरित होकर विकसित नहीं हुए। प्रेमचन्द ने आकर विकास की गति दी और तीव्र गति दी। अब तक की परम्परा से बहुत कुछ भिन्न और उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त करनेवाली एक नयी परम्परा स्थापित करने में वे सफल हुए।

इस महान युगस्रष्टा कलाकार की प्रेरणाएं कौन-सी हैं?

प्रेमचन्द की प्रेरणाएं

५० (क) राजनीतिक परिस्थिति—उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारतीय जनता एवं साहित्य को राजनीति के क्षेत्र में खींच लाने का प्रयत्न किया और बीसवीं सदी के प्रारम्भ में इन दोनों में अक्षुण्ण सम्बन्ध स्थापित हो गया। नेता जनता की महान शक्ति की घोषणा करके उसको प्रेरणा देने के प्रयत्न में लगे थे

१ आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास पृ १ २ १ १।

जनता अपनी अन्तर्निहित शक्ति को समझकर सजीव होने लगी और साहित्यकार के कानों में जन-विप्लव की तुमुल ध्वनि गूंज उठने लगी। ऐसी परिस्थिति में किसी भी साहित्यकार को जनता के जीवन और वाणी का तिरस्कार करना असंभव था। विशेष कर प्रेमचन्द जैसे जागरित कलाकार के लिए जो जनता को ही जनार्दन समझते थे और जीवन को ही साहित्य का सर्वोत्कृष्ट साधन समझते थे जन-जीवन की ओर आकृष्ट होना एक ओर राजनीतिक विवशता थी दूसरी ओर अपनी आन्तरिक प्रेरणा।

५१ (ख) अनुभूति—किन्तु प्रेमचन्द को केवल राजनीति का अपत्य नहीं मान सकते। भले ही राजनीति ने उनके साहित्य पर प्रभाव डाला हो—और काफी बड़ा प्रभाव डाला हो—तो भी राजनीति और जनता को समझने और उनको साहित्य का विषय बनाने में उनकी अनुभूति ही सबसे अधिक सहायक हुई। जनता को समझनेवाले जनता के प्रति वास्तविक सहानुभूति रखनेवाले जन-जीवन को अपना जीवन समझनेवाले जन-हित के लिए आत्माहुति देनेवाले भारत के राजनीतिक क्षेत्र में एक गांधीजी हुए और हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में एक प्रेमचन्द। इस दृष्टि से देखा जाय तो हिन्दी साहित्य में प्रेमचन्द आज तक अकेले खड़े हैं।

५२ *(ग) अनुभव—जीवन के जिस विशाल क्षेत्र का अनुभव प्रेमचन्द ने* किया था उसीका रूप उनके उपन्यासों में प्रस्तुत किया गया है। भयंकर दरिद्रता में बीता हुआ बाल्य और यौवन तरह-तरह की नौकरियों में इधर-उधर भटकते रहना *जीवन की निरन्तर विवशता अस्थिरता और अव्यवस्था इन सबने मिलकर प्रेमचन्द* को अनुभव का पाठ सिखाया जो एक उपन्यासकार के लिए महत्त्वपूर्ण विषय है। उनके अधिकांश पात्र ऐसे हैं जिन्हें प्रेमचन्द ने देखा है और जिनका अच्छा ज्ञान प्राप्त किया है। टालस्टाय और गोर्की के अतिरिक्त और किसीने इस तरह अपने जीवन में अनायास आये हुए पात्रों का अनुभवसिद्ध ज्ञान उपन्यास में प्रस्तुत नहीं किया है। थैकरे, दास्ताएवस्की गाल्सवर्दी आदि के पात्र अध्ययनसिद्ध हैं अनुभवसिद्ध नहीं।

५३ (घ) संघर्ष—प्रेमचन्द का जीवन का अनुभव केवल तटस्थ होकर देखने का नहीं है। उन्होंने बाहर सामाजिक जीवन का जो संघर्षमय रूप देखा उससे उनका व्यक्तिगत जीवन कम महत्त्व का नहीं रहा। व्यक्तिगत जीवन में उन्हें 'अरमानों को खाक में मिला देनेवाली' असंख्य घटनाओं से निरन्तर संघर्ष करना पड़ा था। इसीलिए देश के अरमानों को मिटते देखकर, जनता की आशाओं और अभिलाषाओं को एक-एक कर मिट्टी में मिलते देखकर उनका हृदय द्रवित हो उठा। सतत प्रयत्न करते हुए भी जीवन को सुगम बनाने में असमर्थ वह अकिंचन अनाश्रितों का कलाकार *अपनी कला के करपोलकर्ष में दलित दरिद्र जीवन व्यतीत करने को विवश जनता* से पूर्ण तादात्म्य प्राप्त कर सका। प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती—और परवर्ती—किसी उपन्यासकार का जीवन इतना संघर्षमय नहीं रहा जिससे वह अपने हृदय को चेतन बनाकर संघर्षपूर्ण जीवन का सूक्ष्म विवेचन कर सके।

५४ (ङ) पश्चिमी उपन्यास—प्रेमचन्द ने 'चन्द्रकान्ता' और 'तोता-मैना' जैसी कहानियाँ ही नहीं पढ़ी थीं पाश्चात्य उपन्यास-साहित्य का विशेषकर रूसी

उपन्यास-साहित्य का भी अध्ययन किया था। १९११ से १९३६ तक के 'हंस' और 'जागरण' के अंकों से ज्ञात होता है कि वे रूसी संस्कृति और साहित्य से कितने प्रभावित थे।[1] एक जगह उन्होंने प्रश्न किया है "जिन लेखकों ने रूस को उस मार्ग पर लगाया जिसपर चलकर आज वह दुखी संसार के लिए आदर्श हुआ है उनकी रचनाएं क्यों न आदर पाएं?"[2] उनके अन्य कई लेख भी प्रमाणित करते हैं कि उन्होंने पाश्चात्य उपन्यासों का और उपन्यास-सम्बन्धी कृतियों का पर्याप्त अध्ययन किया था।[3] ज्ञात होता है कि उनपर बंगला साहित्य से अधिक पश्चिमी साहित्य का सीधा प्रभाव पड़ा था। उनके बंकिम की स्वच्छन्दता एवं शरत् की भतिभावुकता से ऊपर उठने का कारण यही ज्ञात होता है। किन्तु इस विदेशी प्रभाव को प्रभाव के रूप में ही देखना चाहिए, मूल प्रेरणा के रूप में नहीं। उनकी रचनाओं के औपन्यासिक शिल्प पर निस्सन्देह पाश्चात्य प्रभाव पड़ा था। किन्तु उस शिल्प के द्वारा अभिव्यक्त विषय उन सबमें प्रकट विशेष दृष्टिकोण आद्योपान्त दृष्टिगत होनेवाला मनोभाव आदि प्रेमचन्द को प्रेमचन्द बनानेवाली जितनी वस्तुएं हैं वे निश्चित ही भारत की भूमि में उत्पन्न हैं। हमारे आज तक के उपन्यासकारों में भारतीयता के गुण के सबसे बड़ा अधिकारी प्रेमचन्द ही हैं। उन्हें भारतीय जीवन का सर्वश्रेष्ठ चित्रकार बनानेवाली चीज पाश्चात्य प्रभाव नहीं उनके अनुभव और अनुभूति ही हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यास

४५ प्रेमा—यही प्रेमचन्द का प्रथम उपन्यास था जो पहले 'हमखुर्मा व हमसवाब' (१९०४) नाम से उर्दू में प्रकाशित हुआ और बाद में 'प्रेमा' नाम से हिन्दी में। बहुत काल के पश्चात् इसका तनिक परिवर्तित रूप 'प्रतिज्ञा' (१९२९ ?) नाम से प्रकाशित हुआ।

प्रेमचन्द ने इसमें विधवाओं की समस्या का विवेचन किया है और समाधान के रूप में विधवा-विवाह का प्रस्ताव उपस्थित किया है। औपन्यासिक गठन और समस्याओं के विश्लेषण की दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट न होने पर भी यह दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। प्रेमचन्द के इस प्रारम्भिक उपन्यास ने ही स्पष्ट घोषित कर दिया कि इस लेखक की कला किस ओर उन्मुख है। दूसरी बात यह है कि इसमें पूर्ववर्ती लेखकों के उपन्यासों के समान उपन्यास-कला को केवल मनोरंजन का विषय नहीं माना गया किन्तु जीवन तथा उसकी गंभीर समस्याओं के विश्लेषण का माध्यम बनाया गया और इस तरह हिन्दी उपन्यास के इतिहास में ही एक नयी धारा का प्रारम्भ किया गया। 'प्रेमा' में जो सामाजिक चेतना (social consciousness) एवं

---

[1] देखें अनुच्छेद ७१ और पाद टिप्पणियां।

[2] 'रूसी साहित्य और हिन्दी' शीर्षक लेख, साहित्य का उद्देश्य' पृ० १८७।

[3] देखें 'उपन्यास' तथा दोनों की कला आदि लेख, साहित्य का उद्देश्य' में संकलित।

सामाजिक दायित्व (social responsibility) दृष्टिगत होता है वह किसी पूर्ववर्ती लेखक के किसी उपन्यास में नहीं मिलता। 'प्रेमा' में प्रेमचन्द की जिन प्रवृत्तियों का बीजारोपण हुआ है, वे ही अधिक पुष्ट एवं परिमार्जित रूप में उनके अन्य उपन्यासों में दृष्टिगत होती हैं।

५६ वरदान—'सेवासदन' के पश्चात् प्रकाशित यह छोटा-सा उपन्यास वस्तुतः 'सेवासदन' के पूर्व ही लिखा गया था। यह अपने पूर्वरूप में 'प्रतापचन्द्र' (१९. १) नाम से हिन्दी में और 'जलवए ईसार' नाम से उर्दू में प्रकाशित हुआ था। 'सेवासदन' की तुलना में यह अत्यन्त अप्रौढ़ रचना सिद्ध होती है तो इसका कारण यही है। इसमें भी प्रेमचन्द हमारे समाज की कुछ समस्याओं की—विशेषकर स्त्री-जीवन से सम्बन्धित समस्याओं की—चर्चा करते हैं। 'प्रेमा' और 'वरदान' को देखते हुए हम समझ सकते हैं कि प्रेमचन्द भी प्रारम्भ में अपने पूर्ववर्तियों को आकर्षक दीखनेवाली स्त्री-समस्याओं से ही आकृष्ट हुए। पर उनका दृष्टिकोण नितान्त भिन्न था। शीघ्र ही वे इस विशाल दृष्टिकोण के अनुकूल जीवन के विस्तृत स्वरूप के अध्ययन एवं व्याख्या की ओर प्रवृत्त हुए।

५७ सेवासदन—प्रेमा में जिस प्रेमचन्द का अस्पष्ट रूप में आभास मिलता है उसीको अधिक स्पष्ट एवं निखरे हुए रूप में उपस्थित किया 'सेवासदन' ने। इसी उपन्यास ने प्रेमचन्द को एक उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। आज के मापदण्ड से मापने पर 'सेवासदन' में भले ही कुछ कमियां दृष्टिगत हों तो भी हमें यह मानना पड़ेगा कि जब यह लिखा गया तब उस समय तक के अन्य लेखकों के सभी उपन्यासों से यह भिन्न था और उनसे बहुत आगे बढ़ा हुआ था। इस दृष्टि से यह अपने समय का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास था और बाद में भी बहुत समय तक स्वयं प्रेमचन्द के अतिरिक्त और कोई लेखक उससे आगे नहीं बढ़ सका।

'सेवासदन' में भी प्रेमचन्द भारत की अभिशप्त नारी के अभिभावक बनकर सामने आये। उन्होंने वेश्या प्रथा की भयंकर समस्या का विश्लेषण किया और हमारे दम्भी समाज की कलई खोल दिखायी।

दहेज देने के निमित्त दारोगा कृष्णचन्द्र को जो स्वभावतया एक भद्र पुरुष थे घूस लेकर जेल जाना पड़ा। फिर भी उचित दहेज का प्रबन्ध न होने से उन्हें अपनी नव युवती सुन्दरी शीलवती लड़की सुमन को एक अधपाक के हाथ सौंपकर तृप्त होना पड़ा। अयोग्य पति ने सुमन को एक छोटे-से अपराध के सन्देह के आधार पर घर से निकाल दिया। भारतीय समाज में पति को देवता समझने पर भी पति द्वारा परित्यक्त होने-वाली नारी को कैसी घोर दुर्दशा में पड़ना पड़ता है और कैसी-कैसी यातनाओं को सहना पड़ता है इसे लेखक ने सुमन के जीवन में प्रकट किया है। सुमन को अन्त समाज द्वारा तिरस्कृत होकर दालमण्डी का आश्रय लेना पड़ा।

समस्या इतने में ही सीमित नहीं रहती। उसका प्रभाव अधिक व्यापक है। सुमनबाई की बहन होने के कारण उसकी छोटी बहन का विवाह भी रुक गया। इस तरह निर्दोष अबोध बालिकाओं के जीवन को नरकतुल्य बनाकर भी जो समाज धर्म

की बाढ़ देता है पवित्रता का दम्भ करता है उसके खोखलेपन को प्रेमचन्द ने स्पष्ट दिखा दिया है। हिन्दू समाज ने वेश्या प्रथा को बनाये रखने में अपना पूरा सहयोग प्रदान किया है। वह एक ओर पति की मर्यादाहीन वृत्तियों का समर्थन करता है और दुराचारी पति द्वारा परित्यक्त नारी को सभ्य समाज से सहायता न मिलने का विधान करके उसे पतन के गर्त में गिरने को विवश करता है तो दूसरी ओर पारिवारिक पर्वों तथा धार्मिक उत्सवों में वेश्याओं का विशेष आदर-सम्मान करके अपनी कुत्सित मनोवृत्ति का परिचय देता है। सुमन जब सती-साध्वी रहती है तब एक बार उसे सेठ चिम्मनलाल के ठाकुरद्वारे में भूला देखने जाने पर रात-भर बाहर ही रहकर भोगना पड़ता है। पर जब वह स्वामीजी के रूप में आने जाती है तब उसका धूमधाम से आदर किया जाता है और मानो उसके चरण-स्पर्श से वह मन्दिर पवित्र ही जाता है।

इस समस्या के समाधान के रूप में सुधारवादी प्रेमचन्द ने वेश्याओं के उद्धार एवं सम्मानपूर्वक पुनर्वास के लिए सेवासदन की स्थापना का प्रस्ताव रखा है।

औपन्यासिक कला की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास के इतिहास में 'सेवासदन' का विशिष्ट स्थान है। पाश्चात्य उपन्यासों की तुलना में उपन्यास नाम को सार्थक बनाने-वाली हिन्दी की प्रथम रचना यही है। लेखक के सामाजिक जीवन के अनुभूतिमय अनुभव मानवता के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि आदि के कारण 'सेवासदन' एक भव्य रचना बना है।

१८ प्रेमाश्रम—प्रेमचन्द को जन-साधारण के लेखक तथा हमारे समाज के वक्ष के रूप में प्रस्तुत करनेवाला प्रथम उपन्यास 'प्रेमाश्रम' है। जो लेखक अपने प्रारम्भिक उपन्यासों में स्त्री-जीवन की जटिल किन्तु अपेक्षाकृत संकीर्ण समस्याओं का विवेचन कर उपन्यास-कला में पर्याप्त कुशलता प्राप्त कर चुका था वही 'प्रेमाश्रम' में —तथा परवर्ती उपन्यासों में—अधिक विस्तृत और अधिक मौलिक समस्याओं के विश्लेषण की ओर उन्मुख हुआ। जमींदारों का लोभ और अत्याचार, सामन्तवादी शासन तथा उससे सम्बद्ध व्यक्तियों की मांसली नौकरशाही के हिमायतियों तथा उनके उप गुर्गों का आत्मसम्मान-रहित अस्तित्व विधि की विडंबनाओं तथा शोषकों के विधानों के बीच में अपरिमित यातनाएं सहते हुए दरिद्रनारायणों की निपट विवशता इन सब का मार्मिक चित्रण 'प्रेमाश्रम' में किया गया है।

भारत की सामान्य जनता का जागरण और अपने हक के लिए लड़ाई भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का एक प्रमुख अंग है। और इस जागरण पर लिखित प्रथम श्रेष्ठ उपन्यास के रूप में 'प्रेमाश्रम' महत्त्वपूर्ण रचना है। प्रेमचन्द ने कृषकों की उन दुर्बलताओं के प्रति संकेत ही नहीं किया जो उनकी मुक्ति एवं उत्थान में बाधक प्रमाणित हो चुकी थीं अपितु उन दुर्बलताओं के मूल कारण का भी अन्वेषण किया है। शोषक शासन ने जनता को आर्थिक सामूहिक मानसिक तथा नैतिक दृष्टि से कितना पतित बना रखा है उनकी समस्त सद्भावनाओं को कैसे दमित कर रखा है स्वार्थपरता एवं पारस्परिक बैर-विरोध में जकड़कर उन्हें कैसे प्रगति-पथ में अवरुद्ध कर रखा है इसे प्रेमचन्द स्पष्ट कर सके हैं। किसानों के जीवन तथा उनकी समस्याओं

के अध्ययन में प्रेमचन्द का दृष्टिकोण प्रगतिवादी रहा है किन्तु उन समस्याओं के जो समाधान प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें गान्धीवाद से प्रभावित सुधारवादी की कल्पना का ही परिचय मिलता है। कृषकों की मुक्ति तथा सुधार के लिए उन्होंने जो उपाय प्रस्तुत किया है वह *जमींदारी वर्ग के ही प्रेमशंकर द्वारा अपने स्वत्वों का स्वेच्छा* पूर्वक परित्याग है। पूँजीवादी शोषक वर्ग के इस मन-परिवर्तन की विदूर भविष्य में भी संभाव्यता संदिग्ध ही है। वस्तुतः इस दमित एवं दरिद्र वर्ग की ओर दुर्दशा से व्याकुल और उनके उद्धार के लिए आकुल प्रेमचन्द की अतिभावुकता से उत्पन्न ये समाधान अत्यन्त शिथिल नींव पर खड़े हैं। घटनाएं तथा पात्र भी कुछ *पूर्वायोजित परिपाटियों* के अनुसार आगे बढ़कर इन आदर्शों की स्थापना में सहयोग देते हैं। अतः पात्र बहुत कुछ टकसाली हो गये हैं, पर व्यक्तित्व से रहित नहीं। इन परिस्थितियों के होने पर भी कृषकों की समस्या से सम्बन्धित प्रथम उपन्यास के रूप में प्रेमाश्रम का महत्त्व भुला नहीं जा सकता।

५६ निर्मला—अपने कतिपय बृहद् उपन्यासों में देश की कई महत्त्वपूर्ण समस्याओं का विश्लेषण करने के पश्चात् प्रेमचन्द पुनः इस छोटे-से उपन्यास में भारतीय नारी की एक समस्या—अनमेल विवाह—की ओर आये। दहेज देने में असमर्थ होने के कारण फूल-सी सुकुमारी षोडशवर्षीया कन्या निर्मला का विवाह तीन लड़कों वाले एक वकील साहब से होता है जो कामविज्ञान के ग्रन्थों को पढ़कर निर्मला को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं पर दयनीय रूप में पराजित होते हैं। इस विवाह के कारण दो-दो कुटुम्ब कैसे बरबाद हो जाते हैं, इसका मार्मिक चित्रण ही 'निर्मला' का विषय है।

यद्यपि *'सेवासदन'* तथा 'प्रेमाश्रम' की तुलना में इसका विषय बहुत सीमित है तो भी समस्या के गहरे अध्ययन और मनोभावों के सूक्ष्म विश्लेषण की दृष्टि से यह प्रेमचन्द का सबसे सुन्दर उपन्यास है। कई सायोगिक घटनाओं तथा अन्य असंगतियों के होने पर भी 'निर्मला' के पात्रों का क्रमिक विकास—विशेषकर उनके मनोभावों का विकास—अत्यन्त स्वाभाविक बना है। अनावश्यक विस्तृति के तथा *विषाक्त वातावरण के अभाव के कारण 'निर्मला' के गठन में जो दृढ़ता आयी है* वह प्रेमचन्द के किसी अन्य उपन्यास में नहीं है।

६० रंगभूमि—रंगभूमि में प्रेमचन्द अधिक विशाल क्षेत्र में आये और अधिक विस्तृत समस्याओं के विश्लेषण की ओर प्रवृत्त हुए। १९२१ के लगभग गांधी जी राजनीतिक क्षेत्र में सक्रिय कार्य करने लगे और देश-भर में नयी चेतना व्याप्त होने *लगी। परतंत्र भारत का दमित अभिमान जागरित हो उठा।* नौकरशाही तथा उनके हिमायती स्वातंत्र्य-समर का दमन करने के लिए कटिबद्ध थे और इसके लिए अपनी समस्त पाशविक शक्तियों का उपयोग करते थे। भारत की निरस्त्र जनता को गांधीजी ने अहिंसा एवं असहयोग सहित्य के आध्यात्मिक शस्त्र देकर युद्ध-क्षेत्र में उतार दिया। भारत के इस राष्ट्रीय आन्दोलन के वातावरण में ही 'रंगभूमि' का कथानक प्रायोजित है। मातृभूमि के उद्धार के लिए *अन्धमूल सूरदास* को आत्मबल के प्रतिनिधि के रूप

में ही रखा है और उसमें गांधीजी के सभी गुणों का आरोप किया है।

भारतीय समाज के शोषित एवं शोषक वर्गों के विभिन्न रूपों और दशाओं के तथा भिन्न-भिन्न सामाजिक स्तरों के व्यक्तियों के चित्रण में प्रायः सम्पूर्ण भारत के समाज को ही दिखाया गया है। साथ-साथ हार्दिक अनुभूतिपूर्ण वैयक्तिक या पारिवारिक सम्बन्धों के चित्रण भी कम नहीं हैं। नायक सूरदास के ही नहीं सोफिया इन्दु जाह्नवी आदि पात्रों के चरित्र भी आदर्श की नींव पर खड़े किये गये हैं। यद्यपि प्रेमचन्द ने इसमें समस्याओं के समाधान के रूप में कोई सस्ता नुस्खा प्रस्तुत नहीं किया है तो भी सम्पूर्ण उपन्यास म प्रकट आदर्श कहीं-कहीं अतिभावुक होकर अप्रायोगिकता की सीमा तक पहुंच गया है।

६१ कायाकल्प—अपने पूर्वलिखित उपन्यासों के सामाजिक यथार्थ तथा यथार्थ समस्याओं से तनिक बचकर एक नयी धरती पर पदार्पण करनेवाले प्रेमचन्द को हम 'कायाकल्प' में देखते हैं। प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों को तथा उनके यथार्थवादी स्वरूप को देखने के पश्चात् 'कायाकल्प' के रूप को देखकर हमें तनिक आश्चर्य होता है। जादू-टोने यंत्र-मंत्र पुनर्जन्म पर विश्वास आदि कितने ही अन्धविश्वास पर आधारित विषयों के द्वारा इसकी कथा आगे बढ़ायी गयी है। शायद भारत के हिन्दू समाज में बद्धमूल अन्धविश्वासों और मूढ़ परम्पराओं को दिखाना ही प्रेमचन्द का ध्येय रहा हो।

वस्तुत 'कायाकल्प' की मुख्य समस्या हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य है जो उस समय भारत की सबसे बड़ी समस्या बनी हुई थी। जिस भयंकर वमनस्य ने समय-समय पर हिन्दू-मुसलमानों को एक-दूसरे के रक्त की नदियां बहाने की प्ररणा दी उसीको प्रेमचन्द ने इस बार हाथ में लिया और एक विशाल समूह के पात्रों की बाह्य एवं आन्तरिक क्रिया-प्रक्रियाओं के द्वारा सिद्ध कर दिया कि पारस्परिक प्रम एवं सहानुभूति से ही इस समस्या की शाश्वत निवृत्ति हो सकती है। वैर-विरोध को मिटाने तथा हिन्दू-मुसलमानों में आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सबसे बड़ी औषधि के रूप में प्रेमचन्द ने अहिंसा एवं सहनशीलता को ही प्रस्तुत किया है। प्रेमचन्द का गांधीवादी रूप इसमें भी प्रकट है।

६२ गबन—बीसवीं शती के प्रथम दशक में 'कृष्णा' नाम से प्रकाशित छोटा-सा उपन्यास बाद में परिवर्धित एवं परिमार्जित होकर एक सुन्दर उपन्यास 'गबन' के रूप में निकला।

विषय के सुचारु विकास तथा मनुष्य की मानसिक वृत्तियों के सम्यक् निरूपण के कारण 'गबन' एक उत्कृष्ट उपन्यास बना है। विषय को परिवार की चहार-दीवारी के अन्दर सीमित रखकर भी प्रेमचन्द ने जिस रचना-कौशल का परिचय दिया है वह इस बात को स्पष्ट करता है कि वे जैसे हमारी सामाजिक समस्याओं से अव गत हैं वैसे मानव-हृदय की संकुल भावनाओं से भी परिचित हैं।

एक ग्रामीण युवती जालपा के अमित आभूषण-प्रेम तथा उसके दुरन्त परिणामों की कथा है 'गबन'। पारिवारिक जीवन के सफल निर्वाह के लिए दायित्व एवं समायोग (Adjustment) कितना आवश्यक है और अचिन्तित एवं असन्तुलित

के अध्ययन में प्रेमचन्द का दृष्टिकोण प्रगतिवादी रहा है किन्तु उन समस्याओं के जो समाधान प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें गान्धीवाद से प्रभावित सुधारवादी की कल्पना का ही परिचय मिलता है। कृषकों की मुक्ति तथा सुधार के लिए उन्होंने जो उपाय प्रस्तुत किया है वह जमींदारी वर्ग के ही प्रेमशंकर द्वारा अपने स्वत्वों का स्वेच्छा पूर्वक परित्याग है। पूंजीवादी शोषक वर्ग के इस मन-परिवर्तन की सुदूर भविष्य में भी संभाव्यता संदिग्ध ही है। वस्तुतः इस दमित एवं दरिद्र वर्ग की ओर दुर्दशा से व्याकुल और उनके उद्धार के लिए आकुल प्रेमचन्द की अतिभावुकता से उत्पन्न ये समाधान अत्यन्त शिथिल नींव पर खड़े हैं। घटनाएं तथा पात्र भी कुछ पूर्वायोजित *परिपाटियों के अनुसार आगे बढ़कर इन आदर्शों की स्थापना में सहयोग देते हैं।* अतः पात्र बहुत कुछ टकसाली हो गये हैं, पर व्यक्तित्व से रहित नहीं। इन परिमितियों के होने पर भी कृषकों की समस्या से सम्बन्धित प्रथम उपन्यास के रूप में प्रेमाश्रम का महत्त्व भुला नहीं जा सकता।

५९ निर्मला—अपने कतिपय वृहद् उपन्यासों में देश की कई महत्त्वपूर्ण *समस्याओं का विश्लेषण करने के पश्चात् प्रेमचन्द पुनः* इस छोटे-से उपन्यास में भारतीय नारी की एक समस्या—अनमेल विवाह—की ओर आये। दहेज देने में असमर्थ होने के कारण फूल-सी सुकुमारी षोडशवर्षीया कन्या निर्मला का विवाह तीन लड़कों वाले एक वकील साहब से होता है जो कामविज्ञान के ग्रन्थों को पढ़कर निर्मला को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं पर दयनीय रूप में पराजित होते हैं। इस विवाह के कारण दो-दो कुटुम्ब कैसे बरबाद हो जाते हैं, इसका मार्मिक चित्रण ही 'निर्मला' का विषय है।

यद्यपि 'सेवासदन' तथा 'प्रेमाश्रम' की तुलना में इसका विषय बहुत सीमित है, तो भी समस्या के गहरे अध्ययन और मनोभावों के सूक्ष्म विश्लेषण की दृष्टि से यह प्रेमचन्द का सबसे सुन्दर उपन्यास है। कई संयोगिक घटनाओं तथा अन्य असंगतियों के होने पर भी 'निर्मला' के पात्रों का क्रमिक विकास—विशेषकर उनके *मनोभावों का विकास—अत्यन्त स्वाभाविक बना है।* घटनात्मक विस्तृति के तथा विशाल वातावरण के अभाव के कारण 'निर्मला' के गठन में जो दृढ़ता आयी है वह प्रेमचन्द के किसी अन्य उपन्यास में नहीं है।

६० रंगभूमि—रंगभूमि में प्रेमचन्द अधिक विशाल क्षेत्र में आये और अधिक विस्तृत समस्याओं के विश्लेषण की ओर प्रवृत्त हुए। १९२ के लगभग गांधी जी राजनीतिक क्षेत्र में सक्रिय कार्य करने लगे और देश-भर में नयी चेतना व्याप्त होने लगी। पराधीन भारत का दमित अभिमान जागरित हो उठा। नौकरशाही तथा उनके हिमायती स्वातन्त्र्य-समर का दमन करने के लिए कटिबद्ध थे और इसके लिए अपनी समस्त पाशविक शक्तियों का उपयोग करते थे। भारत की निरस्त्र जनता को गांधीजी ने अहिंसा एवं शस्त्र-राहित्य के आध्यात्मिक अस्त्र देकर युद्ध-क्षेत्र में उतार दिया। भारत के इस राष्ट्रीय आन्दोलन के वातावरण में ही 'रंगभूमि' का कथानक आयोजित है। मातृभूमि के उद्धार के लिए अन्धप्रण सूरदास को भारतजन के प्रतिनिधि के रूप

में ही रचा है और उसमें गांधीजी के सभी गुणों का आरोप किया है।

भारतीय समाज के शोषित एवं शोषक वर्गों के विभिन्न रूपों और दशाओं के तथा भिन्न-भिन्न सामाजिक स्तरों के व्यक्तियों के चित्रण में प्रायः सम्पूर्ण भारत के समाज को ही दिखाया गया है। साथ-साथ हार्दिक अनुभूतिपूर्ण वैयक्तिक या पारिवारिक सम्बन्धों के चित्रण भी कम नहीं हैं। नायक सूरदास के ही नहीं सोफिया इन्दु जाह्नवी आदि पात्रों के चरित्र भी आदर्श की नींव पर खड़े किये गये हैं। यद्यपि प्रेमचन्द ने इसमें समस्याओं के समाधान के रूप में कोई सस्ता नुस्खा प्रस्तुत नहीं किया है तो भी सम्पूर्ण उपन्यास में प्रकट आदर्श कहीं-कहीं अतिभावुक होकर अयथार्थता की सीमा तक पहुँच गया है।

६१ कायाकल्प—अपने पूर्वलिखित उपन्यासों के सामाजिक यथार्थों तथा यथार्थ समस्याओं से तनिक बचकर एक नयी धरती पर पदार्पण करनेवाले प्रेमचन्द को हम 'कायाकल्प' में देखते हैं। प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों को तथा उनके यथार्थवादी स्वरूप को देखने के पश्चात् 'कायाकल्प' के रूप को देखकर हमें तनिक आश्चर्य होता है। जादू-टोने जन्त्र-मंत्र पुनर्जन्म पर विश्वास आदि कितने ही अन्धविश्वास पर आधारित विषयों के द्वारा इसकी कथा आगे बढ़ायी गयी है। शायद भारत के हिन्दू समाज में बद्धमूल अंधविश्वासों और मूढ़ परम्पराओं को दिखाना ही प्रेमचन्द का ध्येय रहा हो।

वस्तुतः 'कायाकल्प' की मुख्य समस्या हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य है जो उस समय भारत की सबसे बड़ी समस्या बनी हुई थी। जिस भयंकर वैमनस्य ने समय-समय पर हिन्दू-मुसलमानों को एक-दूसरे के रक्त की नदियां बहाने की प्रेरणा दी उसीको प्रेमचन्द ने इस बार हाथ में लिया और एक विशाल समूह के पात्रों की बाह्य एवं आन्तरिक क्रिया प्रक्रियाओं के द्वारा सिद्ध कर दिया कि पारस्परिक प्रेम एवं सहानुभूति से ही इस समस्या की शाश्वत निवृत्ति हो सकती है। वैर-विरोध को मिटाने तथा हिन्दू-मुसलमानों में आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सबसे बड़ी औषधि के रूप में प्रेमचन्द ने अहिंसा एवं सहनशीलता को ही प्रस्तुत किया है। प्रेमचन्द का गांधीवादी रूप इसमें भी प्रकट है।

६२ गबन—बीसवीं शती के प्रथम दशक में 'कृष्णा' नाम से प्रकाशित छोटा-सा उपन्यास बाद में परिवर्धित एवं परिमार्जित होकर एक सुन्दर उपन्यास 'गबन' के रूप में निकला।

विषय के सुचारु विकास तथा मनुष्य की मानसिक वृत्तियों के सम्यक् निरूपण के कारण 'गबन' एक उत्कृष्ट उपन्यास बना है। विषय को परिवार की चहार दीवारी के अन्दर सीमित रखकर भी प्रेमचन्द ने जिस रचना-कौशल का परिचय दिया है वह इस बात को स्पष्ट करता है कि वे जैसे हमारी सामाजिक समस्याओं से अवगत हैं वैसे मानव-हृदय की संकुल भावनाओं से भी परिचित हैं।

एक ग्रामीण युवती जालपा के अमित आभूषण प्रेम तथा उसके दुष्ट परिणामों की कथा है 'गबन'। पारिवारिक जीवन के प्रशस्त निर्वाह के लिए दाम्पत्य एक समायोजन (Adjustment) कितना आवश्यक है और दाम्पत्य एक असन्तुलित

प्रवृत्तियों से जीवन कहां से कहां जा पड़ता है, अपने अनियंत्रित आग्रहों की पूर्ति में बिलकुल उत्तरदायित्वरहित होकर प्रवृत्त होनेवाले व्यक्तियों को कैसी विपत्तियों को सहन करना पड़ता है, इसका मार्मिक चित्रण 'गबन' में किया गया है। जालपा जो एक साधारण ग्रामीण बालिका है अपने विवाह के बाद पति रमानाथ से चन्द्रहार लिवाने का हठ करती है। अपने खानदान की शान-शौकत की डींग हांकनेवाला और अपनी वास्तविक आर्थिक दशा को पत्नी तक से गुप्त रखनेवाला मिथ्याभिमानी रमानाथ पत्नी के इस आग्रह की उपेक्षा नहीं कर सकता। वह उधार लेकर जेवर बनवाता है और कर्ज चुकाने के लिए दफ्तर का कुछ रुपया ले लेता है। रहस्य के खुल जाने पर वह घर से भाग जाता है और अन्त में पुलिस के हाथ में पड़कर राजनीतिक अभियोगों में मुखबिर बनने को तैयार हो जाता है।

जालपा पश्चात्तापी है, उसकी आंतरिक शक्तियां जागरित हो उठती हैं। वह एक आदर्श नारी के रूप में आगे बढ़ती है और पति का उद्धार करती है।

इस आकर्षक कथा-सूत्र को आवश्यक विस्तृति एवं महत्ता प्रदान करके प्रेमचन्द ने एक उत्कृष्ट उपन्यास का रूप दिया है।

६३ कर्मभूमि— 'प्रेमाश्रम' 'रंगभूमि' तथा 'कायाकल्प' के साथ-साथ उन्हीं के पूरक के रूप में 'कर्मभूमि' का नाम लिया जा सकता है—पूरक इस अर्थ में कि इन तीनों उपन्यासों में भारतीय समाज का जो विशाल चित्र खींचा गया है उसे पूर्णता प्रदान करने में 'कर्मभूमि' भी सहायक हुआ है।

सन् १९३१ में सत्याग्रह समर के पुनरारम्भ ने देश में जो परिस्थिति उत्पन्न कर दी उसीका वास्तविक रूप 'कर्मभूमि' में मिलता है। शासन-यंत्र के विभिन्न अंगों का पतन सामान्य रूप में देश-भर में व्याप्त अनैतिकता और अत्याचार आदि के विरुद्ध लेखक ने इसमें अपनी आवाज उठायी है। कथानक तथा पात्रों के जीवनवृत्तों के साथ-साथ इसमें चित्रित वातावरण भी कम महत्त्व का नहीं है। अत्यन्त विशाल पटभूमि का उपयोग करने के कारण कथानक में तथा पात्रों के चरित्रों के क्रमिक विकास में थोड़ी-बहुत शिथिलता आयी है, किन्तु इसी कारण से देश के तत्कालीन वातावरण को यथार्थ रूप में उपस्थित करने में लेखक को विशेष सफलता भी प्राप्त हुई है।

६४ गोदान—प्रेमचन्द की रचनात्मक प्रतिभा का चरमोत्कर्ष उनके अन्तिम उपन्यास 'गोदान' में द्रष्टव्य है। अप्रायोगिक आदर्शों अपरीक्षित सिद्धान्तों तथा अर्ध परीक्षित वादों से अपने-आपको सम्बद्ध रखने के कारण उनके पूर्वलिखित उपन्यासों में जो विफलताएं या दुर्बलताएं प्रकट हुई थीं उन सबसे बहुत कुछ मुक्त होकर वे यहां जीवन-मात्र को व्यंजित करनेवाली यथार्थवादी कला के राजपथ से अग्रसर होते दीखते हैं।

भारत के परस्पर बहुत कुछ असम्बद्ध ग्राम-जीवन तथा नगर-जीवन के विशाल वातावरण में एक से एक आकर्षक पात्रों को लाकर प्रेमचन्द ने भारतीय जीवन के एक बहुत बड़े अंश को प्रत्यक्ष किया है।

जीवन के अमर्यादित अरमानों को मिट्टी में मिलते देखकर भी निरन्तर जीवन का

भार ढोने का प्रयत्न करते हुए और अन्त में उस भार से ही दबकर सांस तोड़ते हुए एक भारतीय कृषक होरी के जीवन पर आधारित यह कथा सचमुच एक महाकाव्य है। होरी तथा उसके परिवार के जीवन के साथ ग्राम तथा नगर के समाज के विविध स्तरों के बीसों व्यक्तियों को सजीव रूप में उपस्थित किया गया है। कथा-कथन की कुशलता चरित्र-चित्रण की सुचारुता समस्याओं के अध्ययन की सूक्ष्मता आदि प्रेमचन्द के जितने विशिष्ट गुण उनके प्रारम्भिक उपन्यासों में प्रकट हो चुके थे वे इसमें अधिक निखरे हुए रूप में प्रस्तुत हुए हैं। पटभूमि अधिक विस्तृत हो गयी है, मनोभावों का विश्लेषण अधिक गहरा हो गया है जीवन की व्याख्या का दृष्टिकोण अधिक सन्तुलित हो गया है और इस तरह 'गोदान' यथार्थवाद की दृष्टि से उनके अन्य उपन्यासों से कोसों दूर आगे बढ़ गया है। प्रथम-प्रथम आदर्शों की हरियाली लिये उपन्यास के क्षेत्र मे पदार्पण करनेवाले प्रेमचन्द अपने जीवन के अन्तिम काल में लिखित इस उपन्यास में आदर्शों पर आसक्ति छोड़कर, जीवन को अधिक वैज्ञानिक दृष्टि से देखने लगे हैं। इसी-लिए वे 'गोदान' में जीवन का अधिक यथार्थ रूप कला का अधिक पुष्ट रूप तथा चिन्तन का अधिक प्रौढ़ रूप उपस्थित कर सके हैं।

उपन्यासकला के पथ पर 'सेवासदन' से 'गोदान' तक की प्रेमचन्द की यात्रा सचमुच एक शानदार यात्रा है और इस प्रयाण का काल हिन्दी उपन्यास के इतिहास का सबसे महत्त्वपूर्ण काल है।

६५ यह सचमुच बड़े खेद की बात है कि हमारे इस उपन्यास-सम्राट के बीसवीं शती में ही रचित उपन्यासों के ठीक-ठीक रचनाकाल (अथवा प्रकाशन-काल) का निर्णय करना अब बहुत कठिन हो गया है। पृष्ठ १८-१६ पर दी गई तालिका में लगभग आधा दर्जन विद्वानों के ग्रन्थों से प्रेमचन्द के उपन्यासों के प्रकाशन-काल दिये गये हैं। इनके आधार पर 'कर्मभूमि' एवं 'गोदान' के अतिरिक्त किसी उपन्यास के सम्बन्ध में किसी निश्चित निर्णय पर पहुंचना असंभव लगता है।

प्रेमचन्द की मुख्य प्रवृत्तियां

प्रेमचन्द विषय तथा अभिव्यंजना की दृष्टि से अपने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों से बहुत आगे बढ़े थे। उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचन्द के पदार्पण करने तक का हमारा उपन्यास-साहित्य चिन्तनरहित काल्पनिक अवास्तविक रहस्यमय तथा विवेकहीन रहा है। पर प्रेमचन्द के काल में देश की सामाजिक जागृति एवं राजनीतिक चेतना के कारण अवस्था ऐसी हो गयी थी कि उस समय हमें अपने वास्तविक रूप से अवगत करनेवाले अपनी अन्तर्निहित शक्तियों का आभास देनेवाले जागरण के साहित्य की आवश्यकता हुई—ऐसे साहित्य की जो विचार में स्वतन्त्र हो चिन्तन में संतुलित हो जीवन की अवरोधक शक्तियों के प्रति उग्र हो दीन-दरिद्र जनता की हीन दशा से विक्षिप्त हो और सर्वोपरि भारत की मूक जनता के जीवन को ही प्रदर्शित करके उसकी आशाओं और अभिलाषाओं को वाणी देनेवाला हो। और इन्हीं अपेक्षाओं की पूर्ति करते हुए उपन्यासकार प्रेमचन्द प्रस्तुत हुए, और उनकी महान जैत्र-यात्रा का आरम्भ हुआ।

प्रेमचन्द के उपन्यासों का प्रकाशन-काल—विभिन्न ग्रन्थों से

उपन्यास	शिवनारायण श्रीवास्तव हिन्दी उपन्यास	Madan Gopal Premchand	हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य	जगन्नाथप्रसाद शर्मा हिन्दी-गद्य साहित्य का विकास	शचीरानी गुर्टू प्रेमचन्द और गोर्की	हंसराज रहबर प्रेमचन्द जीवन और कृतित्व	शिवदान सिंह चौहान हि सा के अस्सी वर्ष
प्रेमा	उर्दू 'हम खुर्मा व हम सवाब' १९ ५ के पूर्व हिन्दी—१९०५	१९ ४ बाद में प्रतिज्ञा	—	उर्दू—१९०४	—	या प्रतिज्ञा १९ ६	—
वरदान	लिखित सेवासदन' के पूर्व प्रकाशित सेवासदन' के बाद	पूर्व रूप 'प्रतापचन्द्र' १९ १ वरदान—	—	उर्दू 'जलवए ईसार' १९१२ हिन्दी—	—	१९ ५-६	—
सेवासदन	१९१८	—	—	१९१८	१९ ७	—	१९१८
प्रेमाश्रम	१९२१	१९२२	१९२२	१९२१	१९२२	लिखित १९१८ १९ प्र १९२२	—

निर्मला	कायाकल्प के बाद	—	१९२८	कायाकल्प के बाद	१९२३	१९२२ २३	१९२२
रंगभूमि	१९२४ २५	१९२६	१९२४	प्रेमाश्रम के बाद	१९२४	१९२७-२८	१९२८
कायाकल्प	१९२४	१९२८	१९२६	रंगभूमि के बाद	१९२८	—	१९२४
प्रतिज्ञा	'प्रेमा' का परिवर्तित रूप कायाकल्प के बाद	—	—	कायाकल्प के बाद	—	या प्रेमा १९ ९	१९२९
गबन	प्रतिज्ञा के बाद	पूर्वरूप 'कृष्णा' १९ ४ के लगभग	—	प्रतिज्ञा के बाद	१९३	—	१९३१
कर्मभूमि	१९१७ के बाद —मुद्राराक्षस। सम्भवतः १९२७ के बाद	१९३२	१९३२	गबन के बाद	१९३२	१९३२	१९३२
गोदान	—	१९३६	१९३६	कर्मभूमि के बाद	१९३६	—	१९३६
मंगल-सूत्र	—	—	—	—	—	—	—

उन्होंने चरित्र वातावरण जैसी तत्त्वों आदि के क्षेत्रों में मौलिक प्रवृत्तियों का परिचय दिया वे इन्हीं के उपन्यासों तक सीमित न थीं परवर्ती उपन्यास-साहित्य के लिए भी निर्णायक प्रेरणा सिद्ध हुई। उनकी ये मौलिक प्रवृत्तियां क्या हैं?

६६ विषय : कल्पना से यथार्थ की ओर—प्रेमचन्द की प्रथम प्रवृत्ति उपन्यास को स्वच्छन्द कल्पना के विचित्र संसार से निकालकर यथार्थ जीवन की ओर ले जाने की है। उनके लिए जीवन कोई खेल-तमाशा न था बल्कि गंभीर विषय था। उनके पूर्ववर्ती लेखकों ने जीवन को विश्लेषणात्मक दृष्टि से नहीं देखा था अतः वे उससे खिलवाड़ कर सकते थे। पर प्रेमचन्द के लिए जीवन का प्रत्येक निमिष जीवन था क्षण भर के लिए भी वे उसके प्रति निश्चिन्त नहीं रह पाये थे। ऐसा कथाकार स्वाभाविक रूप में ही वास्तविक जीवन की ओर आकृष्ट हो तो उसमें आश्चर्य की बात नहीं है।

६७ रोमांस से प्रश्नों की ओर—प्रेमचन्द के पहले समाज की समस्याओं की चर्चा करनेवाले उपन्यासों में भी रोमांटिक कल्पना का प्राधान्य था। रोमांस को उपन्यास का मुख्य विषय बनाना एक सिद्धांत-सा हो गया था। प्रेमचन्द के आगमन से इस सिद्धांत को धक्का लगा। 'प्रेमा' से 'मंगलसूत्र' तक के उपन्यासों में प्रेमचन्द ने भारतीय सामाजिक जीवन की एक-एक समस्या को लेकर उसका विवेचन किया। 'प्रेमा' में विधवा-विवाह का 'सेवा-सदन' में दहेज और अनमेल विवाह के दुष्परिणामों का 'प्रेमाश्रम' में किसान-जमींदारों के पारस्परिक संघर्ष का 'रंगभूमि' में भारत के स्वातंत्र्य-समर और जन-जागृति का 'कायाकल्प' में हिन्दू-मुस्लिम समस्या का तथा 'निर्मला' 'प्रतिज्ञा' और 'गबन' में भारतीय नारी की विकट समस्याओं का प्रतिपादन करते हुए प्रेमचन्द ने अपने अंतिम पूर्ण उपन्यास 'गोदान' में भारतीय किसान की करुण कथा प्रस्तुत की। भारतीय जीवन का शायद ही कोई अंग उनकी दृष्टि से छूटा है अतः उनके उपन्यास भारतीय समाज के अध्ययन के लिए प्रामाणिक पूर्ण और विश्वस्त माध्यम हैं।

६८ मानव जीवन का अध्ययन—प्रेमचन्द के पात्र भारतीय जनता की सांस्कृतिक विशेषताओं को रखते हुए सच्चे भारतीय हैं तो दूसरी ओर साधारण मानवीय भावनाओं से परिपूर्ण मानव भी हैं। पारस्परिक सहानुभूति ईर्ष्या द्वेष प्रेम आदि मानव-मात्र के चिरन्तन गुणों से युक्त उनके पात्र कभी-कभी विश्व-उपन्यासकारों के उत्कृष्ट पात्रों के समान सार्वलौकिक बन जाते हैं। 'गोदान' के पात्र सचमुच सजीव मनुष्य हैं।

६९ मनोविश्लेषण—प्रेमचन्द पात्रों के बाह्य क्रिया-कलापों के वर्णन-मात्र से संतुष्ट नहीं होते उनके आंतरिक भावों का भी अध्ययन करते हैं। भले ही उनका मनोविश्लेषण प्रकृतिवादियों के विश्लेषण के समान सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों का विवेचन करनेवाला न हो और मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों के विश्लेषण के समान मानस की जटिल ग्रंथियों को सुलझानेवाला न हो तो भी वह सबसे अधिक पात्रों को मूर्त रूप देकर पाठक के हृदय से मिला देनेवाला है। उनका मनोविज्ञान एक विशेषज्ञ का नहीं जो अपने यांत्रिक सिद्धांतों से मनुष्य को नापता है बल्कि उस माता का सा

है जो फ्रायड और एडलर का अध्ययन किये बिना ही अपने बच्चे के प्रत्येक भाव-परिवर्तन का मर्म अच्छी तरह समझ लेती है। प्रेमचन्द पात्रों के मनोभावों को बुद्धि से ही नहीं हृदय से भी समझते हैं। और इसीलिए उनके पात्र हृदय को प्रभावित करते हैं।

७० यथार्थवाद का प्रतिष्ठापन—प्राय: प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की चर्चा की जाती है और वे स्वयं आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का महत्त्व मानते भी हैं।[1] इसका अर्थ यही है कि वे जीवन के यथार्थ रूप को देखते हैं और उसे सुधारने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन सच्ची बात तो यह है कि उनका विकास निरन्तर यथार्थोन्मुख रहा और 'गोदान' तक आते-आते वे आदर्शवाद से बहुत कुछ मुक्त हो गये। आदर्शवाद उनका बन्धन था जो उन्हें साहित्यिक पैतृक संपत्ति के रूप में प्राप्त हुआ था। पारम्परिक आदर्शवाद से वे एकदम मुक्त नहीं थे। पर निस्सन्देह उन्होंने अपने बन्धनों को एक-एक कर तोड़ फेंकने का प्रयत्न किया और इसमें वे बहुत कुछ सफल भी हुए। प्रेमचन्द अपनी कला के चरमोत्कर्ष में यथार्थवादी अधिक हैं आदर्शवादी कम। कहा जा सकता है कि 'प्रेमा' 'सेवासदन' आदि के परम्परा-विमुग्ध प्रेमचन्द सुधारवादी हैं 'प्रेमाश्रम' 'रंगभूमि' 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' के गांधीय प्रेमचन्द आदर्शोन्मुख यथार्थवादी हैं। वस्तुत: प्रेमचन्दीय प्रेमचन्द 'गोदान' में हैं और बहुत कुछ (पूर्णतया नहीं[2]) यथार्थवादी हैं। विदेशी कलाकारों की तुलना में उनके यथार्थवाद को अपूर्ण कहा जा सकता है पर उनकी परिस्थितियों में उनका महत्त्व अनन्यसाधारण है और हिन्दी में यथार्थवाद के प्रतिष्ठापन का श्रेय उन्हीं का है। परवर्ती यथार्थवादी उपन्यासकारों की भित्तियां प्रेमचन्द की नींव पर उठायी गयी हैं।

७१ प्रगति और क्रान्ति—प्रेमचन्द के अधिकांश उपन्यासों पर गांधीवाद का प्रभाव है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और मार्क्स के अन्य सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष प्रभाव उनमें नगण्य है। इन कारणों से प्रेमचन्द को प्रगतिवादी या क्रान्तिकारी कलाकार मानने में आपत्ति हो सकती है। लेकिन 'प्रगतिवाद' के विशाल अर्थ को लें तो वे प्रगतिवादी ही हैं। जिस लेखक की कृतियों में भारतीय समाज की प्रत्येक श्रेणी के लोगों का चित्रण उनकी प्रतिदिन की समस्याओं का प्रतिपादन उनकी वलहीनताओं और सद्भावनाओं का प्रदर्शन भारतीय संस्कृति का सही-सही मूल्यांकन और समाज को उसकी असंगतियों से बचाकर स्वस्थ और गतिशील बनाने का सन्देश उपलब्ध है उसे प्रगतिशील मानने में क्या आपत्ति हो सकती है? अगर समाज की विकासोन्मुख प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन ही प्रगतिशीलता का लक्षण है तो प्रेमचन्द का गांधीवाद प्रगतिशीलता है क्योंकि प्रेमचन्द के उपन्यासों के समय में हमारे राष्ट्र में इससे बड़ी प्रगतिशील शक्ति गांधीवाद की थी। उसकी उपेक्षा करते तो प्रेमचन्द भारतीय समाज के विश्वस्त चित्रकार न होते।

लेकिन अपने अन्तिम वर्षों में वे गांधीवाद और सुधारवाद पर विश्वास खो बैठे।

---

[1] देखें 'उपन्यास' 'साहित्य का उद्देश्य' में पृ० ५० ।

[2] देखें अनुच्छेद ७४ १३४-१४१ ।

और मार्क्सवाद और सशस्त्र क्रान्ति पर उनकी आस्था बढ़ने लगी। १९३३ से १९३६ तक के 'हंस' और 'जागरण' के अंक इसके साक्षी हैं। उन्होंने निस्संकोच घोषणा कर दी कि "वैयक्तिक सत्याग्रह का कार्यक्रम राष्ट्र को स्वीकार नहीं है।"[1] गांधीजी की असम्भव शर्तों तथा अव्यावहारिक नीति का प्रतिषेध करते हुए उन्होंने लिखा 'सत्याग्रही नीति से हमें अपने उद्देश्य-प्राप्ति की आशा नहीं।'[2] उन्होंने साम्यवाद का सबल समर्थन किया।[3] मजदूरों और किसानों की समस्या के सम्बन्ध में उनके शब्द हैं *'जब तक सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार रहेगा तब तक* मानव-समाज का उद्धार नहीं हो सकता। मजदूरों का काम घटाइये जमींदारों और पूंजीवादियों के अधिकार घटाइये बेकारों को गुजारा दीजिये मजदूरों और किसानों के स्वत्वों को बढ़ाइये, सिक्के का मूल्य घटाइये इस तरह के चाहे जितने सुधार आप करें लेकिन यह जीर्ण दीवार इस टीपटाप से नहीं रह सकती। इसे नये सिरे से गिराकर उठाना होगा।'[4] प्रेमचन्द के उपन्यासों के ही सत्याग्रह समझौते और मनपरिवर्तन के सिद्धान्तों के विरोधी थे *अतः उनके मानसिक असुन्तुलन का नहीं मानसिक विकास का परिचय देते* हैं। अपने इस मानसिक परिवर्तन के बाद प्रेमचन्द ने हमें एक ही उपन्यास 'गोदान' दिया।[5] उपर्युक्त शब्दों के प्रकाश में देखा जाय तो 'गोदान' में सुधारवाद का जो अभाव है वह बिलकुल स्पष्ट होगा। पहले के उपन्यासों में उन्होंने गांधीवादी सुधारवाद का आश्रय लेकर यथार्थवाद और क्रान्ति-भाव को किरकिरा कर दिया। हंसराज रहबर ने इसे प्रेमचन्द की कमजोरी माना है।[6] पर वस्तुतः इसका कारण प्रेमचन्द का गांधीवाद से प्रभावित तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्र उतारने का प्रयत्न है। लेकिन जब १९३२ ३३ की राजनीतिक घटनाओं ने गांधीवाद से उनकी आस्था हटा दी तो उनके साहित्य का स्वरूप भी बदल गया। उनका आदर्श कुछ भी रहा हो पर यह निश्चित है कि हिन्दी साहित्य में प्रथम प्रथम देश के वर्ग-संघर्ष का विश्लेषण करनेवाले प्रेमचन्द ही थे और यह विश्लेषण उत्तरोत्तर क्रमात्मक होता गया। इस दृष्टि से प्रेमचन्द हमारे प्रथम प्रगतिशील उपन्यासकार हैं और शायद अन्तिम भी क्योंकि इस परम्परा में इतना सबल कोई परवर्ती लेखक नहीं हुआ है।

७२ मानव मूल्य की मान्यता—मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखनेवाले हिन्दी के प्रथम कलाकार प्रेमचन्द हैं। उनके पहले किसी उपन्यासकार ने वैज्ञानिक ढंग से

---

१ जागरण ७ अगस्त १९३२ सम्पादकीय।

२. वही सम्पादकीय।

३ देखें जागरण २८ जनवरी १९३४ का सम्पादकीय।

४ जागरण २० फरवरी १९३३ सम्पादकीय।

५ मुझे बलवान सन्देह है कि मंगल-सूत्र 'गोदान' के पूर्व ही लिखा गया। विषय विचार शैली एवं गठन को देखते हुए मैं यही अनुमान करता हूं कि संभवतः उन्होंने बहुत पहले ही मंगल-सूत्र की रचना की हो पर किसी कारण से वह अपूर्ण पड़ा रह गया हो।

६. रहबर : प्रेमचन्द जीवन और कृतित्व पृ १९२ १९३।

जीवन का मूल्य निर्धारित नहीं किया जीवन की कुत्सित वृत्तियों की आलोचना और असाधारण एवं आश्चर्यजनक सम्बन्धों के वर्णन से आगे बढ़कर जीवन को समग्र रूप में देखने का प्रयत्न नहीं किया। पर प्रेमचन्द ने मानव को मानव के रूप में देखा उसके कोमल रूप के अन्दर के पशु को पहचाना उसके हाड़-मांस के अन्दर स्थित हृदय नामक कोमल वस्तु का परिचय पाया उसकी बीभत्सता से घृणा करते हुए भी उसकी बलहीनता पर सहानुभूति दिखायी और उसकी दिव्यता की उपासना की। इस तरह मनुष्य को समझने में उनके परवर्ती लेखक भी उतने सफल नहीं हुए।

७३ शिल्प-विधान—प्रेमचन्द के उपन्यासों की और एक मौलिक विशेषता उनका शिल्प-विधान या टैकनीक है। भावों और अभिव्यंजन पर ध्यान दिये बिना विवरणात्मक रीति से कथा कहने की पुरानी परम्परा को छोड़कर, उन्होंने विश्लेषणात्मक और वैज्ञानिक ढंग को अपनाया। विषय-विकास की रीति पात्रों का प्रत्यक्षीकरण भावों की सफल व्यंजना भाषा की स्वाभाविकता आदि पर ध्यान रखते हुए उन्होंने बिलकुल एक नयी टैकनीक को अपनाया। इससे सम्बंधित विविध अंगों की अन्य अध्यायों में चर्चा की जायगी अत: यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा।[1]

प्रेमचन्द की सीमाएं

प्रत्येक कलाकार की अपनी कुछ सीमाएं होती हैं। प्रेमचन्द इस नियम के अपवाद नहीं थे। उनके सामने उपन्यास की कोई प्रौढ़ और प्रशस्त परम्परा न थी जिसकी नींव पर वे अपना महल खड़ा कर सकें। उन्हें स्वयं नींव डालनी पड़ी भित्तियां उठानी पड़ी छप्पर छाना पड़ा। अत: प्रारम्भ से लेकर अपनी कला को अधिकाधिक सौष्ठव रूप देने के लिए उन्हें निरंतर प्रयत्न करना पड़ा। उन्होंने जो कुछ किया वह एक व्यक्ति के लिए अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य था। इस बात को मानते हुए हम उनकी सीमाओं को देखें।

७४ तटस्थता की कमी—जो प्रेमचन्द उपन्यास को जीवन की व्याख्या मानते हैं 'मानव-चरित्र का चित्रण-मात्र' समझते हैं, उनके प्रारम्भिक उपन्यासों में व्याख्या और चित्रण से अधिक जीवन की आलोचना ही मिलती है। उनका आदर्श वादी दृष्टिकोण ही इसका कारण है। 'गोदान' तक में वे आदर्शवाद से पूर्णतया मुक्त नहीं होते। यद्यपि 'गोदान' में उन्होंने किसी आदर्श की स्थापना नहीं की तथापि वे तुर्गनेव चेखोव जैसे लेखकों की निरपेक्षता को अपना नहीं सके। नगर जीवन तथा उच्चवर्गीय लोगों का स्वरूप प्रकट करते समय उनके प्रति प्रेमचन्द की अपार घृणा प्रकट होती है। निम्नवर्गों पर उनकी अपार सहानुभूति है। इसी तरह स्त्री-पात्रों का भी प्रेमचन्द ने असीम उदारता से चित्रण किया है। भले ही यह दृष्टि कोण अनुचित न हो तो भी यह उनके यथार्थवाद की सीमा निर्धारित करता है।

७५ घटना-बाहुल्य—मनोभूमि की कमी—प्रेमचन्द के प्रत्येक उपन्यास में

---

[1] दे० अध्याय ४ अनुच्छेद ११५, १४३ १४४ १४९ १५ आदि।

घटना-बाहुल्य है जिसके कारण मनोभूमि अधिक स्पष्ट नहीं होती। पात्रों के मानसिक जगत् के पर्याप्त प्रदर्शन के लिए तथा उनके वैचारिक द्वन्द्वों के समुचित प्रकटन के लिए ही नहीं पात्रों को पाठकों के निकट लाकर दोनों में वैचारिक साधर्म्य स्थापित करने के लिए भी घटनाओं का नियंत्रण अत्यन्त आवश्यक होता है। शरत्, आस्त्र और आदि के उत्कृष्ट उपन्यासों में घटनाओं की परिमिति ही पात्रों की मनोभूमि के अगाध अध्ययन में सहायक हुई है। जेम्स जायस के 'यूलीसेस' में यद्यपि घटनाओं की बहुलता है तो भी समस्त घटनाएं एक ही व्यक्ति को केन्द्र बनाकर घटित होती हैं। ये घटनाएं अपने-आपमें उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, जितने कि पात्रों पर पड़ने वाले उनके प्रभाव। प्रत्येक घटना से यह स्पष्ट होता है कि किसी विशेष परिस्थिति में व्यक्ति की मानसिक प्रतिक्रिया कैसी होती है। प्रेमचन्द के उपन्यास में घटना-बाहुल्य है पर वह 'यूलीसेस' का सा नहीं। 'रंगभूमि' 'कायाकल्प' 'कर्मभूमि' और 'गबन' (केवल अंतिम भाग में) में यह दोष कुछ अधिक है। जब प्रेमचन्द घटना पर घटना का चित्रण करते जाते हैं, तब उन्हें व्यक्ति के अंतर्जगत् के अज्ञात स्तरों का आविष्कार करने का अवसर नहीं मिलता। पर जहां घटनाओं की अपेक्षाकृत कमी है जैसे 'निर्मला' में वहां पात्रों के अंतर्जगत् अधिक व्यक्त हुए हैं। यहां इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि अगर सम्भव-बहुलता के कारण प्रेमचन्द का व्यक्ति का अध्ययन केवल उपरितलीय रह गया है, तो उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि अधिक व्यक्त भी हुई है। और वस्तुतः प्रेमचन्द का ध्येय भी हमारे समाज का अध्ययन था व्यक्तियों की उद्भुत मानसिक ग्रंथियों एवं अन्तर्द्वन्द्वों का विश्लेषण नहीं।

७६ स्वानुभूत दर्शन का अभाव—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के मत में प्रेमचन्द का कोई स्वतंत्र स्वानुभूत दर्शन नहीं है "कल्पना के अभाव के साथ प्रेमचन्दजी में तीव्र बौद्धिक दृष्टि और उसके फलस्वरूप निर्माण होनेवाले व्यवस्थित जीवन-दर्शन का भी अभाव है।"[1] यद्यपि प्रेमचन्द ने जीवन का बहुत ही विस्तृत रूप उपस्थित किया तो भी वे उसकी गम्भीर व्याख्या नहीं कर सके। उन्होंने जीवन के मूलभूत सत्यों और विविध नैसर्गिक प्रवृत्तियों की मौलिक प्रेरणाओं की खोज नहीं की। उनके आदर्श भी प्रायः बौद्धिक चिंतन से रहित और अवैज्ञानिक होने से अप्रायोगिक हैं। जिन-जिन उपन्यासों में उन्होंने आदर्शों की स्थापना की है उनके आदर्श उस आदमी के आदर्श के समान हैं जो वर्ग-पहेली (crossword puzzle) का प्रथम पुरस्कार जीतने और उस धन से अपने घर की आर्थिक समस्याओं को सुलझाने का निरंतर प्रयत्न करता हो।

७७ बौद्धिकता की कमी—समस्याओं से उलझते समय लेखक को बौद्धिकता से ही अधिक काम लेना पड़ता है भावुकता से नहीं। लेकिन प्रेमचन्द कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक भावुक हो गये हैं। उनके अव्यावहारिक आदर्शों का कारण यही ज्ञात होता है। शायद उनकी अपार सहृदयता और मानव के प्रति असीम सहानुभूति ही इसके कारण हों। सामाजिक रूढ़ियों और अत्याचारों से संतप्त पात्रों का परित्राण

१ हिन्दी साहित्य : बीसवीं शती पृ ८६।

करने की आकुलता में वे जो बने-बनाये आदर्श उपस्थित करते हैं वे अत्यन्त अव्यावहारिक हैं। समाज द्वारा परित्यक्त सुमन को पतित दशा में छोड़ देना उनके कोमल हृदय को असह्य था। अतः उन्होंने सेवा-सदन की स्थापना की। नित्य की दरिद्रता तथा जमींदारों के क्रूर व्यवहारों को सहन करनेवाले कृषकों की घोर दुर्दशा से उनका हृदय पिघल पड़ा। अतः उनका प्रेमशंकर (जो जमींदारी वर्ग का है) अमेरिका से (!) साम्यवाद की भावना लिये लौटता है और अपना जमींदारी का हक छोड़ देता है। विधवाओं के लिए प्रेमचन्द के हृदय में सदा एक कोमल भाग था अतः उन्होंने 'प्रतिज्ञा' में विधवाश्रम की स्थापना का प्रस्ताव उपस्थित किया। अनमेल विवाह से असन्तुष्ट होकर प्रेमचन्द ने एक ओर निर्मला की करुण कहानी उपस्थित की तो दूसरी ओर इस समस्या को सुलझाने के लिए दहेज लिये बिना विवाह करनेवाले एक सहृदय युवक का भी प्रतिष्ठापन किया। 'गोदान' के पूर्व के उपन्यासों में प्रेमचन्द के ऐसे-ऐसे जो आदर्श हैं, वे उनकी सहृदय भावना का तो परिचय देते हैं, पर उनके बौद्धिक चिंतन का नहीं। हमारे समाज की सैकड़ों वर्षों से बद्धमूल ये समस्याएं कुछ सेवा-सदनों और विधवा-आश्रमों की स्थापना से या ऐसे अन्य सस्ते नुस्खों से सुलझनेवाली नहीं हैं। हमारी संस्कृति (उसकी भलाइयों और बुराइयों-सहित) की नींव जितनी दृढ़ है उतनी ही दृढ़ इन सामाजिक अनाचारों और अत्याचारों की भी है। इस बात को प्रेमचन्द 'गोदान' लिखने के पूर्व नहीं [illegible] सके। इन सबके सुधारवादी आदर्श प्रेमचन्द की बौद्धिक अपरिपक्वता के परिचायक हैं।

७८ अभिव्यंजन की सीमा—प्रेमचन्द का अभिव्यंजन [illegible] है। उन्होंने व्यंजना की चरम शक्तियों का उपयोग नहीं किया है। जब आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने उच्च श्रेणी के साहित्य में वाणी के मौन रहने की [illegible] प्रेमचन्द ने निषेध किया 'जहां वाणी मौन रहती है वह साहित्य है? [illegible] नहीं [illegible] है।"[1] इन शब्दों में प्रेमचन्द की [illegible] स्पष्ट होती है। [illegible] अभिव्यंजन में शब्दों से अधिक भाव होता है और भाव का [illegible] व्यंजित किया जाता है। प्रेमचन्द का अभिव्यंजन इस सीमा [illegible] है। पर हमें यह मानना पड़ेगा कि इस परिमिति के कारण [illegible] का विश्लेषण न कर सके हों किन्तु अपार सरलता [illegible] कर सके हैं और पाठकों को मुग्ध कर सके हैं।

हिन्दी साहित्य की तत्कालीन परिस्थिति को [illegible] वाली इन कमियों को प्रेमचन्द के [illegible] चाहिए। ये कमियां न होतीं तो वे अधिक [illegible] के होते हुए प्रेमचन्द हमारे सर्वोत्कृष्ट [illegible] हैं।

प्रेमचन्द-कालीन अन्य उपन्यासकारों का [illegible]

प्रेमचन्द-काल के अन्य [illegible]

---

१. हिन्दी साहित्य [illegible]

मिलती है। विदेशी उपन्यासों के प्रभाव एवं अपने सृजनशक्ति के कारण प्रेमचन्द कला में जो सौष्ठव ला पाये थे वह अन्य किसी लेखक की प्रतिभा से प्राप्त नहीं था। अधिकांश लेखक विषय या शैली में किसी तरह की मूलगता की स्थापना नहीं कर सके। कौशिक प्रसाद चतुरसेन जैसे महारथी भी न अपनी किसी स्वस्थ परम्परा की नींव डाल सके न प्रेमचन्द की प्रवृत्तियों को अपनाकर उनमें प्रगति कर सके। प्रेमचन्द के उपन्यासों की तुलना में देखे जायं तो उस काल के अन्य उपन्यासकारों के उपन्यास विशेष महत्त्व के नहीं हैं। फिर भी उनकी प्रमुख प्रवृत्तियों का संक्षिप्त अध्ययन यहाँ अनुचित न होगा।

७९ जासूसी तिलिस्मी और ऐयारी—'चन्द्रकान्ता' एवं 'भूतनाथ' की परम्परा प्रेमचन्द-काल में भी चलती रही। गोपालराम गहमरी के अनेक जासूसी उपन्यास प्रकाशित हुए, जिनकी संख्या को देखते हुए लगता है कि गहमरीजी ने कई उपन्यास अन्यों से लिखवाकर अपने नाम से प्रकाशित किये होंगे। इन उपन्यासों में रोमान्टिक उपन्यासों की भांति घटना-चक्र की जटिलता है। और एक उल्लेखनीय बात यह है कि इन जासूसी उपन्यासों में भी कथानक प्रायः एक या अधिक युवतियों के चारों ओर चक्कर काटते रहते हैं। चोरी डाका हत्या आदि के होने पर भी इनमें जासूस का विशेष महत्त्व नहीं रहता क्योंकि इनमें शर्लक होम्स अथवा सेक्स्टन ब्लेक के समान बुद्धि के बल पर काम करनेवाले जासूस नहीं मिलते। प्रायः छिपकर कुछ बातचीत सुनने से[1] या रहस्यमय चिट्ठी डायरी आदि के प्राप्त होने से रहस्य खुल जाते हैं। आश्चर्य की बात यह है कि चोर या हत्यारे जासूस के लिए आवश्यक सभी सूचनाएं लिखकर तैयार रखते हैं।[2]

८० रोमान्टिक कल्पना—इस युग के उपन्यासों में सबसे अधिक प्रवृत्ति रोमान्टिक कल्पना की है। १८९८ ई० में किशोरीलाल गोस्वामी ने उपन्यास के सम्बन्ध में लिखा था इसकी रचना उत्तरोत्तर आश्चर्यजनक एवं कुछ छिपी हुई घटना क्रमशः समाप्ति में स्फुटित हो।[3] प्रेमचन्द-कालीन अन्य लेखकों के सामाजिक उपन्यासों में भी 'रहस्य' और आश्चर्यपूर्ण घटनाएं काफी हैं। चतुरसेन के 'हृदय की परख' (१९१८) 'व्यभिचार' (१९२४) 'हृदय की प्यास' (१९३३) और अमर अभिलाषा' (१९३३) उग्र का 'चन्द हसीनों के खतूत' (१९२७) निराला के 'अलका' (१९३३) 'निरुपमा' (१९३६) भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'मीठी चुटकी' (१९२८) 'अनाथ पत्नी' (१९२८) 'मुस्कान' (१९२९—यही १९३२ में 'त्यागमयी' नाम से प्रकाशित हुआ) और 'पतिता की साधना' (१९३६) प्रसाद के 'कंकाल' (१९२९) और 'तितली' (१९३४) आदि में समाज की यथार्थ समस्याओं के साथ स्वच्छन्दतावादी कल्पनापूर्ण घटनाओं का समन्वय है। समस्याएं प्रायः विधवा बाल-विवाह सतीत्व-भंग

---

१ देखें गहमरी का 'मनो-पत्रो' पृ० ५४-५५।

२. अलका में कुन्दन किशोर के माध्यम से उसके सभी कर्मों का लेखा मिल जाता है।

३ प्रणयिनी परिणय उपोद्घात पृ० १।

प्रेम में बाधा आदि से सम्बन्धित हैं। उषादेवी के 'पिया' (१९३७) और वृन्दावनलाल वर्मा के 'लगन' (१९२९) 'प्रेम की भेंट' (१९३१) और 'कुण्डलीचक्र' (१९३२) आदि में रोमान्स कुछ नये ढंग से आया है।

८१ सामाजिक आलोचना—उपर्युक्त सभी उपन्यासों में समाज की आलोचना थोड़ी-बहुत मिलती है। 'उग्र' के 'बुधुआ की बेटी' (१९२८) और 'शराबी' में आधुनिक समाज की दुर्बलताओं की आलोचना है। प्रसादजी ने धर्म और आदर्श के नाम पर चलनेवाले अत्याचारों की निन्दा करके समाज के खोखले आदर्शों की निरर्थकता दिखायी। चतुरसेन ने भी उग्र के समान तीव्रता के साथ वासना की निन्दा की। अन्य उपन्यासकारों की आलोचना में अधिक तीक्ष्णता नहीं है। इनमें किसी भी उपन्यास में यथार्थवादी की निरपेक्षता और कलात्मकता से सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण नहीं किया गया है। आलोचना को कथा के स्वाभाविक विकास में व्यंजित करने और पाठक के विकारों को जगाकर धीरे-धीरे अनुभूति के शिखर तक पहुँचाने के बदले लम्बे-लम्बे भाषणोपमात्मक भाषणों से उत्तेजना दी गयी है।

८२ आदर्शवाद, उपदेशवाद सुधारवाद—ये सब उपन्यास प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में आदर्शवाद का सहारा लेते हैं। आदर्शवाद भी प्रायः उपदेशवाद या सुधारवाद की सीमा तक पहुँच जाता है। सभीमें कुछ दुष्ट पात्रों के साथ एक या अधिक सत्पात्रों को लाकर नैतिकता का सन्देश दिखाया गया है। दुष्टात्मों के [illegible] पीड़ित नारियों की सहायता के लिए सत्पात्र सदा तैयार रहते हैं। [illegible] के 'हिन्दू-गृहस्थ' (१९ ५) 'आदर्श दम्पति' (१९ ८) 'आदर्श हिन्दू' [illegible] पात्र निरन्तर कष्ट सहन करके भी आदर्शों का पालन करते हैं। [illegible] में सुधारवाद पुरुषों को कोड़ा लगाकर दुरुस्त करने की [illegible] है। चैनेन्द्र के 'परख' (१९३) में बिहारी और कट्टो असीम [illegible] करते हैं। सियारामशरण गुप्त के 'गोद' में समाज के [illegible] किशोरी से विवाह करनेवाला शोभाराम आदर्श पात्र है।

आदर्श की चरम सीमा में अलौकिक हो जाने[illegible] पत्नी' के सुशील और प्रतिमा 'मुस्कान' की [illegible] आदि प्रेम त्याग आदि सद्भावनाओं के आकार [illegible] ने भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'प्रभात पन्नों' की [illegible] और अलौकिक कल्पना पर तत्कालीन लेखकों [illegible]

---

१ जो बात संसार में [illegible] में कोई कथा भी हो नहीं है। [illegible] निराली है [illegible] दवा कर देने से काम नहीं [illegible] पर नहीं हाथ रखती है, [illegible]

[illegible]

ईश्वर के समान 'निरंकुश स्वच्छन्द' सृजन करना चाहते हैं।[1] लेखक की यह निरंकुशता तत्कालीन सभी लेखकों की कल्पना आलोचना और आदर्श में मिलती है।

८३ फार्मूला—लेखकों के आदर्शों के कारण सभी उपन्यास एक निश्चित फार्मूला के अनुसार चलते हैं। सुखान्त उपन्यासों में फार्मूला का रूप प्रायः यह होता है।

$$\text{सत्पात्र} + \left\{\begin{matrix}\text{कष्ट}\\ \text{विघ्न}\end{matrix}\right\} \rightarrow \text{विवाह} + \text{सुख}$$

$$\text{दुष्पात्र} + \left\{\begin{matrix}\text{सुख}\\ \text{विलास}\end{matrix}\right\} \rightarrow \text{दुःख} + \text{मरण या कारावास}$$

दुःखान्त उपन्यासों में नायक या नायिका परिस्थितियों की विवशता से नहीं अपने ही आदर्श त्याग और उत्सर्ग से शोकात्मक अन्त का वरण करते हैं। 'मुस्कान' की ललिता अपनी जान देकर प्रियतम की प्रेमिका को बचाती है। भिखारिणी की यशोदा प्रेमी का अन्य स्त्री से विवाह हो जाने पर अपनी करोड़ों की सम्पत्ति दान में देकर भिखारिणी बन जाती है। 'पिया' की पपीहरा का आत्मोत्सर्ग और नीलिमा की आत्महत्या भी ऐसे ही उदाहरण हैं।

८४ वस्तु विन्यास—इन सब उपन्यासों में वस्तु-विन्यास साधारण है। प्रायः सभीमें वैचित्र्यपूर्ण कथाएं कही गयी हैं। कथानक के वैचित्र्य के कारण और घटना बाहुल्य के कारण भाव-विकास का अवसर ही नहीं आया है। 'कंकाल' इसका अच्छा उदाहरण है। इस काल में 'चित्रलेखा' (१९३४) ही एक ऐसा उपन्यास है जिसमें वस्तु विन्यास का सौष्ठव और भाव-विकास का सुघार रूप मिलते हैं। अपनी दार्शनिकता और प्रभावपूर्ण शैली लिये यह तत्कालीन उपन्यासों में अकेला खड़ा है।

८५ चरित्र और वातावरण का अभाव—कथानक के प्रति अनुचित मोह के कारण और अपने आदर्शों के प्रतिपादन के आग्रह के कारण प्रेमचन्द के अतिरिक्त अन्य समकालीन उपन्यासकार न कोई किसी वास्तविक पात्र की सृष्टि कर सके न सच्चे वातावरण की। विशेषकर सामाजिक उपन्यासों के पात्र गुण-दोषों के नैसर्गिक सम्मिश्रण से युक्त न होकर, किसी सिद्धान्त के अनुसार निर्मित होने के कारण अपनी अनुभूतियों को पाठकों के हृदय तक नहीं पहुंचा सकते। पात्रों के अन्तर्द्वन्द्वों के विश्लेषण की ओर लेखकों का ध्यान गया ही नहीं दीखता। उनकी दृष्टि घटनाचक्र को आगे बढ़ाने में ही केन्द्रित रही। इसका एक फल यह हुआ कि कथानक में चुस्ती आ गयी। पर साथ यह हानि भी हुई कि पात्रों और वातावरण के यथार्थ रूप के अभाव में प्रभाव कम हो गया।[2]

८६ विचार से अधिक विकार—काव्य में विकार को विचार से अधिक महत्व दिया जा सकता है। पर उपन्यास में दोनों का सन्तुलन अनिवार्य है। यद्यपि

---

१ पतिता की साधना अपनी बात पृ १।

२. चरित्र-चित्रण की विस्तृत चर्चा अन्यत्र की जाती है।

विकार और भावना ही कला की मूल प्रेरणाएं हैं तथापि वस्तुस्थितियों को ठीक तरह समझने के लिए विचार ही उपयोगी है। विकार यथार्थ के ग्रहण में विघ्न होते हैं नहीं अपनी अधिकता में (यथार्थ-ग्रहण में) बाधक भी हो जाता है। अतः उपन्यास को वास्तविक जीवन का अध्ययन मानें तो उसमें विचार को अधिक महत्त्व देना पड़ेगा। इसके बिना जीवन का विश्लेषण और स्पष्टीकरण असम्भव है। इस विश्लेषण और स्पष्टीकरण को आकर्षक बनाकर, पात्रों में रागात्मकता भर, [illegible] पाठक की आसक्ति बढ़ाने के लिए विकार से भी काम लेना होगा। दूसरे [illegible] है कि मनुष्य विकार द्वारा ही स्वार्थ की सीमा पार कर [illegible] कर सकता है। अतः उपन्यास में विचार और विकार दोनों [illegible] हो जाते हैं। वस्तुतः विचार के माध्यम से विकारों का [illegible] ही [illegible] बना सकता है।

पर प्रेमचन्द-काल के अधिकांश लेखकों के उपन्यासों में [illegible] मिलती। ज्ञात होता है कि लेखक विकार के हाथ बिक गये हैं और [illegible] का सहारा लेकर ही अपने विचारों को प्रस्तुत करते हैं। [illegible] सुलभ है जहां लेखक आवश्यकता से अधिक उत्तेजित हो उठता है और [illegible] (लाउड स्पीकर) की भांति लेखक के ही शब्दों का [illegible] है। [illegible] भाषण या प्रलाप की सीमा तक पहुंच जाता है। तूलिका के [illegible] सूक्ष्म रेखाओं द्वारा जिन विकारों को व्यक्त करना [illegible] असावधानी से चित्र का रूप ही बिगाड़ दिया है।

८७ भाव-विकास के अवसरों की [illegible] मानसिक संघर्ष के अवसरों पर भी लेखक [illegible] मनोभावों की उपेक्षा करते हैं। [illegible] भगवती को काशी में छोड़ आने का [illegible] का निषेध करते समय [illegible] विश्लेषण आवश्यक है। [illegible] वाली यशोदा की मानसिक [illegible] लेकिन इन प्रसंगों में लेखकों ने [illegible] के मनोभावों को व्यक्त नहीं [illegible] के आने-जाने उठने-बैठने और [illegible] करनेवाला लेखक उस [illegible] किशोरी पति के रहते हु[illegible] के समान अवसरस में नहीं [illegible] इस काम के [illegible] में [illegible] में अवसर उत्पन्न [illegible] है। [illegible] से विषमता में [illegible] उपन्यासों में न हुए हैं। [illegible]

की ओर आते हैं, पर न जाने क्यों शीघ्र ही उसे भूलकर घटनाओं की धारा में बह जाते हैं। सियारामशरण गुप्त के 'गोद' के शोभाराम में लेखक के आदर्श के साथ साथ हृदय की कोमल भावनाएं भी दिखायी पड़ती हैं।

८८ यथार्थवाद—यथार्थवाद और उससे सम्बन्धित विषयों के विस्तृत विवेचन के लिए अलग एक अध्याय ही रखा गया है। अतः यहां केवल दो-एक बातों का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। इसमें सन्देह नहीं कि प्रेमचन्द-काल में हिन्दी उपन्यास में यथार्थवाद की स्थापना हुई और उसका काफी विकास हुआ लेकिन इस काल में पूर्णतया यथार्थवादी उपन्यास एक भी नहीं लिखा गया। अस्वाभाविक घटनाएं, कहीं कहीं रोमांस लेखक के सिद्धान्तों और उपदेशों का निराकृत प्रदर्शन आदि के कारण यथार्थवाद पूर्ण विकास नहीं प्राप्त कर सका।

इस तरह हम देखते हैं कि प्रेमचन्द-काल में हिन्दी उपन्यास को कई उपलब्धियां हुईं, तो कई प्रवृत्तियां अविकसित भी रह गयीं। निश्चित ही यह तीव्र विकास का युग था पर इसके पश्चात् का विकास अधिक शानदार है।

५

हिन्दी उपन्यास का विकास

(१) प्रेमचन्द के पश्चात् चतुर्मुखी विकास

सन् १९३६ से आज तक का काल हिन्दी उपन्यास के सर्वांगीण विकास का युग है। यद्यपि हमारा उपन्यास-साहित्य इस युग में प्रत्येक प्रवृत्ति के प्रौढ़तम स्वरूप की प्राप्ति नहीं कर सका तो भी उसकी वैविध्यपूर्ण उपलब्धियों का निषेध नहीं किया जा सकता है। हो सकता है सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन के विविध अंगों का विश्लेषण करते हुए और विषयानुसार नयी-नयी शैलियों को अपनाते हुए नये-नये क्षेत्रों का आविष्कार करनेवाले हमारे लेखक जीवन के अज्ञात बनान्तरों के निगूढ़ रहस्यों का सन्धान करते हुए कई बार भूले-भटके हों और नये-नये पथों से प्रयाण करते हुए ठोकर खाकर गिर पड़े हों तो भी उनके साहसपूर्ण प्रयत्न और विजय बड़े महत्व के विषय हैं।

सन् १९३५ से १९४ तक की प्रवृत्तियां

८९ १९३६ में हिन्दी का प्रौढ़तम सामाजिक उपन्यास 'गोदान' प्रकाशित हुआ। इसके पहले ही १९३५ में जैनेन्द्र का प्रसिद्ध उपन्यास 'सुनीता' एक नयी प्रवृत्ति का उद्घाटन कर चुका था। प्रेमचन्द ने बाह्य जगत् को अधिक महत्त्व देकर मनुष्य के सामाजिक संघर्ष का रूप दिखाया। 'सुनीता' से लेकर मनुष्य के अन्तर्जगत् के विश्लेषण को उपन्यास में स्थान मिला।

प्रेमचन्द के तुरन्त पश्चात् उनकी प्रवर्तित परम्परा में शिथिलता आयी। गोदान परवर्ती उपन्यासकारों का मार्गदर्शक नहीं बन सका। प्रेमचन्द ने अपने जीवन के बावीस वर्षों के निरंतर अध्ययन और अनुभव के कारण जन-जीवन का वास्तविक

रूप समझने की जो क्षमता प्राप्त की थी वह परवर्ती उपन्यासकारों में नहीं थी। इसीलिए हम देखते हैं कि यद्यपि १९३२ से १९४० तक के पांच वर्षों के प्रायः सभी उपन्यास सामाजिक अथवा राजनीतिक विषयों पर लिखे गये हैं तो भी वे प्रेमचन्द की परम्परा के विकास का परिचय नहीं देते। लेकिन उनमें मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति बढ़ती गयी। सामाजिक कुरीतियों और तज्जन्य विषमताओं के पीछे मनुष्य की जो दुर्वासना काम कर रही है उसकी ओर लेखकों का ध्यान आकृष्ट हुआ। भगवतीचरण वर्मा का 'तीन वर्ष' भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'पतिता की साधना' (१९३६) 'पिपासा' (१९३७) और 'दो बहनें' (१९४०) जैनेन्द्र का 'कल्याणी' (१९३९) सियारामशरण गुप्त का 'नारी' उषादेवी मित्रा का 'वचन का मोल' (१९३६) आदि में स्त्री-पुरुष-संबंध के विविध पहलुओं का सामाजिक तथा मानसिक वातावरण में विश्लेषण किया गया है। लेकिन इनमें लेखकों को विशेष सफलता नहीं मिली है, शायद इस तरह का प्रथम प्रयास होने के कारण। इनमें न गृहस्थ-जीवन की विविध समस्याओं का निरूपण है और न नारी-जीवन का गहरा अध्ययन। केवल कुछ उलझनों की ऊपरी सतहों का स्पर्श किया गया है।

इन पांच-छः वर्षों में और कोई विशेष उल्लेखनीय प्रवृत्ति नहीं हुई। कांग्रेस के शासन ग्रहण और त्याग के पश्चात् से द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ तक की भारत की राष्ट्रीय उथल-पुथल कम महत्त्व की नहीं है। लेकिन इस समय राष्ट्रीय समस्याओं पर केवल दो-तीन साधारण श्रेणी के उपन्यास ही लिखे गये। राधिकारमणप्रसाद सिंह के 'राम-रहीम' (१९३६) में हिन्दू-मुस्लिम समस्या पर और 'गांधी टोपी' (१९३८) में अहिंसात्मक क्रांति पर प्रकाश डाला गया है।

सन् १९४० के पश्चात् की प्रवृत्तियां

सन् १९४० से लेकर हिंदी में उपन्यासों की जो बाढ़-सी आयी वह विषय और अभिव्यंजना में नयी-नयी धाराएं लायी। पुराने लेखकों ने अधिक प्रौढ़ता प्राप्त की और कई नये लेखक अपनी प्रतिभा लिये सामने आये। स्पष्ट विशेषताएं और निश्चित धाराएं लिये कई धाराएं निकल पड़ीं।

१० क्रान्तिवादी उपन्यास—एक नवीन धारा क्रांतिवादी उपन्यासों की है जिसका सूत्रपात यशपाल ने किया। यशपाल का जीवन ही क्रांतिपूर्ण था और जिस समय उनके अधिकांश उपन्यास लिखे गये वह समय भी भारतीय इतिहास में महान आन्दोलन का था। यशपाल के 'दादा कॉमरेड' (१९४१) 'देशद्रोही' (१९४३) और 'पार्टी कॉमरेड' (१९४६) क्रांतिकारी व्यक्तियों के व्यक्तित्व और जीवन से संबन्धित हैं। लेकिन इनमें भारत के विशाल राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास ढूंढना व्यर्थ है। कथानक कहीं-कहीं यथार्थ के ठोस धरातल को छोड़कर रोमान्स के वायविक वातावरण में बसा जाता है। अंचल का 'चढ़ती धूप' भी इसी श्रेणी का उपन्यास है, जिसमें मोहन नामक एक युवक के क्रांति भाव और सहज रूप में उत्पन्न प्रेम-भाव का संघर्ष दिखाया गया है। इलाचन्द्र के 'निर्वासित' में और जैनेन्द्र के 'सुनीता' में क्रांतिकारी व्यक्तित्व का

उल्लेख-मात्र है वस्तुतः उनमें किसी तरह की क्रांति भावना का विकास नहीं किया गया है। भारत की राजनीतिक दशाओं का स्वरूप दिखानेवाले उपन्यासों में भगवतीचरण वर्मा का 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' (१९४६) प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'बयालिस' (१९४८) मन्मथ का 'इनसान' (१९५१) गुरुदत्त का 'स्वाधीनता के पथ पर' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

६१ सामाजिक समस्यामूलक उपन्यास—समाज के विविध पहलुओं से सम्बन्धित उपन्यासों की दो श्रेणियाँ हैं। प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में लेखकों का दृष्टिकोण समस्या-विश्लेषण का है। दूसरी श्रेणी में अधिक यथार्थवादी दृष्टि से समाज के वास्तविक रूप को देखने का प्रयास किया गया है। इनमें भी समस्याओं का विश्लेषण हुआ है पर ये प्रथम श्रेणी के उपन्यासों की भाँति किसी एक समस्या के ही आधार पर नहीं लिखे गये हैं।

समस्या-प्रधान उपन्यासों में पहले के समान नारी ही सबसे बड़ा और मुख्य विषय रही। भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने *'निमंत्रण' (१९४१) में पाश्चात्य शिक्षा के कारण युवक-युवतियों में आनेवाले यौन आकर्षण की विषमताओं को दिखाया। किन्तु* वे इस जटिल समस्या का मनोवैज्ञानिक आधार पर विश्लेषण नहीं कर सके। 'अपना मेरा कोई' (१९४८) 'गले मोड़' (१९५५) आदि में स्त्री की *वैयक्तिक स्वतंत्रता* के परिणामों और उसके प्रति पुरुष के दृष्टिकोण को दिखाया गया है। 'गुनाहों का देवता' और 'तट के बंधन' (१९५५) में वे ही पुरानी वैवाहिक समस्याएं हैं। 'तट के बंधन' को आधे दर्जन लड़कियों के वैवाहिक जीवन की मीमांसाओं तथा कई सनसनीदार घटनाओं से बोझिल बनाया गया है। चतुरसेन का 'अपराजिता' सामाजिक बंधन और पति के *अत्याचारों के विरुद्ध सत्याग्रह करनेवाली एक युवती की कथा है जिसमें यथार्थ से बढ़* कल्पना अधिक है। जैनेन्द्र के अन्तिम तीन उपन्यास 'सुखदा' (१९५२) 'विवर्त' (१९५२) और 'व्यतीत' (१९५३) में भी प्रेम की उलझनों की व्याख्या है पर उनका दृष्टिकोण सामाजिक से अधिक मनोवैज्ञानिक है। 'आखिरी दांव' (१९५) में शराब जुए और सट्टेबाजी में विनष्ट होनेवाले एक व्यक्ति का क्रमिक पतन दिखाया गया है। उपर्युक्त *सभी उपन्यासों में स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति थोड़ी-बहुत मिलती है। असम्भाव्य और असा-*धारण घटनाओं के कारण ये सब रोचक तो बने हैं पर उनमें जीवन के कठोर यथार्थों का विश्वस्त रूप मिलेगा यह संदिग्ध है।

६२ सामाजिक यथार्थवादी उपन्यास—सामाजिक उपन्यासों की दूसरी श्रेणी में ऐसे उपन्यास आते हैं, जो समाज के एक या अनेक अंगों का यथार्थवादी दृष्टि से *मूल्यांकन करते हैं। इनमें लेखक किसी विशेष समस्या की ओर संकेत नहीं करते* उनको सुलझाने का प्रयत्न करना आवश्यक नहीं समझते। निरपेक्ष भाव से समाज का निरीक्षण करना और उसे समझना ही उनका ध्येय है। प्रतिपाद्य विषय और कला की दृष्टि से ये उपन्यास सबसे महत्त्वपूर्ण हैं और इनकी संभावनाएं अधिक हैं। १९४ के पश्चात् के अल्पकाल में निकले हुए ऐसे उपन्यास हिन्दी उपन्यास-साहित्य की संभावनाओं के प्रति निर्देश करते हैं। अंचल का 'उल्का' (१९४७) यशपाल का 'मनुष्य के

रूप' (१९४९) नागार्जुन के 'रतिनाथ की चाची' (१९४८) 'नई पौध' (१९५३) और 'बलचनमा' उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य' भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'चलते-चलते' (१९५१) और 'यथार्थ से आगे' (१९५५) उपादेवी मित्रा का 'नष्टनीड़' (१९५५) अश्क के 'गिरती दीवारें' (१९४६) और 'गरम राख' (१९५२), देवेन्द्र सत्यार्थी का 'कठपुतली' (१९५४) फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आंचल' (१९५४) और 'परती परिकथा' (१९५७) आदि देश काल या विषय की दृष्टि से छोटी-बड़ी सीमाओं के अन्दर समाज के यथार्थ और आत्मीय अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। इनमें प्रत्येक की अपनी-अपनी सीमाएं हैं। 'उल्का' में परम्परागत आचार-विचारों में पले हुए मध्यवर्गीय कुटुम्ब में सामाजिक विकास के साथ अपना विकास प्राप्त करनेवाली नारी के संघर्षमय जीवन का चित्रण है। नागार्जुन के सभी उपन्यास ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित हैं, और उनसे भोली-भाली ग्रामीण जनता के मनोभावों का परिचय मिलता है। बात होता है कि नागार्जुन म प्रेमचन्द से बढ़कर अध्ययन की गहराई है लेकिन उतनी सहानुभूति नहीं है जितनी प्रेमचन्द में है। 'चलते-चलते' 'गिरती दीवारें' 'गरम राख' 'नष्टनीड़' और 'कठपुतली' मध्यवर्गीय जीवन के विभिन्न पहलुओं पर आधारित हैं। 'चलते-चलते' में भावुकता कुछ अधिक है कथानक भी कुछ अलग होने से जीवन से दूर लगता है। रांगेय राघव का 'विषाद-मठ' (१९४६) बंगाल के अकाल का सजीव इतिहास है। देशकालीन परिस्थितियों का अध्ययन करनेवाले उपन्यासों में इसकी गणना हो सकती है। उनका 'घरौंदा' (१९४६) मध्यवर्गीय जीवन पर सामान्य दृष्टि डालता है। इसमें विद्यार्थी-जीवन के कुछ अंशों की अस्पष्ट झलक भी मिलती है। विद्यार्थी-जीवन पर लिखित कोई उत्कृष्ट उपन्यास हिन्दी में है ही नहीं।

यहां रांगेय राघव का 'विषाद मठ' भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य' रेणु के 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' ये चारों विशेष चर्चा के योग्य हैं। इनमें कथानक माध्यम-मात्र है मनोविज्ञान साधन-मात्र है। इनके आधार पर वे जिस लोक का निर्माण करते हैं उसमें वास्तविक जीवन है। आधुनिक स्त्री उपन्यासों का सा निर पेक्ष अध्ययन इनमें उपलब्ध है। नागार्जुन ने कथा प्रवाह पर ध्यान रखा है अतः उन का वातावरण भी कुछ सीमित है। पर अन्य उपन्यासों में कथानक शिथिल है। फिर भी किसी विशेष दृष्टि से जीवन के कुछ अंशों के समग्र रूप उनमें मिलते हैं। 'विषाद मठ' में अकाल-पीड़ित बंगाल की जनता का दयनीय जीवन सजीव हो उठा है। 'सागर, लहरें और मनुष्य' बरसोवा के मछुओं के समग्र जीवन का परिचय देता है। 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' बिहार के ग्रामीण जीवन को हमारे सम्मुख लाकर खड़ा कर देते हैं।

उपर्युक्त सभी उपन्यास रोमान्टिक प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त हैं। इनके सम्बन्ध में एक बात यह द्रष्टव्य है कि इनमें अधिकांश हमारी स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् लिखे गये हैं। हो सकता है यह बात बिलकुल संयोग की हो पर यह सत्य है कि हमारे स्वातन्त्र्योपरान्त लिखित उपन्यास हमारे लेखकों की बौद्धिक स्वतंत्रता-प्राप्ति का भी परिचय देते हैं।

१३ स्वच्छंदतावाद से प्रभावित उपन्यास—यथार्थवाद का इतना विकास और प्रसार होने पर भी रोमांस का प्रभाव एकदम समाप्त नहीं हुआ। इस बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में भी उसकी धारा चल रही है भले ही क्षीण रूप में हो। पाठक का प्रथम उपन्यास 'सितारों का खेल' (१९४) और हास का लिखित उपन्यास 'बड़ी-बड़ी आँखें' (१९५४) वृन्दावनलाल वर्मा का 'कभी न कभी' जैनेन्द्र का 'व्यतीत' (१९५३) आदि में रोमांस का प्रभाव काफी है। इनकी कथाएं किसी रोमांटिक कथा से आगे नहीं बढ़ पाती हैं। सामाजिक पृष्ठभूमि के आधार पर लिखित होने पर भी इनके कथानक और पात्रों में सामाजिक यथार्थ का अभाव है। 'व्यतीत' में जयन्त का अपने परिचय में आनेवाली सभी स्त्रियों से प्रेम करना सुमिता का किताबों में करेन्सी नोट रखकर भेजना कुमार का विलायत जाते समय अपनी कमिन को संयोग से रास्ते में आनेवाले जयन्त को सौंपना आदि कितनी ही असंभव घटनाएं हैं जिनको जैनेन्द्र के मनोविज्ञान के बहाने भी मान्यता नहीं दी जा सकती है। बीसवीं शती के इस उत्तरार्द्ध में मनोविज्ञान के नाम पर भी यथार्थ का गला घोंटना उपन्यास में उचित नहीं है। वस्तुतः 'व्यतीत' का मनोविज्ञान एक दार्शनिक लेखक की व्यक्तिगत भावुकता की मार्मच्युत कल्पना ही है, जो स्वच्छन्दतावाद के निकट तक पहुंच जाती है।

वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास—विशेषकर प्रारम्भिक उपन्यास और उनमें भी खासकर 'विराटा की पद्मिनी'—रोमांस से प्रभावित हैं। 'विराटा की पद्मिनी' में ऐतिहासिकता केवल आधार-मात्र है उसपर उपन्यास का जो रूप निर्मित किया गया है, वह पूर्णतया स्वच्छन्दतावादी है।

१४ मनोवैज्ञानिक उपन्यास—प्रेमचन्द के पश्चात् के उपन्यासों की सबसे प्रधान मौलिक प्रवृत्ति मनोविज्ञान है। जैनेन्द्र ने जिस प्रवृत्ति को शुरू करके फिर कुछ काल के लिए छोड़ दिया उसे इलाचन्द्र जोशी ने पकड़ लिया और अपने प्रायः सर्व उपन्यासों में मनुष्य की मानसिक ग्रंथियों के अपावरण का प्रयत्न किया। 'पर्दे की रानी' (१९४१) में लेखक के जाने या अनजाने मेंडल के पैतामहिकी (हेरिडिटी) सम्बन्धी सिद्धान्तों का विश्लेषण हुआ है। 'संन्यासी' (१९४१) 'प्रेत और छाया' (४२) 'निर्वासित' ('४६) 'मुक्तिपथ' (५) आदि में कुण्ठित सैक्स प्रवृत्ति से त्रस्त युवकों के असाधारण जीवन का विश्लेषण है। मनुष्य की उत्तरोत्तर सामाजिक सभ्यता के बावजूद उसके अन्तर्लोक में आज भी अवस्थित आदिकालीन मनोवृत्तियों और दुर्बलताओं का प्रकटन ही इनका मुख्य विषय है। जोशीजी अवचेतन की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए 'अन्तरतर और अन्तरतम जीवन' की व्याख्या करने का दावा करते हैं।[1] मानव-जीवन में समाज का जो स्थान है, उसकी उपेक्षा करने के कारण इनके पात्र असाधारण बन गये हैं।[2] इन पात्रों से मानसिक तादात्म्य पाना असम्भव

---

१. प्रेत और छाया भूमिका पृ ५।

२. जोशी स्वयं अपने पात्रों को असाधारण मानते हैं। देखें प्रेत और छाया भूमिका पृ ३।

है। परन्तु मनुष्य के मानसिक तत्त्वों के परिज्ञान के लिए ये उपयोगी हो सकते हैं। 'सुखदा के मूले' और 'जहाज का पंछी' (१९५५) में वैयक्तिक मनोभावों का सामाजिक पृष्ठभूमि में विश्लेषण किया गया है। 'जहाज का पंछी' में एक व्यक्ति के जीवन में आनेवाली विचित्र घटनाओं के आविर्भाव से एक आश्चर्यमय वातावरण का निर्माण हुआ है। मार्क्सवादियों के समान मनोवृत्तियों को परिस्थितियों से परिचालित न मानकर अन्तश्चेतना का बाह्य संसार से अलग स्वतंत्र अस्तित्व माननेवाले[1] जोशीजी ने इस उपन्यास में रेवरक्लेड के उपयोग के आर्थिक परिणामों से लेकर डाक्टरों तथा सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की समाज विरोधी प्रवृत्तियों तक के प्रभावों को एक ही व्यक्ति के अवचेतन में घुमाकर एक अजब-से वातावरण में अजब-से मनुष्य की सृष्टि की है। यद्यपि जोशीजी अपने उपन्यासों के वैयक्तिक एवं पारिवारिक विषयों को विराट देशीय क्रांतियों की मूल प्रेरणा के रूप में देखने की अभ्यर्थना करते हैं,[2] तथापि उनके पात्रों को उनकी अपार वैयक्तिकता एवं असाधारणता के कारण समष्टि के प्रतीक मानना कठिन लगता है।

अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी' (प्रथम भाग १९४१ द्वितीय भाग १९४४) वैयक्तिक मनोविज्ञान के अध्ययन के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ देन है। रोम्यां रोलां के 'जां क्रिस्ताफ' के अनुकरण में लिखित न हो तो उससे बहुत प्रभावित इस उपन्यास में मनुष्य की अन्तश्चेतना में जीवन के प्रारम्भ में ही उदित होकर विकसित होनेवाले भय यौन-वासना तथा अहं का क्रमबद्ध विकास दिखाया गया है। विषय और शैली की दृष्टि से यह एक उत्कृष्ट उपन्यास है। अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' (१९५१) में ऐसी एक स्त्री के दमित प्रेम के परिणामों का विश्लेषण है, जो एक पति को छोड़कर दूसरे को स्वीकार करती है पर हृदय से इनमें से किसीकी न बनकर एक तीसरे पुरुष की बनी रहती है।

जैनेन्द्र ने लगभग पंद्रह वर्ष के विश्राम के पश्चात् 'सुखदा' (१९५२) 'विवर्त' (१९५२) और 'व्यतीत' (१९५३) में फिर मनोविज्ञान से काम लिया है। किन्तु इन उपन्यासों से ज्ञात होता है कि वे अब इतने अधिक दार्शनिक हो गये हैं कि उनमें मनोविज्ञ का वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं रहा।

एक विधावात्मक दर्शन की प्रेरणा से लिखित हमारे मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में मनुष्य की सामान्य बुद्धि की प्रामाणिकता का निषेध कर, उसके अतीत अज्ञात एवं अस्पष्ट अन्तश्चेतना के निगूढ़ रहस्यों का आविष्कार करने का आग्रह दिखायी पड़ता है। उनमें एक सीमित परिधि के अन्दर रहकर बौद्धिकता के द्वारा अप्राप्य एक संसार को ढूंढ़ निकालने का प्रयास है जिसकी उपलब्धियां अभी शैशवावस्था में ही हैं।

९५ ऐतिहासिक उपन्यास—प्रेमचन्द के काल में और उसके पहले लिखित कुछ ऐतिहासिक उपन्यासों का उल्लेख किया जा चुका है जो नाममात्र के लिए ऐतिहासिक हैं और जिनमें कल्पना का ही अधिक स्थान है। प्रेमचन्द के पश्चात् काफी

---

१. प्रेत और छाया भूमिका पृ. १।
२. प्रेत और छाया भूमिका पृ. ६।

अध्ययन से लिखित कई प्रौढ़ उपन्यास लिखे हैं जिनमें प्रागैतिहासिक काल से लेकर बीसवीं शती तक के विविध ऐतिहासिक सन्दर्भों को विषय बनाया गया है।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अपने विशाल अध्ययन एवं अपार पाण्डित्य से जो उपन्यास लिखे हैं उनमें बड़ी ईमानदारी से ऐतिहासिक तथ्यों को कला का रूप दिया गया है। कई सिक्कों शिलालेखों संस्कृत पालि अपभ्रंश प्राकृत तिब्बती आदि भाषाओं के प्राचीन ग्रन्थों तथा अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों से संचित तथ्यों के आधार पर लिखित उनके उपन्यासों में कल्पना अधिक नहीं रहती जिससे वे प्रायः ऐतिहासिक उपन्यास न होकर औपन्यासिक इतिहास हो गये हैं।[1] उनके विषय ईसा के पूर्व पंचम शती से लेकर सन् बीसवीं शती तक के हैं। 'सिंह सेनापति' (१९४२) में ई० पू० पांचवीं शती के लिच्छवि गण का 'जय यौधेय' (१९५१) में सन् चतुर्थ शती के उत्तरार्द्ध के यौधेय गण का और 'मधुर स्वप्न' (१९५) में सन् षष्ठ शती के मध्य एशिया के सासानी वंश का इतिहास है। 'जीने के लिए' (१९४) और 'राजस्थानी रनिवास' बीसवीं शती के विषयों पर आधारित हैं, और बहुत कुछ सामाजिक भी हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास चौदहवीं शती से उन्नीसवीं शती तक के विभिन्न विषयों के आधार पर लिखित हैं। गढ़ कुण्डार (१९२९) जो पहले ही प्रकाशित हो चुका था चौदहवीं शती के बुन्देलों और खंगारों के पारस्परिक संघर्ष का वातावरण प्रस्तुत करता है। पर उसका मुख्य आकर्षण पूर्णतया कल्पना से रचित तीन प्रेम-कथाएं हैं। 'विराटा की पद्मिनी' (१९३६) 'मुसाहिबजू' (१९४६) और 'कचनार' (१९४७) में भी काफी कल्पना है जो जनश्रुतियों पर आधारित है। 'झांसी की रानी' (१९४६) 'मृगनयनी' (१९५) 'टूटे कांटे' (१९५४) और 'अहिल्याबाई' में वर्माजी के इतिहासकार और उपन्यासकार में होड़-सी लगी है। वर्माजी जहां बुन्देलखण्ड और आसपास के जीवन और संस्कृति तक सीमित रहते हैं, वहां उनकी कला सर्वोत्कृष्ट बनी है। जहां वे बाहर जाते हैं वहां ऐतिहासिक तथ्यों से तनिक खिंच कर रोमांस का हाथ पकड़ लेते हैं। इन सभी उपन्यासों में ऐतिहासिक घटनाओं के साथ तत्कालीन सामाजिक समस्याओं का भी सन्निवेश किया गया है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'वैशाली की नगरवधू' (१९४८) तथा 'वयं रक्षाम' (१९५५) में कई धार्मिक दार्शनिक एवं ऐतिहासिक प्रश्नों की सूचनाओं से स्पष्ट होने वाली छोटी-मोटी बातों के माध्यम से नाम का आवरण हटाकर अतीत के अन्धकार मय रंगमंच में इधर-उधर टार्च लगाकर देखने का प्रयत्न किया है। प्रथम में बौद्ध कालीन भारत की राजनीतिक परिस्थिति का तथा दूसरे में वेद-पूर्वकालीन भारत के नर, नाग देव दैत्य दानव आर्य अनार्य आदि पूर्वजों का अध्ययन है और उस समय प्रचलित धार्मिक आचार-विचारों की व्याख्या है। विषय की प्राचीनता एवं विश्वसनीय सामग्री के अभाव के कारण इनमें तथ्य और कल्पना को भिन्न करना

---

१ स्वयं राहुलजी ने यह बात मानी है। ७ जनवरी १९५९ को भारतीय साहित्य संघ' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की बैठक में उन्होंने इस बात की चर्चा की।

कठिन है। चतुरसेन का 'सोमनाथ' (1954) सोमनाथ के मंदिर पर महमूद गजनी के आक्रमण का इतिहास प्रस्तुत करता है। 'धर्मपुत्र' (1954) में भारत के हिंदू मुस्लिम वर्गों का वातावरण स्पष्ट किया गया है। 'गोली' (1956) जो 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में प्रकाशित हुआ निकट युग से सम्बन्धित है पर घटनाओं की विचित्रता पात्रों की अस्वाभाविकता दोनों के बीच पारस्परिक सहयोग का अभाव आदि के कारण पूर्ण पराजय है।

प्राचीन भारत से संबंधित उपन्यासों में रांगेय राघव के उपन्यास भी उत्कृष्ट हैं। उनके मोहनजोदड़ो-संस्कृति का विशद अध्ययन करनेवाले 'मुर्दों का टीला' (1948) में आर्य-पूर्व भारत के कुल-वर्गों के नाश राजसत्ता के उदय और विभिन्न जातियों के संघर्षों का चित्रण है। 'चीवर' में राज्यश्री के काल के ह्रासोन्मुख सामंतवाद का और 'अंधेरे का जुगनू' (1953) में महाभारत के पश्चात् के समाज का विवेचन है। उनके 'प्रतिदान' 'देवकी का बेटा' 'यशोधरा जीत गयी' 'रत्ना की बात' 'लोई का ताना' आदि औपन्यासिक जीवनियों में तत्कालीन समाज के वातावरण को ही महत्त्व दिया गया है।

इतिहास के विशेष अध्ययन के बिना प्रसिद्ध ऐतिहासिक विषयों पर लिखित उपन्यासों में प्रामाणिक ऐतिहासिक तत्त्वों का अभाव रहता है पर औपन्यासिक कला स्वतंत्र विकास का अवसर पाती है। गोविन्दवल्लभ पंत के 'अमिताभ' (1946) 'एक-सूत्र' (1946) 'नूरजहां' (1942) आदि ऐसे सफल उपन्यास हैं।

१६ कुछ विशेष प्रकारों के उपन्यास—उपर्युक्त विविध धाराओं के चलते समय कुछ नव श्रेणी के लेखकों ने विषय और शैली में नये प्रयोग किये। डा हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (1946) रांगेय राघव का 'अंधेरे की भूख' (1958) और धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवां घोड़ा' ऐसी उल्लेखनीय रचनाएं हैं। 'बाणभट्ट' कुछ साहित्यिक उपन्यास है। द्विवेदीजी के आलोचनात्मक ग्रंथों से उनके अपार पाण्डित्य का जो परिचय मिलता है, वही इससे भी मिलता है। बाणभट्ट के काल की सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण तथा कलात्मक अभिव्यंजन के लिए लेखक ने 'कादम्बरी' 'हर्षचरित' आदि का अवलम्बन किया है। यह हिन्दी उपन्यास-साहित्य की एक उत्कृष्ट देन है पर इसके पथ पर चलनेवाले उपन्यासकार आगे भी होंगे यह बात संदिग्ध है। 'सूरज का सातवां घोड़ा' में नवीन एवं प्राचीन शैलियों का समन्वय है। बिलकुल असम्बद्ध कुछ कथाओं को कुछ पात्रों द्वारा मिलाया गया है। यह शैली अति प्राचीन है और 'सहस्र रजनी चरित' (Thousand and One Nights), हैतामेताल बैतालपचीसी आदि में प्रयुक्त हुई है। लेकिन भारती का विषय नवीन है, और समाज की समस्याओं से सम्बन्धित है। 'अंधेरे की भूख' भी विभिन्न व्यक्तियों द्वारा कही गयी कथाओं का संग्रह है। विशिष्ट शैली के उपन्यासों में राहुल सांकृत्यायन के 'विस्मृति के गर्भ में' (1937) का नाम भी लिया जा सकता है। इसकी कथा मिस्र देश से सम्बन्धित है। विषय में तथ्यों और कल्पना का मिश्रण है इतिहास संस्कृति रोमान्स यात्रा-वर्णन और उपन्यास सबने मिलकर इसे एक विचित्र रूप दिया है।

६

यूरोपीय उपन्यास-साहित्य[1]

अठारहवीं शती

यूरोपीय उपन्यास-साहित्य के विकास में अठारहवीं शती का अपना विशेष स्थान है। निश्चित ही सत्रहवीं शती में उपन्यास के उदय के स्पष्ट लक्षण फ्रांस और इंग्लैण्ड में दिखायी पड़ने लगे। किन्तु एक सुनिश्चित परिपाटी के अनुसार उपन्यास रचना का क्रम अठारहवीं शती में ही शुरू हुआ। इंग्लैण्ड में रिचर्डसन से और फ्रांस में ल साज (Le Sage) से ही वस्तुतः उपन्यास-साहित्य का आरम्भ हुआ। अठारहवीं शती के बहुमुखी प्रयत्नों के फलस्वरूप फ्रेंच और अंग्रेजी में उपन्यास की नींव दृढ़ हो गयी और उन्नीसवीं शती में तीव्र और स्वस्थ विकास का अवसर प्राप्त हुआ।

यथार्थवाद का प्रतिष्ठापन और उपन्यास का उदय

१७ फ्रेंच में—भावुकता और स्वच्छन्दता का तिरस्कार कर अठारहवीं शती के उपन्यासकारों ने जीवन का अथवा जीवन के कुछ अंशों का यथार्थ रूप चित्रित करने का प्रयास किया। फ्रेंच के प्रसिद्ध उपन्यासकार ल साज का 'जिल ब्ला' (Gil Blas) एक आचरणवादी उपन्यास (Roman de moeurs=Novel of Manners) है जिसमें तात्कालिक सामाजिक जीवन के सभी अंगों और विविध वर्गों का विवेचन किया गया है। विषय की विस्तृति के कारण उसके स्वरूप में शिथिलता आयी है। कितनी ही घटनाएं और पात्र अनावश्यक लगते हैं। किन्तु ये सब मिलकर सामाजिक जीवन को पूर्णतया प्रकट करते हैं। ल साज के चित्रण में शैथिल्य होने पर भी यह उनकी विशाल दृष्टि और अगाध अध्ययन का साक्षी है। आचरणवादी होने पर भी उनके पात्र सार्वदेशिक स्तर पर निर्मित हैं अतः मानव-मात्र के प्रतिनिधि भी हैं।

ल साज के पश्चात् के यथार्थवादी लेखकों ने समाज की कुछ रीतियों और खोखली नैतिक व्यवस्थाओं की आलोचना की। मारिवो (Pierre Chamblain de Maurivaux) के 'मरियन' (Marianne, 1731-41) में प्रेम और तत्सम्बन्धी विकारों के सूक्ष्म चित्रण के साथ ही बुर्जुआ वर्ग के जीवन का बारीकी से अध्ययन किया गया है। मनोविकारों के सूक्ष्म निरीक्षण के कारण कुछ आलोचक इसे फ्रेंच का प्रथम मनोवैज्ञानिक उपन्यास मानते हैं।[2] 'ल पैसान परवेनु' (Le Paysan Parvenu) में उच्च वर्ग के नैतिक ढोंग की पोल दिखायी गयी है। इसमें एक युवक

---

१ वस्तुतः परिच्छेद ६,७ और ८ प्रबन्ध के विषयक्षेत्र में व्यवधान के रूप में आते हैं किन्तु इसके बिना आगे का अध्ययन सुगम न होगा। सहायक परिच्छेदों (Reference Chapters) के रूप में ही ये प्रस्तुत किये जाते हैं।

२ Kastner and Atkins: A Stort History of French Literature, P 189

जिसे एक बड़े घर की मालकिन अपना प्रेमी बनाकर घर में कर्मचारी रखती है मालकिन की नौकरानी से प्रेम करने लगता है। घर का मालिक उसी नौकरानी का सतीत्व भंग करके उस युवक से उसका विवाह कराना चाहता है। इस तरह कुलीनता के आवरण में होनेवाले दुराचारों को मारिवो ने दिखाया है। दूसरे उपन्यासकार डेनिस डाइडेरों (Denis Diderot) के 'ला रिलिज्योज' (La Religeuse) या 'धार्मिक' में एक कुलीन कुटुम्ब की अन्तिम सन्तान होने के कारण परित्यक्त एक निरीह बालिका की कहानी है जो विवश होकर कान्वेन्ट में जाती है जहाँ उसे अधिक कष्टों का सहन करना पड़ता है। डाइडेरों ने समापण शैली में लिखित अपने दूसरे उपन्यास ल नेवो दि रामो' (Le Neveu de Rameau) अथवा रामो का भांजा' में 'सामान्य नैतिक आचरणों' का खोखलापन दिखाया है।

१८ अंग्रेजी में—फ्रेंच में यथार्थवादी उपन्यास के उदय के तुरन्त पश्चात् अंग्रेजी में भी यथार्थवाद की स्थापना द्वारा उपन्यास की नींव डाली गयी। सामुएल रिचर्डसन अंग्रेजी उपन्यास के प्रणेता या पिता माने जाते हैं। पर रिचर्डसन के पहले डैनिएल डीफ़ो दो कथात्मक ग्रन्थ लिख चुके थे जिसमें उपन्यास के प्रारम्भिक तत्त्व विद्यमान हैं। 'राबिनसन क्रूसो' (१७१९) और 'मॉल फ्लैण्डेर्स' (१७२२) में उपन्यास की-सी कथा सूक्ष्म निरीक्षण वर्णन और एक सीमा तक चरित्र-चित्रण है। फिर भी इनके विषय जीवन से नहीं लिये गये हैं उनमें कल्पना की मात्रा अधिक है इसी कारण डीफ़ो को उपन्यासकार नहीं माना जाता।[1] 'राबिनसन क्रूसो' की समस्याएं वस्तुतः काल्पनिक नहीं हैं वे जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं से सम्बन्धित हैं। आहार, वस्त्र निवास आदि के लिए प्रकृति की शक्ति से संघर्ष करनेवाला मनुष्य के विश्व-रूप का प्रतिनिधि है क्रूसो। अतः जीवन से उसका अविच्छिन्न सम्बन्ध है। लेकिन सामाजिक वातावरण के अभाव में क्रूसो का जीवन कुछ अस्वाभाविक-सा लगता है। वस्तुतः क्रूसो की कथा यथार्थवादी नहीं प्रतीकवादी है। इस प्रकार कुछ कमियों के होने पर भी राबिनसन क्रूसो को कुछ सुधारण के साथ उपन्यास [illegible] अनुचित न होगा।

डीफ़ो के पश्चात् रिचर्डसन से अंग्रेजी उपन्यास का [illegible] इतिहास शुरू होता है। डीफ़ो में कल्पना थी उससे जीवन की व्याख्या की [illegible] था। रिचर्डसन ने बिलकुल नया मार्ग अपनाया। उन्होंने सामाजिक वातावरण में [illegible] का [illegible] किया। सामाजिक जीवन की संकुलता के कारण समय-समय पर [illegible] पड़नेवाले प्रभाव और तदुत्पन्न विकार विधियों से रिचर्डसन कुछ [illegible]। [illegible] 'पामेला' (१७४) 'क्लैरिसा हार्लो' (१७४८) 'चार्ल्स ग्रैन्डिसन' (१७५४) [illegible]

---

१ [illegible] बेकर के मत में "डीफ़ो न [illegible] [illegible] प्रणाली पुरानी ही थी, उन्होंने [illegible] [illegible] [illegible] कुछ उन्होंने कहा [illegible] ही रूप में समझा [illegible]।"

—See, History of the English [illegible], Vol. III, P 223-2.2

उपन्यास जो शैली में यथार्थवादी है विषय की दृष्टि से आदर्शवादी है। 'पामेला' की नायिका नौकरानी पामेला अपने मालिक की कामलिप्सा की पूर्ति के लिए नहीं झुकती किन्तु जब विवाह से उसकी धर्म-पत्नी बनने को तैयार है। दूसरे उपन्यास की नायिका क्लेरिसा अनिवार्य परिस्थितियों में लवलस द्वारा पतित होकर भी अपने आपको नैतिक रूप से पतित नहीं मानती और आत्म-शुद्धि का दावा करती है। इससे लेखक का नैतिक आदर्श स्पष्ट है। इस नैतिक आदर्श की स्थापना के लिए निर्मित पात्र प्रायः असाधारण हो गये हैं। सत्पात्रों का कष्ट सहन और दुष्पात्रों की क्रूरता रिचर्डसन के उपन्यासों का एक रोमान्टिक संस्पर्श देती है। बीसों पात्रों से सम्बन्धित सैकड़ों घटनाएं तत्कालीन वातावरण पात्रों के उच्छृङ्खल व्यवहार और मानसिक द्वन्द्व इन सबका बड़ी बारीकी से जो वर्णन किया गया है वह कुछ विचित्र घटनाओं के साथ मिलकर इन उपन्यासों को यथार्थ आदर्श और रोमांच का सम्मिश्रित रूप बनाता है।

एडमण्ड फील्डिंग के उपन्यास औपन्यासिक कथा की दृष्टि से अंग्रेजी उपन्यास के विकास की अगली सीढ़ी हैं। 'पामेला' के प्रति व्यंग्य के रूप में लिखित उनके 'जोसफ एण्ड्र्यू' (१७४२) में कथा-विकास और चरित्र चित्रण अधिक कलात्मक और *स्वाभाविक है। रिचर्डसन के उपन्यासों से यह इस बात में आगे बढ़ा है कि लेखक ने इसमें* लम्बे-लम्बे वर्णनों द्वारा पात्रों का चरित्र-चित्रण नहीं किया है। पात्र अधिक नाटकीय हैं और अपनी ही प्रवृत्तियों और शब्दों द्वारा स्वतः अपना परिचय देते हैं। 'टॉम जोन्स' *(१७४९ '४९) में भी पात्र इसी प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं। फील्डिंग ने इसके पात्रों में* गुणों और दोषों का समन्वय कर उनको अधिक यथार्थ बनाया है। लेखक इस बृहद् काय उपन्यास में जीवन के विविध पक्षों का विवेचन करते हुए, इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि *जीवन को सफल बनाने का एकमात्र उपाय हृदय को पवित्र रखना है।* टॉम जोन्स बार-बार गलतियां करता है फिर पछताता है। मधुर और तिक्त अनुभवों से ही निकलकर वह 'जीवन की कला' को समझता है। इस महान जीवन-दर्शन के कारण और विषय-विकास की सम्बद्धता के कारण 'टॉम जोन्स' एक उत्कृष्ट उपन्यास बना है। फील्डिंग का 'अमेलिया' (१७५१) इससे भिन्न है। वह जीवन की निकृष्ट वृत्तियों के प्रति क्षमा-हीन असन्तोष प्रकट करता है। इसमें लेखक मानव-मात्र पर सहानुभूति रखते हुए भी उसकी बुराइयों पर तीखा आघात करता है। स्त्री की पराधीनता न्यायालय के अन्याय पुलिस के अत्याचार, समाज में व्याप्त अनैतिक सम्बन्ध आदि का खुला विरोध 'अमेलिया' में किया गया है।

जिन सामाजिक दुर्वृत्तियों के प्रति रिचर्डसन ने संकेत किया और जिनका फील्डिंग ने तिरस्कृत कर दिखाया उनको जोनियास स्मॉलेट ने जीवन के विकास में भयंकर बाधा के रूप में प्रस्तुत किया और लारेन्स स्टर्न ने उनपर एक दार्शनिक की भांति व्यंग्यात्मक हंसी हंसी। स्मॉलेट के 'राडरिक रैण्डम' का नायक एक अनाथ बालक है जो अपनी निष्कपटता एवं सहृदयता के तथा दूसरों के स्वार्थ द्वेष और ईर्ष्या के कारण निरन्तर धक्का खाता चलता है। स्टर्न के 'ट्रिस्ट्रम शैण्डी' में दार्शनिक दृष्टि से जटिल

जीवन को सिद्धान्तों की शृंखलाओं में बांधने का प्रयत्न करके प्रायोगिक रूप में विफल होनेवाले व्यक्तियों की खूब हंसी उड़ायी गयी है।

उपर्युक्त चार उपन्यासकारों ने यथार्थवाद का आश्रय लेकर उन्नीसवीं शती के अंग्रेज़ी उपन्यास को काफ़ी पुष्ट किया। इन्हींके प्रयत्न से समाज और व्यक्ति के अध्ययन के रूप में उपन्यास का विकास होने लगा।

९९ रूसी में—अठारहवीं शती के रूसी साहित्य में उल्लेखनीय कोई उपन्यास नहीं रचा गया। केवल फ़्योडोर एमिन का उपन्यास 'सुन्दरी रसोइन या एक पतित नारी के कीर-करम' (१७७) कुछ प्रसिद्ध है। मॉल फ़्लैंडर्स के समान ही इसकी नायिका एक चरित्रहीन नारी है जो अपने शरीर और आत्मा को पतित करनेवाले समाज से बचना लेती हुई बुराई से बुराई की ओर जाती है। इसकी शैली यथार्थवादी है समस्याएं भी बहुत कुछ सामाजिक हैं किन्तु विषय में रोमान्स कम नहीं है। जगह जगह पर नैतिक भावनाओं के उपदेश भी मिलते हैं।

अठारहवीं शती का स्वच्छन्दतावाद

१०० अठारहवीं शती के फ्रेंच और अंग्रेज़ी के उपन्यास-साहित्य में प्रचलित दूसरी प्रवृत्ति भावुक स्वच्छन्दतावाद की थी। यद्यपि यथार्थवादी प्रवृत्ति की तुलना में इसका अधिक महत्त्व नहीं है तथापि यह बात निश्चित है कि स्वच्छन्दतावाद ने भी कुछ उत्कृष्ट कृतियों को जन्म दिया।

फ्रेंच में एब प्रेवोस्ट का 'मैनन लेस्काट' (१७३१) बेर्नार्दिन-द-सेंट पिए (Bernordin de Saint Pierre) का 'पाल और वर्जीनी' (१७८७) (Paul et Vergmie) अंग्रेज़ी में हेनरी मेकन्ज़ी का 'भावुक मनुष्य' (The Man of Feeling) फ़ैनी बर्नी के 'एवेलिना' (१७७८) और 'सेसीलिया' (१७८२) मिसिज़ राडक्लिफ़ के 'उडाल्फ़ो के आश्चर्य' (The Mysteries of Udalpho) और 'इटालियन' (The Italian, (1497) आदि कुछ मुख्य स्वच्छन्दतावादी उपन्यास हैं। इनमें न जीवन का वास्तविक रूप मिलता है, न मनुष्य का स्वाभाविक चरित्र। असम्भव कल्पनाएं, मनोदृष्टि का अभाव असाधारणता आदि इन उपन्यासों की विशेषताएं हैं। उत्कट प्रेम का ... पात्रों के जीवन को संचालित करता है। इन सब उपन्यासों का एक ही विषय है—और वह है प्रेम जिसकी विविध दशाओं के मार्मिक चित्रण में और सब कुछ भुला दिया जाता है। उदाहरण के लिए 'मैनन लेस्काट' में केवल दो मुख्य पात्र हैं। युवक नायक जीवन की सभी सुविधाओं के होने पर भी उन सबका तिरस्कार कर एक सुन्दरी युवती के पीछे पड़ा रहता है जिसे आभूषणों में अपार धन-व्यय करने की सनक है। दोनों के उच्छृंखल जीवन की गति ही उपन्यास का विषय है। 'पॉल और वर्जीनी' में पॉल और वर्जीनी के पवित्र प्रेम की करुणान्त कथा है। बहुत-से कष्टों का सहन करके भी दोनों एकसाथ रहते हैं, पर अन्त में उनके जहाज़ के डूबने से वर्जीनी अपने प्रिय के सामने ही मरती है। 'भावुक मनुष्य' में दुनिया पिता के अनुरोध से अपनी इच्छा के विरुद्ध एक अमीर से विवाह कर लेती है, जो उसे उसके दूसरे से प्रेम करने के सन्देह में निर

देकर मार डालता है। इस तरह की कथाओं में अधिक यथार्थ न होने पर भी उनका प्रभाव तीव्र होता है। विकारों का क्रमिक विकास करने में इनके लेखक सिद्धहस्त हैं।

७

यूरोपीय उपन्यास साहित्य

(२) उन्नीसवीं शती

उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ तक अंग्रेजी और फ्रेंच के उपन्यास-साहित्य काफी प्रौढ़ हो चुके थे। उनमें कई प्रकार के प्रयोग हो चुके थे और कथा टेकनीक और प्रेम के सम्बन्ध में कुछ निश्चित धारणाएं निर्धारित हो चुकी थीं। किन्तु प्रयोग के लिए और भी कई मार्ग खुले पड़े थे जिनका आविष्कार करते हुए, उन्नीसवीं शती के उपन्यासकारों ने कई ऐसे उपन्यास लिखे जो विश्व-साहित्य में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। रूसी उपन्यास-साहित्य के सम्बन्ध में कहें तो इसी शती को उसका स्वर्ण युग मानना पड़ेगा क्योंकि उसका विकास इसी युग में हुआ और उसकी सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियां इसीकी देन हैं। इन तीनों भाषाओं के उपन्यास-साहित्यों ने इसी शती में जिन जिन प्रवृत्तियों को अपनाया उनकी विवेचना यहां की जायगी। सामान्य रूप में कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में इन तीनों भाषाओं के उपन्यास साहित्यों में स्वच्छन्दतावाद की प्रमुखता रही पर उत्तरार्द्ध में यथार्थवाद की जड़ें जम गयीं।

स्वच्छन्दता-विरोधी उपन्यासकार (अंग्रेजी में)

१०१ यद्यपि उन्नीसवीं शती का पूर्वार्द्ध स्वच्छन्दतावाद का युग है तो भी उसके प्रारम्भिक वर्षों में अंग्रेजी में कुछ स्वच्छन्दता-विरोधी लेखक भी हुए हैं जिनमें जेन आस्टिन और मरिया एड्जवर्थ के नाम उल्लेखनीय हैं। इन दोनों लेखिकाओं के उपन्यास यथार्थ के ठोस आधार पर लिखे गये हैं। ये लेखिकाएं अपने उपन्यासों में पारिवारिक वातावरण के बाहर नहीं निकलती हैं और न जीवन की विषम परिस्थितियों के विश्लेषण के लिए उतावली ही होती हैं। उनके सामाजिक आचारों और विकट समस्याओं से अनभिज्ञ होने के कारण या उनसे अभिरुचि न रखने के कारण या इन झमेलों में न पड़ने के स्त्री-सहज आग्रह के कारण दोनों के विषय बहुत सीमित ही रहे। पर जिस सीमित क्षेत्र को अपनाया उसके अन्दर के जीवन का चित्रण करने में उन्होंने अपूर्व सामर्थ्य दिखायी। एड्जवर्थ ने 'बलिंडा' (Belinda) और 'आसमण्ड' (Osmond) में तथा जेन आस्टिन ने 'बोध और चैतन्य' (Sense and Sensibility 1811) 'अहंभाव और पूर्वग्रह' (Pride and Prejudice, 1813) 'मैन्सफ़ील्ड पार्क' (१८१४) 'एम्मा' (Emma 1816) 'नार्थेंगर एबी' (Northanger Abbey 1818) 'प्रेरणा' (Persuasion, 1818) आदि उपन्यासों में नित्य-जीवन की साधारण घटनाओं प्रायः परिचित सब तरह के व्यक्तियों और उनको एक-दूसरे से बांधनेवाले

है, पर शैली में स्वच्छन्दता है। अतिरंजन भी अधिक है, पर पात्र विशेषकर स्त्री-पात्र सहानुभूति-मग्न हैं।

इसी समय शातोब्रियाँ (Vicomte de Chateaubriand) के 'अताला' (१८) 'रेने' (१८ ५) 'शहीद' (Martyrs 1809) आदि उपन्यास भी निकले। सभीमें स्वच्छन्द कल्पना अतिरंजन और भावुकता का प्राधिक्य है।

इस समय के फ्रेंच स्वच्छन्दतावादियों में सबसे प्रसिद्ध विक्टर ह्यूगो हैं। ह्यूगो के उपन्यासों में 'नात्रदाम-द-पेरिस' (१८३१) और 'ल मिजराब्ल' (१८६२) विश्व साहित्य में उन्नत स्थान प्राप्त कर चुके हैं। 'नात्रदाम-द-पेरिस' बड़े ऐतिहासिक महत्त्व की रचना है। सम्राट लुई (ग्यारहवाँ) के समय की राजधानी पेरिस के विविध निवासी पुरोहित -उच्चवर्ग नागरिक साधारण जनता सबको लेखक हमारे सामने लाते हैं। पात्रों की विभिन्नता और वातावरण की अलौकिकता के कारण उपन्यास में एक स्वप्निल संसार का निर्माण हुआ है। वस्तुत यह व्यक्तिगत जीवन का अध्ययन नहीं है सम्पूर्ण नगर और गिरजाघर का चित्रण है जो मानवीकृत होकर मध्ययुग की सम्पूर्ण संस्कृति का प्रतिनिधान करते दिखायी पड़ते हैं। 'ल मिजराब्ल' में ह्यूगो ने तत्कालीन जीवन के विविध अंगों के साथ अपनी अपार कल्पना से रचित जीवन को भी मिला दिया है। ज्याँ-वल-ज्याँ की कल्लोलोत्पादक कथा अत्यन्त प्रभावशाली है। वह एक ऐसा व्यक्ति है जो कारावास का दण्ड भोगकर निकलता है दूसरे नाम से रहकर सुधर जाता है और जीवन के उच्चतम शिखर तक पहुँच जाता है। एक अनाथ बालिका को आश्रय में लेकर वह अपना समस्त जीवन उसीके संतोष के लिए अर्पित कर देता है और उसे एक पति के हाथ सौंपकर संसार से हट जाता है। यहाँ ह्यूगो ने बुराइयों से निरन्तर संघर्ष करते हुए पवित्रता की ओर जानेवाली मानवात्मा का चित्र खींचा है। जीवन के वीभत्स काँटों के बीच में आत्मा के कोमल कुसुम का विकास और निराशा में मधुमय आशा का उदय नमता में उदात्तता का उन्मेष यही 'ल मिजराब्ल' है।

अन्य स्वच्छन्दतावादियों में जार्ज सैण्ड और अलेक्जेण्डर ड्यूमा के नाम लिये जा सकते हैं। सैण्ड के उपन्यास तीन श्रेणियों के हैं। उनके 'इण्डियाना' (१८३१) 'वाले न्टीन' (१८३२) 'लीलिया' (१८३३) आदि प्रारम्भिक उपन्यासों में साधारण रोमान्टिक उपन्यासों के समान उसी पवित्र प्रेम का स्वरूप दिखाया गया है जो निरन्तर कष्ट सहते-सहते अधिक उन्नति प्राप्त करता है। इसके बाद के 'स्पिरिडियन' (१८३९) 'कान्सुएलो' (१८४२ ४३) आदि में सैंड का दृष्टिकोण अधिक दार्शनिक रहा है। इनमें

१ कास्टनर आदि आलोचक सैण्ड को स्वच्छन्दतावादी मानते हैं। पर सेंट्सबरी इससे सहमत नहीं हैं। उनके मत में सैण्ड के उपन्यासों में सेक्स और विवाह की समस्याएँ व रोमान्टिक वर्णन नहीं।

See, Kastner and Atkins A Short History of French Literature, P 274-275

Saintsbury The History of French Novel, Vol II P 139

कुछ सामाजिक समस्याओं का—विशेषकर धर्म-सम्बन्धी समस्याओं का भी निरूपण है। अन्तिम धारा के 'ल-मार-द्य-डायबिल' (La Mare au Diable, 1846), 'ला-पेटीट-फाडेट' (La Patitte Fadette, 1849), 'जाँ-द-ला रोश' (Jean da La Roche, 1860) आदि में आकर सेंड का विषय साधारण जन बनता है, और शैली यथार्थवादी। स्वच्छन्दतावाद से यह अँमुक्त बाद के यथार्थवाद के विकास की ओर संकेत करता है।

ड्यूमा के उपन्यासों में ल-काम्ट-द मौंट-क्रिस्तो (Le Comte de Monto Christo, 1844-45) और 'ल-ट्रुवो-मोस्क्वेटेयर' (Les Trois Mousquetaures, 1844) विशेष साहित्यिक महत्त्व के हैं। शिल्प-विधान की दृष्टि से शिथिल इन उपन्यासों में ड्यूमा की अपार कल्पना नये-नये प्रसंगों के आविष्कार की प्रतिभा असाधारण-साधारण आकर्षक विवरण की शक्ति तथा निरन्तर औत्सुक्य बनाये रखने की सामर्थ्य प्रकट है। 'ल-ट्रुवो-मोस्क्वेटेयर' के ऐतिहासिक होने पर भी उसमें इतिहास के तथ्यों से बढ़कर जीवन के सत्यों को महत्त्व दिया गया है।

१०४ अंग्रेजी में—जैन आस्टिन के देहान्त (१८१७) के पश्चात् के बीस साल में अंग्रेजी में सर वाल्टर स्काट के अतिरिक्त और कोई उल्लेखनीय उपन्यासकार नहीं हुआ। फ्रांस में जब स्वच्छन्दतावाद उत्कर्ष पर था तब इंग्लैण्ड में स्काट ने भी स्वच्छन्दतावाद को अपनाया। उनके अधिकांश उपन्यास ऐतिहासिक हैं। स्काट ने रोमान्टिक कल्पना से इतिहास के विषयों को अत्यन्त रोचक बनाया। सूक्ष्म विवरण तथा आचार-विचारों सामाजिक दशाओं वैयक्तिक अनुभूतियों और अनुभवों के विस्तृत अध्ययन द्वारा उन्होंने सजीव वातावरण में जीते-जागते पात्रों का निर्माण किया। स्वच्छन्दतावादी होने पर भी उनके उपन्यासों में सामाजिक वातावरण का यथार्थ रूप मिलता है। 'गाय् मैनरिंग' (१८१५) 'हार्ट आफ़ मिडलोथियन' (१८१८) 'वेवर्ली' 'आइवनहो' (१८१९) 'केनिलवर्थ' 'क्वेनटीन डरवर्ड' (१८२३) आदि में स्काट ने यथार्थ सामाजिक वातावरण में वैविध्य और विचित्रतापूर्ण कल्पित कथानकों का विकास किया है। उनका व्यक्तियों का अध्ययन रोचक होने पर भी अगाध नहीं है।

स्काट के पश्चात् के ऐतिहासिक स्वच्छन्दतावादी उपन्यास विशेष महत्त्व के नहीं हैं। फिर भी इस प्रसंग में जेम्स जेस्टीनियन मोरियर का 'हज्जी बाबा के वीर कृत्य' (Adventures of Hajji Baba, 1824), बुलवर लिटन के 'पाम्पी का अन्तिम दिन' (The Last Day of Pompeii 1835) रीन्ज़ी (Reinzi, 1835) आदि के नाम लिए जा सकते हैं। ये सब स्काट के उपन्यासों के समान ही इतिहास से रोमान्स का समन्वय कर लिखे गये हैं।

१०५ रूसी में—लगभग इसी समय रूस में भी कुछ स्वच्छन्दतावादी उपन्यास लिखे गये जिनमें सबसे प्रसिद्ध पुश्किन के उपन्यास हैं। अलेक्जाण्डर पुश्किन के 'डूब्रोवस्की' (१८३२-३३) और 'कप्तान की बेटी' में स्वच्छन्द-कल्पित विषयों का यथार्थवादी शैली में प्रतिपादन है। आश्चर्यमय घटनाओं के होने पर भी 'डूब्रोवस्की'

के दृश्य आकर्षक हैं, और सामाजिक दशाओं का चित्रण यथार्थ है। 'कप्तान की बेटी' में ऐतिहासिक वातावरण अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका ऐतिहासिक विषय एक अपढ़ किसान पुगचेव के नेतृत्व में कज़ाक लोगों का विप्लव है। पुश्किन ने ऐतिहासिक तथ्यों को सुरक्षित रखने के साथ-साथ देशीय आचार-विचारों का और पात्रों की मनोवृत्तियों का भी अध्ययन प्रस्तुत किया है।

पुश्किन के उपन्यास अपनी सरलता, स्वाभाविकता और चरित्रों की वास्तविकता में पूर्ववर्ती लेखकों के उपन्यासों से बहुत आगे बढ़े हुए हैं। पुश्किन ने सीधे सादे प्रत्यक्ष प्रतिपादन और वस्तुनिष्ठता के सहारे जिन अविस्मरणीय पात्रों की सृष्टि की वे परवर्ती उपन्यासों के लिए चरित्र-चित्रण में पथप्रदर्शन करनेवाले थे।

इस तरह हम देखते हैं कि अंग्रेजी, फ्रेंच और रूसी में उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में स्वच्छन्दतावादी उपन्यासों का प्रामुख्य रहा। लेकिन शीघ्र ही स्वच्छन्दतावादी बलहीन हो गया और उपन्यास-साहित्य यथार्थवाद की ओर अग्रसर था।[1]

फ्रेंच उपन्यास यथार्थ की ओर

१०६. *स्वच्छन्दतावाद की पूर्ण समाप्ति के पूर्व ही फ्रेंच में यथार्थोन्मुखता* के लक्षण दिखायी पड़े। १८३१ से १८५१ के बीच वर्षों में भाव एवं अभिव्यञ्जना को यथार्थ बनाने के लिए सचेत प्रयत्न किया गया। इस तरह के प्रयोग करनेवालों में सबसे पहले थीयोफ़िल गातिए (Theophile Gautier) और प्रोस्पे मेरिमे (Prosper Merimee) के नाम आते हैं। गातिए ने मानसिक *विकारों को उनके यथार्थ रूप में दिखाने के उद्देश्य से परम्परागत विवरणात्मक* और वर्णनात्मक शैलियों को छोड़कर भाव-शैली का प्रयोग किया। 'मादमोसेल द-मोपिन' (Mademoiselle de Maupin 1835) इसका अच्छा उदाहरण है। इसमें लेखक ने पात्रों में प्रस्फुटित तीव्र विकारों को हृदय की वाणी में स्पष्ट किया। इसकी कथा में जो बहुत कुछ रोमान्टिक है पेरिस की श्रेष्ठ सुन्दरी द-मोपिन जो समझना चाहती है कि पुरुष असल में क्या है पुरुष वेश धारण करके पुरुषों के बीच में जाती है और वैकारिक क्षेत्रों में साथ-कार्य करती है। उसके विकारों और भाव-तरंगों को मूर्त रूप देने के लिए गातिए ने कई भाव चित्र बनाये हैं जो कथानक को सजीवता प्रदान करते हैं। शायद गातिए की यही शैली बाद में यथार्थवादियों के हाथ में आकर अधिक प्रौढ़ और प्राञ्जल हुई और उनके मनोवृत्तियों के अध्ययन ने ही बाद के मनोविश्लेषण की नींव डाली।

गातिए के बाद उन्हींकी शैली को अपनाकर मेरिमे ने अपने 'कोलाम्बा' (१८४१) और 'कार्मेन' (१८४५) में पात्रों के मनोविकारों को अंकित किया।

गातिए और मेरिमे की शैली यथार्थवाद की ओर झुकी हुई है परन्तु उनके

---

१ केवल अंग्रेजी में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में कुछ स्वच्छन्दतावादी हुए, जैसे एमिली ब्राण्टी, चार्लोट ब्राण्टी आदि।

विषम बहुत कुछ रोमान्तिक ही है। पर उन्हींके समय स्टैंण्डहाल (मेरी हेनरी बयल) और बाल्जाक ने भी उपन्यास के क्षेत्र मे पदार्पण किया और उस समय तक के अज्ञात क्षेत्रों का आविष्कार किया। दोनों पूर्णतया यथार्थवादी थे।

स्टैंण्डहाल के 'लाल और काला' (Le Rouge et le Noir 1831) और 'पार्म का सन्यासी' (La Chartreuse de Parme 1831) दोनों में सामाजिक वातावरण का विस्तृत वर्णन है। प्रथम का नायक जूलियन सोरल फ्रेंच विप्लव के पश्चात् के मांबी के वातावरण म रहनेवाला एक युवक है जो बड़ी महत्त्वाकांक्षा से उन्नत स्थान प्राप्त कर अपना पथ प्रशस्त करने के निरन्तर प्रयत्न में विफल होकर फांसी पाता है। पर इस व्यक्तिगत जीवन से बढ़कर सामाजिक जीवन ही उपन्यास का आकर्षण है। दूसरा उपन्यास इटालियन जीवन का विस्तृत चित्रण प्रस्तुत करता है।

बाल्जाक फ्रेंच के प्रथम सामाजिक यथार्थवादी उपन्यासकार मान जाते हैं। उन्हें जीवन का अत्यन्त कटु अनुभव हुआ था[1] अत: उनमें जीवन को समझने की शक्ति थी। 'ला कामेदी ह्यूमेन' (La Comedie Humane) उनकी उपन्यास-माला है, जिसमें लुई फ़िलिप के समय के पतनोन्मुख बुर्जुआ समाज को निरावृत कर दिखाया गया है। बैंकरों पैसे के पुजारियों कुलीनता के ठेकेदारो और समाज-नीति निर्णायकों के जीवन का खोखलापन उनका विषय है। उन्होंने देखा कि पैसे की मधुर झनझनाहट कैसे लोगों को मुग्ध करती है पैसा पैसे को कैसे आकृष्ट करता है एकमी कैसे दुष्मी से ईर्ष्या करती है और संसार के सारे धर्म सारा सौन्दर्य एव समूची नीति कैसे पैसे के गुलाम बनकर नाचती हैं।

लेकिन बाल्जाक का समाज-चित्रण एकांगी है। उसमें केवल उच्चवर्गों का जीवन प्राप्य है। पतितों पापियों अपराधियों और अत्याचारियों के चित्रण में ही बाल्जाक सफल हुए है। उन्हें सामान्य जीवन में कोई आकर्षण नहीं दीखता। कुछ आलोचकों के मत में उनकी इस एकांगिता का कारण उनके यथार्थवाद के पीछे छिपा हुआ स्वच्छन्दतावाद है।[2] अगर बाल्जाक में स्वच्छन्दतावाद हो तो भी उनकी गति यथार्थोन्मुख ही थी। 'ला कामेदी ह्यूमेन' के 'ल पेर गोरियो' (Le Pere Goriot) 'यूजिने ग्रान्दे' (Eugene Grandet) आदि भागों में समाज का जो रूप आया है उससे यह स्पष्ट होगा है।

अंग्रेजी उपन्यास में यथार्थवाद की उन्नति

१०७ रिचर्डसन और फील्डिंग से लेकर अंग्रेजी उपन्यास यथार्थवाद के सहारे ही आगे बढ़ा। डिकेन्स और थकरे में आकर उसका रूप अधिक निखर आया।

---

१ See Thomas and Thomas Living Biographies of Famous Novelists, P 111 112.

२ "Although he showed marked preference for the baser side of nature the fact must not be lost sight that he is in part a

जिस समाज में एक ओर देश की सम्पन्नता का दावा किया जा रहा था और दूसरी ओर सर्वत्र भिखारी भटकते रहते थे जबकि देश के प्रतिष्ठित नेता देश की स्थिति बदलने की चिन्ता न करके अपनी शान की रक्षा की ही चिन्ता कर रहे थे ऐसे समाज में डिकेन्स और थैकरे का जन्म हुआ। बाल्यकाल में ही डिकेन्स को समाज की क्रूरता का अनुभव करना पड़ा। अतः वे कुराचारों और अनीतियों के प्रति अत्यन्त जागरूक थे। 'पिकविक पेपर्स' 'ओलिवर ट्विस्ट' (१८३८) 'निकोलास निकलेबी' (१८३९) 'डेविड कापरफील्ड' (१८५०) 'ब्लीक हाउस' (१८५३) 'दो नगरों की कहानी' (ए टेल आफ़ टू सिटीज १८५९)आदि उपन्यासों में डिकेन्स ने इस समाज की कड़ी आलोचना की। समाज के जितने विशाल रूप को डिकेन्स ने अपने उपन्यासों में स्थान दिया उनके पहले किसीने नहीं दिया था। पर उनका दृष्टिकोण पूर्णतया यथार्थवादी नहीं है। उनके समाज-चित्रण में तटस्थ निरीक्षण से बढ़कर आलोचना अधिक मिलती है। अत्यधिक भावुकता और तीव्र शोकात्मकता के कारण उनके पात्र कभी-कभी अविश्वसनीय और कायिक हो जाते हैं। डिकेन्स की सबसे बड़ी दुर्बलता उनका पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण है जिसके कारण वे पात्रों को प्राय: टाइप बना देते हैं उनके व्यक्तित्व का दमन करके उनपर अपनी रुचि लाद देते हैं। यही नहीं उस समय तक के अन्य उपन्यासकारों के समान डिकेन्स भी मानव के अन्दर प्रविष्ट नहीं हो सके। मानवता उनके लिए एक दूसरे से भिन्न अगणित व्यक्तियों का समूह है। उनकी बाह्य भिन्नताओं को दिखाने में उत्सुक कलाकार, न व्यक्ति के भावों और द्वन्द्वों पर अधिक ध्यान दे सका और न उन भिन्नताओं के बीच में देश-काल की सीमा लाँघ जानेवाली विराट एकता को ही समझ सका।

थैकरे डिकेन्स से बढ़कर यथार्थवादी हैं और उनमें तटस्थता अधिक है। उनकी समाज की आलोचना में नैतिक मान्यताओं का उतना स्थान नहीं जितना डिकेन्स की आलोचना में है। उनके 'बैरी लिण्डन की स्मरणाएं' (१८४४) 'दम्भ-मेला' (वैनिटी फेयर १८४८) पेनडेनिस (१८४९ ५)आदि में तत्कालीन समाज की चीरफाड़ कर उसकी निरर्थक नीतियों और खोखले आदर्शों पर व्यंग्य कसा गया है।

डिकेन्स और थैकरे को पूर्णतया यथार्थवादी नहीं कह सकते। उनके उपन्यासों में कहीं-कहीं स्वच्छन्द कल्पना अलौकिक वातावरण उत्पन्न करती है। आगे इनकी परम्परा को बनाये रखनेवाले विलियम विल्की कालिन्स चार्ल्स रीड आदि कुछ उपन्यासकार हुए हैं, पर उनमें कोई अधिक प्रसिद्ध नहीं हुआ और फिर स्वच्छन्दतावाद को पुनर्जीवन का अवसर मिला।

रूसी उपन्यास आलोचनात्मक यथार्थ की ओर

१०८ पुश्किन के बाद यथार्थवाद ही विभिन्न रूपों में रूसी उपन्यास का

Romanticist, a Realist haunted by Phantasms of Romance."—Kastner and Atkins A Short History of French Literature, P.281

माध्यम बन गया और उसने रूसी साहित्य को कुछ अत्युत्कृष्ट रचनाएं प्रदान कीं। लर्मेन्टोव से लेकर प्रत्येक लेखक ने सामाजिक परिस्थितियों को पहचाना उसकी विघटक शक्तियों और विनाशकारी प्रवृत्तियों पर बार-बार आघात किया। लेर्मेन्टोव के 'हमारे समय का एक नायक' (A Hero of Our Time, 1840) में उस सामाजिक दशा का चित्रण है जिसमें पेचारिन नामक एक युवक को निरन्तर संघर्ष करते हुए अधिकाधिक क्लिष्ट परिस्थितियों का सामना करना पड़ता था। बिना कारण ही लोग उसके चेहरे पर दुर्गुणों के लक्षण देखते थे सौम्य रहने पर उसे चालाक मानते थे। परिणाम यह हुआ कि वह जो संसार भर से प्रेम करने को तैयार था सबसे घृणा करना सीखने लगा।

निकोलाइ वासिल्येविच गोगोल ने भी अपने उपन्यासों में रूसी समाज की कुछ निकृष्टतम प्रवृत्तियों को प्रकट किया है। उनके 'इवान इवानोविच और इवान निकिफ़ोरोविच का झगड़ा' में बिलकुल निरर्थक और निरुपयोगी जीवन व्यतीत करनेवाले दो मित्र एक तुच्छ विषय से बिगड़कर एक-दूसरे के दुश्मन हो जाते हैं। गोगोल का 'मृत आत्माएं' (१८४२) पूंजीवादी सभ्यता के प्रतिनिधि चिचिकोव की धन कमाने के लिए प्रयुक्त कूटनीतियों पर प्रकाश डालता है। गोगोल के उपन्यासों के विषय तत्कालीन समाज के यथार्थ हैं, पर उनकी शैली बहुत आडम्बरपूर्ण होने से यथार्थवाद के अनुकूल नहीं है।

इस तरह हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध के अन्तिम दो दशकों के यूरोपीय उपन्यास-साहित्य में ही यथार्थवाद के अंकुरित होने के संकेत मिलते हैं। उत्तरार्द्ध में इस यथार्थवाद की सर्वांगीण प्रगति हुई। लेकिन यहां उसकी चर्चा करने के पहले अंग्रेजी में स्वच्छन्दतावाद का जो पुनर्जीवन हुआ उसकी चर्चा करना उचित होगा।

अंग्रेजी में रोमान्स का पुनर्जीवन

१०९. जेन आस्टिन से लेकर डिकेन्स और थकरे तक के यथार्थवादियों का निरीक्षण वस्तुनिष्ठ था। शायद उनकी वस्तुनिष्ठता की प्रतिक्रिया के रूप में ही तुरन्त कुछ उपन्यासकार अन्तर्निरीक्षण को अपनाकर उपन्यास लिखने लगे। ब्राण्टी-बहनें विलियम व्हाइट हेल, जार्ज मेरिडिथ आदि ने बाह्य जीवन से बढ़कर मानसिक प्रवृत्तियों को महत्त्व दिया। मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों का निवेदन करनेवाली मौलिकवादी बौद्धिकता से मुक्ति स्वनिरीक्षण प्रवाह विन्यास आदि इनकी विशेषताएं हैं। साधारण दृष्टि और मस्तिष्क से अननुभूत एक भाव-सत्ता के अन्वेषण और जीवन के नव मूल्यांकन की ओर प्रवृत्त हुए इनमें जो-जो वैज्ञानिक दृष्टि से रहित थे उनके उपन्यास अपार कल्पना से स्वच्छन्दतावादी हो गये। ब्राण्टी-बहनें और स्टीवेन्सन के उपन्यास ऐसे ही हैं। चार्लोटी ब्राण्टी के 'प्रोफ़ेसर' (१८५७) 'जेन आयर' (१८४७) 'शेर्ली' (१८४९) आदि में और एमिली ब्राण्टी के 'वुदरिंग हाइट्स' (१८४७) में आत्मा के गूढ़ सत्यों को ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न है। इन सबके कथानक मर्मस्पर्शी हैं, पात्र अत्यन्त विकारमय होने से मार्मिक हैं। फिर भी एमिली और चार्लोटी की

मनुभूति-मसूत शैली के कारण सबमें यथार्थ का ग्राभास होने लगता है। ब्रांटी-बहनों के पश्चात् राबर्ट लुई स्टीवेनसन ने स्वच्छन्दतावादी परम्परा को बनाये रखा। उनके 'ट्रेजर आइलैंड' (Treasure Island) और 'किड्नप्ड' (Kidnapped) पर यथार्थवाद का प्रभाव होने पर भी वे वस्तुत: विषय और शैली में स्वच्छन्दतावादी हैं।

अंग्रेजी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद का पुनर्जागरण तो हुआ परन्तु उसका अधिक विकास नहीं हो सका। बढ़ती हुई बौद्धिकता ने यथार्थवाद को ही मान्यता दी अत: यथार्थवाद ही विभिन्न रूपों में उपन्यास-साहित्य का मुख्य आश्रय बन गया।

यथार्थवाद और उसके दो रूप

११० इस वैज्ञानिक युग की विश्लेषणात्मकता के कारण उपन्यास-साहित्य में दो तरह के दृष्टिकोणों का आविर्भाव हुआ। दोनों ने दो प्रकार के यथार्थवादों को भी जन्म दिया। इनमें प्रथम दृष्टिकोण बहिर्मुखी था और बाह्य यथार्थों को अधिक महत्त्व देता था। दूसरा अन्तर्मुखी था और बाह्य यथार्थों की अपूर्णता प्रमाणित करके अनुभूति के आधार पर इन्द्रियातीत सत्यों का अन्वेषण करता था। इन सबकी विस्तृत चर्चा यथार्थवाद से सम्बन्धित अध्याय में की जाएगी। यहां केवल इन धाराओं के अन्तर्गत आनेवाले मुख्य उपन्यासों का सिंहावलोकन पर्याप्त होगा।

अंग्रेजी उपन्यास मानव-प्रकृति की अगाधता की ओर

१११ जैसे ऊपर कहा जा चुका है लगभग १८८१ तक के सामाजिक उपन्यासों में समाज की आलोचनापूर्ण विवेचना है ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास की मुख्य घटनाओं के बाह्य रूप मात्र का चित्रण है रोमान्टिक उपन्यासों में भावों की उच्चतम दशा का निदर्शन है, किन्तु सर्वत्र बौद्धिक व्याख्या की कमी है मानव हृदय की संकुल वृत्तियों के वैज्ञानिक विश्लेषण एवं अध्ययन का अभाव है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध ने यूरोपीय उपन्यास की इस कमी की भी पूर्ति की। फ्रेंच अंग्रेजी और रूसी में इस समय ऐसे उपन्यासकार हुए, जिनमें अनेक पारस्परिक विभिन्नताओं के होते हुए भी एक बात साधारण रूप में मिलती है। यह उनकी बौद्धिकता है जिसका सहारा लेकर वे सामाजिक दशाओं का निरीक्षण करते हैं या व्यक्ति के अन्दर प्रविष्ट होकर उसे सम झने का प्रयत्न करते हैं। सामाजिक क्षेत्र में यह बौद्धिकता व्यक्ति और समाज के द्वन्द्वों और संघर्षों के अध्ययन की ओर झुकी तो वैयक्तिक क्षेत्र में उसने विशद मनो विश्लेषण को प्रश्रय दी।

अंग्रेजी में जार्ज इलियट से इस बौद्धिक युग का प्रारंभ माना जाता है।[1] इलियट के लिए उपन्यास न मनोरंजन की वस्तु रहा न सामाजिक कुत्सितत्व की आलोचना

---

१ "The period of Henry James and Meredith and Galsworthy and Wells and which is hardly over today—begins with George Eliot.
—Cecil Early Victorian Novelists P 213

का माध्यम। इससे बढ़कर वह कुछ गंभीर, विवेकपूर्ण और वैज्ञानिक अध्ययन बन गया। कलात्मक धारणा को अणु-मात्र भी आघात पहुँचाए बिना इलियट ने उपन्यास में वैज्ञानिकता की स्थापना की है। उसके विवेक और विचारपूर्ण अध्ययन मानव के प्रति यथार्थ सहानुभूति और विचारक के दृष्टिकोण ने पात्रों को पूर्ण बनाकर स्थूल एवं दृढ़ नींव पर खड़ा कर दिया। फिर भी उसके पात्र अधिकाधिक अन्तर्मुखी होते गये और 'डानियल डेरोण्डा' (१८७६) जैसे अन्तिम उपन्यास के पात्र कुछ विचित्र-से हो गए हैं। किन्तु यथार्थ की वह आराधिका थी और वही उसके लिए धर्म था।[1] 'आदम बीड' (१८५९) 'मिल ऑन द फ्लास' (१८६०) 'साइलस मारनर' (१८६१) 'रमोला' (१८६३) 'मिडिल मार्च' (१८७१-७२) 'डानियल डेरोण्डा' (१८७६) इन सबमें पात्रों के आन्तरिक यथार्थ पर अधिक ध्यान दिया गया है। 'साइलस मारनर' और उसके बाद के उपन्यासों में इलियट का दार्शनिक पक्ष भी अधिक प्रबल हो उठा है। सभी में उन गूढ़ शक्तियों का परीक्षण है जो नैसर्गिक रूप से अनियन्त्रित और अज्ञात होकर मनुष्य में—विशेषकर स्त्री में—रहती हैं और समय-समय पर जागरित होती हैं। 'साइलस मारनर' में साइलस जो भयंकर कंजूस है, जो जीवन में धन जमा कर रखने के अतिरिक्त और कोई लक्ष्य नहीं देखता, एक छोटी-सी अनाथ बालिका को पाकर अपना समस्त स्नेह और सम्पूर्ण जीवन उसीके सुखार्थ विसर्जित कर देता है। यह आदर्शवाद नहीं है, पर मानव की चिरन्तन रागात्मिकता की परिस्थिति के अनुसार विभिन्न रूप धारण करने का यथार्थ चित्र है। वैयक्तिक आग्रह और अनुभूतियाँ, वासना, प्रवृत्ति, असहीनताएँ, विकार और विचार का संघर्ष आदि मनुष्य की स्थायी भावनाएँ ही इलियट के उपन्यासों के कथानकों का आधार हैं और इलियट इन भावों को प्रायः सूक्ष्म एवं वायवीय रूप में न रखकर उन्हें स्थूल और ठोस आकार देती है, उन भावों के ऊपरि तल-मात्र को न दिखाकर उनके वैयक्तिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, भौतिक कारणों और प्रेरणाओं की तह तक पहुँचने का प्रयत्न करती है।[2] फिर भी कभी-कभी वह इसी कारण भावुकता तक पहुँच जाती है, जैसे 'मिल ऑन द फ्लास' में या जीवन पर व्यंग्य करते हुए एक अलौकिक दार्शनिक लोक में विचरण करने लगती है जैसे 'मिडिल मार्च' में। इसके विरुद्ध 'आदम बीड' में इंग्लैंड के ग्रामीण जीवन का वास्तविक चित्र भी है।[3] सामाजिक वातावरण और वैयक्तिक अनुभूतियों का चित्रण करते इन

---

१ "In George Eliot truth was a doctrine and a conviction to which she held with religious devotion." Baker The History of the English Novel, Vol VIII, P 223

२ "She shows us not only the flower but its root and the soil and weather which have gone to give its peculiar colour and shape" —Cecil Early Victorian Novelists P 224

३ "As a rich and crowded canvas a veracious picture of English rural life in times already now gone by, it is one of th —

जार्ज इलियट ने हार्डी और मेरिडिथ के लिए स्पष्ट मार्ग बना छोड़ा।[1]

मेरिडिथ के उपन्यासों में भी व्यक्तिपरक विश्लेषण की प्रमुखता है। उन्होंने मानव की विचार-धारा में जो प्रभाव पड़े हैं, उनका स्वच्छन्दतावादियों के परम्परागत नैतिक सिद्धांतों से मिलाकर अध्ययन किया है। उनके कुछ सामाजिक सिद्धान्त हैं पर वे कोरे सिद्धान्त-मात्र नहीं हैं। जीवन को विकास देनेवाली नैसर्गिक प्रवृत्तियों से उनका सबन्ध है।[2] यद्यपि नैसर्गिक जीवन का स्वाभाविक प्रवाह ही उनका आधार है तो भी उससे ऊपर उठकर मेरिडिथ एक आदर्श जीवन की ओर उन्मुख होते दिखायी पड़ते हैं। 'रिचर्ड फेवरल' (१८५९) 'ब्योचाम्प्स कैरियर' (?) 'द ईगोइस्ट' (१८७९) आदि में जीवन की परोक्ष आलोचना एक उत्कृष्टतर जीवन की ओर संकेत करती है। मेरिडिथ और इलियट इस बात में मिलते हैं कि दोनों में विश्लेषणात्मक यथार्थवाद के साथ-साथ एक उदात्त जीवन-दर्शन है जो कहीं-कहीं उपदेशवाद का सहारा लेकर आगे बढ़ता है।

फ्रेंच उपन्यास व्यक्ति-विश्लेषण की ओर

११२ इस समय फ्रेंच उपन्यासकारों में गस्ताव फ्लाबेयर और अल्फ्रेन्स दादे व्यक्ति के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए। बाल्यकाल में ही फ्लाबेयर को व्यक्तियों के प्रति—विशेषकर पागल मूर्ख आदि असाधारण व्यक्तियों के प्रति—विशेष आकर्षण था।[3] मनुष्य शरीर की चीर-फाड़ करनेवाले पिता के (उनके पिता डाक्टर थे) इस पुत्र ने मानवात्मा की चीर-फाड़ करने का प्रयत्न किया। बिना निरीक्षण के उन्होंने कुछ नहीं लिखा। उनके सामाजिक एवं व्यक्ति-संबन्धी अपार अध्ययन का फल है 'मदाम बोवारी' (Madame Bovary 1857) जिसकी नायिका पाप के मार्ग से अपने आपको रोकने का सतत प्रयत्न करते हुए ही निरन्तर उन्नत होने का प्रयत्न करते हुए ही अकस्मात् पतन की ओर जाती है—पतन से पतन की ओर और अन्त में मरण की ओर। इसमें एक व्यक्ति की रुग्ण मनोवृत्तियों का अध्ययन है, और साथ-साथ सहस्रों वर्षों से एक आदर्श जीवन प्राप्त करने का प्रयत्न करते हुए भी पाशविकता से मुक्त होने में असमर्थ मानव-जाति का संकुल इतिहास निहित है। इसी तरह

---

possessions of our mental gallery —Baker The History of the English Novel, Vol. VIII, P 241

१ See, Church The Growth of English Novel, P 164

२ "From nature's parental dealings with man and from the success of those who devoutly serve, Meredith deduces the laws of man's life"—Baker The History of the English Novel Vol. VIII, P 297

३ Thomas & Thomas Living Biographies of Famous Novelists P 154

'भावुक शिक्षा' (L Education Sentimentale 1861) और 'सन्त अन्तोनी का प्रलोभन' (La Tentation de Saint Antoine) में भी मानवता की बेवकूफी नीचता पतन चंचलता बलहीनता और पराजय का विस्तृत इतिहास और व्यक्ति का अन्तर्जीवन (प्रथम में फ्रेडेरिक मोरो का और दूसरे में सन्त अन्तोनी का) है। प्रावे का 'मानन लेस्को' (Manon Lescaut) की नायिका भी मदाम बोवारी की तरह पतित होती जाती है और एक पुरुष के जीवन को भी बरबाद कर डालती है। उसके संघर्षमय जीवन का चित्रण प्रावे के मानसिक विश्लेषण का अच्छा उदाहरण है।

रूसी उपन्यास व्यक्ति की ओर

११३ लगभग इसी समय रूस में तुर्गनेव और दास्ताएवस्की ने सामाजिक विषयों से आकृष्ट होकर भी व्यक्ति-विश्लेषण में बड़ी सफलता पायी। तुर्गनेव के 'अछूत भूमि' (Virgin Soil, 1876) का नेज्दानोव एक तत्कालीन उच्च-मध्य वर्गीय युवक का प्रतिनिधित्व करता है जो जनता की ओर जाने के प्रयत्न में पराजित होता है। यह एक सामाजिक प्रवृत्ति का वैयक्तिक उदाहरण है। तत्कालीन जीवन के साधारण उपरिव्यक्त (Superfluous) मनुष्य का विश्लेषण तुर्गनेव के और एक उपन्यास 'रुदिन' (१८५५) में भी मिलता है। ये पात्र सामयिक समाज के ही विशेष अंग हैं अतः उनका जीवन सामाजिक जीवन के एक पहलू का रूप है। इसके विरुद्ध दास्ताएवस्की और तालस्ताय के पात्रों में जो सबल व्यक्तित्व है, उसका आधार मानव की चिरकालीन भावनाएं हैं। रस्कोलनिकोव ('अपराध और दण्ड' में) प्रिन्स मिशकिन ('महामूर्ख' में) नताशा ('युद्ध और शान्ति' में) और अन्ना करेनिना आदि अपना क्षणिक अस्तित्व रखकर मिट नहीं जाते। देश-काल की सीमायें पार कर वे मनुष्य के मनोलोक के प्राणी बन जाते हैं अतः सभी कालों में सभी समाजों में उनकी याद सजग एवं सुदृढ़ रहेगी। किन्तु उनका अस्तित्व सामाजिक-मात्र नहीं है इससे बढ़कर अधिक वैयक्तिक है। मन के अनियंत्रित स्वतंत्र प्रवाह को रोक रखने का निरन्तर प्रयत्न करते हुए पराजित होनेवाली अन्ना करेनिना की नियंत्रण और स्वतंत्रता के बीच के संघर्षजनित अशान्ति तभी मिटती है जब वह मालगाड़ी के नीचे अपने जीवन का अन्त कर देती है। उसका मानसिक द्वन्द्व वैयक्तिक होने पर भी सार्वजनिक है। दास्ताएवस्की भी अपने पात्रों के अन्तर्लोक के अज्ञात स्वरों का आविष्कार करते हुए मानव की कितनी ही अनुभूतियों विचारों विकारों और द्वन्द्वों को प्रकाश में लाते हैं, जो उनके बाह्य अस्तित्व से अधिक महत्वपूर्ण है। इसीलिए जे सी पाविस उनमें यथार्थ यथार्थवाद (Real Realism) देखते हैं[१]।

व्यक्ति और समाज का संघर्ष

सामाजिक परिस्थितियों में विकसित होनेवाले व्यक्ति का अध्ययन उन्नीसवीं

---

१ Dostoevsky John Cowper Powys, P 36-42.

शती के उत्तरार्द्ध की एक अन्य प्रवृत्ति है जो सामान्य रूप से अंग्रेजी फ्रेंच और रूसी उपन्यासों में मिलती है। इसको प्रेरणा यथार्थवाद की बहिर्मुखी वृत्ति है।

११४ अंग्रेजी में—सामाजिक बन्धनों के कारण वैयक्तिक जीवन मे कैसी बाधाएं और यातनाएं आती हैं और सामाजिक नियम नीति और मान्यताएं व्यक्ति की असहीनताओं से लाभ उठाकर उसका गला कैसे घोंटती हैं, इसका करुणाजनक दृश्य टामस हार्डी ने 'टैस' और 'जूड' (१८६५) में दिखाया है। सामाजिक अनीतियों के विरुद्ध डिकेन्स ने भी आवाज उठायी थी पर वे व्यक्ति के बाह्य जीवन तक ही सीमित रहे। हार्डी ने इन सामाजिक अत्याचारों को व्यक्ति के आन्तरिक जीवन पर भी कुठारा घात करते देखा। हृदय की कोमल तन्तुओं को जोर से खींचकर तोड़ते समय जो विस्फोट स्वर होता है वही 'टैस' और 'जूड में देखते हैं। अनुभूति के आधिक्य के कारण उनके पात्र अत्यन्त कलात्मक अस्तित्व रखते हैं। विशेषकर हार्डी के स्त्री-पात्र की कोमलता का पुंज है। इस कोमलता और सहनशीलता पर बार-बार पड़नेवाले आघात ही हार्डी की ट्रैजडी के आधार हैं। हार्डी के पात्रों की शोकात्मकता केवल समाज के अत्याचार के कारण नहीं है बल्कि व्यक्ति की कमजोरी के कारण भी है। टेस पतित होती है तो उसमें उसका भी उत्तरदायित्व है जो स्वाभाविक है। केवल समाज पर अपराध लगाकर उसका विमर्दन करने से इतनी स्वाभाविकता नहीं आ सकती है और न ट्रैजेडी ही इतनी मार्मिक हो सकती है। हेनरी जेम्स के उपन्यास प्राय सामाजिक वातावरण प्रस्तुत करते है तो भी उनके प्रौढ़ उपन्यासों में समाज और व्यक्ति का संघर्ष कम महत्त्व का नहीं है। 'द स्पॉइल्स ऑफ प्वॉइन्टन (The Spoils of Pointon 1897) में एक धनी युवक ओवन एक बदनाम घर की लड़की मोना से प्रेम करता है पर सम्पत्ति-नाश के भय से उसकी माता उसे रोकती है और दूसरी लड़की फ्लेडा से उसे फंसाकर संपत्ति उसको दे देती है। लेकिन ओवन मोना से विवाह करके अपना सर्वनाश करता है। इस उपन्यास में धन और प्रेम से सजात मानसिक द्वन्द्व मुख्य आकर्षण है। 'कबूतर के पंख' (The Wings of the Dove, 1902) में भी धन और दो लड़कियां नायक के मानसिक द्वन्द्व के कारण हैं। 'सोने की थाली' (The Golden Bowl) में हेनरी जेम्स ने सन्देह के कारण दाम्पत्य जीवन में आने वाली उलझनों को दिखाया है। समस्याओं के सन्दर्भों में हृदय के विकारों और द्वन्द्वों को चित्रित करने में हेनरी जेम्स ने अपूर्व सामर्थ्य दिखायी है।

११५ फ्रेंच में—फ्रेंच उपन्यासों में व्यक्ति और समाज का संघर्ष-पूर्ण संबंध अप्राप्य है। फ्रेंच यथार्थवादी और प्राकृतिकतावादी उपन्यासकारों ने समाज और व्यक्ति की अनैतिकता का जो चित्रण किया है उसमें पारस्परिक संघर्ष नहीं है। पात्रों का व्यक्तित्व समाज के आचार-विचारों नियमों या बन्धनों से विद्रोह नहीं करता। इसके विरुद्ध व्यक्ति और समाज की सद्-असद् वृत्तियां समवाय होकर बिना किसी संघर्ष या विषमता के स्वाभाविक रूप में आगे बढ़ती हैं। फ्लाबेयर के 'मदाम बोवारी' और 'भावुक दिक्षा' दादे का 'साफो' (Sapho, 1884) जोला के 'रोमन मक्कार' परम्परा के उपन्यास जिनमें 'ल अससम्वार' (१८७७) 'ल ग्रोमर' (१८७६) 'नाना'

(१८८) 'जेर्मिनल' (१८८५) आदि मुख्य हैं मोपासाँ के 'कामुक' (Bel Ami, 1885), 'एक जीवनी' (Une Vie 1887) आदि के सभी पात्र समाज जिस सांस्कृतिक धारा में बहता जाता है उसीके साथ बहते जाते हैं। फ्लाबेयर को छोड़कर और किसीका कोई पात्र प्रतिरोध तक नहीं करता।

११६ रूसी में—इसके विरुद्ध रूसी उपन्यास में संघर्ष का रूप अत्यन्त प्रबल है। समाज और परम्परा के विरुद्ध संघर्ष करनेवाला व्यक्ति रूढ़िगत सांस्कृतिक बन्धनों के कारण कितना विवश है वह कैसे घात-प्रतिघात मानसिक गुत्थियों में बँधा रहता है यही दिखाना दास्तोयवस्की और तुर्गनेव का ध्येय है। रस्कोलनिकोव ('अपराध और दण्ड' में) सामाजिक मर्यादाओं और नीतियों की अमान्यता मानकर अपना व्यक्तिगत आदर्श दिखाने के लिए एक बूढ़ी स्त्री की हत्या करता है। पर उसके बाद परम्परागत संस्कृति में पली हुई उसकी आत्मा ही उसकी प्रताड़ना करने लगती है। तुर्गनेव के रुदिन ('रुदिन' में) और मजनोव ('अछूत भूमि' में) अपनी परम्परा-प्रदत्त प्रवृत्ति के विरुद्ध और कुछ बनना चाहते हैं पर वे अपरिष्कृत (Superfluous) मनुष्य जीवन में भटककर पराजय का अनुभव करते हैं। तुर्गनेव का 'बाप-बेटे' (Fathers and Sons, 1861) व्यक्ति और समाज के निरन्तर संघर्ष का और पीढ़ी-दर पीढ़ी समाज के क्रमिक विकास का इतिहास है। उन्नीसवीं शती के चतुर्थ दशक के सांस्कृतिक बन्धनों में पले पिता और षष्ठ दशक के क्रियाशील पंचम युवक दोनों का संघर्ष रूस के विकास के इतिहास का एक अध्याय है। गनचारोफ़ के तीनों उपन्यासों का आधार भी यही संघर्ष है। 'एक साधारण कथा' (A Common Story 1847) का नायक अपना कुलीनों का घोंसला छोड़कर नवीन नगर-जीवन में प्रविष्ट होता है उसमें शान्ति न पाकर ग्राम को लौटता है पर अब वहाँ भी असंतुष्ट होकर फिर नगर जाता है और नगर-जीवन के अनुकूल अवसरवादी बनकर आगे बढ़ता है। 'ओब्लोमोव' (Oblomov 1859) का नायक परिस्थितियों से संघर्ष करके पराजित होनेवाला एक युवक है। 'कगार' (Precipice 1869) की नायिका और वेरा में दो पीढ़ियों की संस्कृतियाँ चित्रित हैं। इस प्रकार ये सब रूसी उपन्यास न्यूनाधिक मात्रा में व्यक्ति और समाज के द्वन्द्व को प्रकट करते हैं।

कलावाद और प्रकृतिवाद

११७ फ्रेंच में—उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में फ्रेंच साहित्य में बढ़ती हुई बौद्धिकता ने प्रकृतिवाद का रूप धारण किया। यथार्थ के क्षेत्र में यह एक नया प्रयोग था जो गनकोर्ट भाई एमिल ज़ोला मोपासाँ और हाइसमैन से किया गया। इनके पूर्व फ्लाबेयर ने ही यथार्थ को कला के चरम आदर्श के रूप में मान्यता दी थी। गनकोर्ट भाइयों ने पात्रों एवं परिस्थितियों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंशों पर ध्यान देकर, प्रत्येक बात के विशद वर्णन में अपनी कला का प्रयोग किया। भावुकता से वे दूर रहे। उनकी कल्पना नयी वस्तु के आविष्कार में नहीं है बल्कि विषय के आवश्यक अंशों के चुनाव में और उनको प्रतिपादित करने के ढंग में है। जो वस्तु जितनी अधिक स्वाभाविक है

जिसको व्यंजित करने में श्रम की आवश्यकता नहीं पड़ती वह उतनी अधिक यथार्थ होती है। जोला ने इन्हीं सिद्धान्तों को अपनाया और साथ ही वैज्ञानिक अध्ययन की प्रणाली जोड़कर उसे अधिक यथार्थ बनाया। उनके बीस के लगभग उपन्यासों में मनोविज्ञान शरीरशास्त्र और विकासवाद के सिद्धान्तों के आधार पर कई पीढ़ियों का अध्ययन है। उनके प्रसिद्ध उपन्यास की नायिका नाना परम्पराओं और परिस्थितियों से उत्पन्न है। प्रकृतिवाद पर प्रायः अति यथार्थ का जो आरोप किया जाता है उसके अतिरिक्त यह वैज्ञानिक अध्ययन भी उसका मुख्य अंग है जिसमें जोला और मोपासाँ के अतिरिक्त फ्रेंच या अन्य भाषा का और कोई प्रकृतिवादी सफल नहीं हुआ है। संक्षेप में प्रकृतिवाद की विशेषताएँ हैं (१) भौतिक यथार्थ को महत्त्व देकर रचना को विषयगत बनाना (२) वर्णन में विषदत्व (३) भले-बुरे के प्रति अनासक्त रहकर उनको जीवन की स्वाभाविक वृत्तियों के रूप में देखना (४) कलापक्ष की ओर विशेष सतर्कता और भाव से बढ़कर रूप के प्रति सचेत रहना (५) मानव-स्वभाव का परम्परा एवं परिस्थिति के वातावरण में वैज्ञानिक अध्ययन।[१]

११८ अंग्रेजी में—उन्नीसवीं सदी के अन्त में अंग्रेजी में भी कुछ प्रकृतिवादी प्रयोग हुए। लेकिन न उसका विकास हुआ न कोई उत्कृष्ट प्रकृतिवादी रचना की सृष्टि हुई। मार्क रदर्फोर्ड जार्ज गिस्सिंग जार्ज मूर और वाल्टर के पैटर उपन्यास केवल नग्न चित्रण में प्रकृतिवादी उपन्यासों की तुलना में आते हैं। फ्रेंच के प्रकृतिवादियों का वैज्ञानिक दृष्टिकोण और व्यक्ति एवं समाज की संकुल वृत्तियों का विश्लेषण उनमें न रहा। उच्च कुलोत्पन्न गिस्सिंग को निम्न वर्ग का अध्ययन कष्ट-साध्य था और फिर निम्न वर्ग के प्रति उनका भाव दया का था जो प्रकृतिवादी दृष्टिकोण में बाधक है। जार्ज मूर का 'एस्थेर वाटर्स' (१८९४) अंग्रेजी की सबसे सफल प्रकृतिवादी रचना है जिसमें जीवन के विभिन्न वर्गों का सूक्ष्म निरीक्षण है। वाल्टर पैटर में प्रकृतिवादियों की रचनात्मक कला है पर वे जीवन के नग्न यथार्थों के प्रति उतने जागरित नहीं दीखते। आस्कर वाइल्ड भी कलावादी थे। दोनों के लिए कला कला के लिए थी। वाइल्ड यद्यपि जीवन की कुत्सितता को पूर्ण नग्न रूप में प्रस्तुत नहीं करते तथापि समाज की चीरफाड़ करके उसकी गंदगी को दिखाते हैं और उसके लिए कलात्मक अभिव्यंजन का सहारा लेते हैं। उनके मत में नैतिक दृष्टिकोण और सहानुभूति कला में शैली का एक अक्षम्य स्वभाव-विशेष है।[२] कलाकार को अपने नैतिक दृष्टिकोण के कारण किसी घटना पर आँसू बहाने और किसीपर घृणा उठाने का अधिकार नहीं है।

११९ रूसी में—यद्यपि रूसी साहित्य ने कभी प्रकृतिवाद को नहीं अपनाया तो भी उससे पूर्णतया अप्रभावित न रहा। फ्रेंच उपन्यासों में जीवन के निम्न स्तरों

---

१. प्रकृतिवाद का विशेष अध्ययन यथार्थवाद से सम्बन्धित अध्याय में किया जायगा। देखिए अध्याय ७ वरि ६।

२. "An ethical sympathy in an artist is an unpardonable mannerism of Style"—Wilde—Dorian Gray—Preface.

को जो स्थान मिला वही लगभग उसी काल में रूस के आलोचनात्मक यथार्थवादी उपन्यासों में भी मिला। पिसेम्स्की का 'हजार आत्माएं' (Thousand Souls 1858) और शेड्रिन का 'गोलोव्ल्योव कुटुम्ब' (Golovlyov Family) इस तरह के उपन्यास हैं। पहले में स्वार्थसिद्धि के लिए सब कुछ करने को तैयार कैरियरिस्ट नायक है और दूसरे में स्वार्थ कृपणता अत्याग्रह और अधिकार से प्रमत्त एरीना पेट्रोव्ना नायिका है। दोनों उपन्यासों में प्रकृतिवाद की सी बारीकी है पर उसकी निर्ममता नहीं है। इनका दृष्टिकोण ही भिन्न है। जीवन की निम्न वृत्तियों के प्रति इनमें तो आलोचना का भाव है वह प्रकृतिवाद के बिलकुल विरुद्ध है। दूसरी बात यह है कि जब प्रकृतिवादी लैंगिक वृत्तियों को ही विशेष महत्त्व देते हैं, ये आलोचनावादी जीवन की सब तरह की निकृष्ट प्रवृत्तियों की ओर संकेत करते हैं। धन ने मनुष्य को कितना पतित बना रखा है इसे ये कलाकार कठिन व्यंग्य से दिखाते हैं। मगर प्रकृतिवादियों की निरपेक्षता किसी रूसी कलाकार में भी तो वह चेखव में। उनके 'वार्ड नम्बर ६' 'स्टेपी' आदि में पूरी निर्ममता से जीवन की निकृष्ट वृत्तियों की चर्चा की गयी है। इनमें बुराइयों और भलाइयों के सघर्ष हैं, पर प्रायः बुराई की ही विजय होती है। प्रकृतिवादियों की सी निराशावादी विषादात्मकता चेखव में भी है। लेकिन ये प्रकृतिवादियों से इस विषय में भिन्न हैं कि उनके विषय अधिक विस्तृत हैं और समाज की अधिक समस्याओं से सम्बन्धित हैं।

८

यूरोपीय उपन्यास-साहित्य

(३) बीसवीं शती

बीसवीं शती के यूरोपीय उपन्यास-साहित्य की मुख्य प्रेरणाएं

१२० बीसवीं शती के प्रारंभ ने यूरोपीय उपन्यास-साहित्य में भावना कल्पना और स्वच्छन्दता का अन्त कर दिया। इसके बदले ऐसी कुछ प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुईं, जिनका आधार पूर्णतया बौद्धिकता थी। सैकड़ों वर्षों के साहित्यिक प्रयोगों ने व्यक्ति और समाज का एक-दूसरे की तुलना में जो मूल्यांकन किया था उसमें परम्परागत रूढ़ियों के विरुद्ध कई क्रांतिकारी परिवर्तन लाए गये। भौतिक विज्ञान प्रकृति-विज्ञान और मनोविज्ञान के क्षेत्र में जो विकास उन्नीसवीं शती में हुआ उसका परिणाम साहित्य पर—और उपन्यास पर पड़ना अवश्यम्भावी था। बीसवीं शती के अंग्रेजी उपन्यास पर एडवर्ड कार्पेंटर, बर्ट्रेण्ड रसल आदि दार्शनिकों फ्रायड जैसे मनोवैज्ञानिकों एवं क्रोचे जैसे कला-तत्त्वज्ञों का प्रभाव पड़ा है।[1] कार्पेन्टर के मत में सभ्यता ने जहाँ मनुष्य को बहुत

1. Routh English Literature & Ideas in the Twentieth Century P 120-123

युक्त किया है वहाँ उसकी बड़ी हानि भी की है। मनुष्य ने अपने मस्तिष्क की शक्ति को अति महत्त्व देकर अपनी नैसर्गिक प्रकृति की एकता को विच्छिन्न करके जीवन के सभी क्षेत्रों में संघर्ष उत्पन्न किया है। रसल ने बताया कि हमें सभ्यता एक बंधन में जकड़ लेती है लेकिन वही सभ्यता हमें मुक्ति दे सकती है। इन दोनों के उपर्युक्त मतों का अंग्रेजी उपन्यास पर विशेष प्रभाव पड़ा है। सामाजिक जीवन और सभ्यता से टकराते हुए व्यक्ति की मानसिक ग्रन्थियों की उलझनों का अध्ययन इस शताब्दी के उपन्यासकारों का प्रिय विषय है। सेक्स के सम्बन्ध में यद्यपि फ्रायड की मान्यताओं का यंग आदि के द्वारा खंडन हो चुका है, तथापि उनके मूल सिद्धान्तों का अब भी आदर है। मैबेल वेस्ट, मार्ड सिक्लेयर, डी एच लारेंस आदि के उपन्यास फ्रायड से प्रभावित हैं। बीसवीं शती के श्रेष्ठ उपन्यासों में फ्रायड के मनोविश्लेषण-संबंधी सिद्धांतों का विशेष स्थान है। फ्रेंच और अंग्रेजी के नवीन उपन्यासों में जो अन्तर्निरीक्षण है जो प्रभाववाद है उनका मूल स्रोत फ्रायडीय विचारधारा ही है। इस समय के विश्व साहित्य को एक नया मोड़ देनेवाले दार्शनिक कार्ल मार्क्स भी हैं। सोवियत उपन्यास साहित्य मार्क्सीय दर्शन से प्रेरणा पाकर एक नयी दिशा में उन्मुख हुआ। मार्क्स का दार्शनिक सिद्धांत द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है जिसको आधार बनाकर साहित्य ने समाजवादी यथार्थवाद को जन्म दिया। पोलैण्ड चकोस्लोवेकिया आदि देशों के अद्यतन उपन्यास-साहित्य भी इस साहित्यिक सिद्धांत को अपनाए हुए हैं।

बीसवीं शती के अंग्रेजी उपन्यास

बीसवीं शती के अंग्रेजी उपन्यास-साहित्य को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है (१) समाज-विश्लेषक और (२) व्यक्ति-विश्लेषक।

१२१ समाज-विश्लेषक उपन्यास—जैसे कहा जा चुका है अंग्रेजी के समाज शास्त्रीय उपन्यासों में समाज और सभ्यता से व्यक्ति का संघर्ष ही मुख्य विषय है। ऐसे उपन्यासों में प्रमुख एच जी वेल्स हेनरी जेम्स जोसफ़ कानराड सामुएल बटलर, आर्नोल्ड बेनेट जान गाल्सवर्दी ई एम फार्स्टर, एल्डुअस हक्सले आदि के हैं।

वेल्स का दृष्टिकोण आलोचक का है। उनकी प्रारम्भिक रचनाएं—जो उन्नी सवीं शती की हैं—सब वैज्ञानिक रोमांस हैं। आधुनिक विज्ञान के तत्त्वों के आधार पर वे जीवन के भिन्न पहलुओं पर विचार करते हैं और प्रायः एक नये संसार की रूप रेखा देते हैं। 'चन्द्र पर पहला मनुष्य' (The First Man on the Moon) 'समय-यन्त्र' (Time Machine) 'विचित्र सन्दर्शन' आदि ऐसे उपन्यास हैं। 'समय यन्त्र' उस भविष्य की ओर संकेत करता है जब संसार काम करनेवालों का रहेगा। 'विचित्र सन्दर्शन' में स्वर्ग का एक देव इस संसार में आता है। भूख प्यास थकावट आदि को तो वह संभाल लेता है लेकिन मानव-समाज को समझ नहीं पाता। यहाँ के शिष्टाचार, बन्धन रूढ़ियाँ धर्म प्रेम जमीन के चारों ओर लगाए कटिदार तार आदि को समझने में वह बिलकुल असमर्थ होता है। रोमांस की चरम सीमा में भी वेल्स धरती को नहीं छोड़ते। 'प्रेम और मि लुइशाम' (Love and Mr Lulsham)

'किप्स' 'मि. पोली' आदि दूसरी तरह के उपन्यास हैं, जिनमें वेल्स ने मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी के रूप में देखा है। व्यक्ति से नैतिकता की अपेक्षा रखनेवाला समाज वैयक्तिक स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करनेवाले व्यक्ति ये ही इनके विषय हैं। मुख्यतः किप्स और पोली से समाज अनावश्यक अपेक्षाएं रखता है और वे स्वतंत्रता के लिए लड़ते हैं। वेल्स का आदर्श व्यक्ति को अधिक स्वतंत्रता देकर कर्तव्य के प्रति उन्मुख कराना है। यह आदर्शवाद कहीं-कहीं उपदेशवाद की सीमा तक पहुँच जाता है। उपदेशवाद ही तर्क से मिश्रित होकर वेल्स के तर्क उपन्यासों में (Discussion Novels) में आता है। 'एन वेरोनिका' 'विवाह' 'अमिट भाव' आदि सैद्धांतिक विवेचन के कारण बोझिल हैं और कला की दृष्टि से निम्न स्तर के हैं।

बेनेट और गाल्सवर्दी ने अपने काल के अंग्रेजी समाज का मानो पूर्ण विस्तृत और सर्वांगीण चित्रण किया है, जो अपनी वास्तविकता के कारण सामाजिक इतिहास के समान मूल्यवान है। वे डिकन्स के समान आलोचक न थे, वेल्स और शॉ के समान प्रचारक न थे। उन्हें न समाज के कलंक-भाग का लेखा तैयार करना था न कोई सामाजिक आदर्श उपस्थित करना था। एक निरीक्षक की दृष्टि से उन्होंने सम्पूर्ण समाज को देखा और जो कुछ देखा उसका कार्य-कारण ढूंढकर वैज्ञानिक अध्ययन किया। बेनेट में जीवन को समझने की जो अदम्य आकांक्षा सही-सही निरीक्षण की जो शक्ति और जीवन को रूप में व्यक्त करने की जो प्रतिभा थी उससे उन्होंने तत्कालीन समाज-मात्र का अवलोकन और विश्लेषण किया। गाल्सवर्दी में विश्लेषण साधारणीकरण और आलोचना की प्रवृत्ति बेनेट से अधिक है। उनके लिए जीवन तात्कालिक नहीं है उसकी एक धारा चली आयी है और चलती रहेगी। दृष्टिकोण के इस अन्तर के कारण बेनेट एक ही समय के समाज को देखते हैं जबकि गाल्सवर्दी पीढ़ियों से चलते आनेवाले और विभिन्न प्रभावों से अपना रूप निश्चित करनेवाले गतिशील समाज को। बेनेट के 'उत्तर का एक मनुष्य' (A Man from the North 1898) 'पाँच शहरों की अन्ना' (Anna of the Five Towns, 1902) 'लीयोनारा' (Leonara, 1903) 'बुढ़ियों की कहानी' (Old Wives Tale, 1908) आदि में इंगलैंड का तात्कालिक वातावरण प्रकट किया गया है। 'क्ले हैंगर' उपन्यास-त्रयी में (Clay Hanger 1910 Hilda Lessways, 1911 These Twain 1916) दो पीढ़ियों के बीच का विचार-संघर्ष भी दिखाया गया है। गाल्सवर्दी के तीन उपन्यास त्रयियों में हैं, १ 'फ़ार्साइट गाथा' जिसके भाग हैं, 'अमीर आदमी' (The Man of Property 1906) 'चन्सेरी में' (In the Chancery 1920) 'किराये के लिए' (To Let—1921) २ 'ए माडर्न कामेडी' जिसके भाग हैं, 'सफेद बन्दर' (The White Monkey 1924) 'चाँदी का चम्मच' (The Silver Spoon, 1926) और 'हंस-गीत' (Swan Song, 1928) ३ 'परिच्छेद की परिसमाप्ति' (End of the Chapter) जिसके भाग हैं, 'सेविका' (Maid in Waiting 1931) 'जंगल फूल उठे' (Flowering of Wilderness, 1932) और 'दूसरी नदी' (Other River 1933)। फ़ार्साइट कुटुम्ब की कई पीढ़ियों का सामाजिक वातावरण में

क्रमिक विकास होता है। फ्रायड का इनपर काफी प्रभाव है। जीवन में परम्परा (पैतृकता) और परिस्थितियों के बीच में जो संघर्ष चलता है, जिसके कारण जीवन क्रमशः विकसित होता है उसका गाल्सवर्दी ने सामाजिक एवं मानसिक क्षेत्र में निरीक्षण किया है। पर स्थितियां और पात्र धीरे-धीरे निराकृत होते जाते हैं। वे कभी पूर्णतया स्पष्ट नहीं होते। जैसे हम अपने बहुत निकट के व्यक्तियों को 'अच्छी तरह' जानने पर भी पूर्णतया नहीं जान पाते उसी तरह गाल्सवर्दी के पात्रों से निकट सम्बन्ध स्थापित करके भी उनसे कुछ दूर ही रह जाते हैं। पात्रों की यह अस्पष्टता उनको अधिक यथार्थ बनाती है। शायद इसीलिए कहा जाता है कि उनके उपन्यास जीवन के समान नहीं जीवन ही हैं।[1]

एल्डुअस हक्सले का सामाजिक विश्लेषण एक व्यंग्यकार का है। उन्हें जीवन में जो विचित्रताएं दिखाई पड़ती हैं उनको जमा करने का बड़ा शौक है और जमा करने के बाद उनपर वे दिल खोलकर हंसते हैं। 'क्रोम येलो' (१९२१) 'एण्टिक हेट' (१९२३) 'दोज बैरन लीव्स' (१९२५) 'प्वाइण्ट काउण्टर प्वाइण्ट' (१९२८) 'आफ्टर मेनी ए सम्मर डाइज दि स्वान' (१९४४) आदि में वर्तमान भौतिक संस्कृति और सामाजिक जीवन पर तीव्र व्यंग्य है। उदाहरण के लिए अन्तिम उपन्यास को लें। इसमें एक लखपति की कथा है जो मरण से डरता है और जीवन की मधुर अनुभूतियों के अनुभव के लिए अमर होना चाहता है। उसका डाक्टर जीवन की विनाशोन्मुख गति को रोकने में सफल होता है किन्तु उसके मानवीय गुण भी नष्ट हो जाते हैं। ह्रास होते-होते उसमें बन्दरों के लक्षण दीखने लगते हैं। अपनी वैज्ञानिक सिद्धियों से प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले मनुष्य की भयंकर पराजय को प्रकट करनेवाली यह कथा वस्तुतः निराशावादी नहीं है बल्कि मनुष्य के लिए एक चेतावनी है।

ई० एम० फार्स्टर के उपन्यास भी जीवन के सामाजिक पहलुओं का विश्लेषण करते हैं। प्रेम वासना और दाम्पत्य जीवन के मूल सिद्धान्तों की विवेचना 'वहां देवता भी नहीं जाते' (व्हेयर एञ्जल्स फीयर टु ट्रेड १९०५) 'लम्बी यात्रा' (दि लांगेस्ट जर्नी १९०७) आदि में है। 'लम्बी यात्रा' में एक धनी युवक को सभी प्रकार के सुख प्राप्त है गलत स्त्री से विवाह करके सभी आशाएं खो बैठता है। 'खिड़कीवाला कमरा' (A Room with a View) की नायिका का एक कुलीन युवक से विवाह निश्चित हुआ है। लेकिन उसे युवक के नपे-तुले शिष्टाचार से बंधे हुए प्रेम में तृप्ति नहीं मिलती। इसके विरुद्ध स्वयं न चाहने पर भी वह दूसरे एक युवक के वश में आ जाती है जिसका प्रेम आवेश का पर्याय है। सामाजिक जीवन और मनोविकारों की असन्तुलित दशा ही फार्स्टर का मुख्य विषय है।

अन्य समाज-विश्लेषकों में सामरसेट माम जे० बी० प्रीस्टली चार्ल्स मोर्गन विन कोम्प्टन बेनेट आदि के नाम लिए जा सकते हैं। माम ने अपने प्रथम उपन्यास 'लैबेथ

---

१. Schatit, Leon John Galsworthy P 115

की लिज़ा (Liza of Lambeth 1897) में प्रेम को विषय बनाया था पर बाद में वे समाज के अधिक विस्तृत क्षेत्रों और अधिक गहन समस्याओं की ओर आये। वस्तुओं के मूल्यांकन में संसार की भूल करता है, उसे दिखाना और सही मूल्य निर्धारण करना उनके उपन्यासों का ध्येय है। 'चन्द्र और छः पेन्स' (Moon and Six Pence, 1919) का नायक चित्रकला के प्रेम से अपना कारोबार, घर, पत्नी सबको छोड़ देता है। किन्तु उसे नाम नहीं मिलता। जब निराशा से वह अपने बनाये चित्रों को जलाकर दयनीय मृत्यु मरता है तब संसार उसकी कला की श्रेष्ठता जान पाता है। 'चित्रित पट' (Painted Veil, 1925) में यह मूल्यांकन सेक्स की समस्या से संबन्धित है। इसकी विवाहिता नायिका किट्टी परपुरुष से प्रेम करती है इस सन्देह से उसका पति उसे हैजे से पीड़ित एक नगर में ले जाता है जहाँ वह मर जाता है। किट्टी को प्रेम और वासना का अन्तर ज्ञात होता है। 'केक और शराब' (Cakes and Ale, 1930) दूसरों के गुणों और बलहीनताओं से लाभ उठाकर स्वयं प्रसिद्ध होने का प्रयत्न करनेवालों पर तीव्र व्यंग्य है। उनके 'मानवीय बन्धन' (Of Human Bondage) 'तंग कोना' (Narrow Corner) आदि हैं। मिस बेनेट प्रायः पारिवारिक सम्बन्धों अपराधों तथा मनमुटावों से उपन्यासी हैं। 'पुरुषों से अधिक स्त्रियाँ' (More Women than Men, 1933) 'भाई-बहनें' (Brothers and Sisters, 1929) 'पुरुष और स्त्रियाँ' (Men and Women, 1931) 'बेटियाँ और बेटे' (Daughters and Sons, 1937) माँ-बाप और बच्चे' (१९४१) आदि इनके ऐसे उपन्यास हैं। जार्ज ऑरवेल और इगोर गुसाको इस समय के दो साम्यवाद-विरोधी उपन्यासकार हैं। ऑरवेल के 'पशुलोक' (Animal Farm 1945) और १९८४ में तथा गुसाको के 'एक भीम का पतन (The Fall of a Titan) आदि में साम्यवादी शासन की हानिकारक एवं मानवता का दमन करनेवाली प्रवृत्तियों पर व्यंग्य किया गया है।

उपर्युक्त समाज विश्लेषक उपन्यासों के सम्बन्ध में यह नहीं समझना चाहिए कि इनमें वैयक्तिक भावनाओं और विकारों का विश्लेषण नहीं किया गया है। इनको समाज विश्लेषक कहने का तात्पर्य केवल यही है कि ये व्यक्ति-परक उपन्यासों से आगे बढ़कर विस्तृत सामाजिक पृष्ठभूमि का भी परिचय देते हैं। इनकी समस्याएं प्रायः तत्कालीन समाज की हैं।

१२२ व्यक्ति-विश्लेषक उपन्यास—द्बीसवीं सदी के विश्लेषकों में एक नया मनोविज्ञान है जो व्यक्ति की आन्तरिक सत्ता को प्रकाश निकालकर उसके गुह्यतम तत्त्वों का अध्ययन करता है। रिक्थ वैकार्यतर्की (Heredity) दमित वासना-जनित असामान्य प्रवृत्तियां व्यक्तियों के पारस्परिक आकर्षण विकर्षण की मूल प्रेरणाएं, मन वचन एवं कर्म का वैषम्य आदि इसके मुख्य विषय हैं। ये मनोवृत्तियाँ जीवन के यथार्थ हैं, अतः इनका विश्लेषण करनेवाले उपन्यासों को एक प्रकार से यथार्थवादी कहा जा सकता है।

इस सदी के कुछ प्रसिद्ध लेखक श्री ए्च सारेन्स, मिस वर्ड़ रिचर्डसन, मिस रैबेका वेस्ट मिस डोरोथी रिचर्डसन वर्जीनिया वुल्फ जेम्स जायस आदि हैं। लारेन्स के

उपन्यास 'बेटे और प्रेमी' (*Sons and Lovers* 1913) 'प्रेमिका स्त्रियाँ' (Women in Love 1920) 'खोयी लड़की' (The Lost Girl 1920) 'हारून की छड़ी' (Aaron's Rod 1922) 'कँगारू' (Kangaroo 1923) 'पंखवाला साँप' (The Plummed Serpent, 1926) 'लेडी चटर्ली का प्रेमी' (Lady Chatterley's Lover 1928) आदि मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में—विशेषकर यौन जीवन के क्षेत्र में—नये सिद्धान्तों का आविष्कार करते हैं। अपने ही नहीं अन्यों के भी मानसिक सत्य ही लारेन्स के लिए सत्य हैं। स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में उनका मत है कि उनमें पारस्परिक आकर्षण होना अनिवार्य नहीं है। 'बेटे और प्रेमी' 'प्रेमिका स्त्रियाँ' आदि लैंगिक प्रेम करने में असमर्थ व्यक्तियों की कथाएँ हैं। इडिपस ग्रन्थि, समलैंगिक प्रेम, यौन-विक्षिप्ति आदि उनके सभी उपन्यासों में हैं। यौन-नैतिकता के सम्बन्ध में लारेन्स सभी दार्शनिक सिद्धान्तों का विरोध करके नयी मान्यताएँ प्रस्तुत करते हैं। 'बेटे और प्रेमी' में पात्र मोरल अपनी माता से अत्यधिक वात्सल्य पाकर (यह वात्सल्य माता के अपने पति से प्रेम न पाने के कारण उसकी दमित वासना की दिशा बदलने से हुआ है) एक मानसिक बन्धन में पड़ जाता है। इस कारण वह साधारण युवकों के समान किसी युवती से प्रेम नहीं कर पाता। स्त्रियों में वह अपनी माता का ही रूप देखना चाहता है। पात्र की अपनी माता के प्रति इस रुग्ण आसक्ति के कारण लारेन्स पर अनैतिकता का आरोप किया जाता है। लेकिन उपन्यास में माता एवं पुत्र का सम्बन्ध अनैतिकता तक नहीं पहुँचता और लारेन्स का स्पष्ट संकेत पात्र के अन्य स्त्रियों से आकृष्ट न होने की ओर है। वस्तुतः उनमें उतनी अनैतिकता नहीं है जितनी की कल्पना की जाती है।[2]

डोरोथी रिचर्डसन, मई सिन्क्लेयर और रेबेका वेस्ट के सभी उपन्यास सेक्स-सम्बन्धी असाधारणताओं का विश्लेषण करनेवाले हैं। उदाहरण के लिए मई सिन्क्लेयर के 'तीन बहनें' (*Three Sisters 1914*) को लें। इसमें तीन बहनों का पिता एक पुरोहित अपनी पहली पत्नी को मार डालता है और दूसरी को भगा देता है। उसकी दमितवासना अवचेतन में प्रतिक्रियाशील होती है। अवचेतन में ही वह पुत्रियों का विवाह नहीं चाहता। किन्तु पिता की प्रतियौन-आसक्ति पुत्रियों को पैतृक रूप में प्राप्त है और वह उनमें विविध मात्राओं में उपस्थित है। इस प्रकार दो विरोधी शक्तियों का संघर्ष ही उपन्यास का विषय है। सबसे छोटी लड़की अपनी वासना का दमन न करके एक युवक के साथ सबेरे भाग जाती है और उससे विवाह न कर

---

१ In a letter D H. Lawrence writes—"If the truth of my spirit is all that matters to me, in the last issue then on behalf of my neighbour all I care for is the truth of his spirit."

—*Selected Letters*, P 106.

२. "He was by no means the voluptuary that he is sometimes depicted."—Baker The History of the English Novel, Vol. X., P 359

सकने के कारण एक कृषक से विवाह कर साधारण जीवन बिताती है। मँझली लड़की अपनी वासना को जानकर उसे दबाती है। उसका प्रेमी उसकी बड़ी बहन के वश में आ जाता है, जो अपनी वासना का निषेध करती है पर उस अज्ञात शक्ति के प्रकोप से भटकती रहती है। स्पष्ट है कि इस कथानक में आधुनिक मनोविज्ञान का कितना प्रभाव है।[1] मई सिन्क्लेयर का दूसरा उपन्यास 'मेरी आलिवर' (१९१९) इडिपस और इलेक्ट्रा ग्रन्थियों के प्रभावों का विश्लेषण करता है। इसमें एक माता अपने पुत्रों को चाहती है पुत्रियों से ईर्ष्या करती है और चाहती है कि पुत्रियों की प्रतिमा पुत्रों में आ जाये। पिता पुत्रों से ईर्ष्या करता है क्योंकि माता उन्हें चाहती है। इसके परिणाम स्वरूप पति-पत्नि का जीवन अशान्ति में बीतता है। रेबेका वेस्ट के उपन्यास 'जज' में रिचर्ड यार्डली की अपनी माता पर आसक्ति भी इडिपस ग्रन्थि का उदाहरण है।

वर्जीनिया वुल्फ का व्यक्तिवाद अधिक स्वस्थ और ठोस सामाजिक आधार से युक्त है। उसके 'जेकब का कमरा' (Jacob's Room 1922) में युद्ध के पूर्व के एक अत्यन्त अनुभूतिशील व्यक्ति की एक दिन की अनुभूतियाँ हैं, जो समाज के निरीक्षण से मिलती हैं। 'तरंगें' (Waves 1931) में छः बालकों का जीवन है जो इस वायमय संसार की विभिन्न परिस्थितियों में अपने व्यक्तित्वों का निर्माण करते हैं। 'दिन और रात' (Day and Night, 1919) 'मिसिज डलावे' (१९२५) 'वर्ष' (Year 1937) आदि भी सामाजिक वातावरण में व्यक्ति का अध्ययन प्रस्तुत करते हैं।

१२१ चेतनाप्रवाह उपन्यास—व्यक्तिवादी उपन्यासों की टेक्नीक-सम्बन्धी सबसे बड़ी देन है चेतनाप्रवाह-शैली। जीवन की असंबद्धता का ज्यों का त्यों उतारने का प्रयत्न इसकी मूल प्रेरणा है। जीवन में जो घटनाएं होती हैं उनमें असंबद्धता रहती है। हमारे विचारों में भी विशृंखलता रहती है। चेतनाप्रवाह उपन्यास में इन असंबद्ध घटनाओं और विचारों को पूरी ईमानदारी से चित्रित किया जाता है। मई सिंक्लेयर के सभी उपन्यास डोरोथी रिचर्डसन का 'नोकदार छत' (Pointed Roof 1915) वुल्फ के 'तरंगें' (Waves), 'जेकब्स रूम' आदि इसके उदाहरण हैं। चेतनाप्रवाह उपन्यास का सबसे अच्छा उदाहरण जेम्स जायस का 'युलीसिस' (१९२२) है जिसमें एक व्यक्ति के एक दिन के जीवन को लगभग आठ सौ पृष्ठों में चित्रित किया गया है। इन सब उपन्यासों में कथानक शिथिल है। कई घटनाएं कथा-विकास के लिए आवश्यक नहीं हैं। 'युलीसिस' में भाषा भी कुछ विचित्र है। चिन्ताएं व्याकरण के नियमों से बंधी नहीं होतीं अतः इसकी भाषा भी व्याकरण-नियमों से मुक्त है। अन्तिम वाक्य चालीस पृष्ठों तक लंबा है। मई सिंक्लेयर के चेतनाप्रवाह उपन्यासों में भाषा कुछ टूट-टूटकर चलती है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि बीसवीं शती के अंग्रेजी उपन्यास की मुख्य प्रवृत्ति विश्लेषण है। विभिन्न उपन्यासों में व्यक्तियों का अथवा समाज का या दोनों का विश्लेषण हुआ है।

---

१. देखिए अनुच्छेद २५१।

बीसवीं शती का फ्रेंच उपन्यास

बीसवीं शती के फ्रेंच उपन्यास की मुख्य प्रवृत्ति विश्लेषण की है और यह विश्लेषण वैयक्तिक एवं सामाजिक रूप में हुआ है। फ्रेंच के समाज-विश्लेषक उपन्यासों में अंग्रेजी से अधिक व्यक्ति को महत्त्व दिया गया है और मानसिक भावों के विश्लेषण पर अधिक ध्यान दिया गया है। व्यक्ति को अधिक महत्त्व देनेवाले बहुत कम उपन्यास हुए हैं। बीसवीं शती के फ्रेंच उपन्यासों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं (१) समाज-विश्लेषक (२) व्यक्ति-समाज-विश्लेषक (३) व्यक्ति विश्लेषक।

१२४ समाज-विश्लेषक उपन्यास—सामाजिक जीवन को प्रमुखता देनेवाले उपन्यासों में हेनरी बरबूसे का 'आग' (Le Feu by Henri Barbusse), रोलण्ड डोर जेले का 'लकड़ी के क्रूस' (Les Croix de bois by Roland Dorgeles) लुई फर्दिनण्ड सेलीन का 'निशान्त तक की यात्रा' (Voyage au bout de la nuit by Louis Ferdenand Celine) आदि उल्लेखनीय हैं। प्रथम दोनों प्रथम महायुद्ध से सम्बन्धित हैं, पर अधिक उत्कृष्ट नहीं हैं। एहरनबर्ग के रूसी उपन्यास 'आंधी' (Storm) और रिमार्क के जर्मन उपन्यास 'पश्चिम के मोर्चे पर सब कुछ शान्त है' (All Quiet on the Western Front) आदि विश्वविख्यात युद्ध-उपन्यासों की तुलना में इनका विशेष महत्त्व नहीं रहता। सेलीन का उपन्यास महायुद्ध के बाद के काल के फ्रेंच बुर्जुआ वर्ग के पतन का चित्रण करता है।

१२५ व्यक्ति और समाज के विश्लेषक उपन्यास—अति विशाल पटभूमि पर व्यक्ति और समाज के सर्वांगीण चित्र अंकित करनेवाले कई उपन्यास फ्रेंच में लिखे गये हैं। इनमें अधिकांश एक विशेष प्रकार के शिल्प-विधान के हैं और फ्रेंच में सरित्सोपम उपन्यास' (Roman fleuve) कहे जाते हैं।[1] यद्यपि बालजाक का 'ह्यूमन कामेडी' और जोला के 'रोगन मक्वार' उपन्यास सरित्सोपम माने जा सकते हैं तथापि इस नाम का प्रचार प्रथम प्रथम रोमाँ रोलाँ के 'याँ क्रिस्ताफ़' के सम्बन्ध में हुआ। 'याँ क्रिस्ताफ़' (१९०४-१२) दस भागों में लिखित एक विशाल उपन्यास है जो जीवनी का औपन्यासिक रूप कहा जा सकता है। इसमें 'याँ क्रिस्ताफ़' के जीवन के वैयक्तिक अनुभवों के साथ जर्मनी और फ्रांस के समाजों के प्रति उसके भाव भी स्पष्ट किये गए हैं। *निरपेक्षता से समाज को प्रतिबिम्बित करने के बदले उसके प्रति वैयक्तिक दृष्टिकोण को प्रकट करने के कारण* समाजशास्त्र के रूप में इसका उतना महत्त्व नहीं है जितना कि अन्य सरित्सोपम उपन्यासों का।

मार्से प्रूस्त का सरित्सोपम उपन्यास 'अतीत का पर्यन्वेषण' (A la recherche du temps perdu, 1913-27) जो पांच भागों में है समाज और पात्रों के चित्रण में सूक्ष्म निरीक्षण और अपार कल्पना का परिचायक है। १८८ से १९२ तक के पतनोन्मुख उच्च वर्ग तथा उसके उपग्रहों के मिथ्याडंबरपूर्ण जीवन का पूर्ण चित्र

---

१ सरित्सोपम उपन्यास की विशेषताओं की चर्चा अगले अध्याय में की जायगी।

दे अनु १२७-१९१।

इसमें मिलता है। व्यक्तियों के मनोविकारों का सूक्ष्म वैज्ञानिक अध्ययन भी प्रूस्त की विशेषता है। समय के बीतते मनुष्य में आनेवाले शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तनों का इतना सुन्दर अध्ययन और किसीने नहीं किया है।

जार्जे दुहमल का चार भागों में लिखित 'सलाविन' (Vie et adventures de Salavin, 1920-'32) अधिक वैयक्तिक है। सलाविन तीक्ष्ण विकारों से युक्त एक व्यक्ति है जो निरन्तर आत्मोन्नति का प्रयत्न करता रहता है। कुछ दिन बेकार रहने के बाद वह क्रान्तिकारी संघ में सम्मिलित होता है। उससे भी आत्मोन्नति की प्राप्ति न होने से पत्नी पर सब छोड़कर अफ्रीका जाकर बीमारों की सेवा करता है। वहाँ उसीका पाला हुआ नौकर उसे गोली से मार डालता है। विकारातिरेक के दुष्परिणामों को दिखाना ही दुहमल का ध्येय है। उनका दूसरा उपन्यास 'पास्के का इतिहास' (Chronique de Pasquier Ten Volumes, 1933-45) १०६ से १९२० तक की फ्रेंच पूंजीवादी के आदर्श-संघर्षों का चित्रण करता है।

जूल रोमें के सत्ताईस भागों में प्रकाशित 'सहृदय मनुष्य' (Les Hommes de bonne volonte 1932 47) में १९०८ से १९३३ तक की राजनीतिक घटनाओं के कारण विविध मनुष्यों में उत्पन्न मनोभावों का बड़ी सहानुभूति से अध्ययन किया गया है।

और एक सरितोपम उपन्यास रोजे मार्टिन दु गार (Roger Martin du Gard) का ग्यारह भागों में लिखित 'थिबाल्ट वंश' (Les Thibaults, 1922-'40) है। इसमें भी १९१० से १९१८ तक का फ्रेंच बूर्जुआ समाज प्रतिबिंबित किया गया है। समाज के वातावरण में थिबाल्ट-वंश की कथा का विकास किया गया है।

उपर्युक्त सभी सरितोपम उपन्यास देश की सामाजिक परिस्थितियों और ऐतिहासिक घटनाओं को कलात्मक रूप में चित्रित करते हैं। समाजशास्त्र अथवा इतिहास के समान तथ्यों का लेखा-मात्र न होने पर भी ये अधिक विश्वसनीय रूप में जीवन को प्रतिबिंबित करते हैं। पीढ़ी दर पीढ़ी बदलनेवाले विचारों और जीवन-मूल्यों को इन उपन्यासों में देख सकते हैं।

१२६ व्यक्ति-विश्लेषक उपन्यास—सरितोपम उपन्यास विशाल पटभूमि पर समाज का सम्पूर्ण चित्र अंकित करता है तो व्यक्ति-विश्लेषक उपन्यास अत्यन्त सीमित विषय का गंभीर अध्ययन करता है। इस सदी के कई फ्रेंच उपन्यासकारों ने ऐसे व्यक्तिवादी उपन्यास भी लिखे हैं जिनमें जीवन का चित्रण-मात्र न करके विभिन्न प्रवृत्तियों की प्रेरणाओं का भी अध्ययन किया गया है। ऐसे उपन्यास लिखने वालों में जीद मारियाक मान्तरलाँ मलरो सार्त्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

आन्द्रे जीद एक नैतिकवादी हैं अतः उनके सभी उपन्यास नैतिक दृष्टिकोण से लिखे गए होते हैं। 'चरित्रहीन' (Le Immoraliste, 1902) 'तंग दरवाजा' (La Porte etroite, 1909) 'खोटे की टकसाली' (Les Faux monnayeurs, 1925) 'जेनीविएव' (Genievieve, 1937) आदि में नैतिकता की समस्या विविध रूपों में आयी है। उनके अधिकांश उपन्यासों में समलैंगिक

प्रेम की चर्चा होने के कारण जीद पर प्राय: अनैतिकता का दोष लगाया जाता है। 'चरित्रहीन' में समलैंगिक प्रेम के साथ-साथ मनुष्य की अपराध-वासना (Crime-instinct) की विस्तृत विवेचना भी है। 'तंग दरवाज़ा' की नायिका जो आत्मा को पवित्र बनाना चाहती है अपने से छोटे एक युवक से प्रेम करके भी विवाह के लिए तैयार नहीं होती। अपने प्रेम को असीम की ओर लगाने के लिए वह कठिन मानसिक द्वन्द्व का सामना करती है और क्षयग्रस्त होकर मर जाती है। 'जिनीविएव' की नायिका अपनी एक सहपाठिनी से समलैंगिक प्रेम रखती है। जब उसकी माता यह जानकर उस मित्रता में बाधा डालती है तब वह अपने स्वातंत्र्य की घोषणा करने के लिए डाक्टर से जाकर प्रार्थना करती है कि वह उसे गर्भिणी बना दे। इस तरह की अनैतिक प्रवृत्तियों के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में जीद ने अपूर्व कुशलता दिखायी है।

फ्रांसो मारिया (Francois Mauriac) के उपन्यास भी वासना और पाप का विवेचन करनेवाले हैं। मारिया का व्यक्तित्व-अध्ययन अपने ढंग का है। 'जो खो गया' (Ce qui etait perdu 1930) 'अँधेरे के देवता' (Les Anges Noir) आदि में कथानक से बढ़कर व्यक्तियों का अध्ययन मुख्य है। इनमें और अधिकांश अन्य उपन्यासों में मारिया ने वैवाहिक जीवन की उलझनों को मार्मिक रूप में दिखाया है।

हेनरी-द-मन्तरलाँ के उपन्यासों का विषय तीक्ष्ण विकार है। 'ब्रह्मचारी' (Les Bestiaires, 1926) 'शरीफ लड़कियाँ' (Les Jeunes Filles 1936-37) 'स्त्रियों पर दया' (Pitie pour femmes) आदि में मन्तरलाँ ने दिखाया है कि अविवाहित शरीफ दिखायी पड़नेवाली लड़कियाँ सीधी निश्छल नहीं हैं वस्तुतः उनमें पाशविक विकार और मूर्खत्व निवास करते हैं पुरुषों के सामने सीधी और शरीफ बनने की अपार सामर्थ्य भी उनमें है।

आन्द्रे मलरो के उपन्यास व्यक्तिवादी होने पर भी इन सबसे भिन्न हैं। उनके प्राय: सभी उपन्यास अनुभवों के आधार पर लिखे गये हैं। 'विजेता' (Les conquerants), 'राजपथ' (La Voie Royale) आदि में लेखक ने १९२५ के चीनी विप्लव के समय के अपने अनुभवों का वर्णन किया है। मलरो ने 'घृणा के समय' (Les Temps du mepris, 1935) में नात्सी जर्मनी में एक साम्यवादी के अनुभवों का और 'आशा' (L Espoir 1937) में स्पेनिश युद्ध के समय के अपने अनुभवों को उपन्यास का रूप दिया है। मलरो की विशेषता इस बात में है कि वे उथल-पुथल के वातावरण में मानव-हृदय पर पड़नेवाले आघातों को और आकांक्षा-भरे हृदय के सूक्ष्म स्पन्दनों को पहचानकर सजीव रूप में व्यक्त करते हैं।

उपर्युक्त सभी व्यक्तिवादी उपन्यास कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। फ्रेंच उपन्यास में सर्वत्र दिखायी पड़नेवाला सुन्दर भाव-विकास और कथा-गठन इन व्यक्तिवादी उपन्यासों में सबसे अधिक द्रष्टव्य है।

बीसवीं शती का रूसी उपन्यास

१२७ बीसवीं शती के रूसी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ फ्रेंच और अंग्रेजी उपन्यास साहित्यों की प्रवृत्तियों से बिलकुल भिन्न हैं। राजनीतिक क्षेत्र की अभूतपूर्व क्रान्ति और तज्जन्य सामाजिक परिवर्तनों ने उपन्यास साहित्य को नयी दिशा दी। १९१७ के विप्लव की भूमिका १९ ५ के पहले ही तैयार हो चुकी थी। १९ ५ का पराजित विप्लव इसे प्रमाणित करता है। यह राजनीतिक परिवर्तन तत्कालीन सोवियत विचार धारा और साहित्य में भी प्रतिबिंबित हुआ है। वस्तुतः बीसवीं शती का रूसी उपन्यास साहित्य सोवियत का राजनीतिक एवं सामाजिक इतिहास है।

उन्नीसवीं शती और बीसवीं शती के बीच में और सोवियत विचारधारा के परिवर्तन के युग में जीवित कलाकारों में सर्वश्रेष्ठ मैक्सिम गार्की हैं। निरन्तर दारिद्र्य की क्रूर यातनाओं का भुक्तभोगी यह कलाकार, निम्नवर्गीय जनता के जीवन को समझ सका और उनकी कोमल भावनाओं दयनीय असहायताओं तथा तीव्र आकांक्षाओं को अभिव्यंजित कर सका।[1] गार्की स्वच्छन्दतावादी के रूप में लिखने लगे जैसे कि कोरे लेखों में स्पष्ट है। शीघ्र ही 'फोमा गोर्देयेव' (१८९९) और 'मार्टमनोव' में वे बिल कुल यथार्थवादी के रूप में प्रकट हुए। इन दोनों में तथा 'तीन पीढ़ियाँ' क्लिम सैमगिन' उपन्यास-त्रयी (१९२७) आदि में गोर्की ने जीर्ण-जर्जरित बूर्जुआ समाज का तथा उसके बीच में उठनेवाली विकासोन्मुख जन-शक्ति का परिचय दिया है। उनका यथार्थ चित्रण चेखव के समान निरपेक्ष द्रष्टा का नहीं है। समाज की प्रगतिशील शक्तियों के प्रति उनकी अपार सहानुभूति है। यही सहानुभूति और अनीतियों के प्रति विद्रोह की भावना अपने चरम रूप में 'माँ' (१९ ५) में प्रकट हुई है। कला की दृष्टि से 'माँ' उनके उन अन्य उपन्यासों से उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता है, जो अधिक यथार्थवादी हैं, और अधिक अनुभूति से संजात ज्ञात होते हैं। किन्तु सोवियत जनता के जीवन जागरण और विप्लव को अभिव्यक्त करनेवाले महाकाव्य के रूप में वह महत्वपूर्ण है। मेरा बचपन' (१९१३) 'संसार में' (१९१४) मेरे विश्वविद्यालय' (१९२३) आदि आत्म कथात्मक उपन्यासों में उनकी कला अधिक निखर आयी है।

विप्लव के पूर्व के अन्य उपन्यासों में अलेक्जेण्डर क्यूप्रिन के 'द्वन्द्वयुद्ध' (१९०५) और 'गड्ढा' (१९ ९) इवान बुनिन का 'ग्राम' (१९१) आदि कुछ उल्लेखनीय रचे गये हैं। क्यूप्रिन पर प्रकृतिवाद का प्रभाव है।

१९१७ के विप्लव के पश्चात् साम्यवादी सिद्धान्तों के समर्थन में विचारोत्तेजक शैली में कुछ उपन्यास लिखे गये। डार्विन के 'योग्यतमावशेष' के सिद्धान्त के आधार

---

1. इस बात में गोर्की अपने पूर्व के उपन्यासों को अत्यन्त शक्तिहीन एवं निष्क्रिय मानते थे वे अब नयी शक्ति एवं चेतना लिए उपन्यास-क्षेत्र में आये। १९ ५ में अपने पूर्ववर्तियों के साहित्य के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—"All our literature persistently teaches a passive attitude toward life it is an apologia for passivity "—Gorky (Quoted by Kaun Slavonic Review XVII 50. P 434)

पर सर्वहारावर्ग एवं साम्यवादी दल के जीवित रहने के अधिकार का तथा पूँजीपतियों के विनाश का समर्थन करनेवाले इन उपन्यासों का प्रचार-मूल्य अधिक है साहित्य-मूल्य कम। इनमें पिलोरिस पिलनियाक का 'नग्न वर्ष' (१६२२) सबसे अच्छा उपन्यास है। लेखक इसमें क्रान्ति का समर्थन उसके आदर्शों के कारण नहीं करता बल्कि उसमें प्रयुक्त अपार मानव-शक्ति के कारण ही करता है।

पुनर्निर्माणकाल के उपन्यास—१६२२ से १६५२ तक का समय सोवियत के पुनर्निर्माण और तीव्र विकास का काल माना जाता है। इस समय के उपन्यासों को दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं (१) क्रान्ति-सम्बन्धी उपन्यास और (२) पुनर्निर्माण-सम्बन्धी उपन्यास।

१२८ क्रान्ति-सम्बन्धी उपन्यासों में भी भी बराडेयेव के 'प्रतिरोध' (१६२२) और 'बहनें' (१६२१) सीवोलिन वीयोनोव का 'एक छोटे आदमी का अन्त' (१६२४) कान्स्टटीन फैडिन के 'नगर और वर्ष' (१६२४) तथा 'भाई' (१६२८) अलेक्सेंडर फादयेव का 'विप्लव' (१६२६) मिखेल अलेक्सेंड्राजेविच शोलोखोव के 'डोन नदी धीरे बहती है' (१६२६) और 'डोन समुद्र को बह जाती है' (१६३१) आदि प्रसिद्ध है। इनमें 'प्रतिरोध' में बुद्धिजीवियों (Intelligentsia) की दृष्टि से 'बहनें' में बिलकुल भिन्न विचारों की दो बहनों की दृष्टियों से और 'भाई' में दो भाइयों की दृष्टियों से रूसी विप्लव तथा आभ्यन्तर-युद्ध का अवलोकन किया गया है। सीवोनोव का उपन्यास संस्कृति और विप्लव के पारस्परिक सम्बन्ध का अच्छा अध्ययन है। इनमें सर्वश्रेष्ठ उपन्यास शोलोखोव के हैं। वस्तुतः इनके दोनों उपन्यास मिलकर एक ही उपन्यास हैं जिसमें क्रान्तिपूर्व-काल युद्धकाल क्रान्तिकाल और आभ्यन्तर विप्लव काल की अति विशाल पटभूमि पर पन्तलेहमन कुटुम्ब की कथा का विकास किया गया है। टालस्टाय के 'युद्ध और शान्ति' के समान ही यह एक महाकाव्यात्मक पनोरमिक उपन्यास है जिसमें राजनीतिक समय तथा सामाजिक जीवन अपने यथार्थ रूप में प्रकट हुए हैं।

१२६ पुनर्निर्माण-सम्बन्धी उपन्यासों की रचना विश्व-उपन्यास-साहित्य में ही एक नयी विधा का संकेत करती है। शायद इसी प्रकार के उपन्यासों की रचना होने के बाद उपन्यास ज्ञानवृद्धि का माध्यम भी बन गया। १६२५ में श्री ग्लादकोव के 'सिमेंट' के प्रकाशन ने पाठकों और आलोचकों को चकित कर दिया। उपन्यास के रूप में ही नहीं सोवियत की निर्माण-योजनाओं के विवरण के रूप में भी इसका महत्त्व है। इसके औपन्यासिक मूल्य को बनाये रखनेवाली बीच योजनाओं में अपनी जान लगा देनेवाली जनता के आवेश और उत्साहमय जीवन का प्रतिबिंब है। लियोनोव के 'पियकूइ' और 'स्कूटारवस्की' भी पुनर्निर्माण-सम्बन्धी अच्छे उपन्यास हैं।

१६२६ और १६३२ के बीच के पंचवर्षीय योजनाकाल में 'रूसी श्रमजीवी लेखक-संघ'[1] के निर्देशों के आधार पर कई उपन्यास लिखे गये जिनमें पंचवर्षीय योजना

---

१ Russian Association of Proletarian Writers (R. A. P W)

साम्यवादी दृष्टि के कारण मानवता की अपार शक्ति एवं सिद्धियों का प्रकटन किया गया है।

१३१ युद्धकालीन और युद्धान्तर उपन्यास—द्वितीय महायुद्ध के काल में तथा उसके पश्चात् आज तक के रूसी उपन्यासों की भी दिग्दर्शक मुख्य प्रेरणा समाजवादी यथार्थवाद की ही रही है। फिर भी युद्धोत्तर और युद्धपूर्व उपन्यासों में कुछ अन्तर है। युद्धकालीन तथा युद्धानन्तर उपन्यास की दो मौलिक प्रवृत्तियाँ मनोवैज्ञानिक समीक्षण तथा एक नये प्रकार का मानवतावाद है। अंग्रेजी और फ्रेंच के उपन्यासों पर मनोविज्ञान ने जितना प्रभाव डाला है उतना रूसी उपन्यासों पर नहीं। सूक्ष्म मानसिक ग्रन्थियों का विश्लेषण रूसी उपन्यासों में नहीं के बराबर है। फिर भी कहा जा सकता है कि युद्धोत्तरकाल के उपन्यासों में कुछ समस्याओं के मनोवैज्ञानिक आधार ढूँढ़े गये हैं।

उदाहरण के लिए बोरिस बार्वलोव के 'अपराजित' अथवा 'तारस परिवार' (१९४५) में युद्धकालीन वातावरण में वास्या के जीवन का विकास किया गया है। परिस्थिति के कारण उसके देश प्रेम तथा पारिवारिक सम्बन्ध के बीच में संघर्ष आता है। वास्या के मानसिक संघर्ष का मार्मिक चित्रण किया गया है। *माइकेल ज्ञास्चेन्को का 'जब सूरज निकलता है' (१९४३) आत्मकथात्मक है और लेखक के प्रारम्भिक तीस वर्ष के जीवन का चित्रण करता है। भय के बदले उसमें आनेवाले मानसिक परिवर्तन प्रकट किये गये हैं।* एन्टोनिना कोप्तयेवा के 'इवान इवानोविच' (१९४९) में एक प्रसिद्ध डॉक्टर के दाम्पत्य जीवन की पराजय की व्याख्या की गयी है। डॉक्टर की स्त्री और इस प्रकार से प्रसन्न होने पर भी घर के अन्दर ही अपनी समस्त शक्तियों और आकांक्षाओं को समाप्त होते देख कुढ़ती रहती है और अन्त में एक अन्य युवक की सहायता पाकर बाह्य जीवन में प्रविष्ट होती है। लेखिका इसमें सोवियत स्त्री की स्वातंत्र्याभिलाषा और उसके अपना व्यक्तित्व बनाने के आग्रह को प्रकट करती है। गलीना निकलेयेवना के 'फ़सल' (१९५) में नायिका का संघर्ष विवशता से उत्पन्न है। वह युद्ध में अपने पति की मृत्यु का समाचार पाकर दूसरा विवाह कर लेती है पर कुछ दिन बाद पति लौट आता है। लेखिका ने इस विकट परिस्थिति में दोनों के विक्षुब्ध मन की भावनाओं का बड़ी बारीकी से चित्रण किया है। साथ-साथ देश के कृषि-विकास की विस्तृत चर्चा भी इसमें आयी है।

इस प्रकार के कुछ उपन्यासों को छोड़कर अन्य उपन्यासों में पात्रों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। अधिकांश में सामाजिक जीवन का मानवतावादी दृष्टिकोण से अध्ययन उपलब्ध है। *समाज-निर्माण-सम्बन्धी उपन्यासों का* मानवतावाद इस बात में है कि वह मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ शक्ति के रूप में देखता है जो क्रम से प्रकृति की शक्तियों को विजित कर वशवर्तिनी बनाती है। स्टेपी प्रदेश के कृषि-विकास के सम्बन्ध में विताली जाकरिन का 'पसोटिम स्तानित्सा' आदि ऐसे उपन्यास हैं। युद्धानन्तर उपन्यास-साहित्य का और एक विषय युद्ध है। युद्ध के विनाशकारी रूप का तथा शान्ति और विकास का आग्रह करनेवाली साधारण जनता की

यातनाओं का चित्रण बोरिस पोलेवाय का 'एक सच्चे मनुष्य का जीवन' (१९४६) मिसेस ग्यूबेनोव का 'सफेद बिर्च का पेड़' (१९४७) ई. कजाकेविच का 'स्प्रिंग आन दि आडर' (१९४९) आदि में मिलता है। यहाँ मानवतावाद मनुष्य की शक्ति को मानने में नहीं उसकी सद्भावना और मर्यादा को मानने मे है।

आधुनिक रूसी उपन्यासों के सम्बन्ध में सबसे बड़ी शिकायत यह है कि उनमें जीवन का कोई तात्त्विक दर्शन नहीं है। शोलोखोव एहरनबर्ग आदि उच्चश्रेणी के कुछ लेखकों के अतिरिक्त किसी भी उपन्यासकार के किसी उपन्यास में जीवन की गम्भीर व्याख्या नहीं की गयी है व्याख्या चाहे अन्तर्मुखी हो चाहे बहिर्मुखी उन सबका यथार्थ चित्रण पात्रो की प्रवृत्तियों तक ही सीमित है। फ्रेंच या अग्रजी उपन्यासकारों के समान रूसी लेखक प्रवृत्तियों को प्रेरणा देनेवाली मूल वृत्तियों की खोज नहीं करते। इसी कारण उनमें जीवन-मूल्य क सम्बन्ध में एक तात्त्विक दर्शन का अभाव है। इन उपन्यासों क शैक्षणिक मूल्य में कोई सन्देह नहीं है, क्योंकि समाजशास्त्र विज्ञान इतिहास आदि के सत्य और तथ्य ही इनके आधार हैं। लेकिन इनकी कला त्मकता पर सन्देह हो सकता है। मार्क्सवाद तथा समाजवादी यथार्थवाद को अपना ध्येय मानकर लिखनेवाले लेखकों की अधिकांश रचनाएं कुछ परिपाटी-विहित विषयों और टकसाली पात्रों तक सीमित हो गयी हैं। अगर इनमें साहित्यिक मूल्य रखनेवाली कोई चीज है तो वह वे अपरिमित क्षण हैं, जो जीवन के ऐसे अनुभूतिपूर्ण सम्भों को स्पष्ट करते हैं जिनका क्षेत्र रूसी जनता तक ही सीमित नहीं है। सामान्य मानवता का सामान्य रूप इनमें प्राप्य है।

तीसरा अध्याय

वस्तु विधान

पिछले अध्याय में हम हिन्दी एवं पश्चिमी उपन्यास-साहित्य के विकास का इतिहास प्रस्तुत करने के साथ-साथ अधिकांश उपन्यासों के विषयों का—विशेषकर प्रत्येक धारा के उपन्यासों के विषय के सामान्य स्वरूप का—उल्लेख भी कर चुके हैं। इस अध्याय में हमें विषय-विकास अथवा वस्तु-विधान की पद्धतियों का और वस्तु विधान से सम्बन्धित कुछ अन्य विषयों का विवेचन करना है। लेकिन उसके पहले उपन्यास-साहित्य के विषय के स्वरूप में अब तक हुए परिवर्तनों पर सामान्य दृष्टि डालना उचित होगा क्योंकि उपन्यास के शिल्प-विधान का विषय से दृढ़ सम्बन्ध रहा है। शिल्प विधान का परिवर्तन प्रायः विषय के स्वरूप के परिवर्तन से सम्बन्धित रहा है और विषय के स्वरूप पर सामाजिक जीवन तथा विचारधाराओं के परिवर्तनों का प्रभाव पड़ा है। यहाँ हम विषय के स्वरूप में आये हुए मुख्य परिवर्तनों की चर्चा करके आगे बढ़ेंगे।

१

उपन्यास-साहित्य के इतिहास में कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ

औपन्यासिक विषय-कल्पना से यथार्थ की ओर

११२ कथा-साहित्य की प्रथम दशा में उसमें कल्पना का आधिक्य रहा। यह कल्पना दो रूपों में मिलती है। प्रथम दार्शनिक चिन्तन से प्रेरित है और दूसरी मनुष्य की स्वच्छन्दतावादी मनोवृत्ति से उत्पन्न। उपनिषद् आदि में और यूरोप के मध्य युगीन 'प्रोक्रास्टिनेशन' 'मोर्टे-डि-आर्थर' आदि में जीवन के परम तत्त्वों और आदर्शों की खोज की गयी है और उनकी व्याख्या के लिए कल्पना का आधार लिया गया है। दूसरी तरह की कल्पना भारत की कथात्मक आख्यायिकाओं में और यूरोपीय साहित्य की रोमान्टिक कथाओं में मिलती है। मनुष्य के लिए जीवन एक रहस्य था। उसे अपनी ही शक्तियों का पूरा ज्ञान नहीं था उसकी आशाओं और महत्त्वाकांक्षाओं की सीमा नहीं थी। उसकी आकांक्षा भरी कल्पना ने स्वर्गीय जीवन के सपने देखे अथवा इस भूमि के ही एक वैभवपूर्ण जीवन का अलौकिक चित्रण किया। यथार्थवादी उपन्यास के आरम्भ तक और आरम्भ से बहुत दिन बाद तक स्वच्छन्द कल्पना का यह प्रभाव बना रहा। स्वच्छन्दतावाद और यथार्थवाद का संघर्ष उपन्यासकार के ज्ञान और अनुभूति के इतिहास में महान क्रान्ति का परिचायक है। रिचर्डसन और फील्डिंग से स्थापित पुष्ट और प्रसारित यथार्थवाद को एमिली ब्रान्टी और स्काट के

स्वच्छन्दतावाद का सामना करना पड़ा। फ्रांस में अठारहवीं शती के अन्त में शतोब्रियां, ह्यूगो, जार्ज सैण्ड और ड्यूमा के उपन्यासों में स्वच्छन्दतावाद पुनर्जीवित हुआ। एक विशेषता यही थी कि फ्रांस के स्वच्छन्दतावाद का यह संघर्ष यथार्थवाद या प्रगतिवाद से न था, अठारहवीं शती के आरंभ में उच्च शिखर तक पहुँचे हुए अभिजात्यवाद (Classicism) से था। हिन्दी उपन्यास के आरम्भ काल में भी यथार्थ और कल्पना की ये धाराएँ प्रवाहित रहीं। लाला श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट और राधाकृष्णदास के उपन्यासों में जीवन के यथार्थ अधिक थे, तो देवकीनन्दन खत्री में कल्पना का रंग गाढ़ा था और किशोरीलाल गोस्वामी के 'चपला', 'कुसुमकुमारी' जैसे उपन्यासों में आकर यथार्थ और कल्पना दोनों हाथ मिलाकर बड़े सौमनस्य से आगे बढ़ते दीखते हैं। बाद के यथार्थवादी उपन्यासों में घटनाचक्र की जो विचित्र गति और जो अतिरंजन मिलते हैं, वे सब स्वच्छन्दतावाद से प्राप्त हैं। मनोविज्ञान की यथार्थ भूमि पर आये हुए इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों तक में स्वच्छन्द कल्पना का यह प्रवाह प्राप्य है। उनके नवीन उपन्यास 'जहाज का पंछी' का घटनाचक्र 'चन्द्रकान्ता' से कम रोचक नहीं है। इसके नायक के जीवन में जो घटनाएँ आती हैं, उनकी विचित्रता आवश्यकता से अधिक है। किसीके हस्तरेखा देखने पर नायक का बीस-बीस तीस-तीस के नोट फेंक देना, अस्पताल में डाक्टर के सामने मृत्युप्राप्त रोगी का एक अच्छा-खासा लेक्चर ही झाड़ना, उसके परिचय में आनेवाली हरएक स्त्री का उसपर लट्टू हो जाना ऐसी घटनाएँ ही नहीं, सम्पूर्ण ढाँचा ही रोमाण्टिक है।

किन्तु यथार्थोन्मुखता ही उपन्यास की सामान्य प्रवृत्ति रही है। जीवन को अधिक से अधिक स्पष्ट रूप में समझने का प्रयत्न बढ़ता आया है। फ्रांस में वैयक्तिक विचारों का विश्लेषण करते हुए, समाज के स्वरूप का अध्ययन हुआ है। गाटिए, फ्लाबेयर, जोला, मोपासाँ, रोलाँ, मारिया प्रूस्त—सबने व्यक्तियों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के साथ-साथ समाज का भी अध्ययन किया है। इंग्लैंड में एक बार जेन आस्टिन, डिकेन्स, थैकरे आदि ने समाज के छोटे-बड़े अंगों को अपने उपन्यासों का विषय बनाया, तो गाल्सवर्दी ने मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के आधार पर फारसाइट कुटुम्ब का ही नहीं, इंग्लैण्ड के क्रमशः परिवर्तित होनेवाले सम्पूर्ण उच्चमध्यवर्गीय जीवन का विश्लेषण कर दिखाया। वर्जीनिया वुल्फ, मिस मई सिन्क्लेयर और मिस डोरोथी रिचर्डसन ने व्यक्ति की मानसिक ग्रंथियों में समाज की भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों तथा विकृतियों के कारण ढूँढे। रूसी उपन्यास पुश्किन के स्वच्छन्दतावाद के बाद गोगोल से लेकर आज तक जीवन के सामाजिक एवं वैयक्तिक पहलुओं के यथार्थों के प्रति जागरूक रहता आया है। तुर्गनेव, दास्तायवस्की और टाल्सटाय के उपन्यासों में व्यक्ति के मानसिक जगत् को भी महत्त्व दिया गया था, किन्तु रूसी उपन्यास में क्रमशः व्यक्ति के आन्तरिक यथार्थों का तिरस्कार होने लगा और सामाजिक जीवन तथा उसकी समस्याओं का महत्त्व बढ़ने लगा। महत्त्व चाहे व्यक्ति का रहा हो चाहे समाज का, यूरोपीय उपन्यास-साहित्य जीवन के प्रति उन्मुख रहा है, और जीवन के अधिकाधिक निकट होता आया है।

हिन्दी उपन्यास का इतिहास भी इससे भिन्न नहीं है। केवल प्रेमचन्द के उपन्यासों को ही लें और कालक्रम से उनका अध्ययन करें तो स्पष्ट होगा कि लेखक का दृष्टिकोण जीवन के अध्ययन के प्रति कैसे अधिकाधिक सचेत होता गया है। इसके बाद मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार व्यक्ति को समझने और उसकी मानसिक ग्रन्थियों को सुलझाने लगे तो सामाजिक यथार्थवादी समाज की सामान्य प्रवृत्तियों और उसके ह्रास विकारों को दिखाने में सतत प्रयत्नशील रहे। प्रतापनारायण श्रीवास्तव भगवतीचरण वर्मा रांगेय राघव आदि में से होकर विकसित होती आती यह प्रवृत्ति अब नागार्जुन लक्ष्मीनारायण लाल रेणु आदि में आकर बहुत पुष्ट हुई है जो हिन्दी में यथार्थवाद की उज्ज्वल सम्भावनाओं के प्रति संकेत करती है।

आभिजात्य से सामान्य के प्रति

१३३ विश्व-उपन्यास-साहित्य की दूसरी एक प्रवृत्ति आभिजात्य से सामान्य के प्रति उसका आगमन है। जीवन से विदूर, किन्तु जीवन से उन्नत मानी जानेवाली वस्तुओं का तिरस्कार उपन्यास में बढ़ता जा रहा है। उन्नत अभिजात नायक अभिजात वर्ग की उदार एवं कोमल प्रवृत्तियाँ इनसे साहित्य ही उपेक्षा करता जा रहा है। नाटक और महाकाव्य की तुलना में उपन्यास में अभिजात वर्ग का आधिपत्य सदा कम रहा। उपन्यास के प्रारम्भ काल में ही महान एवं उत्तम व्यक्ति को नायक बनाने की आवश्यकता नहीं समझी गयी अतः उपन्यास सदा सामान्य जीवन के अधिक निकट रहा है।

किन्तु जहाँ तक हिन्दी उपन्यास का प्रश्न है हम कह सकते हैं कि उसमें बहुत समय तक आभिजात्य का आतंक व्याप्त रहा। दरिद्रों और वेश्याओं के उद्धार के लिए अलौकिक त्याग करनेवाले और पैसा लुटानेवाले अभिजात पात्र हमारे उपन्यासों में यथेष्ट हैं। प्रेमचन्द के सुधारवादी पात्रों को ही हम देख सकते हैं। उनमें सामाजिक क्रान्ति का जो भाव है वह दीन-दरिद्रों और अबला नारियों पर अपार दया के रूप में ही प्रकट हुआ है। किन्तु 'गोदान' के होरी ने सिद्ध कर दिया है कि उपन्यास के लिए आभिजात्य इतना आवश्यक नहीं है जितना कि जीवन। इसके बाद शीघ्र ही आभिजात्य की उपेक्षा होने लगी। भगवतीचरण वर्मा के 'तीन वर्ष' का रमेश अभिजात-वर्ग के त्याग और उदारता से भूषित है पर वर्माजी ही 'आखिरी दाँव' और 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में किसी अभिजात पात्र की प्रतिष्ठा नहीं कर सके। सामाजिक जीवन की उलझनों में आकर अन्य लेखकों ने भी सामान्य से प्रेरणा ली। अश्क रांगेय राघव विष्णु प्रभाकर, नागार्जुन रेणु इनके उपन्यासों में क्रमशः आभिजात्य के क्षीण होने का आभास मिलता है।

व्यक्तिवादी मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में जो प्रबल और प्रभावशाली पात्र हैं उनमें थोड़ा-बहुत आभिजात्य का भाव अब भी प्राप्य है। इलाचन्द्र जोशी स्वयं मानते हैं कि आभिजात्य ही चिरन्तन मूल्य के साहित्य की रचना में उपयोगी हो सकता है और जनजीवन जीवन में जितनी उपयोगी है उतनी साहित्य में नहीं है।[1] किन्तु आज

१ साहित्य सर्जना— क्रान्ति या दुर्गति' शीर्षक लेख।

होता है कि जोशीजी का तात्पर्य यहां समाज के अभिजातवर्ग से नहीं है। भावों की तीव्रता और महत्ता के कारण अत्यधिक प्रभावशाली पात्र भी कला की दृष्टि से उदात्त और अभिजात माने जाएंगे। कला की दृष्टि से पात्रों की उदात्तता उनके अच्छे और लोक-कल्याणकारी होने में नहीं है उनके तीव्र और प्रभावशाली होने में है। इसी दृष्टि से दास्तावस्की के पात्र और कैफ के अधिकांश उपन्यासों के पात्र अभिजात और उदात्त माने जा सकते हैं। प्राय सभी क्रान्तिकारी उपन्यासों म यह उदात्तता एक अनिवार्य गुण है और यह कैफ और अंग्रेजी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में मिलता है। किन्तु ऐसे पात्रों में भी प्रथम ढंग का कर्मीय आभिजात्य नष्टप्राय है। रूसी उपन्यास अधिक सामाजिक और समाजवादी होने के कारण आभिजात्य की उपासना से बहुत कुछ मुक्त हो चुका है। समाजवादी यथार्थवादी उपन्यासों के आदर्श पात्रों में भी जो पंचवर्षीय योजना का सफलीकरण आदि दे विजय प्राप्त करते हैं अधिक उदात्तता नहीं मिलती। इसका मुख्य कारण यही है कि इन उपन्यासों में दैवीय प्रगति का जो रूप देखते हैं उसमें उन विशिष्ट पात्रों का नहीं सम्पूर्ण जनता का स्थान है विशेषकर उस योजना का ही महत्व है उसे संचालित करनेवाले व्यक्तियों का नहीं। नयी थुनी जमीन' के नायुसनोव को या 'प्लोटिंग स्तालिना' के नायक को उदाहरण के रूप में लीजिए। उनका समस्त कार्य साम्यवादी योजनाओं द्वारा चलाया जाता है अत वे स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाते। आधुनिक सोवियत उपन्यासों की प्रवाह-हीनता का यह एक कारण है।

नायक का पतन और अन्त

११४ यूरोपीय और हिन्दी उपन्यासों में विषय के अधिक सामाजिक होने और आभिजात्य का अन्त होने के साथ नायक का भी पतन होता आया है और अब उसका अन्त ही हो चुका है। किसी समय बिना नायक के उपन्यास की कल्पना ही नहीं हो सकती थी। नायक या नायिका के नाम ही उपन्यास को भी दिये जाते थे इससे नायक का महत्व स्पष्ट होता है। कथानक की सारी घटनाएँ एक ही व्यक्ति को केन्द्र बनाकर घूमती रहती थीं। अन्य पात्र सब उससे बँधे हुए थ और विविध पात्रों में और घटनाओं में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित कर उनके अस्तित्व का नायक बनाने वाला नायक ही था। राबिन्सन क्रूसो टाम जान्स ट्रिस्ट्रम शैण्डी वेन (Pride & Prejudice), एम्मा ओलिवर ट्विस्ट, डेविड कॉपरफील्ड साइलस मारनर पियोत्र (Captain s Daughter), चार्ल-बल-चाल आदि से लेकर सैकड़ों नायक उपन्यास के केन्द्र रह चुके हैं। हिन्दी में प्रेमचन्द तक के सभी उपन्यासों में और बाद के भी अधिकांश उपन्यासों में नायक के चारों ओर ही कथानक चक्कर काटता है। हिन्दी में अभी नायक का पूर्णतया अन्त नहीं हुआ है, भले ही उसका महत्व कम गया हो।

उपन्यास में जब व्यक्ति और समाज के शास्त्रीय अध्ययन का आरम्भ हुआ उसी समय नायक का महत्व भी कम होने लगा। समाजशास्त्रीय अध्ययन ने व्यक्ति की प्रमुखता को ही नष्ट कर दिया। तालस्ताय दास्तावस्की तुर्गनेव फ्लाबेयर, जोला

मोपासाँ आदि के उपन्यासों में नायक हैं लेकिन कथा-संचालन का सूत्र इन नायकों के हाथ में नहीं है। परम्परागत रूढ़ि के पालन-मात्र के लिए ये नायक अपना अस्तित्व रखते हैं। ये अपने किसी व्यक्तिगत वैशिष्ट्य या चमत्कार से हमें आकृष्ट नहीं करते। इसके विरुद्ध हमारा ध्यान उन उपन्यासों में विद्यमान सामाजिक जीवन की गतिविधियों के प्रति और नायकों की प्रवृत्तियों को भी संचालित करनेवाली सामाजिक शक्तियों के प्रति अधिक जाता है। ये शक्तियाँ दो प्रकार की हैं। व्यक्ति के बाहर की सामाजिक शक्तियाँ और समाज से प्रभावित व्यक्ति की मानसिक शक्तियाँ। उपर्युक्त सभी यूरोपीय लेखकों ने विभिन्न अनुपातों में इन दोनों शक्तियों को अपने पात्रों की प्रेरणा बनाया है।

हिन्दी में 'गोदान' का होरी 'तीन वर्ष' का रमेशचन्द्र 'आखिरी दाँव' का रामेश्वर 'दादा कॉमरेड' का दादा 'गिरती दीवारें' का चेतन 'निशिकान्त' का निशिकान्त 'रतिनाथ की चाची' का रतिनाथ आदि पात्रों को लीजिए। ये नायक हैं पर कथा-संचालन में उनका क्या स्थान है? 'सेवा-सदन' के सुमन या 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर के समान ये आदर्श उपस्थित करके समाज से एक कदम ऊपर उठकर नहीं बैठते समाज को रास्ता दिखाने का दावा नहीं करते। इनके व्यक्तित्व पूर्णतया सामाजिक हैं। समाज की जो अविराम और अदमनीय धारा चलती रहती है उसमें ये भी बहते रहते हैं। इनका जीवन समाज का जीवन है पूर्णतया न हो तो आंशिक रूप में।

यूरोपीय उपन्यास में क्षीण होते हुए नायक को रूसी सामाजिक यथार्थवादी और समाजवादी यथार्थवादी उपन्यास ने एकदम समाप्त कर दिया है। १९२५ के पश्चात् राष्ट्रीय विकास-योजनाओं के सम्बन्ध में जो रचनाएँ हुईं उनमें नायकों का स्थान समाज ने ग्रहण कर लिया है। नवस्थापित साम्यवादी आदर्शों ने वीरपूजा और व्यक्ति-माहात्म्य की मान्यता का अन्त कर दिया है कम से कम सैद्धान्तिक रूप में। राजनीति के क्षेत्र में यह सिद्धान्त कहाँ तक प्रायोगिक हुआ उसकी चर्चा यहाँ असंगत है। किन्तु उपन्यास-साहित्य में इसका बहुत प्रभाव पड़ा है। शोलोखोव के 'नयी जुती ज़मीन' में किसी एक पात्र को नायक कहना कठिन है। व्यक्तित्वपूर्ण पात्र उसमें एक भी नहीं मिलता। इससे भी सुन्दर उदाहरण इल्या एहरनबर्ग के उपन्यास 'आँधी' और 'नवम तरंग' हैं। इनमें विश्व-महायुद्ध के समय के और उसके बाद के यूरोप का विस्तृत समाजशास्त्रीय इतिहास प्रस्तुत है। संपूर्ण मानवता रंगमंच पर आती है। एक-एक राज्य की जनता एक-एक पात्र का रूप धारण कर लेती है। जर्मन फ्रेंच रूसी जनताएँ अपने-अपने मुँह से बोलती हैं। हज़ारों माताओं का आर्त्त क्रन्दन युवक-युवतियों का आत्मोत्सर्ग बालक-बालिकाओं के करुण विलाप इन सबके बीच में हम किसी नायक की खोज में जायें तो सम्पूर्ण मनुष्यता ही हमारे हाथ आयेगी। इसके बाद भी रूसी उपन्यासों में नायक का महत्त्व कम रहा। 'फ्लोटिंग स्तालिनग्राद' 'हाउ द स्टील वाज़ टेम्पर्ड' 'नो ऑर्डिनरी समर' 'स्प्रिंग ऑन द ओडर' 'फिशरमैन'स सन' 'लिविंग वाटर' आदि में नायक केवल नाम के लिए ही उपस्थित हैं। इल्या एहरनबर्ग के समान नायक की पूर्ण उपेक्षा अन्य लेखक नहीं कर सके क्योंकि नायक

का आलंबन छोड़कर कथानक को आगे बढ़ाना कलाकार के लिए सहज कार्य नहीं है, अतः इन सबको नायक का आश्रय लेकर ही सामाजिक विकास का अध्ययन प्रस्तुत करना पड़ा है। हिन्दी में भगवतीचरण वर्मा के 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' रांगेय राघव के 'विषादमठ' और 'सीधा-सादा रास्ता' आदि के नायकों की दशा भी ऐसी ही है। 'विषादमठ' में बंगाल की भूखों मरती जनता ही एक पात्र के रूप में साकार होकर आयी है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' और 'सीधा-सादा रास्ता' में भारत के राष्ट्रीय वातावरण की उथल-पुथलों का दो दृष्टियों से चित्रण किया गया है। इनमें समाविष्ट घटनाओं में किसी व्यक्ति का महत्त्व नहीं है। इस प्रकार के सबसे सफल उपन्यास हैं रेणु के 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा'। सच कहा जाए तो ये उपन्यास नहीं हैं जीवन ही हैं। एक बार इनमें—विशेषकर 'परती परिकथा' में—प्रविष्ट हो जायें तो हम उपन्यास को भूल जाते हैं उपन्यासकार को भूल जाते हैं, यहाँ तक कि उनमें प्रयुक्त विशिष्ट शैली को भी भूल जाते हैं और जीवन को—केवल जीवन को—प्रत्यक्ष देखते हैं।

सामाजिक वातावरण प्रधान उपन्यासों को छोड़कर आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासों को लें तो भी नायक का पतन दूसरे प्रकार से स्पष्ट होगा। ये उपन्यास हद के व्यक्तिवादी हैं व्यक्ति की मानसिक ग्रन्थियों को सुलझाने के प्रयत्न में ये उपन्यास मनुष्य की सामाजिक सत्ता के प्रति अत्यन्त उदासीन रहते हैं। पात्रों की संख्या सीमित रहती है और प्रायः एक-दो पात्रों का मनोविश्लेषण गहराई से किया जाता है। किन्तु इन एक-दो पात्रों के भी व्यक्तित्व का स्वरूप क्या है? वस्तुतः उनका व्यक्तित्व उनका अपना नहीं है वे किसी सर्वमान्य या अर्धमान्य—मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को सिद्ध करने के निमित्त ही अपना अस्तित्व रखते हैं। वे समाज के ही कुछ विशेष प्रकार के या कुछ 'टाइप' के प्रतीक होते हैं उनका मनोविश्लेषण समाज का सामूहिक मनोविश्लेषण नहीं है किन्तु ऐसे कुछ व्यक्तियों का मनोविश्लेषण है जो समाज के ही अंग हैं और समाज की कुछ विशिष्ट मनोवृत्तियों से ग्रस्त हैं। दुर्भाग्यवश ऐसे उपन्यासों के लिए जो पात्र चुने गये हैं वे साधारण नहीं असाधारण हैं हिन्दी में भी और पाश्चात्य उपन्यासों में भी। जेम्स जायस का 'यूलीसस' अर्ल सिफमेयर का 'तीन बहनें' रेबेका वेस्ट का 'जज' आदि के पात्र इसके अच्छे उदाहरण हैं। इनमें और अधिकांश अन्य व्यक्तिवादी उपन्यासों में केवल विकृत चित्तवृत्तियों का ही विश्लेषण किया गया है। अज्ञेय और जोशी के सभी पात्र विकृतचित्त या असाधारण हैं, फिर भी यह चित्तविकृति और असाधारणता इसलिए लायी गयी है कि लेखक समाज में ऐसी प्रवृत्तियाँ देखते हैं और उनको स्पष्ट करना चाहते हैं। इससे आगे इन व्यक्तियों के प्रति लेखक की भी आस्था नहीं है। अतः ये पात्र नायक के स्थान पर प्रतिष्ठित होने पर भी प्राचीन उपन्यासों के नायकों के समान कथानक के संचालक नहीं हैं। ये किसी महान कार्य के प्रवर्तक न होकर कुछ प्राकृतिक शक्तियों से संचालित हुए हैं। इसीलिए आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में उदात्त पात्रों का अभाव है। यह परिवर्तन कहाँ तक उचित है यह दूसरी बात है। पर यह निश्चित है कि आज का

मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार भी अपने नायक को किसी ऊँचे स्थान पर प्रतिष्ठित करके उसे सबके आदर का पात्र बनाने को तैयार नहीं है।

उपर्युक्त तीनों प्रवृत्तियां हिन्दी के तथा यूरोपीय भाषाओं के उपन्यास-साहित्य में उपलब्ध हैं। इनको समयानुसार समाज और लेखकों की विचारधाराओं में आनेवाले परिवर्तनों पर आश्रित मानना पड़ेगा। इस तरह औपन्यासिक विषय में समय-समय पर जो परिवर्तन हुए हैं उनके अनुकूल शिल्प-विधान में भी परिवर्तन हुए हैं।

२
वस्तु विधान की पद्धतियां

*उपन्यास-कला के इतिहास में अब तक जितने प्रयोग होते आये हैं उनमें अधि*काश का लक्ष्य विषय और वस्तु-विधान की पद्धतियों पर केन्द्रित रहा है। लेखक का व्यक्तित्व देश और काल-सम्बन्धी परिस्थितियां आदि के अनुकूल समय-समय पर देशी विदेशी उपन्यास-साहित्य में विषय का परिवर्तन होता आया है। साथ-साथ विषय के विकास की प्रणालियों में जो परिवर्तन आये वे अधिक महत्त्व के हैं। वस्तुत लेखकों का ध्यान विषय से बढ़कर भाव पर अधिक केन्द्रित होता आया है। विस्तृत रोचक रोमांचकारी विषयों के स्थान में किसी निश्चित भाव पर आधारित विषयों का प्रति स्थापन क्रमश होने लगा। भाव महत्ता को सुरक्षित रखने का सबसे सफल उपकरण रूप महत्ता बना। विश्व-उपन्यास-साहित्य का इतिहास इस भाव-महत्ता और रूप-महत्ता के चरमोत्कर्ष तक पहुँचने के प्रयत्न का इतिहास है।

पाठक के सामने कथानक की घटनाओं को सूचना या समाचार के रूप म रख देना *लेखक की अपनी धारणाओं को अनावृत रूप में उपस्थित करने के अतिरिक्त कुछ* नहीं है। ऐसा कथानक वह कितना ही रोचक क्यों न हो न पाठक के सामने जीवन का या उसके अगों का समवेत रूप रख सकता है न पाठक की सहानुभूति को जागरित करने म सफल हो सकता है। प्रेमचन्द जैनेन्द्र भगवतीचरण वर्मा अज्ञेय यशपाल नागार्जुन रेणु आदि हिन्दी क प्रतिष्ठित उपन्यासकारों के अथवा यूरोप के फ्लाबेयर, मोपासाँ रोमें रोलाँ दास्तायवस्की तुर्गनेव तालस्ताय बैलक गोर्की जेन आस्टिन डिकेन्स स्काट मार्ग्यवर्ती बुल्फ आदि लेखकों के उत्कृष्टतम उपन्यासों की कवल घटनाओं को संचित कर रख दंन स कोई उपन्यास नहीं बनेगा। क्योंकि जैसा कि पर्सी लब्बक ने कहा है, 'उपन्यास घटनाओं की शृंखला-मात्र नहीं है। वह एक सम्पूर्ण चित्र या आलेख्य है जिसमें रूप प्रदर्शन एवं समानुविधान भी आवश्यक होता है।[१] उपन्यासकार को जीवन के छोटे या बड़े अंश का एक ऐसा चित्र अंकित करना पड़ता है जो अपने में समाहित घटनाओं पात्रों मनोभावों और वातावरणों में भिन्नता के होते हुए भी एकता का आभास दे सके ऐसा चित्र जो निर्जीव न होकर मानवात्मा के

१ Lubbock The Craft of Fiction P 62

जीवन-चैतन्य को सर्वोपरि व्यंजित कर सके जिससे वह समाचारपत्र की तथ्यपूर्ण रिपोर्ट से भिन्न हो।

इस तरह जीवन को सजीव रूप में व्यंजित करने के प्रयत्न में जो विविध परिपाटियाँ और प्रणालियाँ प्रचलित हुई हैं उनका विश्लेषण करने का प्रयत्न यहाँ किया जा रहा है।

१ विवरण शैली

१३५ हिन्दी में विवरण शैली—उपन्यास और कथा साहित्य के शैशव काल में विवरण शैली ही विषय विकास की एकमात्र प्रणाली थी। एक सुगठित—या कम से कम अनुबद्ध—कथानक का साधारण विवरण ही प्रारंभकालीन कथा-साहित्य में दिखायी देता है। हिन्दी में प्रेमचन्द के पूर्व के उपन्यास-साहित्य ने विवरण शैली के अतिरिक्त और किसी शैली का उपयोग नहीं किया। स्वयं प्रेमचन्द के उपन्यासों में यद्यपि वस्तु-विधान की दृष्टि से कई महत्त्वपूर्ण उपकरणों का उपयोग किया गया तथापि उनमें विवरण शैली का महत्त्व भी कम न रहा। प्रेमचन्द ने दृश्य-विधान को अपनाया, प्रयोगिक उपन्यास का सा वातावरण प्रस्तुत किया, चरित्र-चित्रण में कहीं कहीं मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की विश्लेषण-शैली को अपनाया फिर भी मूल रूप में उनके सभी उपन्यासों में वस्तु-विधान विवरण शैली में ही हुआ है। लाला श्रीनिवास दास बालकृष्ण भट्ट राधाकृष्णदास किशोरीलाल गोस्वामी लज्जाराम मेहता आदि के उपन्यासों में विवरण द्वारा किसी समस्यामूलक कथा को आगे बढ़ाने की जो चेष्टा मिलती है, उससे प्रेमचन्द भी अधिक मुक्त नहीं हुए थे। विशेषकर उनके प्रारंभिक उपन्यासों में यह प्रवृत्ति कथा शिल्प का मुख्य अंग है। कथा को आगे बढ़ाने की चिन्ता उन्हें सदा बनी रहती है फिर भी प्रेमचन्द अपने पूर्ववर्ती लेखकों से इस बात में आगे बढ़ हैं कि वे कहीं-कहीं विवरण द्वारा प्रस्तुत कथा को विराम देकर अपने पात्रों और उनकी परिस्थितियों को स्पष्ट रूप देने का प्रयत्न करते हैं जिससे जीवन की सम्पूर्णता का अधिक आभास मिलता है। प्रेमचन्द के पश्चात् विषय और विषय-विकास के संबन्ध में उपन्यास की मान्यताएं बदलीं। वस्तु-विधान के कई नूतन ढंगों की स्थापना हुई किन्तु आज तक हिन्दी उपन्यास में विवरण शैली सबसे प्रमुख एवं सर्वाधिक प्रचलित बनी रहती है।

जयशंकर प्रसाद 'कौशिक' प्रतापनारायण श्रीवास्तव राधिकारमणप्रसाद सिंह 'निराला' चतुरसेन गोविन्दवल्लभ पन्त रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' 'उग्र' मन्मथ नाथ गुप्त आदि के प्रायः सभी उपन्यास विवरण पद्धति में है। कौशिक के 'माँ' और 'भिखारिणी' में कथानक विवरण के द्वारा ही आगे बढ़ते हैं। विवरण में भी अनावश्यक वार्तालापों और घटनाओं का आधिक्य होने से प्रभाव कम हो गया है। इनमें ऐसे विवरणात्मक संभाषण और घटनाएँ आवश्यकता से अधिक हैं, जो न कथा-विकास में काम देती हैं न चरित्र-चित्रण में सहायक होती हैं, और न सामाजिक परिस्थितियों को ही स्पष्ट करती हैं। 'भिखारिणी' में रामनाथ और जसकिशोर का बसंतो के बारे में सम्भाषण विशेष सार्थक नहीं दीखता। रामनाथ के यहाँ से उसके

प्रेम करनेवाली बच्ची के अपने पिता के साथ अपने घर चले जाने का जो विवरण पचास से अधिक पृष्ठों में दिया गया है वह न परिस्थिति को व्यक्त कर सका है और न उन बिछुड़ते हृदयों की व्यथा को व्यंजित कर सका है। साधारण बातचीत करने इधर से उधर उधर से इधर, कमरे से बाहर, बाहर से अन्दर आने-जाने के नीरस विवरण में इतने पृष्ठों को व्यय करके लेखक ने विवरण को दुर्बल ही बनाया है। इसके विरुद्ध उग्र और मन्मथनाथ गुप्त ने विवरण को केवल विषय के अभिव्यंजन तक ही सीमित रखकर भावों को तर्क-भाव का क्रम दिया है। निराला और जयशंकर प्रसाद का विवरण मनोभावों की पूर्णतया उपेक्षा नहीं करता। दोनों कुछ मार्मिक या विषम प्रसंगों में कथानक का विवरण छोड़कर परिस्थितियों की व्याख्या करते हैं। उषादेवी मित्रा जैनेन्द्रकुमार भगवतीप्रसाद वाजपेयी इलाचन्द्र जोशी रांगेय राघव आदि ऐसे लेखक हैं जिन्होंने अपने प्रारम्भिक उपन्यासों में विवरण को अधिक महत्त्व दिया पर धीरे-धीरे विषय-विकास की अन्य पद्धतियों को भी अपना लिया। उषादेवी के 'पिया' और 'पथचारी' विवरणात्मक हैं। पर 'जीवन की मुस्कान' तक आते-आते उनकी कला वर्णन व्याख्या और दृश्य-विधान से सजीव हो उठी है। जैनेन्द्र ने 'परख' और 'त्यागपत्र' के बाद विवरण शैली को बिलकुल छोड़ दिया है। बाद के उनके सभी उपन्यास दृश्यात्मक या व्याख्यात्मक शैली में हैं। भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'अनाथ पत्नी' 'पिपासा' 'त्यागमयी' (मुस्कान) 'पतिता की साधना' 'दो बहनें' आदि विवरणात्मक हैं। हाल ही में उनका रुख बदला है जिसका आभास 'चलते-चलते' (१९५१) और उसके बाद के उपन्यासों में मिलता है। 'मनुष्य और देवता' और 'यथार्थ से आगे' उनकी कला के विकास की दो सीढ़ियाँ हैं, जहाँ कथा-विकास में विवरण का महत्त्व घटकर कला की अन्य प्रणालियों को अधिक स्थान मिलता है। इलाचन्द्र जोशी के 'घृणामयी' वृन्दावनलाल वर्मा के 'गढ़ कुण्डार' 'लगन' 'कुंडली चक्र' आदि निश्चित ही विवरण-शैली में हैं। लेकिन बाद के इनके उपन्यास प्रायः दृश्यों पर अधिक ध्यान देने से अधिक नाटकीय बने हैं। रांगेय राघव जोशी वृन्दावन लाल वर्मा विष्णु प्रभाकर, यशपाल और नागार्जुन मार्मिक प्रसंगों को नाटक के दृश्य के समान प्रस्तुत करने के साथ-साथ विवरण को ऐसे प्रसंगों को परस्पर सम्बद्ध करने का सूत्र बनाकर तद्द्वारा कथानक को शृंखलाबद्ध रखने में भी सफल हुए हैं। राहुलजी की विकास-शैली मूल रूप में सदा विवरणात्मक ही रही है यद्यपि उसके अन्तर्गत उन्होंने फ्लैश बैक दृश्य-विधान आदि पर भी प्रयोग किये हैं। इलाचन्द्र जोशी यद्यपि दृश्य-विधान और व्याख्या के प्रति अधिक मोह दिखाते हैं तो भी उनमें प्रायः ठोकर खाकर गिर जाते हैं। 'संन्यासी' 'निर्वासित' 'प्रेत और छाया' 'जहाज का पंछी' आदि में जब वे परिस्थितियों और मनोदशाओं की व्याख्या करने लगते हैं—भले ही वह व्याख्या मनोवैज्ञानिक हो—तब वे पात्रों और वातावरण

---

१ मन्मथनाथ गुप्त के केवल 'इन्द्रजित' के मुन्नाजिद और मिसियारी के एक आम के पेड़ से संबन्धित भागों के दृश्य में विवरण-शैली उत्कृष्ट और मार्मिक हुई है।

से दूर होकर एक तर्क-संसार में विचरण करने लगते हैं। पात्रों के मुंह से सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में (जैसे 'संन्यासी' में) या मनोवैज्ञानिक तत्त्वों के भाधार पर (जैसे 'प्रेत और छाया' में) साहित्यिक भाषा में जो लच्छेदारी कराई गयी है उसके कारण हम पात्रों की अनुभूतियों से तादात्म्य नहीं पाते। इसके विरुद्ध यह लेक्चर बाजी हमें पात्रों से दूर करती है और उनके वास्तविक अस्तित्व को संदिग्ध बना देती है। लेखक हमें पात्रों के सुख-दुख के संसार से हटाकर एक बौद्धिक संसार में ले जाता है, जहाँ हमें भले ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं दार्शनिक चिन्तन का साक्षात्कार हो पर जीवन की अनुभूतियों का नहीं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ही ऐसे एक लेखक हैं जो आदि से अन्त तक विवरण-शैली के प्रति विश्वस्त रहे हैं और उस शैली के उत्कृष्ट रूप द्वारा चरित्र और वातावरण को मूर्त करने में बहुत सफल हुए हैं। पात्रों के बाह्य रूपों चेष्टाओं और क्रियाकलापों का सूक्ष्म विशद मूर्तीकरण के लिए आवश्यक है।[1] इसके लिए विवरण अत्यन्त उपयोगी है। कथानक की गति को बनाये रखते हुए चतुरसेन विवरण द्वारा वातावरण को स्पष्ट करते हैं और पात्रों को रूप देते हैं। उनके कथोपकथन तक विवरण शैली से प्रभावित हैं क्योंकि उनमें भी कथानक सतत गतिशील रहता है। उनके कथोपकथन प्राय कथानक को आगे बढ़ाने के लिए ही हैं। आर्नल्ड बैनेट के 'ओल्ड वाइव्ज टेल' 'मिडिल मार्च' में हेनरी जेम्स के 'एम्बेसडर' में हार्डी के 'टेस' में तथा गाल्सवर्दी के 'दि मैन आफ प्रोपर्टी' में विवरण शैली से जो सजीवता आयी है वह चतुरसेन के नवीनतम उपन्यासों में है। 'वैशाली की नगरवधू' 'सोमनाथ' 'धर्मपुत्र' 'वयं रक्षाम' आदि में इसके अच्छे उदाहरण मिलते हैं। लेकिन चतुरसेन उपर्युक्त पाश्चात्य उपन्यासों के समान निश्चल दृश्यों के विधान में सफल नहीं हुए हैं केवल गतिशील दृश्यों को और घटनाओं को चित्रित करने में सफल हुए हैं।

यूरोपीय उपन्यास में विवरण शैली

१३६ यूरोपीय भाषाओं के प्रारंभिक उपन्यास—उपन्यास के पूर्व की कथात्मक रचनाएं—विवरण शैली में हैं। बुकाचियो का 'डे कामेरान' फ्रांसों रैबले का 'पैन्टाग्रुएल' मार्गरेट नवेट का 'हेप्टामरान' सेरवान्ते का 'डान क्विक्जोट' आदि पूर्णतया विवरण-शैली में ही हैं। फ्रांस और इग्लैंड में काफी देर बाद तक इस शैली का प्रचलन रहा। अंग्रेजी में डीफो के 'राबिन्सन क्रूसो' और 'मोल फ्लैंडर्स' स्टर्न का 'ट्रिस्ट्रम शैण्डी' रिचर्डसन का 'पामेला' (जो पत्रात्मक होने पर भी विवरण शैली में ही है) आदि में ही नहीं डिकेन्स थैकरे और स्काट तक के उपन्यासों में भी इसी शैली की प्रधानता रही। फ्रांस में ल साज वाइरराय एबी प्रीवोस्त मदाम-द-स्ताएल

---

[1] "By nature imageal it (narration) tends to remain imageal in reader s recollection of character and thus to furnish the symbol of personality of identity itself"—Myers Later Realism, P 106-107

आदि से लेकर ह्यूगो, चार्ल्स लैम्ब और ड्यूमा तक के उपन्यास विवरणात्मक हैं। कहा जा सकता है कि अंग्रेजी में जार्ज इलियट से और फ्रेंच में स्टेंडाल से ही विवरण शैली का महत्त्व कम होने लगा। जार्ज इलियट और स्टेंडाल ने वैयक्तिक विशेषताओं के अध्ययन और परिस्थितियों के विश्लेषण का जो मार्ग अपनाया उसके लिए विवरण मात्र पर्याप्त नहीं था, अतः उनको व्याख्यात्मक और नाटकीय पद्धतियों को स्वीकृत करना पड़ा, जिनका बाद में लेखकों ने भी स्वागत किया। किन्तु फ्रेंच साहित्य के फ्लाबेयर, मोपासाँ आदि उत्कृष्ट कलाकारों ने विवरण की पूर्णतया उपेक्षा नहीं की। मोपासाँ के 'बेल ऐमी' 'अन वी' आदि मूल में विवरणात्मक ही हैं। रूसी साहित्य में विवरण-पद्धति का अधिक विकास नहीं हुआ। पुश्किन के 'कप्तान की बेटी' और 'दुब्रोवस्की' के पश्चात् ही इस शैली का ह्रास होने लगा। गोगोल ने कथानक को महत्त्व न देकर दृश्यों को महत्त्व दिया, अतः उन्होंने नाटकीय दृश्यात्मक शैली को अपनाया। इसके बाद दास्तायवस्की, तुर्गनेव, टाल्सटाय, चेखव आदि ने भी विवरण को प्रभावात्मक महत्त्व नहीं दिया।

जेम्स, प्रूस्त और जीद के विवरण

१६७ सांकेतिक दृष्टि से विवरण का ध्येय बदलकर उपन्यास-साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन लानेवाले थे ये तीनों लेखक। हेनरी जेम्स का प्रभाव अंग्रेजी पर ही नहीं सम्पूर्ण यूरोपीय उपन्यास-साहित्य पर पड़ा। जेम्स के पहले के अंग्रेजी और फ्रेंच उपन्यासों में दो भाग देख सकते हैं, (१) लेखक के विचार, चिन्तन और विश्लेषण को प्रकट करनेवाला विवरणात्मक भाग और (२) पात्रों के कथोपकथन से युक्त और उनके व्यक्तित्व को प्रकट करनेवाला नाटकीय भाग। प्रायः प्रथम भाग में लेखक पात्रों को उचित रूप में सज्जित कर खड़ा करता है और दूसरे में पात्रों के विचारों का बहिर्गमन कराता है। जेम्स ने इस रीति को एकदम उलट दिया। उन्होंने नाटकीय संभाषण से युक्त द्वितीय भाग का पात्रों को सज्जित कर रखने के लिए और विवरण प्रधान प्रथम भाग का पात्रों के विचारों के विकास को व्यंजित करने के लिए उपयोग किया। फलस्वरूप द्वितीय भाग कथा-पात्र के स्वगत कथनी या लेखक के रूप में परिणत हुआ। कभी-कभी कथा को सर्वज्ञ लेखक ने स्वयं न कहकर किसी पात्र के द्वारा कहलाया है जैसे कि 'ऐम्बासडर्स' में। इससे प्रभावात्मक बाह्य घटनाओं को तिरस्कृत कर, पात्र की अनुभव-सीमा के अन्दर की वस्तु-मात्र को स्पष्ट करने और नाटकीयता लाने में सहायता मिली। विवरण भाग में पात्रों के विचारों के विकास की व्याख्या नहीं होती पर परोक्ष रूप में व्यंजन होता है। प्रूस्त ने भी इसी रीति को अपनाया। वे 'भूतकाल-पर्यवेक्षण' (A la Recherche du Temps Perdu) में पात्रों के सूक्ष्म से सूक्ष्म चलन और मनोभावों को विवरण द्वारा प्रस्तुत करके मन की गहराई तक पहुँच जाते हैं। सूक्ष्म और क्षणभंगुर विचारों को मूर्त रूप देने के लिए विवरण-शैली का उपयोग और किसीने इतनी सफलता से नहीं किया है। प्रतिरात सोने के पहले अपनी माता से चुम्बन पानेवाले एक बालक का हृदय एक दिन माता का चुम्बन न पाकर कैसे

छटपटाता है इसे दिखाने के लिए प्रूस्त ने दस पृष्ठ लिखे हैं, लेकिन इन दस पृष्ठों में कहीं भी विचारों और विकारों का सीधा विवरण नहीं हुआ है। प्रत्येक विकार को बाह्य क्रियाओं का रूप दिया है जिन्हें व्यक्त करने के लिए विवरण-शैली ही उपयुक्त है। विवरण को पात्रों की डायरी या लेख के भाव का रूप देने में आन्द्रे जीद अग्रगण-नीय हैं। अंग्रेजी में मिसिज़ रैडक्लिफ मिस मई सिन्क्लेयर आदि के 'चेतना-प्रवाह उपन्यासों' में भी विवरण की इस व्यंजना-शक्ति का उपयोग किया गया है संक्षेप में कहा जा सकता है वर्तमान अंग्रेजी और फ्रेंच उपन्यास में विवरण केवल किसी घटना अथवा दृश्य को चित्रित करने के लिए नहीं होता बल्कि पात्रों के विचारों को साकार बनाने के लिए होता है।

जोशी जैनेन्द्र और अज्ञेय के विवरण

१३८ उपर्युक्त यूरोपीय लेखकों के समान मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का विश्लेषण करनेवाले इन उपन्यासकारों ने विवरण का इस तरह का उपयोग नहीं किया है। वैसे हिन्दी के किसी भी उपन्यासकार ने बाह्य क्रियाओं के विवरण द्वारा पात्रों की आन्तरिक सत्ता को प्रकट करने का प्रयत्न नहीं किया है। जैनेन्द्र के 'सुनीता' के पश्चात् के उपन्यासों में प्राय विवरण कम हुए हैं जहाँ हुए हैं वहाँ कथानक को आगे बढ़ाने के लिए ही हुए हैं। मनोविकारों का स्पष्टीकरण संभाषण में ही होता है। इलाचन्द्र जोशी विकारों के विश्लेषण के लिए या तो स्वयं उनकी व्याख्या करने लगते हैं या पात्रों से एक-दूसरे के या अपने ही मनोभावों का विश्लेषण कराने लगते हैं। जब पात्र स्वयं अपने चेतन और अवचेतन की व्याख्या करने लगते हैं जैसे 'प्रेत और छाया' में तो अस्वाभाविक-सा हो जाता है। अज्ञेय ने 'शेखर' में विवरण की मनोभाव-व्यंजक शक्ति को कहीं-कहीं पहचाना है। शेखर की जिन प्रवृत्तियों का विवरण मिलता है उनके पीछे कुछ मनोग्रंथियाँ भी निहित हैं। फिर भी पात्रों के सूक्ष्म चलन का विवरण उसमें भी नहीं मिलता। 'नदी के द्वीप' में इस बात में अज्ञेय कुछ आगे बढ़े हैं, और उनका ध्यान पात्रों की उन सूक्ष्म क्रियाओं की ओर भी गया है जो उनके मानसिक धरातल पर रूप धारण करती हैं।

हिन्दी के अन्य यथार्थवादियों और रूसी यथार्थवादियों का विवरण

१३९ विवरण की इस मनोविकार-व्यंजक शक्ति का प्रयोग आधुनिक रूसी उपन्यासों में बिलकुल नहीं मिलता। दास्तावस्की और तुर्गनेव ने अपने पात्रों के संकुल विचारों और विषम मनोभावों को साकार बनाने के लिए प्राय विवरण को अपनाया था। 'अपराध और दंड' का रस्कोलनिकाव 'महामूर्ख' का प्रिंस मिशकिन 'रुदिन' का रुदिन 'अछूत भूमि' का नेजनोव आदि पात्रों का चरित्र-विकास इस प्रकार

१ Swann's Way Part I Tr of 'Du Cote de Chez Swann, the first part of A la Recherche du Temps Perdu P 35-46.

हुआ है। लेकिन इसके पश्चात् विवरण का ध्येय ही बदल गया। विशेषकर चेखव और गोर्की के उपन्यासों में और उसके पश्चात् समाजवादी यथार्थवाद के अन्तर्गत उपन्यासों में विवरण को पात्रों की बाह्य क्रियाओं तक ही सीमित रखा गया। विवरण की सार्थकता की चरम सीमा किसी पात्र को मनोदृष्टि के सामने यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने में अथवा किसी दृश्य को सामने घटता हुआ-सा दिखाने में समझा गया। विवरण का यही रूप हिन्दी के आधुनिक यथार्थवादियों में भी मिलता है। उपेन्द्रनाथ अश्क[1], विष्णु प्रभाकर[2] देवेन्द्र सत्यार्थी[3] यशपाल[4] भगवतीप्रसाद वाजपेयी[5] भगवतीचरण वर्मा[6] नागार्जुन[7] उदयशंकर भट्ट[8] लक्ष्मीनारायण लाल[9] आदि लेखक पात्रों और दृश्यों के यथार्थ से भासित होने के लिए उनका आवश्यक सूक्ष्म निरीक्षण के साथ विवरण करते हैं, जिससे सहज रूप में हम पात्रों और परिस्थितियों को समझ पाते हैं पात्रों के विकारों का सहज सरल रूप हमारी समझ में आता है किन्तु इन लेखकों के उपन्यासों में जीवन के सरल से सरल पर मार्मिक से मार्मिक प्रसंगों की कमी रहती है जो देश-काल की सीमा लांघकर मानव-मात्र के हृदयों को उद्वेलित कर सकते हैं, और बोरोदिन शोलोखोव एहरनबर्ग कोजेवनिकोव आदि रूसी उपन्यासकारों की कृतियों को—जो संख्या में कम हैं—विश्वसाहित्य में स्थान देते हैं। उपर्युक्त हिन्दी और रूसी यथार्थवादियों के विवरण हेनरी जेम्स और प्रूस्त के विवरणों से इस बात में भिन्न हैं कि इनके विवरण सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा दृश्य उपस्थित करते हैं बाह्य यथार्थ का बोध कराते हैं, किन्तु पात्रों के विकारों के क्रमिक विकास को उसकी पूर्ण तीक्ष्णता में व्यंजित नहीं करते जबकि प्रूस्त जेम्स और उनके अनुयायी पात्रों पर ही ध्यान केन्द्रित करके उनकी बाह्य क्रियाओं के प्रत्येक अंश से अन्तस् का सम्बन्ध जोड़कर विकारों को ही मूर्त रूप दे देते हैं। पाठक भले ही किसी यथार्थ बाह्य दृश्य का अनुभव न करे, पर पात्रों के विकार

---

१ 'गरम राख' में संस्कृति-समाज के कार्यक्रम का (पृ ७५-७९) 'गिरती दीवारें' में चेतन के विवाह के बाद लड़कियों के चिढ़ाने का विवरण (पृ १२०) देखिए।

२. देखें 'निशिकान्त' (अनेक प्रसंग हैं)

३ देखें 'कठपुतली' (अनेक प्रसंग हैं)

४ देखें 'दुनिया की रानी' (प्राय सम्पूर्ण उपन्यास में)
'इन्साफ' में श्यामू के करिया को खोलने का विवरण पृ २२।

५. वाजपेयी में यह प्रवृत्ति हाल में आयी है। इनके नवीनतम उपन्यासों में विशेषकर 'यथार्थ से आगे' में ऐसे कितने ही विवरण हैं। 'चलते-चलते' दूसरा उदाहरण है।

६. 'तीन वर्ष' का प्रथम अध्याय देखें।

७ 'रतिनाथ की चाची' और 'बाबा बटेसरनाथ' में कुछ ऐसे विवरण हैं। 'बलचनमा' और 'नयी पौध' के विवरण कथानक को आगे बढ़ाने के लिए ही हैं।

८ देखें 'सागर लहरें और मनुष्य' के विवरण। 'नये मोड़' के विवरण कथा-विन्यास मात्र के लिए हैं।

९. 'बया का घोंसला और सांप' के विवरण देखें।

उसके ही हृदय में पलने लगते हैं। हिन्दी उपन्यास ने आज तक इस तरह का प्रयोग पूर्ण सफलता के साथ नहीं किया है। 'शेखर' 'नदी के द्वीप' 'मुक्तिपथ' एवं 'सुबह के भूले' में वातावरण को धुँधला बनाकर पात्रों के अन्तर्जगत को प्रकाश में लाने का किंचित् प्रयास किया गया है। इन उपन्यासों में भी यत्र-तत्र लेखक सामाजिक जीवन के किसी पहलू का *विश्लेषण करने लगते हैं* और ऐसे स्थानों पर पात्रों के मनोजगत् का चित्रण शिथिल हो जाता है।

२ दृश्य विधान शैली (Scene-Style)

दृश्यात्मक उपन्यास

१४० कई कारणों से उपन्यास कथानक की उपेक्षा करता आ रहा है और वह आज तक विकास के परिणाम में इस दशा को पहुँच गया है कि उसमें अब एक संकुल धारावाहिक रोचक कथाचक्र की आवश्यकता ही नहीं रही जो पाठक के मन को बाँध रखे। एक ओर यथार्थवादी और प्रकृतिवादी सिद्धान्तों ने यथार्थ जीवन के अनुभवों से भिन्न विषम कल्पित कथानक का विरोध किया है और दूसरी ओर चरित्र के विश्लेषणात्मक अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली ने घटनाओं को गौण बनाकर उपन्यास को एक नयी दिशा की ओर प्रवृत्त किया है। इस दिशा-परिवर्तन ने विवरण-पद्धति का भी महत्त्व कम कर दिया है। जहाँ विवरण का प्रयोग हो वहाँ भी उसका ध्येय अब कथानक का विकास न होकर परिस्थितियों का विश्लेषण अथवा व्यक्ति की मानसिक वृत्तियों का अध्ययन हो गया है। साथ-साथ कई अन्य प्रणालियों का भी प्रयोग हुआ है, जिनमें दृश्य-विधान पद्धति टेक्नीक की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

दृश्यात्मक उपन्यास का स्वरूप

१४१ दृश्यात्मक उपन्यास में कथा की अटूट शृंखला पर ध्यान न देकर, कथानक के मार्मिक प्रसंगों को मूर्त दृश्यों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। दृश्यों के पारस्परिक सम्बन्ध को निभाना कलाकार की सर्जशक्ति पर निर्भर रहता है। इस पद्धति में भाव और रूप के सन्तुलन पर अधिक ध्यान रखा जाता है। दृश्यात्मक उपन्यास का एक मुख्य सिद्धान्त यह है कि अच्छा उपन्यास वही है जिसमें सारा अभिव्यंजन भाव व्यंजन के लिए ही हो और सारा भाव अभिव्यंजित किया जाये। न भाव से अधिक अभिव्यक्ति रहेगी न अभिव्यक्ति से अधिक भाव।

दृश्य क्या है ?

१४२ उपन्यास के 'दृश्य' का तात्पर्य पात्रों के वार्तालाप के प्रयोगों से नहीं है। दृश्य लेखक द्वारा तृतीय पुरुष शैली में भी उपस्थित किया जा सकता है लेकिन यह आवश्यक है कि पात्र सामने प्रत्यक्ष-से ज्ञात हों और मन पर ऐसा प्रभाव उत्पन्न कर दें जैसा किसी नाटक के पात्र दर्शक के मन पर। केवल बाह्य क्रियाएँ नहीं पात्रों के

विकार स्वयं पात्रों का स्थान लेकर अभिनय करते हुए-से दिखाई पड़ें यह दृश्य की चरम सफलता का लक्षण है।

केवल पात्रों के कथोपकथन से दृश्य का निर्माण नहीं हो सकता। जहाँ संभाषण तार्किक और किसी सिद्धान्त की विवेचना करनेवाला होता है वहाँ उससे दृश्य निर्माण में सहयोग मिलने के बदले बाधा ही पहुँचती है। इसके विरुद्ध संभाषण के अभाव में विवरण द्वारा दृश्य उपस्थित करने के उदाहरण भी दुर्लभ नहीं हैं। चतुरसेन शास्त्री के '*वैशाली की नगरवधू*' और '*सोमनाथ*' में कथोपकथन के *प्रसंगों में प्राय* कथा-विकास के लिए अनुपेक्षणीय कड़ियों पर ही लेखक का ध्यान केन्द्रित रहा है दृश्य-उपस्थिति पर नहीं। इसके विरुद्ध जहाँ विवरण का प्रयोग हुआ है वहाँ सुन्दर प्रभावशाली दृश्यों का निर्माण हुआ है। फ्रेंच कथाकार प्रूस्त के 'भूतकाल-पर्यवेक्षण' में विवरण द्वारा निर्मित दृश्यों के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं।[1] सामाजिक उपन्यासों में जहाँ स्वाभाविकता का बलिदान करके भी तार्किक सैद्धान्तिक और विवेचनात्मक सम्भाषणों का उपयोग किया जाता है वहाँ वह (सम्भाषण) दृश्य-निर्माण में सहायक नहीं होता बल्कि अंक-विज्ञान (Statistics) के निर्जीव अंकों के समान कुछ तथ्य-मात्र को सामने रखकर प्रसंग को अमूर्त बना देता है।

गतिशील और गतिहीन दृश्य

१४३ सामान्य जीवन में किसी व्यक्ति के निरन्तर सान्निध्य और साहचर्य से ही हमें उसके व्यक्तित्व का परिज्ञान हो सकता है। मानसिक सन्निकटता के अभाव में केवल दैहिक सान्निध्य से अथवा नित्य सम्पर्क के बिना केवल सामयिक साहचर्य से व्यक्ति का ज्ञान जैसे असम्भव है उसी तरह उपन्यास में भी पात्र केवल समय-समय पर *ही प्रकट हों या निरन्तर हमारे सम्मुख उपस्थित रहने पर भी मानसिक दृष्टि से हमारे* निकट नहीं आयें तो उन्हें समझना और उनके प्रति सहानुभूति का अनुभव करना असम्भव हो जाता है। यही परिचय दृश्यों द्वारा सम्भव होता है। जैसे कथानक को तीव्र गति से आगे बढ़ाने के लिए विवरण शैली का उपयोग करना पड़ता है, वैसे ही व्यक्ति के प्रकटन के लिए घटनाओं को रोककर कथानक को लगाम देकर, निश्चल या गतिशील दृश्यों का विधान करना पड़ता है। यहाँ 'निश्चल दृश्य' का तात्पर्य निष्क्रिय दृश्य से नहीं है बल्कि ऐसे दृश्य से है जो सक्रिय होने पर भी कथानक की गति को अवरुद्ध करके व्यक्तित्व प्रकटन या परिस्थिति-विश्लेषण में सहायक हो। प्रेमचंद के उपन्यासों में ऐसे दृश्यों के कई उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। हिन्दी में 'गोदान' में होरी की 'साठे पर पाठे' होने की चर्चा से लेकर कई प्रसंग 'निर्मला' में मन्साराम और निर्मला के पवित्र सम्बन्ध को दिखानेवाले कई प्रसंग और 'गबन' में जालपा के गृह-जीवन के अनेक प्रसंग इस दृष्टि से अतीव सुन्दर बने हैं। गतिशील दृश्य वे हैं जो कथानक की गति में विघ्न उपस्थित किये बिना ही निर्मित किये जाते हैं। निश्चल और

---

[1] देखें अनुच्छेद ११७।

गतिशील दृश्यों के बीच की दशाओं में कथा-प्रवाह को विविध मात्राओं में मन्द करके दृश्य-विधान करना भी सम्भव है।

हिन्दी के दृश्यकार

१४४ वैसे हिन्दी में पूर्णतया दृश्यात्मक उपन्यास (Scenic Novel) एक भी नहीं है। यद्यपि कई लेखकों ने अपने उपन्यासों में यत्र-तत्र अत्यन्त प्रभावशाली दृश्यों का निर्माण किया है, तो भी टाल्सटाय के 'अन्ना करेनिना' हेनरी जेम्स के 'कबूतर के पंख' आदि के समान संपूर्ण कथानक को दृश्यों का रूप देने का प्रयत्न किसीने नहीं किया है।

'परीक्षा गुरु' में टेक्नीक की दृष्टि से यद्यपि कई कमियाँ मिलेंगी तथापि यह उपन्यास बहुत कुछ दृश्यात्मक ही कहा जा सकता है। लेखक ने पात्रों के अतिरिक्त उन अन्य बातों पर ध्यान नहीं दिया है जो दृश्य की वास्तविकता के लिए आवश्यक हैं पर वातावरण के चित्रण और परिस्थिति के विश्लेषण के अभाव में भी इसके पात्र नाटक के से लगते हैं भले ही उनके शब्दों में हार्दिक भावनाओं की अभिव्यक्ति से बढ़कर एक अमूर्तभावबद्ध नैतिकता-अनैतिकता का विवेचन हो। लाला श्रीनिवास दास के पश्चात् प्रेमचन्द के पूर्व तक के लेखकों ने दृश्य-विधान को अधिक महत्त्व नहीं दिया। उनके उपन्यासों में इधर-उधर बिखरे हुए दो-चार दृश्यों को छोड़ द तो अवशेष पूर्णतया विवरण ही है।

प्रेमचन्द वस्तु-विधान की अपनी सामान्य गतिशीलता के बीच में भी ऐसे दृश्यों का निर्माण करते हैं जो पूर्णतया निश्चल न हों तो प्रायः मन्द गति के होते हैं। उनके प्रारंभिक उपन्यासों में दृश्यों को उतना स्थान नहीं दिया गया है, जितना विव रण को। 'सेवासदन' 'वरदान' 'प्रेमाश्रम' इनमें जो दृश्य हैं वे भी विवरणात्मक ही हैं। 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द कुछ आगे बढ़े हुए-से दीखते हैं, पर 'कायाकल्प' में फिर एक कदम पीछे हट जाते हैं। टेक्नीक की दृष्टि से कई त्रुटियों के होने पर भी 'निर्मला' में पहले-पहल प्रेमचन्द दृश्य विधान-शिल्प के उन्नत स्तरों का स्पर्श कर सके हैं। इसके बाद 'गबन' और 'गोदान' में भी प्रेमचन्द ने प्रायः दृश्यों द्वारा ही कथानक को आगे बढ़ाया है, चरित्र-विकास किया है और सामाजिक वातावरण का चित्र खींचा है। इन उपन्यासों के कितने ही अविहीन दृश्य दास्तायवस्की तुर्गनेव डी एच॰ लारेन्स आदि लेखकों के दृश्यों की श्रेणी तक पहुँचते हैं। तुर्गनेव और दास्तायवस्की के समान घट-नाओं को पूर्ण विराम देकर उपन्यास को आगे बढ़ाने की शक्ति हिन्दी के किसी लेखक में है तो वह प्रेमचन्द में ही। फिर भी हमें यह कहना पड़ेगा कि प्रेमचन्द अधिक देर तक कथानकों को अबाध से रोक नहीं पाते। तुर्गनेव और दास्तायवस्की काफी समय तक कथानक को रोके रखने में समर्थ दिखायी दन हैं। वर्जिन मेवनोर मिस मिसकिन रस्कोलनिकोव आदि पात्रों का चरित्र-विकास प्राय अन्था प्रवाह को रोककर कुशल दृश्य विधान द्वारा ही किया गया है।

प्रेमचन्द के पश्चात् के दृश्यात्मक उपन्यासों में 'शेखर' 'झांसी की रानी'

'मृगनयनी' 'नये मोड़' 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' 'यथार्थ से आगे' 'मैला आँचल' आदि स्मरणीय हैं। अज्ञेय ने 'शेखर' के प्रथम भाग में पूर्णतया दृश्य-पद्धति का उपयोग किया है पर दूसरे भाग में कथानक प्रायः विवरण के बल ही आगे बढ़ता है; इसी कारण दूसरे भाग में पात्रों का चरित्र उतना स्पष्ट नहीं होता जितना कि प्रथम भाग में भले ही उसमें रोचकता की मात्रा अधिक हो। वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में भी यह दोष है। 'झाँसी की रानी' के आरम्भिक अध्याय मूक चित्रों द्वारा चरित्र के अध्ययन का उत्तम उदाहरण हैं पर उपन्यास का उत्तरार्द्ध कोरे विवरण से बोझिल हो गया है यहाँ तक कि कुछ भागों में उसके उपन्यासत्व पर भी सन्देह होने लगता है। इस दृष्टि से 'मृगनयनी' अधिक सफल रचना है क्योंकि आदि से अन्त तक उसकी एकता इस तरह नष्ट नहीं होती। पर उसके अधिकांश दृश्य 'झाँसी की रानी' के चित्रों के समान सजीव भावव्यंजक एवं मार्मिक नहीं हो पाये हैं। केवल कथानक को आगे बढ़ाने में वे सहायक हुए हैं। उदयशंकर भट्ट का 'नया मोड़' भगवतीचरण वर्मा का 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' भगवतीप्रसाद वाजपेयी का 'यथार्थ से आगे' आदि दृश्य-शिल्प के सफल प्रयास हैं। रेणु के 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' पूर्णतया दृश्यात्मक हैं, लेकिन इनमें एक भी दृश्य ऐसा नहीं है जो मानवी विकारों के क्रमबद्ध विकास का क्रम दिखा सके। इसके अगणित लघु दृश्य तत्कालीन समाज के उपरितल का सामान्य ज्ञान कराते हैं, व्यक्तित्व के अन्तस् का नहीं।[1]

दूसरी तरह के दृश्यात्मक उपन्यास वे हैं, जिनमें दृश्यों और विवरणों का सन्तुलित संयोग रहता है। हिन्दी में ऐसे ही उपन्यासों की अधिकता है। प्रेमचन्द का उल्लेख हो चुका है। यशपाल के 'दादा कामरेड' 'मनुष्य के रूप' और 'दिव्या' भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा' उषादेवी मित्रा का 'नष्ट नीड़' और 'जीवन की मुस्कान' जैनेन्द्र के 'सुखदा' 'कल्याणी' 'व्यतीत' 'विवर्त' आदि अश्क का 'सितारों का खेल' देवेन्द्र सत्यार्थी का 'कठपुतली' धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता' विष्णु प्रभाकर के 'निशिकान्त' और 'तट के बंधन' आदि में सन्तुलन के साथ दृश्यों और विवरणों का उपयोग किया गया है।

पाश्चात्य उपन्यासों की तुलना में हिन्दी उपन्यासों के दृश्य

१०५ पाश्चात्य उपन्यास-साहित्य बहुत पहले ही दृश्य का महत्त्व स्वीकार कर चुका है। आधुनिक उपन्यासों में प्रायः दृश्य ही लेखक का सर्वप्रधान माध्यम रहता है। रूसी के सामाजिक यथार्थवादी उपन्यासों में तथा अंग्रेजी के वैज्ञानिक विश्लेषणवादी उपन्यासों में विवरण हो तो भी वह दृश्यों के पारस्परिक सम्बन्ध को बनाये रखने मात्र के लिए है। अंग्रेजी में हेनरी जेम्स के पश्चात् के प्रायः सभी उपन्यासकारों ने व्यक्ति की आन्तरिक सत्ता को दृश्यों द्वारा प्रकट किया है और बाह्य सत्ता को संक्षिप्त विवरण द्वारा। एल्डुअस हक्सले डी० एच० लारेन्स मे सिन्क्लेयर,

---

१ देखो अनुच्छेद १२५।

मिस रेबेका वस्ट कोम्पटन मैकेन्जी वर्जीनिया वुल्फ आदि के उपन्यास इसके उदाहरण हैं। डी एच लारेन्स दृश्य-विधान में इतने सफल हुए हैं कि उनके पात्रों के विकार स्वयं मूर्त रूप धारण कर पात्र बन जाते हैं। मनोभावों को नाटकीय रूप देने की यह प्रवृत्ति आधुनिक अंग्रेजी उपन्यासों की प्रमुख विशेषता है। फ्रेंच के मारियाक मसरो जीद और प्रूस्त भी मनोविकारों को मूर्त रूप देनेवाले दृश्य निर्मित करते हैं पर वे अंग्रेजी उपन्यासकारों के समान पात्रों को सामने उपस्थित कर उनसे पाठक का सीधा संबन्ध स्थापित करने के बदले विवरण द्वारा ऐसे दृश्य प्रस्तुत करते हैं।[१] इस तरह व्यक्ति की अन्तःसत्ता का विश्लेषण करनेवाले दृश्य हिन्दी में बहुत कम मिलते हैं।

दूसरी एक बात जो सामान्य रूप में पाश्चात्य उपन्यासों में मिलती है, वह है आवश्यक अंश-मात्र की स्वीकृति और ऐसे भागों का तिरस्कार जिनके स्पष्टीकरण के बिना भी काम चल सकता है। इससे दृश्य अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं और अधिक नाटकीय बन जाते हैं। जैसे किसी चित्र पर ध्यान केन्द्रित करने में गाढ़े रंग का फ्रेम सहायक होता है उसी तरह दृश्य के बाहर के विषयों को दृश्य से अलग करके या उनका तिरस्कार करके दृश्य को अधिक प्रभावशाली बनाया जाता है। पर ऐसी दशा में दृश्यों के बीच में पारस्परिक संबन्ध बनाये रखने के लिए प्रायः संपूर्ण विषय को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में दृश्यों के द्वारा ही व्यंजित करना पड़ेगा। इस सीमा-निर्धारण का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण दास्तायवस्की के उपन्यासों में मिलता है। उपर्युक्त स्वीकार-तिरस्कार से लेखक पाठक का ध्यान कुछ रेखाओं की ओर, उनके विशेष चयन की ओर, और उनके बीच के रंगों की ओर केन्द्रित रख सकता है। हिन्दी के लेखकों में केवल जैनेन्द्र के अन्तिम उपन्यासों में यह गुण मिलता है। यद्यपि वे पूर्णतया दृश्यात्मक नहीं हैं तो भी उनमें सभी बातें प्रत्यक्ष रूप में न कही गई हैं प्रत्युत परोक्ष व्यंजन प्रणाली का उपयोग किया गया है और बहुत कुछ पाठक की विश्लेषण शक्ति के भरोसे छोड़ दिया गया है। ऐसा लगता है कि घटनाएँ मुख्य कथा से बिल कुल पतली डोरियों से बँधी रहती हैं। 'कल्याणी' में मि भटनागर, देवलीला आदि पात्र और मंदिर-निर्माण भारती-तपोवन का स्थापन आदि प्रसंग स्केच जैसे लगते हैं। 'विवर्त' में लेखक ने भुवनमोहिनी और जितेन्द्र के व्यवहारों की कड़ी मिलाना पाठक के लिए छोड़ दिया है। 'व्यतीत' के दृश्य भी प्रायः ऐसे ही हैं।

हिन्दी उपन्यासों में दृश्य-विधान-कला की जो अपूर्णता है उसके मुख्य कारण

---

१ Percy Lubbock says about the character Strether " the novelist dealing with a situation like Strether's represents it by means of the movement that flickers over the surface of his mind. The impulses and reaction of his mood are the players upon the new scene."—The Craft of Fiction P 157

२ अनु १६०।

जो ज्ञात होते हैं। प्रथम है, कथा-तन्तु पर अधिक ध्यान। लेखक चरित्र को प्रकाश में लाने से और परिस्थिति को विशिष्ट करने से अधिक कथा-सूत्र पर ध्यान रखता है किसी भी दशा में उसे टूटने देना नहीं चाहता। दृश्य-माध्यम से यह असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। विवरण से यह कार्य सहज-साध्य हो जाता है। दूसरा कारण व्याख्या की प्रवृत्ति है। जब लेखक सामाजिक परिस्थिति समस्या आदि की सीधी व्याख्या करने लगता है[1] अथवा व्यक्ति की प्रवृत्तियों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रत्यक्ष रूप में करने लगता है[2] तब दृश्य-निर्माण की नींव हिल जाती है।

१ पनोरमिक उपन्यास (Panoramic Novels)

१४६ समाज के विविध पहलुओं का विशद एवं सर्वांगीण चित्रण करते हुए अत्यन्त विस्तृत पटभूमि पर लिखित कुछ उपन्यास उपलब्ध हैं जो पात्रों की संख्या वातावरण की *विस्तृति कथानक के गठन आदि बातों में किसी तरह की सीमा के* अन्दर नहीं समाते। इनको पनोरमिक उपन्यास कहा जा सकता है।

कथासहित पनोरमिक उपन्यास

१४७ पनोरमिक उपन्यास जब कथासहित होता है तब आदि से अन्त तक एक कथा का प्रवाह होता है किन्तु विस्तृत रूप में चित्रित विशाल सामाजिक वातावरण ही उसमें मुख्य रहता है। कथानक उस वातावरण के विभिन्न अंगों को एक सूत्र में बाँधकर उनमें पारस्परिक *संबन्ध* स्थापित करता है। वातावरण की मुख्यता के कारण कई ऐसे दृश्य भी उसमें समाहित हो जाते हैं, जिनका कथानक से दृढ़ संबन्ध नहीं रहता और जिनके अभाव में भी कथा मजे में चल सकती है।

यूरोपीय साहित्यों में केवल रूसी ने उच्चकोटि के पनोरमिक उपन्यास प्रस्तुत किये हैं। डिकेन्स के उपन्यासों से यद्यपि इंग्लैंड के सामाजिक वातावरण का ज्ञान होता है, तो भी वे पनोरमिक श्रेणी के अन्तर्गत नहीं आते क्योंकि उनका दृष्टिकोण आलोचनात्मक होने के कारण एकांगी हो गया है उनमें यथार्थ और विश्वस्त चित्र सत्य नहीं है लेखक की वैयक्तिक भावनाओं को उत्तेजना देनेवाले एक ही रूप का विशदीकरण है। वैयक्तिक रुचि के रंगीन चश्मे से समाज का यथार्थ रूप दिखायी नहीं पड़ता। अंग्रेजी के अन्य सामाजिक उपन्यासकारों में भी यह आलोचनात्मक प्रवृत्ति मिलती है जो समाज का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करने में बाधक होता है।

१४८ कथासहित रूसी पनोरमिक उपन्यास—लियो टाल्स्टाय का युद्ध

---

१ प्रायः हिन्दी के सभी सामाजिक उपन्यासों में यह प्रवृत्ति है। [illegible] के '[illegible]' '[illegible]' '[illegible]' आदि में यह प्रवृत्ति चरम सीमा पर है।

२. इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास उदाहरण हैं।

और शान्ति' शोलोखोव के 'दोन नदी धीरे बहती है' 'दोन नदी में समुद्र को बह जाती है' अलेक्सी तास्ताय का 'श्रम-परीक्षा (Ordeal) या 'कलवरी का मार्ग' विश्व-विख्यात पनोरमिक उपन्यास हैं। युद्ध और शान्ति' में निकोलाश साम्रे सोफिया नताशा आदि की कथा एक सार्वलौकिक कथा है जो देश-काल का अन्तर नहीं जानती पर समस्त काल और समूचे देशों के मानव-मात्र का रूप दिखाती है, उनके पारस्परिक संबन्धों का प्रकट करती है, उनके अन्तर्द्वन्द्वों की विवेचना करती है। इसके साथ देशीय वातावरण को प्रकट करती हुई दूसरी कथा चलती है जिसके मुख्य पात्र हैं पार अलेक्सीम्बर, कुटुसोव नेपोलियन म्यूरेट आदि। दोनों कथायें मिलकर मानव-जीवन का जो रूप प्रस्तुत करती हैं उसकी विस्तृति संसार के और किसी उपन्यास में आज तक नहीं आयी है। 'दोन' उपन्यासों मे मेगर की कथा रूस के कौटुम्बिक जीवन को व्यक्त करने के साथ-साथ मनुष्य हृदय के विविध विकारों को साकार बनाकर उपस्थित करती है साथ ही १९१ से १९२ तक के विप्लवात्मक काल का इतिहास भी इसमें निहित है। 'कलवरी का मार्ग' में विप्लवकाल के विस्तृत वातावरण में दाशा कात्या निकोलास आदि की कथा का विकास हुआ है।

१४९ हिन्दी में कथायुक्त पनोरमिक उपन्यास—हिन्दी में ऐसे उपन्यासों का प्राय: पूर्ण अभाव है। केवल प्रेमचन्द का 'गोदान' इस श्रेणी के अन्तर्गत माना जा सकता है। होरी की पारिवारिक कथा के साथ जो विस्तृत सामाजिक वातावरण चित्रित किया गया है वह पनोरमिक ही है। 'गोदान' पर प्राय: जिस कथा-शैथिल्य के दोष का आरोप किया जाता है उसका कारण उपन्यास का यह पनोरमिक रूप ही है। जो पाठक उसे कथा-प्रधान समझें, या होरी की जीवनी समझें वह उसमें ऐसे कई भाग देखेगा जिन्हें कथा प्रवाह को बाधा दिये बिना काटकर निकाला जा सकता है। किन्तु जो लोग 'गोदान' को देश का संपूर्ण वातावरण प्रस्तुत करनेवाले पनोरमिक उपन्यास के रूप में देखेंगे वे उसकी अगणित असंबद्ध घटनाओं के बीच में भी एक सार्थकता देखेंगे जो चित्र को अधिक यथार्थ बनाती है जैसे किसी चित्र में वातावरण को यथार्थ बनाने के लिए चित्र की मुख्य वस्तु से कतिपय असंबद्ध वस्तुओं का समावेश करना पड़ता है उसी तरह उपन्यास के वातावरण के चित्र में भी करना पड़ता है, विशेषकर वातावरण प्रधान पनोरमिक उपन्यास में। प्रेमचन्द को भारतीय समाज का जो संपूर्ण वातावरण उपस्थित करना था उसमें ग्रामीण और नागरिक जीवन का समावेश अनिवार्य था। जब भारतीय समाज में ग्राम और नगर के सामाजिक जीवन में पारस्परिक सम्बन्ध और प्रभाव बहुत कम है—१९१५ में दोनों का सम्बन्ध आज से भी अधिक शिथिल था—तब प्रेमचन्द दोनों को दृढ़ बन्धन में बांधकर यथार्थ की रक्षा कैसे कर सकते थे?

एक प्रश्न यह उठ सकता है कि क्या नगर-जीवन के चित्र को छोड़कर और ग्रामीण जीवन के ही होरी के जीवन से असबद्ध अंशों को तजकर होरी का इससे अधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व नहीं बनाया जा सकता? वस्तुत: इन सब दृश्यों से पाठक का ध्यान विकेन्द्रित हो जाता है। होरी को प्रकाश-केन्द्र (फ़ोकस) बनाकर—सामाजिक

विषमताओं के बीच में विकसित होनेवाले उसके वैयक्तिक जीवन की विषमता और अन्तर्द्वन्द्व को ध्यान-केन्द्र बनाकर स्टोकोट्रैक्ट प्रभाव निश्चय ही बढ़ाया जा सकता है और उस दशा में होरी अपनी वैयक्तिक सत्ता के कारण शरत् के पात्रों के समान अधिक प्रभविष्णु हो सकता है। किन्तु तब वह इतना ही यथार्थ रहेगा यह सन्दिग्ध है। तपोवन के वातावरण के बिना शकुन्तला शकुन्तला नहीं रहती। सामाजिक वातावरण की सम्पूर्णता के लिए ही नहीं होरी के चरित्र को पूर्ण बनाने के लिए भी ग्राम-जीवन का चित्रण आवश्यक है और ग्राम के चित्र के वातावरण के रूप में नगर-चित्रण प्रेमचन्द को अनुपेक्षणीय प्रतीत हुआ। वैसे प्रेमचन्द की प्रवृत्ति क्रम से 'सामाजिक वातावरण में व्यक्ति के चित्रण' के प्रति उन्मुख होती गयी और वातावरण का महत्त्व बढ़ता गया और अन्त में उसने 'गोदान' में एक पनोरमिक रूप धारण कर लिया।

१५० प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों में पनोरमिक वातावरण—यद्यपि *'प्रेमाश्रम' 'रंगभूमि' 'कर्मभूमि' और 'कायाकल्प' पनोरमिक उपन्यास नहीं हैं, तो भी* उनके वातावरण पनोरमिक जैसे हैं। इनमें प्रेमचन्द का ध्येय संपूर्ण वातावरण का प्रदर्शन नहीं है और न वे कथानक से अधिक वातावरण को महत्त्व देते हैं। अतः वातावरण सदा कथानक से सिमटकर ही चलता है। दूसरी बात यह है कि ये उपन्यास नयी-पुरानी कुछ समस्याओं के आधार पर लिखे गये हैं जो उपन्यास की विषय-सीमा को निर्धारित करती हैं। यह उपन्यास के पनोरमिक रूप में प्रत्यक्ष बाधक सिद्ध हुआ है। और तीसरी बात है इनमें प्रेमचन्द यथार्थ को छोड़कर एक कल्पित सुधारवादी आदर्श का चित्रण करते हैं जो वास्तविक सामाजिक जीवन से दूर है अतः पनोरमिक उपन्यास के अनुकूल नहीं है।

कथारहित पनोरमिक उपन्यास

१५१ इल्या एहरनबर्ग के 'आधी' और 'नवम लहर'—दोनों अपने-आपमें पूर्ण हैं, पर परस्पर-संबद्ध भी हैं, प्रथम का सेपाश है दूसरा।—ऐसे पनोरमिक उपन्यास हैं जिनमें कथा नहीं के बराबर है। प्रत्येक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह की अपनी कथा है। जो अनेक कथाएँ चलती हैं, उनमें एक भी ऐसी नहीं है जो एक निरन्तर प्रवाह के रूप में पाठक को आकृष्ट और प्रभावित कर सके पर सब मिलकर वातावरण को पूर्ण बनाती हैं यह वातावरण अपने-आपमें सार्थक है और यही उपन्यास का मुख्य अंग है। शोलोखोव के 'नयी जुती ज़मीन' में भी कथा अत्यन्त शिथिल है। इन सब उपन्यासों के नायक के रूप में ऐसे व्यक्ति नहीं मिलते जो अन्य पात्रों की तुलना में अधिक महत्त्व के हों। विभिन्न समाजों का अथवा समाज के विभिन्न वर्गों का समष्टिगत व्यक्तित्व इनकी विशेषता है। 'नयी जुती ज़मीन' में संपूर्ण सोवियत जनता ही एक व्यक्ति का रूप धारण कर लेती है। एहरनबर्ग के उपन्यासों में रूसी जर्मन फ्रेंच अमेरिकन चेक आदि जातियाँ ही अपना-अपना समष्टिगत व्यक्तित्व लेकर सामने आती हैं और मानो एक-एक पात्र बन जाती हैं। पोलिश उपन्यासकार ज़ेरोम्स्की का उपन्यास 'राख' (Ashes, 1904) स्पेन से इटली तक के वातावरण में कई वर्गों के व्यक्तियों के

वैयक्तिक और सामाजिक जीवन का चित्रण करते हुए पनोरमिक रूप धारण कर लेता है। ग्रामीण और नागरिक भूमिपति और कृषक-श्रमिक जनता और सेना प्रपढ़ और विद्वान आदि सबकी वर्गगत विशेषताएँ स्पष्ट की जाती हैं। व्यक्ति के रूप में कई पात्र समान महत्त्व के प्राप्य हैं। पर किसी एक को नायक का रूप देना कठिन लगता है।

१५२ हिन्दी में कथारहित पनोरमिक उपन्यास—हिन्दी में इस तरह के पनोरमिक उपन्यासों का भी अभाव है। लेकिन हाल में इस ओर कुछ प्रयत्न हुआ है। फणीश्वरनाथ 'रेणु' के 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा'[1] लक्ष्मीनारायण लाल का 'बया का घोंसला और साँप' पूर्णतया पनोरमिक नहीं हैं पर कुछ सीमाओं के अन्दर पनोरमिक ही हैं। इनमें वातावरण मुख्य होने पर भी सीमित है। 'मैला आँचल' में स्वतंत्रता-प्राप्ति के तुरन्त पूर्व और तुरन्त बाद के बिहार के जीवन का तथा 'परती परिकथा' में पुनर्निर्माण काल के जीवन का चित्रण है। स्थान-सीमा ही नहीं विषय-सीमा भी इनमें निर्धारित है। जीवन के विविध प्रसंगों का चित्रण पाश्चात्य उपन्यासों के समान इनमें नहीं मिलता। केवल राजनीतिक चेतना का विकास स्पष्ट हुआ है। इस तरह की सीमाओं के कारण इनकी 'कैनवस' या पटभूमि बहुत छोटी रह गयी है। फिर भी उस सीमित वातावरण को जो पूर्णता दी गयी है वह पनोरमिक शैली के द्वारा है और विशेष उल्लेखनीय है।

१५३ आंचलिक उपन्यास—इस सीमा के कारण इन उपन्यासों को पनोरमिक कहने से 'आंचलिक' कहना अधिक उपयुक्त होगा। 'गोदान' से इनकी तुलना करने पर यह बात स्पष्ट होगी। 'गोदान' का वातावरण अधिक भारतीय है उसमें प्रेमचन्द की दृष्टि अधिक विशाल क्षेत्र में जाती है। अगर उसके वातावरण में कोई कमी है तो वह हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के चित्रण का अभाव है। रेणु के उपन्यासों के पात्र अपनी कुछ विशेषताओं के कारण बिलकुल स्थानीय रह गये हैं। स्थानीय रंग देने के उद्देश्य से रेणु ने उनकी भाषा को भी स्थानीय बनाया है।

'बियाबमठ' का रूप भी कुछ-कुछ आंचलिक है पर उसकी काल-सीमा अधिक निर्धारित है। उसमें एक निश्चित समय के जीवन के एक ही पहलू का चित्रण है। पनोरमिक स्वरूप केवल गठन-शैली में है। किसी एक कथानक को महत्त्व न देकर कई लोकात्मक जीवनों का चित्रण किया गया है।

पनोरमिक उपन्यास का दौर्बल्य

१५४ उपर्युक्त सभी पनोरमिक उपन्यासों का विशेषकर कथारहित उपन्यासों का सबसे बड़ा दौर्बल्य यथार्थ अध्ययन की कमी है चाहे वह समाज का हो चाहे व्यक्ति का। विशालता यथार्थता में बाधक हो जाती है। सीमित विषय के

---

१. डा. प्रभाकर माचवे और विजय की कथाओं के आधार पर इनको वर्गीकृत करना कठिन है क्योंकि ये कथायें अत्यन्त शिथिल—कम से कम विस्तार-क्रम में—और गौण हैं कि उपन्यास पढ़ने के बाद उनको कथानक कहने में संकोच होता है।

किसी उपन्यास में भावधारा का जो क्रमिक विकास प्राप्य है वह पनोरमिक उपन्यास में कभी नहीं मिलता। विषय-वैविध्य के कारण पाठक पर पड़नेवाले प्रभाव में भी वैविध्य आ जाता है। कथायुक्त पनोरमिक उपन्यासों में भी यह वैविध्य होता है पर कुछ कम। 'गोदान' उपन्यासों में अमर की कथा 'गोदान' में होरी की कथा आदि ध्यान को आकृष्ट करनेवाली है किन्तु जगह-जगह पर वातावरण के अन्य दृश्य उभर कर मुख्य कथानक से ध्यान को हटाते ही हैं जिससे पाठक की अनुभूति क्रमिक रूप में चरम सीमा तक निर्बाध पहुँच नहीं पाती।

पनोरमिक उपन्यास की काल-सीमा

१५५ पनोरमिक उपन्यास और हृदयात्मक उपन्यास की विस्तृति में भिन्नता है। 'मैला आँचल' बिहार के तत्कालीन वातावरण को अतिविस्तृत रूप में व्यक्त करता है। पर उस काल-सीमा के बाहर उसका क्या मूल्य रहेगा? मानव की चिरन्तन अनुभूतियों को उसमें कहाँ तक व्यंजित किया गया है? निश्चित ही उस प्रकार का प्रेम साधारण जनता की पारस्परिक ईर्ष्या वैर-प्रेम स्वार्थ आदि की एक झलक मिलती है। पर पूरे 'मैला आँचल' में एक भी ऐसा दृश्य नहीं है जो मानव-हृदय के स्थायी तत्त्वों को समुचित रूप से प्रकट करके मन पर बरबस प्रभाव डाल सके। लेखक वातावरण की विस्तृति में खो जाता है और व्यक्ति के निरीक्षण का पर्याप्त अवसर नहीं पाता अतः वैयक्तिक विकार और अनुभूति की अगाधता तक पहुँच नहीं पाता। 'मैला आँचल' में मानव को सामाजिक प्राणी के रूप में जितना समझ सकते हैं उतना मानव के रूप में नहीं समझ सकते। कोई भी पात्र उभर वैयक्तिक अस्तित्व नहीं रखता अतः उनके प्रति हार्दिकता का विकास असंभव हो जाता है। 'मैला आँचल' के ये सभी दोष एगुरल वर्ग के उपन्यासों में भी हैं, भले ही उनमें अधिक मार्मिक दृश्य भी हैं, जिनका अधिक स्थायी प्रभाव हो सकता है।

इसके विरुद्ध कथात्मक या दृश्यात्मक उपन्यासों में सीमित विषय का विश्लेषणात्मक अध्ययन होने से अधिक अगाधता संभव है। उसमें पाठक के हृदय में किसी विशेष वृत्ति का विकास क्रमिक रूप में करके चरम सीमा तक पहुँचाना सुगम हो जाता है। टालस्टाय के उपन्यासों में 'युद्ध और शान्ति' भले ही अधिक उत्कृष्ट हो तो भी वह 'अन्ना करेनिना' की तरह मार्मिक नहीं है। और 'युद्ध और शान्ति' में—इसी तरह 'गोदान' उपन्यासों में भी—जो मार्मिकता है वह भी पनोरमा के कारण नहीं है बल्कि उनकी कथाओं में विकसित क्रमबद्ध भावधारा के कारण और बीच-बीच के दृश्यों के कारण है। पनोरमा-मात्र से आंचलिक सीमा विस्तृत होती है पर भावसीमा और प्रभाव सीमा संकुचित हो जाती है।

पनोरमिक उपन्यास में चिरन्तन मूल्य का पुट

१५६ पनोरमिक उपन्यासों को स्थायी महत्त्व देने के लिए प्रेमचन्द, टालस्टाय शोलोखोव और एगुरलवर्ग द्वारा स्वीकृत मार्ग—आंचलिक वातावरण के साथ-

साथ मानव-हृदय की कोमल सत्ता से संबन्धित अनेक दृश्य उपस्थित करता है। इनके उपन्यासों में सामाजिक और राजनीतिक वातावरण में मानव-हृदय के स्थायी तत्त्व विलुप्त नहीं हुए हैं—भले ही वे अधिक प्रभविष्णु न बने हों। इनमें कई ऐसे दृश्य हैं जिनमें लेखक का उद्देश्य सामाजिक वातावरण को विशद करना नहीं होता बल्कि मनुष्य के अन्दर जो हृदय है—जो मनुष्य की अपनी अमूल्य संपत्ति है—उसकी उज्ज्वल वृत्तियों को दिखाना होता है। इन उपन्यासों का कोई स्थायी महत्त्व है तो इन्हीं दृश्यों के कारण है। कथासहित पनोरमिक उपन्यासों में कथा भी चिरन्तन मूल्य का कारण बन सकती है। 'युद्ध और शान्ति' में नताशा और सोफिया की तथा 'दोन' उपन्यासों में नतास्या दरिया और अक्सीनिया की कथाएँ, जो हृदय की कोमल भावनाओं का विकास करती हैं, शाश्वत मूल्य की हैं। हृदय के तरल विकारों को चामरित करनेवाले ऐसे भाव 'नयी जुती जमीन' में पुष्ट नहीं होते। विकारों के विकसित होकर फूलने-फलने के लिए 'नयी जुती जमीन' में खाद ही नहीं मिलती। 'आंधी' का प्रभंजनमय अस्तव्यस्त वातावरण भी विकार विकास के लिए अनुपयुक्त है।

कथारहित पनोरमिक उपन्यासों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े भाविक दृश्य शाश्वत मूल्य के कारण बनते हैं। 'युद्ध और शान्ति' 'दोन' 'आंधी' 'चौवान' आदि में ऐसे कितने ही दृश्य हैं, जो मानव-मात्र के सहज भावों को स्पष्ट करते हैं। 'युद्ध और शान्ति' में चंचल और कोमल नताशा को सामने लानेवाला प्रत्येक दृश्य अविस्मरणीय है। प्रथम प्रथम नताशा का परिचय देनेवाले दृश्य-मात्र को पढ़ने से ही कूदती फुदकती वह लड़की हमारे हृदय में स्थायी रूप में निवास करने लगती है। 'दोन' उपन्यासों में से दो-एक प्रसंग यहां उद्धृत करना असंगत न होगा।

ग्रेगर जो कज़ाक सेना के सेनापति के रूप में एक ग्राम में जाता है, एक कमांडर के पूरे गर्व के साथ ग्राम की एक बुढ़िया से बोलता है। लेकिन बुढ़िया जो जिन्दगी का बहुत-कुछ देख चुकी है क्यों झुकने लगी? वह जवाब देती है 'तुम कुछ कज़ाक बेवकूफों के कमांडर होगे लेकिन मुझपर तुम्हारा कोई हक नहीं है समझे?—मुझ बुढ़िया पर जो तुम्हारी मां की उम्र की है। मैंने अपने तीन बेटों को और 'उनको' तुम्हारी लड़ाई के लिए भेज दिया है। तुम मेरे बेटों को हुक्म देते हो सही पर मैंने उनको जन्म दिया है पाल-पोसकर इतना बड़ा किया है। सुनते हो तुम? यह इतना आसान काम नहीं था। ...क्यों मुझे घूरते हो बोलो लड़ाई कब बन्द होगी? जब वह युवक कहता है कि लाल सेना को पराजित करते ही शान्ति स्थापित होगी तब वह रूखा कहती है तुम लोग क्यों इस तरह लड़ते फिरते हो। बन-ठने बन्दूक लिए, घोड़ों पर सवार होकर बिचारे लोगों को मारते फिरने में तुम सबको मजा आता है। पर हम माताएं? हमारे ही बेटों को तुम लोग मारते हो न?'[1] यह संसार भर की माताओं की ओर से युद्ध-लोलुपों के प्रति किया जानेवाला प्रश्न है।

'नयी जुती जमीन' से एक प्रसंग भी देखिए। साम्यवादी शासन के स्थापित

---

१ Don Flows Home to Sea, P 203

होने के बाद स्कूकर नामक एक कज़ाक तत्कालीन नियम के विरुद्ध एक बछड़े को मार डालता है। जब इस संबन्ध में सरकार से तलाशी होती है तब वह अफ़सर नामुलगोव से गिड़गिड़ाता है "मैं पाप में घसीटा गया। मेरी बुढ़िया ने मुझे परेशान कर दिया था""मुझपर दया करो। और जब दया दिखायी जाती है और अफ़सर चला जाता है तब अफ़सर के आने के कारण के सम्बन्ध में पूछताछ करनेवालों से वह कहता है "मेरी तबीयत ज़रा ठीक नहीं थी इसीलिए वह देखने आया था। मेरे बिना उनका कोई काम ठीक नहीं चलता। छोटी-छोटी बातों के लिए मुझे बुला भेजते हैं। मैं ज़्यादा बोलता नहीं सही पर जो कहता हूँ मानी भी होती है।"[1]

स्पष्ट है कि यह स्कूकर केवल रूसी नहीं है। प्रत्येक देश और प्रान्त में ऐसे स्कूकर मिलते हैं। मनुष्य की कोमल भावनाओं और बलहीनताओं को प्रकट करनेवाले ऐसे दृश्य ही पनोरमिक उपन्यास के शाश्वत मूल्य के कारण हैं।

रेणु के उपन्यासों के दृश्य यथार्थ होने पर भी इस तरह विराट मानवता के स्थायी सत्यों को प्रकट नहीं करते। 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' के अधिकांश दृश्य देश और काल की सीमा के अन्दर ही आस्वादनीय हैं। यहाँ तक कि कई प्रसंगों की आकर्षकता का कारण पात्रों का व्यक्तित्व या स्वभाव नहीं है केवल उनकी बोली है।

४ सरितोपम उपन्यास (Roman fleuve)

१५७ विशालता की दृष्टि से पनोरमिक उपन्यास का जो स्थान है वही अगाधता की दृष्टि से सरितोपम उपन्यास का है। एक व्यक्ति के अथवा रक्त-संबन्ध से या विचार-सादृश्य से ऐक्य प्राप्त कुछ व्यक्तियों के जीवन को क्रमबद्ध रूप में प्रकट करनेवाली एक उपन्यास-परम्परा को फ्रेंच में रोमान फ्लो (Roman fleuve) या सरितोपम उपन्यास कहा जाता है। एक व्यक्ति का जीवन ही साधारणतया इतना विशाल होता है कि उसका पूरा और सर्वांगीण अध्ययन एक उपन्यास में असंभव हो जाता है। जब एक वंश की कई पीढ़ियों के व्यक्तियों के जीवन को ही दिखाना पड़ता है जो अपनी परम्परागत पैतृक विचार-संपत्ति का संरक्षण करते हुए भी क्रमशः परिवर्तनशील रहते हैं तब यह कार्य अधिक कठिन हो जाता है। ऐसा अध्ययन मानवता को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी होता है, क्योंकि मनुष्य के अवचेतन मन में परम्परा और परिस्थिति के संघर्ष से जो परिवर्तनशील और विकासोन्मुख क्रिया प्रक्रियाएँ होती हैं वही व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र के जीवन को रूप देती हैं। सरितोपम उपन्यास के शिल्प-विधान की सबसे प्रधान विशेषता यह है कि उसका कोई पूर्वनिश्चित रूप या कथानक नहीं होता। जैसे नदी की कोई निश्चित आकृति नहीं होती उसी तरह जीवन का भी कोई निश्चित रूप नहीं होता। भूमि के निम्नोन्नत तल के अनुसार नदी अपनी दिशा बदलकर बहती है। इसी तरह परिस्थितियों के अनुसार जीवन भी

---

१ Virgin Soil Upturned P 184

भी दिया जा सकती है। ऐसे जीवन को ज्यों का त्यों प्रतिबिम्बित करने का प्रयास ही सरितोपम उपन्यास में मिलता है। अन्य उपन्यासों के समान वह किसी पूर्वनिश्चित कथानक के आधार पर नहीं लिखा जाता बल्कि उसमें अनिश्चित गति से बहनेवाले जीवन का लेखा तैयार किया जाता है।

यूरोपीय सरितोपम उपन्यास

१५८ रोमें रोलाँ का 'जाँ क्रिस्तॉफ़' प्रथम सरितोपम उपन्यास है। चार भागों में प्रकाशित इस उपन्यास के संबन्ध में रोलाँ ने कहा है "मैं एक उपन्यास लिखने नहीं जाता मैं एक मनुष्य की ही सृष्टि कर रहा हूँ केवल एक मनुष्य के जीवन का साहित्यिक रूप में प्रतिपादन कर रहा हूँ। उसका जीवन प्रकृति की एक शक्ति-मात्र है। मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि 'जाँ क्रिस्तॉफ़ एक नदी के समान है।"[1] प्रत्येक भाग अलग-अलग उपन्यास के समान है पर चारों में से होकर 'जाँ क्रिस्तॉफ़' का जीवन एक नदी के समान बहता है। बहने का कोई निश्चित नियम नहीं है कोई निश्चित पथ नहीं है दिशा नहीं है।[2] परिस्थितियों की विषमता से प्रभावित होकर, किन्तु अपनी ही प्रवाह-शक्ति से बहनेवाले जीवन का जो प्रवाह है उसीका आविष्कार किया गया है। जाँ क्रिस्तॉफ़ के जीवन के साथ-साथ यूरोप के उस सामाजिक जीवन का भी चित्रण है, जो उन्नीसवीं शती की सामाजिक मान्यताओं और विचारधाराओं से बीसवीं शती की मान्यताओं और विचारधाराओं को रूप देता है। पूरा उपन्यास क्रिस्तॉफ़ द्वारा ज्ञात पूर्ण सत्य (उसके अपने विचार में) और सामाजिक नियमों के मध्य संसार द्वारा स्वीकृत अर्ध सत्य के पारस्परिक संघर्ष का चित्रण है। उसके जीवन में आनेवाले व्यक्तियों के जीवन की भी विस्तृत चर्चा की गयी है यद्यपि क्रिस्तॉफ़ की कथा को आगे बढ़ाने के लिए इतनी विस्तृति आवश्यक नहीं है। इससे पटभूमि इतनी बढ़ गयी है कि उन्नीसवीं शती के अन्तिम दशक और बीसवीं शती के प्रथम दशक का सम्पूर्ण जीवन उसकी अपनी विषमताओं और वैरूप्यों के साथ उसमें समाविष्ट हो गया है। फ्रैंच का दूसरा प्रसिद्ध सरितोपम उपन्यास जार्ज डुहेमेल का 'सलाविन' है जो चार भागों में लिखा गया है। संन्यासी होने का निश्चय करके न होनेवाले एक युवक का इतिहास इसमें प्रस्तुत है। अत्यन्त तीक्ष्ण विचार से युक्त एक व्यक्ति जो उस विचार का प्रायोगिक जीवन में उपयोग न करके एक मानसिक स्वप्न दशा में रहने

---

१. फ्रेंच संस्करण की भूमिका। जब अंग्रेजी संस्करण को लिया उसमें रोलाँ की भूमिका नहीं है। अनुवादक गिल्बर्ट कैनन ने इन शब्दों के प्रति इंगित करते हुए कहा है: "His creator has said that he has always conceived and thought of the life of his hero and of the book as a river...... ...It has no literary artifice no 'plot'" —John Christopher Gilbert Cannon s Preface, P V

२. "The river is explored as though it were absolutely uncharted"—Gilbert Cannon's Preface. P VI.

साया'[1] बैनेट के 'क्ले हैंगर'[2] जोला के 'ल रौगन मक्वार'[3] आदि उपन्यास-परम्पराओं में भी मिलती है जो कई पीढ़ियों के इतिहास हैं और सामाजिक परिस्थिति में व्यक्ति के विकास का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं।

५ चेतनाप्रवाह उपन्यास (Stream of Consciousness Novel)

१६३ उपन्यास के क्षेत्र में मनोविज्ञान और यथार्थवाद के संयुक्त प्रयोग का परिणाम है चेतनाप्रवाह उपन्यास (Stream of Consciousness Novel) जिसे 'आन्तरिक-सम्भाषण-उपन्यास' (Novel of Internal Monologue) या 'निःशब्द सम्भाषण-उपन्यास (Novel of Silent Monologue) भी कहा जाता है। वैसे हिन्दी में इस प्रकार का कोई उपन्यास नहीं लिखा गया है अतः यहाँ उसकी संक्षिप्त चर्चा ही पर्याप्त और सगत है।

मन में उत्पन्न होनेवाले भाव कभी व्यवस्थित नहीं होते। असम्बद्ध भावनाओं का एक निरन्तर प्रवाह सदा मन में बहता रहता है और वह पात्र के व्यक्तित्व तथा बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित रहता है। इन असम्बद्ध भावनाओं को किसी परिवर्तन के ज्यों का त्यों उतारना ही चेतनाप्रवाह उपन्यास का ध्येय है। लेखक पात्र के मन में अविराम गैरत्वर्य से उठनेवाले विचारों, विकारों और भावनाओं का आविष्कार करता जाता है और उनका अविपर्यस्त लेखा प्रस्तुत करता जाता है। वह कहीं भी अपनी ओर से कुछ कहने व्याख्या करने या आलोचना करने का प्रयत्न नहीं करता। अतः चेतनाप्रवाह उपन्यास के आरम्भ से अन्त तक अव्यवस्थित विचारों और प्रभावों के आधिक्य (Unsorted Abundance of Thought and Impression) का एक प्रवाह दिखाई पड़ता है। वस्तुतः उसमें सभी विचार आदि ज्यों के त्यों प्रकट नहीं किये जाते चुने हुए विचारों को लेखक द्वारा निर्णीत रूप ही प्रस्तुत किये जाते हैं लेकिन ऐसा प्रतिभास होता है कि लेखक द्वारा चुनाव और विपर्यय बिलकुल नहीं हुआ है।[4] एक फ्रेंच उपन्यासकार ने इस तरह के उपन्यासों की निम्नलिखित विशेषताएं बतायी हैं १ जहाँ तक विषय का सम्बन्ध है वह अचेतन के निकटतम आत्मीय भावों को प्रकट करता है। २ वह भावों के सुव्यवस्थित रूप धारण करने के पहले ही उनको

---

१ The Forsyte Saga, A Modern Comedy End of the Chapter नामक तीन उपन्यास-त्रयियों में प्रकाशित इसके कुल नौ भाग हैं।

२. इस उपन्यास-त्रयी में Hilda Lessways These Twain, Riceyman Steps ये तीन हैं।

३ जोला के Les Rougon Macquart नामक उपन्यास-परम्परा के बीस उपन्यास १८७० और १८९३ के बीच प्रकाशित हुए।

४ "His selection is addressed to the creating of an Illusion that there had been no selection "—Edel The Psychological Novel P 22.

उसी मौलिक रूप में प्रकट करता है जिसमें वे मन में उत्पन्न होते हैं। ३ उसका अभिव्यंजन सीधे और लघुतम रूप में संकुचित वाक्यों द्वारा होता है। ४ इन कारणों से वह अत्यन्त काव्यमय होता है।[१]

चेतनाप्रवाह उपन्यास का विकास अंग्रेजी में ही हुआ है। जेम्स जायस का प्रथम उपन्यास 'युवक कलाकार का एक चित्र'[२] (१९१४) प्रथम चेतनाप्रवाह उपन्यास समझा जाता है। इसके बाद जायस का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'युलीसेस' निकला। यद्यपि वर्जीनिया वुल्फ, मिस मई सिम्क्लेयर आदि कुछ लेखिकाओं ने भी चेतनाप्रवाह उपन्यास लिखे हैं[३] तो भी जायस की रचनाएं अपनी विशेष शैली के कारण उनसे भिन्न ज्ञात होती हैं। 'युवक कलाकार का एक चित्र' का आरम्भ उसकी शैली का परिचय देता है। साधारण सीधे-सादे विवरण में ही उपन्यास शुरू होता है किन्तु वाक्यों के भाव और क्रम ऐसे हैं कि उनसे एक विचित्र प्रभाव उत्पन्न हो जाता है उसमें अव्यवस्थित स्मरणाओं का विचित्र रूप प्रकट होता है। वहां स्मरणाओं का नैरन्तर्य विशेष रूप से दृष्टव्य है। बिछौने पर पेशाब करने से अनुभूत गरमी और ठण्ड—फिर माता का तेल-पट बिछाना—तब तेल-पट की बू—फिर माँ और बाप की बू—इस तरह एक से एक विषय की ओर बालक की स्मरणा जाती है। 'युलीसेस' का अन्तिम वाक्य जो लगभग चालीस पृष्ठों का है चेतना के एक अनियन्त्रित प्रबन्ध प्रवाह का परिचय देता है।

इस शैली के उपन्यासों की विशेषता उसके अपार प्रभाव में है। विषय की दृष्टि से, प्राय सभी चेतनाप्रवाह उपन्यास मनोविश्लेषक उपन्यासों के समान मानसिक तत्वों का ही विश्लेषण करते हैं। मनोविश्लेषण में यह शैली भी बहुत सहायक रहती है।

हिन्दी में चेतनाप्रवाह शैली

१९४ हिन्दी के उपन्यासकारों ने अभी इस क्षेत्र में प्रवेश नहीं किया है। पूर्ण तया चेतनाप्रवाह शैली का उपयोग करनेवाला एक भी उपन्यास हमें प्राप्त नहीं हुआ है। 'मैला आँचल' एवं 'परती परिकथा' में इससे कुछ अंशों में मिलती-जुलती एक शैली का उपयोग किया गया है। इनके पात्र भी प्राय अपने मन के भावों को बिना संवरण के प्रकट करते हुए दीखते हैं। किन्तु लेखक का ध्येय मनोविश्लेषण न होकर सामाजिक प्रवृत्तियों का विवेचन होने के कारण पात्रों के विचार भी अधिक बाह्योन्मुख एवं विषयगत रहे हैं। कथा-प्रवाह में या वातावरण के स्पष्टीकरण में सहाय न देनेवाले मनोभावों को व्यंजित नहीं किया गया है। अत अंग्रेजी के चेतनाप्रवाह उपन्यासों में जो

---

१. E'dourd Dujardin Quoted by Edel The Psychological Novel, P 55

२. A Portrait of the Artist as a Young Man

३. देखिए अनुच्छेद १९१।

महत्ता रहती है वह इनमें नहीं आ पायी है।

चेतनाप्रवाह शैली के सम्यक् उदाहरण के रूप में जो एक ही प्रसंग देखने में आया वह 'साँचा' में है। प्रभाकर माचवे के इस उपन्यास के अन्त में जेल में पड़े मनोहर के मनोभावों के चित्रण में लेखक ने इस शैली का उपयोग किया है।

"सब ओर मुर्दनगी—सफेदी फैल गयी होगी—सिमेटरी कफ़न भवतिमा इस सफ़ेद पर काला दाग—वेश्या—श्वेत कमल पर भृंग—चाँदमारी—कागज के बड़े पत्ते पर छेद—दीमक—दीमक ही तुम लोक की गेई है कम्पित मानव — "'कम्पित दृष्टि' 'अकम्पित हस्त' " प्रकम्पित पशुता 'दैविक दैहिक दैविक तापा। राम राज महँ तुलसी व्यापा' "[1]

३

गठन दृढ़ और शिथिल

१६५ उपन्यास के कथानक से संबद्ध घटनाओं में कितना पारस्परिक संबन्ध है, विभिन्न पात्र एक-दूसरे से और घटनाओं से कितनी सबल कड़ियों से आबद्ध किये गए हैं आदि बातों पर उपन्यास के गठन की दृढ़ता निर्भर रहती है। दृढ़ता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि कथा की एक ही धारा आदि से अंत तक क्रम से चले। कथा की धारा के टूट-टूटकर चलने पर भी विभिन्न अंशों की कड़ियाँ मिलाने में कठिनाई नहीं हो तो ऐसे उपन्यास की गठन सबल या दृढ़ मानी जायगी।

हिन्दी उपन्यासों की दृढ़ता

१६६ हिन्दी के प्रायः सभी उपन्यास गठन-शैथिल्य से मुक्त हैं। अंग्रेजी और रूसी उपन्यासों में जो शैथिल्य सामान्य रूप में देखा जाता है वह हिन्दी उपन्यासों में नहीं मिलता।

हमारे प्रायः सभी उपन्यासकार कथा-सूत्र को पकड़कर आगे बढ़े हैं। लाला श्रीनिवासदास से लेकर इधर नागार्जुन, प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती, लक्ष्मी नारायण लाल आदि नवीन उपन्यासकार तक इस परम्परा के पालक रहे हैं। प्रेमचन्द के पूर्व के उपन्यासों में केवल 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता सन्तति', 'भूतनाथ' आदि जासूसी और ऐयारी के उपन्यासों में कुछ गठन-शैथिल्य मिलता है, जो उपन्यास को रहस्यमय बनाने के लिए लाया गया है। प्रायः सभी सामाजिक उपन्यासों की गठन दृढ़ है, भले ही उनकी कथाएँ पूर्णतया सुलझी हुई न हों। केवल किशोरीलाल गोस्वामी की 'चपला' में पात्रों और घटनाओं के आधिक्य के कारण कुछ शैथिल्य आ गया है।

प्रेमचन्द के उपन्यास भी प्रायः सीधे प्रवाह में चलते हैं। उनके बृहत् उपन्यासों

---

१ साँचा पृ १२६-१२८।

में—'रंगभूमि' 'कर्मभूमि' 'गोदान' आदि में—यद्यपि थोड़ा शैथिल्य आया है तथापि संपूर्ण उपन्यास पढ़ने के बाद कोई असंबद्धता नहीं दिखायी पड़ती। थोड़ी जो असंबद्धता है उसका कारण भी टेकनीक का कोई विशेष प्रयोग नहीं है बल्कि विषय का विस्तार है। जैसे ऊपर कहा जा चुका है इन सबकी पटभूमि विस्तृत है और इतने विस्तृत कैनवस में एकरस कथानक को बनाये रखना असंभव है। विशेषकर 'गोदान' में उसके पनोरमिक होने के कारण शैथिल्य का अनुभव हो सकता है।[1]

प्रेमचन्द के पश्चात् के उपन्यासों में गठन की दृढ़ता कई उपायों से सुरक्षित रखी गई है जिनमें (१) धारावाहिक कथानक (२) एक व्यक्ति (नायक) का प्रामुख्य (३) कोई मूल समस्या (४) किसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का विवेचन आदि मुख्य हैं। किसी एक उपन्यास में इनमें एक या अनेक कारणों से दृढ़ता आ सकती है। पर दृढ़ता के मुख्य साधन के आधार पर कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

१६७ धारावाहिक कथा—जयशंकर प्रसाद निराला भगवतीप्रसाद वाजपेयी प्रतापनारायण श्रीवास्तव कौशिक आदि के उपन्यासों में विषम घटना-समूह में भी एकता स्थापित करनेवाली वस्तु कथा है। सियारामशरण गुप्त और गोविन्दवल्लभ पन्त के सभी उपन्यासों में वृन्दावनलाल वर्मा और चतुरसेन शास्त्री के सामाजिक उपन्यासों में तथा उषादेवी मित्रा के 'जीवन की मुस्कान' 'पथचारी' जैनेन्द्र का 'परख' यज्ञदत्त के 'दुनिया की शादी' 'इनसाफ़' प्रभाकर माचवे का 'साँचा' नागार्जुन का 'रतिनाथ की चाची' अश्क का 'सितारों का खेल' आदि में कथानक ही गठन की दृढ़ता का आधार है।

१६८ व्यक्ति की जीवनी के द्वारा गठन-सादृश्य की रक्षा करनेवाले उपन्यासों में वृन्दावनलाल के 'झाँसी की रानी' 'मृगनयनी' 'विराटा की पद्मिनी' और 'अहिल्या बाई' जोशी के 'पर्दे की रानी' 'सन्यासी' 'निर्वासित' और 'सुबह के भूले' अज्ञेय का 'शेखर' राहुलजी का 'जीने के लिए' देवेन्द्र सत्यार्थी का 'कठपुतली' उषादेवी का 'पिया' नागार्जुन का 'बलचनमा' अश्क का 'गिरती दीवारें' उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य' आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

१६९ समस्या—उग्र और मन्मथनाथ गुप्त के सभी उपन्यास चतुरसेन का 'अपराजिता' जैनेन्द्र का 'कल्याणी' 'त्यागपत्र' और 'सुखदा' अचल के 'चढ़ती धूप' और 'उल्का' आदि में गठन की चुस्ती का मुख्य कारण उनमें विवेचित समस्याएं हैं।

१७० मनोवैज्ञानिक तत्त्वों के आधार पर जैनेन्द्र के 'सुनीता' 'व्यतीत' 'विवर्त' इलाचन्द्र जोशी के 'मुक्तिपथ' आदि में एकता स्थापित हुई है। 'प्रेत और छाया' और 'मुक्तिपथ' आदि के आधार भी मनोवैज्ञानिक तत्त्व हैं पर उनकी कथाएँ ही मनोवैज्ञानिक तत्त्वों की कड़ी मिलाती हैं। इनमें कहीं-कहीं तीव्र मनोविक्षेप गठन शैथिल्य का ही कारण बना है।

---

१. पनोरमिक उपन्यास के इस शैथिल्य की चर्चा हो चुकी है देखिए अनुच्छेद १२४।

हिन्दी में शिथिल गठन के उपन्यास

१७१ वस्तुतः शिथिल गठन के उपन्यास टेक्नीक के कच्चेपन का परिचायक नहीं हैं क्योंकि शिथिल गठन के उत्कृष्ट उपन्यासों में भी एक विशेष प्रकार की एकता रहती है। यह एकता उस चित्र की है जो सम्पूर्ण उपन्यास की घटनाओं एवं पात्रों द्वारा मन पर अंकित किया जाता है। इस तरह का एकतायुक्त दृढ़ भावचित्र बनाने में उपन्यास सक्षम हो तो गठन की शिथिलता उसकी कमजोरी नहीं मानी जा सकती। ई एम फ्रार्स्टर का 'खिड़की वाला कमरा' (A Room with a View) इसका अच्छा उदाहरण है।

हिन्दी में रांगेय राघव के प्रायः सभी उपन्यासों की गठन शिथिल है। लेकिन उन सबमें समवायी प्रभाव डालने की शक्ति है। 'विषादमठ' 'घरौंदे' जैसे सामाजिक एवं 'मुर्दों के घुमट' 'मुर्दों का टीला' जैसे प्रागैतिहासिक उपन्यासों में उन्होंने इसी शिथिल शैली का आश्रय लेकर वातावरण के स्पष्ट एकात्मक और सुगठित चित्र खींच दिये हैं। विष्णु प्रभाकर के 'निशिकान्त' और 'तट के बन्धन' धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता' अश्क का 'बड़ी-बड़ी आँखें' आदि भी शिथिल गठन के अच्छे उपन्यास हैं।

चतुरसेन के 'वैशाली की नगरवधू' में एक व्यक्ति के द्वारा और 'सोमनाथ' में एक कथा के द्वारा एकता लाने का जो प्रयत्न किया गया है, वह असंबद्ध घटनाओं की रेंगती हुई गति के कारण कुछ विफल-सा हुआ है। 'वयं रक्षामः' पूर्णतया शिथिल है, और उससे एक एकात्मक समग्र चित्र का भी निर्माण नहीं होता। यही बात एक तरह से 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' की भी है पर उनकी गठन के शिथिल होने पर भी उनमें समाज की ऊपरी तह का जो सामान्य रूप प्रस्तुत किया गया है वह उनके औचित्य पर आवरण डालता है।

एक अन्य प्रकार की शिथिलता का कारण बीच-बीच में ऐसे व्याख्यात्मक मार्गों का प्रयोग है जो अप्रासंगिक न होने पर भी अति दैर्घ्य अथवा विशेष व्यंजन शैली के कारण उपन्यास के सहज प्रवाह में अवरोध उपस्थित करते हैं और इस कारण से ही अनुचित लगते हैं। ऐसी व्याख्याएँ कभी राजनीतिक होती हैं कभी धार्मिक और कभी दार्शनिक। ह्यूगो के विश्वविख्यात उपन्यास 'ल मिज़राब्ल' के सम्बन्ध में लिटन स्ट्रैची का विचार है कि वह गीतात्मक प्रलाप और विकारोत्तेजित दार्शनिक चर्चाओं के कारण जीवनरहित रूपहीन और हास्यास्पद हो गया है।[१] लेकिन इसके बाद शीघ्र ही स्टैंढाल ने इस कमी को समझकर अपने उपन्यासों में भौतिक तथ्यों और मनोवैज्ञानिक तत्वों से संबन्धित विचारों को कथानक से कलात्मक रूप में संबद्ध करके[२] पश्चात् के उपन्यासकारों का मार्गनिर्देशन किया। अनातोले फ्रांस ने अपने आदर्शों के भार से उपन्यासों को शिथिल बनाया है। उनके कतिपय उपन्यासों में पात्रों का चरित्र-विकास

१. Landmarks in French Literature. Lytten Strachy P 136.

२. See his Novel. Le Rouge et Le Noir

तक शिथिल हो गया है।[1] यहाँ तक कि कभी-कभी ऐसा ज्ञात होता है कि उनके पात्रों का ध्येय जीना नहीं है उन्नीसवीं शती के अन्त की धार्मिक विषमता को प्रकट करना है। अंग्रेजी में मेरिडिथ के उपन्यासों में कथा निरन्तर नये-नये दार्शनिक विचारों से संघर्ष करती चलती है।[2] लेखक के व्यक्तिगत विचार पात्रों की गति को नियमित करते हैं और उनके स्वाभाविक विकास को कुण्ठित कर देते हैं।[3] इसका और एक उदाहरण सामुएल बट्लर का 'मांस का मार्ग' (The Way of All Flesh) है जिसमें तर्क-पूर्ण विचार पात्रों के स्वाभाविक विकास में बाधक हैं।

हिन्दी में इस तरह की शिथिलता के कई उदाहरण मिलते हैं। १९१ तक के सभी सामाजिक उपन्यासों में समाज की जो आलोचना प्रस्तुत है वह पात्रों के चरित्र से समन्वित न होकर लेखक के स्वतंत्र विचारों के रूप में ही रह गया है। पात्र मानो लेखक के विचार प्रकटन का उपकरण-मात्र रह जाते हैं। 'सेवासदन' में वेश्या प्रथा के रूप कारण आदि की व्याख्या करते हुए पद्मसिंह के भाषण 'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर के सामाजिक विश्लेषण और आदर्श 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' के सामाजिक विचार आदि पूर्णतया उपन्यास में खप नहीं पाये हैं यद्यपि वे अप्रासंगिक और अनुपयुक्त नहीं हैं। भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'निमंत्रण' की लम्बी-लम्बी राजनीतिक स्पीचें गठन को शिथिल और चरित्र-चित्रण को विच्छिन्न बनाती हैं। १९३ के बाद यह प्रवृत्ति कुछ कम हुई तो भी पूर्णतया लुप्त नहीं हुई। कई लब्धप्रतिष्ठ लेखकों के उपन्यासों में भी इसके कई उदाहरण मिलते हैं। जोशीजी के उपन्यासों के मनोविज्ञान-संबन्धी विचार, 'सुखदा' के दार्शनिक विचार और 'वयालीस' और 'विसर्जन' के उत्तेजनापूर्ण दीर्घ भाषण आदि ऐसे ही उदाहरण हैं जो लेखक की मान्यताओं से अधिक संबन्ध रखते हैं वास्तविक जीवन से और उपन्यास के पात्रों से कम।

नवीन रूसी उपन्यासों में इस तरह के दार्शनिक विचारों के बदले प्रैंविस्म की एक और प्रवृत्ति मिलती है। सामाजिक विकास-योजनाओं से सम्बन्धित उपन्यासों में प्राय: जो सांकेतिक विवरणों के वर्णन मिलते हैं, वे शिक्षा की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण हैं पर उपन्यास को नीरस बनाते हैं। 'फ्लोटिंग स्तानिस्ता' में मत्स्य-पालन-विज्ञान से संबन्धित भाग ऐसे ही हैं। ग्लादकोव का 'शक्ति' पिलनियाक का 'वोल्गा कैस्पियन की

१ "As a novelist Anatole France was less a creator of charac ters than a compressor of them. Living Novel, Pritchett, P 214.

२ "Meredith certainly seems in places to keep up a running fight between his philosophy and his fiction, between himself and his characters." The Facts of Fiction Collins P 208

३ "It is a great weakness of 'The Way of All Flesh that charac ters are dwarfed and burned dry by Butler's argument" Living Novel, Pritchett, P 106.

ओर बढ़ती है कोचेतोव का 'यूरबिनज' आदि में भी सांकेतिक विषयों का आधिक्य गढ़न को शिथिल बनाता है।

यूरोपीय उपन्यासों में गढ़न-दार्ढ्य

१७२ यूरोपीय उपन्यासों में साधारण रूप में अंग्रेजी और रूसी उपन्यासों की गढ़न शिथिल रही है। फ्रेंच उपन्यासों से मरण के क्रम में प्राप्त कलात्मक लघु उपन्यासों के अतिरिक्त सभी अंग्रेजी उपन्यास शिथिल रहे हैं।[1] विक्टोरियन उपन्यास कारों में विषय के वैविध्य और घटनाओं की जटिलता के कारण यह गढ़न-शैथिल्य अधिक रहा। इस शिथिलता के कारण डिकेन्स थैकरे, स्काट आदि का कोई भी उपन्यास पूर्ण अध्ययन के पहले कोई निश्चित चित्र हमारे सामने नहीं रख सकता। जार्ज इलियट में शिथिलता कम है। उसके बाद हेनरी जेम्स से लेकर लेखकों ने दृढ़ गढ़न पर अधिक ध्यान दिया है। इधर बिलकुल नवीन कलात्मक लघु उपन्यासों में विषय के अत्यन्त सीमित होने के कारण दृढ़ता सुरक्षित रखी गई है।

इसके विरुद्ध रूसी उपन्यास का शैथिल्य बढ़ता जा रहा है। पुश्किन और गोगोल की गढ़न को शिथिल नहीं कह सकते। यद्यपि तुर्गनेव के 'पिता और पुत्र' में जो दृढ़ता है वह 'अछूत भूमि' और 'रुदिन' में नहीं है तो भी हम कह सकते हैं कि इनमें भी प्रस्तुत पूर्ण चित्र समवायी हैं। तालस्ताय के 'अन्ना करेनिना' में दृढ़ता है तो 'युद्ध और शान्ति' में शिथिलता। प्रायः देखा जाता है कि सीमित विषय के उपन्यासों में गढ़न की दृढ़ता रहती है जैसे तालस्ताय के 'अन्ना करेनिना' 'पुनर्जीवन' गोर्की का 'माँ' आदि उपन्यासों में। आधुनिक रूसी उपन्यासों में विषय-सीमा अधिक निर्धारित नहीं होती और वातावरण को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इसलिए इनकी गढ़न भी शिथिल होती है। गोर्की के 'मैगनट' 'आइन्टेंडर' और शोलोकोव शैरीन ठेकिन कतयेव आदि के सभी उपन्यास गढ़न में अत्यन्त शिथिल हैं। दास्तायवस्की में विषय-संकुलता के कारण शिथिलता आयी है पर यह संकुलता जीवन की ही संकुलता है इस संकुलता में ही जीवन की एकरसता है, इसलिए उनके उपन्यासों में भी एक कलात्मक सुचारुता दृष्टिगत होती है। जो भी हो रूसी के शिथिल एवं दृढ़ दोनों तरह की गढ़न के उपन्यासों में जो चित्र निर्मित किये गये हैं, उनके समवायत्व में सन्देह नहीं है भले ही वह समवायत्व पनोरमिक उपन्यासों के समान विस्तृत क्षेत्र का हो या दृश्यात्मक और कथात्मक उपन्यासों की भांति सीमित क्षेत्र का।

---

१ 'The English Novel like the Russian is traditionally of loose epic structure, built in a vast scale and able to digest widely diverse materials. The artistry with which it is put together is tremendously uneven from the carefully planned novels of Feilding to the loosely picaresque stories of Smollett or the hartily extemporised romances of scott"
—Grabo The Technique of the Novel, P 25

फ्रेंच उपन्यास परम्परा से ही अत्यन्त दृढ़ रहे हैं और आज भी रहते हैं। फ्रेंच उपन्यासकारों ने व्यक्ति को विशेष महत्त्व दिया है और घटनाओं तथा वातावरण को सीमित रखकर क्रमगत भाव विकास पर विशेष ध्यान दिया है। ऐसे उपन्यासों में भी जिनके कथानक में संश्लिष्ट रहता है—जैसे प्रूस्त के 'भूतकाल-पर्यवेक्षण' में—संभ्रम अत्यन्त दृढ़ होती है। इस कारण मनोभावों को धीरे-धीरे विकसित करके चरमसीमा तक पहुँचाने की जो शक्ति फ्रेंच उपन्यासों में मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। नवीनतम उपन्यासों में यह दृढ़ता और अधिक हो गयी है क्योंकि वर्तमान उपन्यासकार अभी प्रेवास्टा के 'मैनम लेस्का' गातिये का 'मादमोजिल-द-मापिन' ह्यूगो का 'ल मिजराबल' फ्लाबेयर का 'मदाम बोवारी' मोपासाँ के 'बेल ऐमी' 'ऊनवी' आदि में समान व्यक्ति के सपूर्ण जीवन का अध्ययन न करके जीवन की एक ही दशा या पहलू को प्रस्तुत करते हैं। मारिया के 'काले देवता' (Dark Angels) 'जो खो गया था' (That Which Was Lost), और का 'विनीविवेब' तंग दरवाजा' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

४

विषयाधिक्य और विषयाल्पत्व

(Over Plotting and Under Plotting)

१७३ उपन्यासकार द्वारा इच्छित प्रभाव उत्पन्न करने में और विषय के प्रति पाठक के ध्यान को आकृष्ट कर केन्द्रित रखने में विषय निबिड़ता (Intensity of Plot) का विशेष स्थान होता है। संपूर्ण उपन्यास में आयी हुई घटनाओं के परिमाण मात्र से उपन्यास को विषय-निबिड़ नहीं माना जा सकता प्रत्युत उपन्यास के कलेवर के अनुपात में उसके विषय का परिमाण कितना है इसके अनुसार विषय निबिड़ता होती है। अथवा यों कह सकते हैं कि अगर किसी उपन्यास में उपन्यासकार *जितना विषय लेकर स्पष्ट विशदीकरण कर जीवन या जीवन के एक अंश का* प्रत्यक्ष रूप प्रस्तुत कर सकता है उससे अधिक विषय रखा जाय तो उसे विषयाधिक्य मान सकते हैं। विशदीकरण की विस्तृति की तुलना में विषय कम रहे तो विषयाल्पत्व होता है। विषय और अभिव्यंजन के परिमाणों में सन्तुलन न होकर अभिव्यंजन कम हो तो विषयाधिक्य और अधिक हो तो विषयाल्पत्व माना जा सकता है।

वस्तुत: इन दोनों को अपने-आप में कोई दोष नहीं मान सकते। कभी-कभी अभिप्रेत प्रभाव के लिए इन दोनों में किसीका आश्रय लेना पड़ता है। रांगेय राघव के 'विषादमठ' में विषयाधिक्य है। पर उसमें वर्णित बंगाल की भूख के व्यापक और भयंकर रूप को दिखाने में *यह विषयाधिक्य अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है।* इसी तरह 'सुनीता' और 'मुक्तिपथ' में जो मानसिक विश्लेषण हुआ है उसके लिए विषय को सीमित रखकर, भाव-विकास की विविध दशाओं का विस्तृत विवेचन करना अनिवार्य सा है।

१९१९ के पहले के सभी हिन्दी उपन्यासों में विषयाधिक्य है और अधिकांश दोषयुक्त भी हैं। लाला श्रीनिवासदास से लेकर प्रेमचन्द तक उपन्यासकार किसी एक भी अपवाद के घटनाओं पर विशेष ध्यान रखते थे (इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य किसी बात पर उनका ध्यान न था) और यथाशक्ति उपन्यास को रोचक बनाना चाहते थे। इनमें प्रेमचन्द को छोड़कर किसीने पात्रों के चरित्र के पूर्ण विकास तक की आव श्यकता नहीं समझी। इसवाली पात्रों के चरित्र तीव्र घटनाचक्र के द्वारा ही विकसित किये जाते थे। प्रेमचन्द ने पात्रों के साथ तनिक रुककर परिस्थितियों और वातावरण का निरीक्षण कर विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए धीरे से चलने की रीति अपनायी थी। परन्तु उनके उपन्यास भी विषयाधिक्य से मुक्त नहीं हैं विशेषकर 'रंगभूमि' 'कर्मभूमि और 'कायाकल्प' का उल्लेख किया जा सकता है। 'कायाकल्प' का सबसे बड़ा दौर्बल्य भी यही है। सेवासदन' में भी विषय कम नहीं है पर एक व्यक्ति के शृंखलाबद्ध जीवन से गुम्फित होने से वह अधिक नहीं खटकता। 'गोदान' का विषया-धिक्य विस्तृत सामाजिक वातावरण के चित्रण में उपयोगी ही है। इन सब उपन्यासों का विषय-बाहुल्य एक ओर सामाजिक दशाओं को व्यक्त करने में सहायक होता है तो दूसरी ओर वैयक्तिक भाव विकास को दुर्बल बना देता है। इस कारण से और कभी-कभी गहन-वैचित्र्य के कारण प्रेमचन्द के पात्रों के विकारों के साथ पाठक के मन में भी एक वैकारिक जीवन का विकास करना असंभव हो जाता है जैसाकि टॉल्स्टॉय के 'अनन केरेनिना' 'मदाम बोवारी' 'तंग दरवाजा' अंग्रेजी के 'साइलस मार्नर' या रूसी के 'अन्ना करेनिना' या 'अपराध और दंड' पढ़ने पर होता है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रेमचन्द के पात्र अयथार्थ एवं असमविष्णु हैं। निस्सन्देह प्रेमचन्द ने पाठकों को पात्रों के निकट लाने में और पात्रों के भावों से पाठकों का तादात्म्य स्थापित करने में अपार सफलता पायी है। किन्तु उनके पात्र हमें कभी वैकारिक तीव्रता की चरमसीमा तक नहीं पहुँचाते। उपर्युक्त फ्रेंच उपन्यासों के अथवा शरत्चन्द्र के पात्रों से प्रेमचन्द के पात्रों की तुलना करने पर यह बात स्पष्ट होगी। विकारों के चित्रण में भी प्रेमचन्द अपनी साधारणता के कारण अत्यन्त यथार्थ एवं मार्मिक बने हैं जबकि शरत् आदि हमारे हृदय को झकझोरते हुए और उसपर बार बार आघात करते हुए, हमें ऐसे एक विचित्र लोक में पहुँचा देते हैं जहाँ हमें बरबस प्रवाहित कर ले जानेवाली वैकारिक धारा से मुक्त होना हमारे लिए असाध्य हो जाता है। इसे अतिभावुकता (Ultra Sentimentality) कह सकते हैं और इस अतिभावुकता को चरमसीमा तक पहुँचाने में उनके गहन-बाहुल्य और विषयाल्पत्व सहायक हुए हैं।

प्रसाद के तीनों उपन्यासों में तथा कौशिक के 'माँ' और 'भिखारिणी' में विषयाधिक्य संयम की सीमा लाँघ जाता है। 'कंकाल' में किशोर और श्रीचन्द की कथा अधिक जटिल नहीं है पर मंगलदेव तारा (बाद में यमुना) आदि की कथा बहुत संकुल और उलझी हुई है। रोचकता बढ़ाने के लिए जितने सस्ते उपाय हैं—जैसे वेश बदलना पात्रों का खो जाना हत्या आत्महत्या का प्रयत्न एवं रक्षा लूट आदि—

सबको एक कथानक में समाविष्ट करके प्रसाद ने विषय को भावात्मक रूप में निबिड़ और जटिल बना दिया है। 'तितली' में जटिलता इतनी नहीं है पर निबिड़ता कम नहीं है। प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विकास' और 'बयालीस' उग्र और मन्मथनाथ गुप्त के सभी उपन्यास चतुरसेन के 'बहते आँसू' 'अपराजिता' 'गोली' (यह नवीन ऐतिहासिक उपन्यास किसी जासूसी उपन्यास से कम आश्चर्यजनक नहीं है) विष्णु प्रभाकर का 'तट के बन्धन' आदि भी विषयाधिक्य से दूषित हैं। जोशी के 'प्रत्यागत' 'निर्वासित' 'संन्यासी' 'प्रेत और छाया' और 'जहाज का पंछी' में लेखक के ध्येय को दृष्टि में रखकर देखा जाय तो विषयाधिक्य अवश्य है। जोशीजी का ध्येय स्पष्टतः मनोविश्लेषण है जिसके लिए सीमित व्यक्तियों और सीमित संबंधों के बीच में मनस्तत्व की अगाधता तक पहुँचने का प्रयत्न अधिक उपयुक्त है। उनके अन्य उपन्यास विशेष कर 'मुक्तिपथ' और 'सुबह के भूले' इस दोष से बहुत कुछ मुक्त हैं।

हिन्दी उपन्यासकारों में प्रथम प्रथम विषय-परिमाण की ओर जान-बूझकर ध्यान देनेवाले जैनेन्द्र थे। 'कहानी कहना मेरा उद्देश्य नहीं है'[1] घोषित करते हुए जैनेन्द्र ने पहले 'सुनीता' में और फिर 'कल्याणी' तथा 'सुखदा' में विषय-परिमाण को घटाकर भाव-विकास को पूर्णता दी। इनमें भी 'सुनीता' इस प्रवृत्ति की प्रतिनिधि रचना है। शायद हिन्दी के अन्य किसी उपन्यास में इतने छोटे विषय का इतना अधिक विस्तार नहीं किया गया है। अत्यन्त सीमित विषय के आधार पर रचित होने के कारण 'सुनीता' में कई गुण आ गये हैं। पहली बात यह है कि पात्रों का आधिक्य और कथावस्तु की जटिलता न होने के कारण लेखक को पात्रों के अन्तर्लोक के रहस्यों का आविष्कार करने का पर्याप्त अवसर मिला है। विषयाल्पत्व का दूसरा फल यह हुआ है कि जैनेन्द्र सम्पूर्ण उपन्यास में विषयैक्य का भी पालन कर सके हैं। मनोभावों के क्रमिक विकास में भी विषय की अल्पता सहायक हुई है।

'कल्याणी' और 'सुखदा' के विषय 'सुनीता' के समान ह्रस्व न होने पर भी उनका विषय-परिमाण उतना ही है जितने में सुचारु रूप में भाव-विकास सम्भव हो। किन्तु जैनेन्द्र के हाल के लिखित 'व्यतीत' एवं 'विवर्त' में विषय-निबिड़ता कुछ अधिक है और इसी कारण उनमें 'सुनीता' के समान सुगठित चित्र-निर्माण अथवा क्रमबद्ध भाव विकास नहीं हो सका है।

हमारे कतिपय तत्कालीन उपन्यासकारों ने विषय निबिड़ता की दृष्टि से सन्तुलन रखने का थोड़ा-बहुत प्रयत्न किया है। अज्ञेय यशपाल भगवतीचरण वर्मा, रांगेय राघव अंचल यज्ञदत्त धर्मवीर भारती प्रभाकर माचवे राहुल सांकृत्यायन नागार्जुन आदि ने अपने-अपने विषय के अनुसार उसका विस्तार किया है।

---

१ 'सुनीता' की भूमिका

५

विषयैक्य (Unity of Plot)

१०४ पर जिस गठन-शैथिल्य की चर्चा की गयी है उसके कई कारणों में एक विषयैक्य की कमी है। विषय की एकात्मकता उपन्यास के रूप-सौष्ठव और प्रभविष्णुता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। विषयैक्य का तात्पर्य उपन्यास में एक अटूट कहानी के होने से नहीं बल्कि उसके सभी पात्रों घटनाओं तथा भावों की पारस्परिक अन्विति से है। विषय के विविध अंगों के बीच में तथा विषय तथा पात्रों के बीच में दृढ़ सम्बन्ध का होना उपन्यास के नाटकीय ऐक्य और प्रभाव के लिए अनिवार्य है। नाटकीय ऐक्य कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है। विलियम होगर्थ के मत में "सम्पूर्ण उपन्यास में नाटकीय ऐक्य न हो तो उसका अपकर्ष होकर कई असम्बद्ध घटनाओं के रूप में विघटन हो जायगा।"[1] विषय चाहे सीमित व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित हो चाहे विस्तृत सामाजिक जीवन से उसमें कुशल शिल्प-विधान से इस ऐक्य का पालन करना पड़ेगा।

जब व्यक्ति के संपूर्ण विषम जीवन को न लेकर उसके व्यक्तित्व को उपन्यास का आधार बनाया जाता है तब समग्र व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखते हैं और अपनी विभिन्नता में भी एकात्मक रहते हैं। फ्रांस के अधिकांश उपन्यास इस तरह व्यक्तित्व के आधार पर लिखे गये हैं, रूसी उपन्यासकार तुर्गनेव भी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को अपने उपन्यासों का मूल आधार बनाते थे।[2] 'अक्षत भूमि' 'रुदिन' 'पिता और पुत्र' आदि लिखते समय तत्कालीन उच्च-मध्य वर्ग से निकले हुए बौद्धिक उपरिप्लव (Superfluous) युवकों का चित्र उनके मन में था जो नझदानोव रुदिन और बज़ारोव के रूप में प्रकट हुआ। हिन्दी में इस तरह व्यक्तित्व के आधार पर विषयैक्य रखनेवाले श्रेष्ठ उपन्यास 'सुनीता' 'मुक्तिपथ' और 'सुबह के भूले' हैं जिनका उल्लेख हो चुका है।

फ्रांस के उपन्यासकारों के समान विषयैक्य पर ध्यान रखनेवाले लेखक अन्य किसी भाषा में नहीं मिलते। फ्लाबेयर के 'मदाम बोवारी' 'सन्त एन्टनी का प्रलोभन' (Tentation de St. Anthony) मारियाक के 'जो खो गया' (Ce qui etait perdu or *That which was lost*), 'काले देवता' *(Les Anges noirs, or The Dark* Angles), मोपासां के 'उन एमी' 'एक औरत की जिन्दगी (Une Vie or A Woman's Life), पॉल बोर्जे का 'शिष्य' (Le Deciple) अल्फोंस दोदे के 'जैक' (Jacque), 'सैफो'

---

१ Hogarth The Technique of Novel-Writing P 78

२ कथानक तुर्गनेव के लिए प्रथम आधार नहीं अन्तिम आधार है। उनका प्रथम आधार कोई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह है। वे किसी कथानक को विरचित करने के पहले उन व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को अपनी आँखों के सामने देखते थे और उनको उनकी प्रकृति के अनुसार क्रियाशील बनाते थे।—'पिता और पुत्र' की हेनरी जेम्स लिखित भूमिका : Quoted by Grabo : The Technique of the Novel P 180

(Sapho) ऐबी प्रेवास्ट का 'मैनन लेस्का' (Manon Lescaut) आदि में विषय की धारा को पकड़कर चलने की जो प्रवृत्ति है वह एक भावधारा के विकास में अत्यन्त उपयोगी हुई है। यद्यपि ये सामाजिक जीवन का चित्रण करते हैं तो भी रूसी कलाकारों की भांति समाज के असबद्ध चित्रों से वातावरण को पूर्ण नहीं बनाते। मनकोर्ट मोपासाँ और मारिया के विषय ही अत्यन्त सीमित रहते हैं। मोपासाँ के अधिकांश उपन्यासों के विषय इतने परिमित रहते हैं कि वे कहानी जैसे लगते हैं।[१] विस्तृत विषय के उपन्यासों में जोला ने विपर्यैक्य का पूरा पालन किया है। यद्यपि उनके 'रोगन मक्कार' परम्परा के La Fortune des Rougon L Assomoir L ocuvre, La Bete Humaine, Nana आदि में प्रतिबिम्बित समाज के विभिन्न अंग प्रथम दृष्टि में असबद्ध लगते हैं तो भी उनसे एक एकरूपी चित्र निर्मित होता है।

विपर्यैक्य की कमी

१७५ हिन्दी के कई उपन्यासों में विपर्यैक्य की कमी दिखायी पड़ती है। यह कमी मुख्यतया दो कारणों से हुई है। विषय के ही विभिन्न अंशों की असंबद्धता के कारण या लेखक के अपनी मान्यताओं को विषय में जबरदस्ती समन्वित करने के प्रयत्न के कारण अथवा इन दोनों कारणों से कई उपन्यासों में विषयक्य की कमी आ गयी है।

पहले सबसे असबद्ध 'अंधेरे की भूख' (रांगेय राघव) को लीजिए। इसे उपन्यास कहना ही असंभव है क्योंकि इसमें एक सबद्ध कथानक के बदले कई कथाएं हैं। कई पात्रों द्वारा कही गयी ये कथाएं न कोई पारस्परिक संबन्ध रखती हैं, न वे सब मिलकर समाज का एक सामान्य रूप ही दिखाती हैं। उनमें सम्बन्ध इतना ही है कि उन कथाओं के कुछ पात्र एकसाथ मिलकर अपनी-अपनी कथा कहते हैं। धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' भी इसी तरह कई कहानियों का संग्रह है जो समाज के कुछ पहलुओं को व्यक्त करती हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा के 'कभी न कभी' के प्रारम्भ में मजदूरों की विवशता का एक अतिरंजित रूप मिलता है। पूरे पाँच अध्याय इसीसे भरे हैं। इसके बाद शुरू होती है कहानी—मक्खन द्वारा लीला से बेबदू के विवाह का प्रयत्न विफलता मक्खन लीला विवाह आदि की। इस रसीले प्रसंग में भूले हुए लेखक अब मजदूरों के कष्टों की चिन्ता ही नहीं करते। लीला को वश में करने का सेठ का प्रयत्न भी साधारण प्रेमकथा के दुष्टपात्र की ओर ही संकेत करता है, मजदूर वर्ग की सामान्य दुर्दशा और कष्टों की ओर नहीं।

---

१ "He wrote several novels that were short stories and all his short stories are novels"

—Thomas and Thomas Living Biographies of Famous Novelists, P 253

और एक तरह की विपर्यस्त-हीनता इलाचन्द्र जोशी के 'निर्वासित' और विष्णु प्रभाकर के 'निशिकान्त' में है। 'निर्वासित' का पूर्वार्द्ध वैयक्तिक जीवन की व्याख्या द्वारा सामाजिक जीवन का रूप दिखाता है—इस भाग में व्यक्ति का ही विशेष महत्त्व है। पर उत्तरार्द्ध में आकर ढंग बदल जाता है। राजनीतिक क्रिया-कलापों के बीच में व्यक्तित्व धूमिल हो जाता है भले ही पूर्णतया लुप्त न होता हो। 'निशिकान्त' में बिलकुल उलटी बात है। इसका प्रथम खंड मुख्य रूप में राजनीतिक वातावरण को—हिन्दू मुस्लिम संघर्ष के रूप को—दिखाता है। इस विषय की इतनी विस्तृति के बाद—इस बीच में और किसी विषय का संकेत नहीं है और लगता है कि उपन्यास इस संघर्ष से सम्बन्धित होगा—निशिकान्त और कमला की कथा शुरू होती है। इस भाग में मुख्य रूप में स्त्रियों की सामाजिक दशा का ही चित्रण है। यद्यपि लेखक ने हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष से कथा का संबंध जोड़ने के दो-एक प्रयत्न किए हैं तो भी यह सम्बन्ध अत्यन्त शिथिल है। इस शिथिल संबंध के लिए इतनी विस्तृत भूमिका आवश्यक ज्ञात नहीं होती। नागार्जुन के 'बाबा बटेसरनाथ' में पहले जो सामाजिक जीवन है वह बदलकर राजनीतिक संघर्ष को स्थान देता है लेकिन यहाँ यह परिवर्तन खटकता नहीं है क्योंकि सामाजिक जीवन में राजनीति का भी स्थान है।

उदयशंकर भट्ट का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'सागर लहरें और मनुष्य' बरसोवा के मछुओं के जीवन का यथार्थ रूप अंकित करते हुए रूसी कथाकार फ़ेडिन कोचकेविच आदि के उपन्यासों के समान ही मार्मिक हुआ है। किन्तु अन्तिम खण्ड 'मध्यान्त' में आकर जीवन का यथार्थ चित्रण नष्ट हो जाता है। रत्ना के चरित्र का स्वाभाविक विकास खतरे में पड़ जाता है कथानक ही जीवन की स्वाभाविक गति छोड़कर वैचित्र्य का मार्ग अपनाता है। आतिशबाजी के बाण के समान अपने सतरंगी सौन्दर्य से ऊपर उठनेवाली कथा यहाँ आकर राख की ढेरी बन गिर जाती है। फिर वही बीसवीं सदी के प्रथम पाद के उपन्यासों की स्वच्छन्दता संयोग और आदर्श के हथकण्डे! जब तक रत्ना ग्राम में है तब तक उसका विकास स्वाभाविक रूप में होता है। जब वह शहर जाती है, तब स्वयं तो बिगड़ ही जाती है उसका चित्रण भी बिगड़ जाता है। उसका नगर-जीवन पहले के जीवन से बिलकुल भिन्न हो जाता है और इस परिवर्तन की कोई ठोस नींव नहीं दिखायी पड़ती। यह असंभव नहीं पर उपन्यास-शिल्प में ऐसा अतिशीघ्र परिवर्तन अस्वाभाविक अवश्य है। ज्ञात होता है कि शहरी जीवन की कुत्सितताओं को दिखाने के लिए लेखक को रत्ना के जीवन को मोड़ना पड़ा है। उसके बाद कुछ आदर्श भावना का भूत रत्ना को नर्स बनाकर उससे बहुत सेवा कराई गयी यशवन्त को पढ़ाकर ग्रामसेवा में लगा दिया गया। पर इन सबसे उपन्यास की स्वाभाविक एकता में बाधा पड़ी है। इसी कारण से इस अन्तिम भाग में घटना-गति भी तेज होती है और पात्रों की मनोदशाओं का विकास पूरा नहीं हो पाता।

यही दोष प्रेमचन्द के उन सब उपन्यासों में भी मिलता है जो आदर्शोन्मुख यथार्थवादी माने जाते हैं। इन सबके अन्त में आकर जब प्रेमचन्द सामाजिक समस्याओं को सुलझाने लगते हैं तब वे ऐसे जीवन का निर्माण करते हैं जो यथार्थ नहीं है और

जिनके मस्तिष्क में और कभी-कभी समाप्यता तक में सन्देह होने लगता है। घटनाओं का क्रम देखें तो यह सुधारात्मक आदर्श जीवन असंभाव्य नहीं लगता पर पहले के यथार्थ जीवन का जितना जीता-जागता मूर्त चित्र प्रेमचन्द प्रस्तुत करते हैं उतना ही उनका आदर्श जीवन अमूर्त रह जाता है। इससे टेक्नीक में भी कुछ दोष आ जाते हैं।[1]

अंग्रेजी में स्कॉट के 'ऐवनहो' और 'गाइ मैनरिंग' विषय की एकता के न रहने से ही खटकनेवाले हैं। 'गाइ मैनरिंग' के प्रथम तीन चार अध्याय तक गाइ मैनरिंग नायक-सा लगता है, पर उसके बाद वह गौण पात्र बन जाता है। स्वयं स्कॉट ने भूमिका में इसका कारण बताया है कि उपन्यास के कुछ छपने के बाद उसकी योजना ही बदल गयी। इसी तरह 'ऐवनहो' के मध्यभाग तक ऐवनहो ही मुख्य पात्र है उसीके जीवन के आधार पर उपन्यास चलता है पर इसके बाद रिचर्ड और उसके भाई का संघर्ष प्रमुख हो जाता है। नायिका रोवेना के स्थान पर रेबका आ जाती है। इस तरह कुछ उत्कृष्ट उपन्यासकारों ने भी विषयैक्य पर ध्यान दिये बिना अपनी रचनाओं को दोष युक्त बनाया है।

लेखक की मान्यताएं विषयैक्य में बाधक

१५६ साधारण लोग उपन्यास में सबसे अधिक जिस चीज की खोज करते हैं वह एक कथा है। उच्चस्तर के पाठक और आलोचक उसमें जीवन का स्वरूप देखना चाहते हैं। उन्हें लेखक की मान्यताओं और विचारों से अधिक दिलचस्पी नहीं रहती चाहे वे राजनीतिक हों चाहे दार्शनिक या धार्मिक। वैसे ये विचार और मान्यताएं उपन्यास के अनुपेक्षणीय अंग भी नहीं हैं। इसके विरुद्ध लेखक के राजनीतिक दार्शनिक या धार्मिक विचारों का आधिक्य कलात्मक सौष्ठव बनाये रखने में बाधक भी हो सकता है। अगर कथा ठोकर खाये बिना ठीक तरह से चलती हो या जीवन का रूप विपर्यस्त (distorted) हुए बिना अंकित होता हो तो उसके साथ थोड़ी-बहुत राजनीति और फिलासफी को सहन किया जा सकता है। ऐसी दशा में भी यह आवश्यक है कि विषय के साथ इन विचारों का दूध-पानी का सा मिलन हो जाय। भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' थॉमस मन के 'पवित्र पापी' (The Holy Sinner) इनमें जो दार्शनिक विचार हैं, वे उपन्यास से मिले हुए ही नहीं हैं बल्कि उपन्यास के आधार ही हैं। दास्तायवस्की के 'अपराध और दण्ड' की नींव यह सिद्धान्त है कि यातनाओं के सहन से जीवन उदात्त बनता है। गोर्की के राजनीतिक विचार ही 'माँ' के प्रत्येक पात्र का चरित्र-निर्माण करते हैं। ह्यूगो का 'ल मिज़राबल' जार्ज इलियट का 'साइलस मार्नर' टालस्टाय का 'अन्ना करेनिना' प्रवास्ट का 'मैनन लेस्को' फ्लाबेयर का 'मदाम बोवारी' आदि में लेखक की जीवन-दर्शन-सम्बन्धी जो मान्यताएं हैं उनको उपन्यास से अलग करके देखना असंभव है। आधुनिक रूसी उपन्यासों में राजनीति भी इसी तरह अभिन्न रहती है।

---

१ देखिये 'टेम्पो' (Tempo) का प्रकरण।

हिन्दी में प्रेमचन्द के ज्ञानशंकर, सूरदास चक्रधर, अमरकान्त आदि आदर्श पात्र लेखक के विचारों के आधार पर गढ़े हुए हैं अतः इन विचारों का उनसे दृढ़ संबन्ध है। पात्रों से संबन्ध तोड़कर अपने विचारों का प्रचार करने का प्रयत्न प्रेमचन्द नहीं करते। अपने विचारों का प्रचार करना हो तो भी वे पात्रों से उनका सबन्ध स्थापित करके करते हैं। यशपाल के राजनीतिक उपन्यास यद्यपि कला की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट नहीं हैं, तो भी लखक ने अपने विचारों को पात्रों में पचा दिया है।

अब हम लेखक के विचारों के भार से विपर्यस्त न रखनेवाले कुछ उपन्यासों को देखें। पहले उपेन्द्रनाथ अश्क के 'गिरती दीवारें' को लें। इसमें मुख्य कथा—चेतन की कथा—चलती रहती है बीच-बीच में कई पात्र आते हैं जो अपना सबल अस्तित्व दिखाकर मिट जाते हैं। कुन्ती केसर, शामो वैद्य गिरिजाशंकर, अमरीसिंह कविराज रामदास अम्नी आदि से संबद्ध घटनाएं ऐसी ही हैं। लेकिन ये सब उपन्यास में अपने-अपने अस्तित्व को सार्थक नहीं बनाते। बयालीसवें से लेकर दस-बारह अध्यायों का विषय कविराज रामदास से अधिक सबन्ध रखता है और उसका मुख्य विषय से कोई संबन्ध नहीं है क्योंकि चेतन क चरित्र-विकास में रामदास का कोई महत्त्व नहीं है। उपन्यास सामान्य सामाजिक वातावरण प्रस्तुत करनेवाला होता तो वैद्यों की काली करतूतों की यह आलोचना कुछ महत्त्व रखती पर वस्तुतः उपन्यास ऐसा नहीं है। स्पष्ट है कि लेखक के मन का कुछ तीव्र विकार ही यहाँ मुख्य विषय के बीच में एक दरार बनाकर प्रविष्ट हुआ है। इसीलिए लेखक का उद्देश्य भी यहां कुछ बदला हुआ सा दिखायी पड़ता है। अब तक के गार्हस्थ्य-जीवन से सबन्धित समस्याओं का यथार्थ और प्रसन्नता पूर्ण रूप नष्ट हो जाता है और उसके स्थान में कविराज क समाज-विनाशक जीवन का आलोचनात्मक रूप आता है। लेखक जहां आरम्भ में चेतन के बल और बलहीनताओं के यथार्थ चित्रण से जीवन के अनुभूतिमय रूप को प्रकट करता है वहां इन अध्यायों म एकपक्षीय होकर जीवन के खासे अंध-मात्र के आलोचक बन बैठते हैं और आलोचनात्मक यथार्थवादी (Critical Realist) के रूप में परोक्ष आदर्शवादी बन जाते हैं। 'गिरती दीवारें' का अध्याय पचास पूरा सबसे कमजोर है। यहां जब लखक चेतन को गुप्तरोगों के कारणों से अवगत कराता है तब उपन्यास की सब दीवारें गिर जाती हैं और व्यवहार के रूप में वैद्यों के विज्ञापनों की दस-ग्यारह ईंटें-मात्र खड़ी रह जाती हैं। इन्हीं बातों को लेखक व्याख्यात्मक रूप म देकर मूर्त रूप में प्रस्तुत करते तो कम पृष्ठों में अधिक प्रभाव होता।

और एक प्रसंग देखिये। जब पिमला क एमेच्यूर ड्रामा क्लब और लाहौर से आये नाटक क्लब की चर्चा में कला की तत्कालीन दशा पर व्यग्य करन के लिए पृष्ठ क पृष्ठ रंगे जाते हैं तब विपर्यस्य पर आघात ही किया जाता है। यहां भी चेतन का जीवन नहीं लेखक के विचार ही अधिक प्रकट होते हैं।

रोलां के 'जाँ क्रिस्ताफ' में भी इसी तरह कई अध्याय क्रिस्ताफ़ द्वारा कला की आलोचना कराने में व्यय किये गये हैं। लेकिन वहाँ क्रिस्ताफ़ स्वयं एक कलाकार है

जिसका जन्म से मरण तक कला से सम्बन्ध रहता है ।[1] वह केवल कला का निरीक्षक नहीं कलाकार है । इसलिए कला उसपर प्रभाव डालती है । दूषित कला के विरुद्ध उसका मन प्रतिक्रिया कर उठता है । पर चेतन के कलाकार होने का पता तब तक नहीं चलता जब तक लेखक को कला की आलोचना करने की आवश्यकता नहीं पड़ती । और तब फ्लैश बैक (Flash back) लेकर चेतन के बाल्यकाल के संगीत-प्रेम और अभिनय चाव को प्रकट करना पड़ता है । फिर भी मजा यह है कि चेतन को कालेज की नाटक समिति के नाटक में रायबहादुर जानकीनाथ का पार्ट लेकर प्रसिद्ध हुआ था जिसने 'कई स्थानीय नाटक समितियों में भाग लिया था' और 'अनेक नाटक खेले थे'[2] वह अब तक समझे बैठा है कि ग्रीन रूम एक विशाल हरा कमरा है, जिसमें हरे परदे होते हैं ![3] दूसरी बात यह है कि ये बातें चेतन के जीवन में आती हैं और चली जाती हैं । न ये चेतन पर प्रभाव डालती हैं न इनपर चेतन अपना दृष्टिकोण व्यक्त करता है । सब कुछ लेखक की ओर से होता है । दो किस्तों में लेखक ने विपर्यय पर अधिक ध्यान दिया है । फिर भी यह मानना पड़ेगा कि ऐसे भाग कुछ कमजोर ही हैं ।[4] मुख्त के 'भूतकाल-पर्यवेक्षण' में रक्षा की प्रेमकथा भी खटकती है पर वह भी मुख्यपात्र मिस्वेर्ट के स्वभाव-निर्माण का एक मुख्य आधार है ।

स्मरणशैली और विपर्यय

१७७ स्मरणशैली (Flash back Style) का उपयोग उपन्यास की भावधारा में अत्यधिक प्रभाव ला सकता है । इसका सुन्दर उदाहरण 'गिरती दीवारें' में है । कुन्ती के सम्बन्ध में अधिकांश घटनायें चेतन की स्मरणाओं के रूप में जगह-जगह पर उतारी गई हैं । इन सबका सिलसिलेवार विवरण प्रस्तुत किया जाता तो कथा अधिक सुलझी रहती पर इतनी मार्मिक नहीं होती । पर यहाँ जो विशृंखलता है उससे घटनाओं के भिन्न-कालत्व का ज्ञान हो जाता है । कश्मीर में रहते समय चेतन की स्मरण के रूप में फ्लैश बैक लेकर उसीके बाल्य का जो वर्णन किया गया है वह भी सुन्दर है ।

फ्लैश बैक शैली का सबसे बड़ा दुरुपयोग प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने किया है । इनके 'विकास' की स्मरणायें स्मरण की समस्त सीमाओं के बाहर हो जाती हैं । लेखक इस बात पर ध्यान ही नहीं रखता कि स्मरणायें कहानी के रूप में नहीं आतीं

---

१ यह बात भी प्रसिद्ध है कि 'जाँ क्रिस्तोफ' वास्तव में जर्मनी के प्रसिद्ध संगीतकार बीथोवन की जीवनी से संबन्धित उपन्यास है जिन्होंने तत्कालीन जर्मन कलाओं की भयंकर आलोचना की थी । ऐसी दशा में इसे उपन्यास में रखना लेखक की विवशता थी ।

२ देखिए, गिरती दीवारें पृष्ठ २७ ।

३ देखिए, गिरती दीवारें पृष्ठ २९ ।

४ इस कमजोरी की ओर संकेत करते हुए अर्नेस्ट एन प्यथे ने माना है कि 'जाँ क्रिस्तोफ' का प्रथम भाग जितना सुन्दर और आकर्षक है अन्य भाग नहीं । प्रथम भाग के बालकाल में ऐसी अरुचिकर घटनाओं का विस्तार नहीं है । अन्य भागों में है ।

और न उनमें घटनाओं का विश्लेषण ही होता है। फलतः 'विकास' में स्मरणायें लेखक की वाणी हो जाती हैं। मालती का अपने और पति के सम्बन्ध का स्मरण[1] एक नमूना है। दूसरा उदाहरण इस ढंग में मधूपकुमारी की पूर्व कथा का स्मरण है। यह सचमुच सोचती नहीं हमसे कहानी कहने लगती है।

'मेरे माता-पिता थोड़ी वयस में कालकवलित हो गये। मेरा पालन-पोषण मेरे मामा और मामी ने किया। उनके पास रहकर उनकी गृहस्थी का सारा काम करने लगी। ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे। मेरी एक सखी का विवाह शहर में एक धनी आदमी से हुआ था "

लगभग दस पृष्ठ[2] तक चलनेवाली यह स्मरणा वस्तुतः आत्मकथा शैली में कथा समझाने का प्रयत्न है स्मरणा नहीं। फिर कामेश्वरप्रसाद की[3] और गिरिजानन्द की[4] स्मरणायें भी इस तरह की कहानियाँ हैं। ये सब कथानक को तो स्पष्ट करती हैं, पर कथाविन्यास में शिथिलता आती है। इसी तरह के स्मरण 'विसर्जन' में भी मिलते हैं।

पनोरमिक उपन्यास का विपर्यय

१७८ पनोरमिक उपन्यास के बहुल-वैविध्य के प्रसंग में उसके विपर्यय की चर्चा हो चुकी है।[5] वैविध्य के बीच में भी एकता उसकी विशेषता है। सैकड़ों असंबद्ध घटनायें मिलकर जो सामान्य चित्र प्रस्तुत करती हैं, उनमें एक तरह की एकता रहती है। किन्तु टालस्टाय के 'युद्ध और शान्ति' में और एक तरह का विपर्यय दिखता अदृश्य है। उसके अति विस्तृत वातावरण में टाल्स्टाय ने दो महान कथाओं का विकास किया है। एक में मानवता की वह चिरन्तन कथा है जो हृदय के विविध विकारों को मूर्त रूप देती हुई चलती है पीढ़ी दर पीढ़ी विकसित होता हुआ समाज ह्रास-विकास के चक्र में निरन्तर गतिशील जीवन—यौवन का क्रमशः विगलित होता जाता है—वार्धक्य जो नवजीवन को जन्म दे चुका है आशा जो निराशा में परिणत होती है—निराशा जो नयी आशाओं और अभिलाषाओं को मुकुलित करती है। दूसरी में इन सबकी कहानी से तृप्त न होकर टाल्स्टाय एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक संघर्ष का भी चित्रण करते हैं। वस्तुतः 'युद्ध और शान्ति' में दो उपन्यास हैं। इस कारण से दोनों में शिथिलता भी आयी है।[6]

---

१ विकास पृष्ठ १११-११६।

२ ,, पृष्ठ १८०-१८८।

३ पृष्ठ ४१४-४४।

४ ,, पृष्ठ २११-२१६।

५ देखिए अनुच्छेद १७०।

६ Percy Lubbock says of this want of unity of plot "In 'War and Peace the story suffers twice over the imperfection of form. It is

६

भाव-वेग (Tempo)

१७२ उपन्यास एक चित्र या मूर्ति के समान नहीं है जिसका संपूर्ण रूप एक-दम हमारे सामने आकर अपने पूर्ण अस्तित्व से हमारे मन पर प्रभाव डालता हो बल्कि एक संगीत के समान है जिसकी स्वरलहरियाँ लय-ताल के साथ विकसित होती हुई, धीरे-धीरे अपनी ही गति से परिचालित एक तरह का कम्पन उत्पन्न करती है। उपन्यास अनेक अनुभवों का समावेश है जो धीरे-धीरे प्रस्फुटित होते हैं। किसी उपन्यास के कार्यधर्म्य के अनुकूल मन पर प्रभाव डालने के लिए उसके भाव-वेग को नियमित रखना पड़ता है। विषय-विकास के पद-पद पर मन में तदनुकूल भावदशा स्थापित करके आगे बढ़ने पर ही पाठक लेखक और पात्रों के हृदय में क्रमशः विकसित होनेवाली सूक्ष्म भावनाओं की अनुभूति कर सकेगा। इस भाव-नियंत्रण का उपादान घटनाचक्र ही नहीं उसका भाव-वेग भी है। उपन्यास के विषय को इस भाव-वेग से पूर्ण शक्ति मिलती है।[1] भाव-वेग का नियंत्रण पूर्णतया उपन्यास के अभिव्यंजन पक्ष या टेकनीक पर अवलंबित रहता है। इसकी व्याख्या करते हुए ग्रैबो ने कहा है

"The basic problem of tempo is a purely mechanical one, the adjustment of story's pace to the visual speed of reading."[3]

कहा जा सकता है—उपन्यास के पात्रों के जीवन के समय के साथ पाठक के मानसिक समय का सन्तुलन ही भाव-वेग या टेम्पो है। घटनाओं के वास्तविक समय में और उनके लिए उपन्यास में दिये गये समय में जो अन्तर है उसे मिटाकर उपन्यास में

---

damaged in the first place by the importation of another and an irrelevant story—damaged because it so loses the sharp and clear relief that it would have if it stood alone. Whether the story was to be the drama of youth and age or the drama of war and peace, in either case it would have been incomparably more impressive if all the great wealth of the material had been used for its purpose."

The Craft of Fiction P 40

१ यहाँ घटना-वेग और भाव-वेग का अन्तर समझना आवश्यक है। घटनाओं का कोई प्रभाव हो तभी उनकी सार्थकता है। वह प्रभाव जिस वेग से तीव्रता पकड़ता है वही यहाँ भाव-वेग (tempo) नाम से संबोधित है। घटनाचक्र के प्रभाव का वेग ही भाव-वेग है।

२ "By the absolute certainty of tempo the story is made to gather momentum until it rushes to its appalling close.

—Grabo : The Technique of the Novel, P 214

३ Ibid., P 214

भी वास्तविक समय का बोध कराना टेम्पो का ध्येय है।[1]

टेम्पो-नियमण के विविध उपाय

भाव-वेग-नियंत्रण सांकेतिक विधाओं से ही होता है। तारों की एक लाइन लगाकर 'तीन वर्ष बीत गये' कहना समय-व्यतिपात दिखाने की सबसे सरल रीति है पर बिलकुल यांत्रिक इस रीति से समय का व्यतिपात हृदय में अंकित नहीं होता। इसके लिए जिन अन्य रीतियों का आश्रय लिया गया है उनकी चर्चा यहां की जायगी। प्रायः लेखक इस भाव-वेग के नियंत्रण के प्रति सचेत होकर नहीं लिखते पर अपने हृदय में अंकित चित्र का प्रभावपूर्ण प्रतिबिंब उतारने के प्रयत्न में उनके अनजाने ही टेम्पो का नियंत्रण हो जाता है।

१८० विवरण और संक्षिप्तीकरण—विवरणात्मक उपन्यासों में घटनाचक्र की गति को नियंत्रित करने के लिए विवरण को विस्तृत या संक्षिप्त बनाया जा सकता है। प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यास यद्यपि अधिकांश विवरणात्मक हैं तथापि उनमें इस बात पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। 'चन्द्रकान्ता' 'नरेन्द्रमोहिनी' 'चपला' 'कुटीर वासिनी' 'आदर्श हिन्दू' आदि में और 'कंकाल' 'तितली' 'हृदय की प्यास' 'अमर अभिलाषा' (बहते आंसू) 'कुंडली चक्र' 'दिल्ली का दलाल' 'बुधुआ की बेटी' (मनुष्यानन्द) 'शराबी' 'भी भी भी' 'त्यागपत्र' आदि में विवरण एक तरह की तीव्रता उत्पन्न करके भाव-वेग को बढ़ाता है। लेकिन कौशिक के 'भिखारिणी' में गौण सन्दर्भों की भी विस्तृति के कारण एक मंथरता आ जाती है।

१८१ दृश्य और संक्षिप्तीकरण—मुख्य और मर्मपूर्ण संदर्भों और पात्रों को दृश्यों द्वारा प्रस्तुत करके गौण संदर्भों को संक्षिप्त विवरण का रूप देने की शैली से प्रेम चन्द बड़ा प्रभाव डालते हैं। उनके किसी भी उपन्यास को लीजिए, मार्मिक घटनायें हमेशा विस्तृत दृश्य-रूप में आती हैं बीच-बीच में संक्षिप्त विवरण दृश्यों की कड़ियां मिलाते जाते हैं। तुर्गनेव के 'पिता और पुत्र' 'रुदिन' जेन आस्टिन के 'अहंभाव और पूर्वग्रह' (Pride and Prejudice), 'एमा' (Emma) आदि में इस शैली के अच्छे नमूने हैं। हिन्दी में प्रेमचन्द के समान विवेक से और किसीने दृश्य और संक्षिप्त विवरण का सम्मिलन नहीं किया है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी के प्रारंभिक उपन्यासों में दृश्य के योग्य प्रसंग भी विवरण में हैं[2] हाल के उपन्यासों में विवरण के योग्य प्रसंग भी दृश्य रूप में हैं।[3] उपादेयी के 'जीवन की मुस्कान' की शैली प्रेमचन्द की शैली से मिलती जुलती है। पर 'पिया' और 'पथचारी' अधिक विवरणात्मक हैं, 'नष्ट नीड़' अधिक

1. "It is a question of creating an illusion of duration which shall correspond with the sense of duration.

—Read Collected Essays in Lit Criticism, P 357

2. अनाथ पत्नी त्यागमयी पिपासा आदि में।

3 चलते चलते में।

रहस्यात्मक। अवक भगवतीचरण वर्मा आदि ने रहस्य और विवरण दोनों का उपयोग किया है, लेकिन सब जगह विवेक से नहीं। 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' के कई रहस्यों को विवरण बनाने से उसका टेम्पो अधिक मनोनुकूल हो सकता है।

१८२ प्रवाह का अवरोध—साधारणतया कई कथाओं के समावेश के कारण गढ़न में शिथिल उपन्यास का भाव-वेग सफल रहता है। जब कथानक की विविध धारायें चलती रहती हैं तब एक-एक की धारा को बीच-बीच में अवरुद्ध करके अन्य धाराओं को प्रवाहित रखने से और कभी-कभी बीच की घटनाओं को छोड़ देने से पात्र अपने अकथित अस्तित्व से हमारी मानसिक अवस्था को प्रभावित करते रहते हैं। गोदान' में ग्राम और नगर के जीवन को बारी-बारी से लिया जाता है। किन्तु नगर-जीवन को पढ़ते समय ग्रामीण पात्र हमारे अन्दर जीवित रहते हैं और ग्रामीण जीवन का निरीक्षण करते समय नागरिक पात्र। यह सूक्ष्म अस्तित्व प्रत्यक्ष दृश्य के मूर्त अस्तित्व से कम महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि यह एक ओर कथा के साथ तुल्यवेग में मन के चलने में सहायक होता है तो दूसरी ओर प्रभाव को स्थायी बनाने में सहायक होता है। जार्ज इलिएट के 'मिडिल मार्च' में डोरोथिया की शादी के बाद कथा टूट जाती है और लिडगेट और रोसामंड की कथा चलती है। इसके बाद डोरोथिया की कथा पर आते समय यह दूरी हमें अधिक प्रसन्नता देती है। टाल्सटाय के 'अना करेनिना' में टेम्पो नियन्त्रण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जब कभी एक या अधिक अध्यायों से होकर विकसित होनेवाली उत्कण्ठा चरमसीमा तक पहुँचती है तब वहाँ कथा का प्रवाह तोड़ दिया जाता है, उसका दूसरा छोर पकड़ने के लिए उत्कंठित मन बीच के अध्यायों से होकर तीव्र गति से चलता है। इससे लंबे अध्याय और दीर्घ समय भी मानसिक क्षेत्र में सिकुड़ जाते हैं। लगभग यही प्रभाव 'गोदान' में मिलता है। किन्तु प्रसाद के 'तितली' में भावधारा के टूटने पर भी इस तरह का प्रभाव नहीं होता क्योंकि उसमें भावधारा के अवरोध से जो उत्कण्ठा होती है वह बुद्धि से अधिक संबन्ध रखती है, हृदय से कम। अना करेनिना' और 'गोदान' में उत्कण्ठा का आधार रहस्यात्मकता नहीं है घटनाओं को छिपाना या पात्रों का पूर्ण परिचय न देना नहीं है परिचित परिस्थितियों में परिचित पात्रों की क्रमशः विकसित होती हुई भावधारा का अवरोध है। पर 'तितली' में घटनायें छिपायी जाती हैं, पात्रों से संबन्धित कई बातें अन्त तक आवृत रखी जाती हैं। चतुरसेन के 'वैशाली की नगरवधू' में भावधारा का अवरोध टेम्पो के नियंत्रण में काफी सहायक है। लेकिन उन्हीके 'सोमनाथ' में ऐसा नहीं है क्योंकि 'सोमनाथ' में पात्रों के विकारों का विकास उतना नहीं होता जितना घटनाओं का। भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'यथार्थ से आगे' में प्रत्येक दो अध्यायों के बीच धारा टूटती है। पर इससे समय-व्यतिक्रम का बोध नहीं होता। एक ही समय के विभिन्न संभवों को चित्रित करने के लिए ही इस शैली को स्वीकृत करने को वाजपेयीजी विवश ज्ञात होते हैं। प्रायः हिन्दी के अधिकांश लेखक कथासूत्र को तोड़ते नहीं, अतः हिन्दी में इस शैली की संभावनाओं के संबन्ध में अधिक प्रयोग नहीं हुआ है।

१८३ अभिव्यंजन से टेम्पो का नियंत्रण—विचारों और विकारों की तीव्र

भी वास्तविक समय का बोध कराना टेम्पो का ध्येय है।[1]

टेम्पो-नियन्त्रण के विविध उपाय

भाव-वेग-नियंत्रण सांकेतिक विधानों से ही होता है। तारों की एक लाइन लगाकर 'तीन वर्ष बीत गये' कहना समय-व्यतियान दिखाने की सबसे सरल रीति है पर बिलकुल यांत्रिक इस रीति से समय का व्यतियान हृदय में अंकित नहीं होता। इसके लिए जिन अन्य रीतियों का आश्रय लिया गया है उनकी चर्चा यहाँ की जायगी। *प्रायः लेखक इस भाव-वेग के नियंत्रण के प्रति सचेत होकर नहीं लिखते पर अपने* हृदय में अंकित चित्र का प्रभावपूर्ण प्रतिबिंब उतारने के प्रयत्न में उनके अनजाने ही टेम्पो का नियंत्रण हो जाता है।

१८ विवरण और संक्षिप्तीकरण—विवरणात्मक उपन्यासों में घटनाचक्र की गति को नियंत्रित करने के लिए विवरण को विस्तृत या संक्षिप्त बनाया जा सकता है। प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यास यद्यपि अधिकांश विवरणात्मक हैं तथापि उनमें इस बात पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। 'चन्द्रकान्ता' 'नरेन्द्रमोहिनी' 'चपला' 'कुटीर वासिनी' 'आदर्श हिन्दू' आदि में और 'कंकाल' 'तितली' 'हृदय की प्यास' 'अमर अभिलाषा' (बहते आँसू) 'कुल्ली भाट' 'दिल्ली का दलाल' 'बुधुआ की बेटी' *(मनुष्यानन्द) 'शराबी' 'जी जी जी' 'त्यागपत्र' आदि में विवरण एक तरह की* तीव्रता उत्पन्न करके भाव-वेग को बढ़ाता है। लेकिन कौशिक के 'भिखारिणी' में गौण प्रसंगों की भी विस्तृति के कारण एक मन्दगति आ जाती है।

१८१ दृश्य और संक्षिप्तीकरण—मुख्य और मर्मपूर्ण प्रसंगों और पात्रों को दृश्यों द्वारा प्रस्तुत करके गौण प्रसंगों को संक्षिप्त विवरण का रूप देने की शैली से प्रेमचन्द बड़ा प्रभाव डालते हैं। उनके किसी भी उपन्यास को लीजिए, मार्मिक घटनायें हमेशा विस्तृत दृश्य-रूप में आती हैं बीच-बीच में संक्षिप्त विवरण दृश्यों की कड़ियाँ मिलाते जाते हैं। तुर्गनेव के 'पिता और पुत्र' 'रुदिन' जेन आस्टिन के 'अहंमाव और पूर्वग्रह' (Pride and Prejudice) 'एमा' (Emma) आदि में इस शैली के अच्छे नमूने हैं। हिन्दी में प्रेमचन्द के समान विवेक से और किसीने दृश्य और संक्षिप्त विवरण का सम्मिलन नहीं किया है। भगवतीप्रसाद बाजपेयी के प्रारंभिक उपन्यासों में दृश्य के योग्य प्रसंग भी विवरण में हैं,[2] हाल के उपन्यासों में विवरण के योग्य प्रसंग भी दृश्य रूप में हैं।[3] उपादेवी के 'जीवन की मुस्कान' की शैली प्रेमचन्द की शैली से मिलती जुलती है। पर 'पिया' और 'पथचारी' अधिक विवरणात्मक हैं 'नष्ट नीड़' अधिक

---

१ "It is a question of creating an illusion of duration which *shall correspond with the sense of duration*

—Read Collected Essays in Lit. Criticism, P 357

२. मीठी चुटकी त्यागमयी पिपासा आदि में।

३ पतवार से आगे में।

रहस्यात्मक। धरक भगवतीचरण वर्मा आदि ने दृश्य और विवरण दोनों का उपयोग किया है, लेकिन सब जगह विवेक से नहीं। 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' के कई दृश्यों को विवरण बनाने से उसका टेम्पो अधिक मनोनुकूल हो सकता है।

१८२ प्रवाह का अवरोध—साधारणतया कई कथाओं के समावेश के कारण महान व मिश्रित उपन्यास का भाव-वेग सफल रहता है। जब कथानक की विविध धारायें चलती रहती हैं तब एक-एक की धारा को बीच-बीच में अवरुद्ध करके अन्य धाराओं को प्रवाहित रखने से और कभी-कभी बीच की घटनाओं को छोड़ देने से पात्र अपने अकथित अस्तित्व से हमारी मानसिक अवस्था को प्रभावित करते रहते हैं। 'गोदान' में ग्राम और नगर के जीवन को बारी-बारी से लिया जाता है। किन्तु नगर-जीवन को पढ़ते समय ग्रामीण पात्र हमारे अन्दर जीवित रहते हैं और ग्रामीण जीवन का निरीक्षण करते समय नागरिक पात्र। यह सूक्ष्म अस्तित्व प्रत्यक्ष दृश्य के मूर्त अस्तित्व से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि यह एक ओर कथा के साथ तुम्भवेग में मन के चलने में सहायक होता है तो दूसरी ओर प्रभाव को स्थायी बनाने में सहायक होता है। जार्ज इलियट के 'मिडिल मार्च' में डोरोथिया की शादी के बाद कथा टूट जाती है और लिडगेट और रोजामंड की कथा चलती है। इसके बाद डोरोथिया की कथा पर आते समय यह दूरी हमें अधिक प्रसन्नता देती है। टाल्स्टाय के 'अन्ना करेनिना' में टेम्पो नियमन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जब कभी एक या अधिक अध्यायों से होकर विकसित होनेवाली उत्कण्ठा चरमसीमा तक पहुँचती है तब वहाँ कथा का प्रवाह तोड़ दिया जाता है उसका दूसरा छोर पकड़ने के लिए उत्कंठित मन बीच के अध्यायों से होकर तीव्र गति से चलता है, इससे लंबे अध्याय और दीर्घ समय भी मानसिक क्षेत्र में सिकुड़ जाते हैं। लगभग यही प्रभाव 'गोदान' में मिलता है। किन्तु प्रसाद के 'तितली' में भावधारा के टूटने पर भी इस तरह का प्रभाव नहीं होता क्योंकि उसमें भावधारा के अवरोध से जो उत्कण्ठा होती है वह बुद्धि से अधिक संबन्ध रखती है हृदय से कम। 'अन्ना करेनिना' और 'गोदान' में उत्कण्ठा का आधार रहस्यात्मकता नहीं है घटनाओं को छिपाना या पात्रों का पूर्ण परिचय न देना नहीं है परिचित परिस्थितियों में परिचित पात्रों की क्रमशः विकसित होती हुई भावधारा का अवरोध है। पर 'तितली' में घटनायें छिपायी जाती हैं पात्रों से संबन्धित कई बातें अन्त तक आवृत रखी जाती हैं। चतुरसेन के 'वैशाली की नगरवधू' में भावधारा का अवरोध टेम्पो के नियंत्रण में काफी सहायक है। लेकिन उन्हींके 'सोमनाथ' में ऐसा नहीं है क्योंकि 'सोमनाथ' में पात्रों के विचारों का विकास उतना नहीं होता जितना घटनाओं का। भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'यथार्थ से आगे' में प्रत्येक दो अध्यायों के बीच धारा टूटती है। पर इससे समय-व्यतिक्रम का बोध नहीं होता। एक ही समय के विभिन्न संभवों को चित्रित करने के लिए ही इस शैली को स्वीकृत करने को वाजपेयीजी विवश जान पड़ते हैं। प्रायः हिन्दी के अधिकांश लेखक कथासूत्र को तोड़ते नहीं, अतः हिन्दी में इस शैली की संभावनाओं के संबन्ध में अधिक प्रयोग नहीं हुआ है।

१८३ अभिव्यंजन से टेम्पो का नियंत्रण—विचारों और विकारों की तीव्र

वेगता के साथ पाठक का मानसिक सन्तुलन बनाये रखना सबसे कठिन कार्य है। पात्रों के मन में उठनेवाले भावों का संक्रम या गुम्फसाम्य होना अनिवार्य नहीं है और न उनके मतिवेग में ही स्थिरता होती है। असंबद्ध भावों का अस्थिर गति में पाठक के मन में प्रतिबिंब उतारने का प्रयत्न अधिक उपन्यासकारों ने नहीं किया है। अंग्रेजी में केवल जेम्स जायस ने इस बात पर विशेष ध्यान दिया। 'यूलीसस' में जिस अभिव्यंजनावादी (Expressionistic) शैली का प्रयोग किया गया है वह प्रथम दृष्टि में एक अस्पष्ट प्रलाप के अतिरिक्त कुछ नहीं मालूम होता। लेकिन जायस ने यहां मन के विविध भावों को उनके सूक्ष्म परिवर्तनों को और उनके वेग को बिना किसी अन्तर के पाठक के मन में उतारने का प्रयत्न किया है। हिन्दी में केवल प्रभाकर माचवे के 'सांचे' के अन्त में यह शैली देखने में आयी। एक उदाहरण देखिए। जेल में पड़े मनोहर की मनोदशा का चित्रण है

> "ऐंठन—बदन के जोड़-जोड़ में ऐंठन—हाथ पैरों मे ठिठुरन—विस्मरण—जाड़ा पाला—वर्फीलीकर—बरफाना ठंडा—पत्थर पर कम्बल में वे हड्डी में मिचनेवाला जाड़ा—इस वक्त शिमले में बरफ गिर रही होगी—काश्मीर के झीलों पर शिकारे जकड़े होंगे—सब ओर मुरदनगी—सफेदी फैल गयी होगी—सिमेटरी कफ़न धवलिमा इस सफ़ेद पर काला दाग—वेश्या—श्वेत कमल पर भृग—चांदमारी—कागज—के बड़े-बड़े गत्ते पर छेद—दीमक—दीमक हो तुम लोक की नेई है[1]

फिर यह विचारधारा देश की दशा की ओर जाती है

> "खण्डित मानव खण्डित दृष्टि" "अखण्डित वृक्ष" "अलम्बित पशुता—दैविक दैहिक भौतिक तापा। राम राज नहिं तुलसी कांपा! छिन-भिन्न क्या"[2]

यहां यह बात द्रष्टव्य है कि पात्र के अन्तर-बाहर के भेद को मिटाने का प्रयत्न किया गया है। यह शैली पाठक के मन को पात्र की मनोवृत्तियों के साथ-साथ बढ़ते चलने में सहायक होती है, पात्र और पाठक के बीच की दूरी निर्धारित रहती है। इसमें जो अस्पष्टता है उसकी मात्रा पात्र के चेतन या उपचेतन मन के विभिन्न स्तरों को व्यक्त करती है।

इस शैली के साथ दूसरी एक शैली की भी चर्चा की जा सकती है जो पाठक को पात्र से बढ़कर लेखक की मनोदशा के निकट लाती है। 'विषायसठ' के छोटे-छोटे वाक्य बाह्य परिस्थितियों को ही व्यक्त नहीं करते लेखक के भाव-वेग को भी व्यंजित करते हैं पाठक का भाव-वेग भी उससे सन्तुलित हो जाता है और अति तीव्र टेम्पो का आभास होता है। 'मैला आंचल' की शैली इन दोनों के बीच की है। पात्र लेखक पाठक सबके भाव-वेग यहां समता में आ जाते हैं। तीनों में भाव-साम्य और भाव-वेग-साम्य

१. सांचा पृ १२१।
२. सांचा पृ १२८।

स्थापित होता है। संपूर्ण उपन्यास में भाव-वेग कुछ अधिक है।

मन्द गति के कुछ उपन्यास

१८४ अब कुछ उपन्यासों को देखें जिनका टेम्पो मन्द है और इस मन्दता का कारण ढूंढें। इलाचन्द्र जोशी के प्राय सभी उपन्यास—'पर्दे की रानी' और 'प्रणामयी' को छोड़कर—मन्द गति से चलते हैं। विशेषकर 'मुक्तिपथ' और 'सुबह के भूले' का टेम्पो अधिक मन्द है। कथानक रेंगता हुआ सा दिखायी पड़ता है। इसका प्रथम कारण विषय की कमी है। छोटे-से कथानकों को ही अतिविस्तृत रूप दे दिये गये हैं। किसी विशेष मनस्तत्व का धीरे-धीरे विकास करने के कारण सपूर्ण चित्र के अनावृत होने में बहुत समय लगता है। जहाँ लेखक प्रत्यक्ष मनोविश्लेषण का साहस करते हैं वहाँ कथा रुक-सी जाती है भाव-वेग शून्य-सा हो जाता है। इस तरह के अन्य उपन्यास जैनेन्द्र के हैं। मन्दतम उपन्यासों की श्रेणी में 'सुनीता' और 'मुक्तिपथ' को रख सकते हैं। इनमें जितनी घटनायें हैं सब एकमुखी हैं, एक ही भाव-तत्त्व को क्रमश विकसित करके चरम सीमा तक पहुँचानेवाली है। किसी असाधारण घटना या विषय के अप्रतीक्षित समीपन से और स्वभाव के अतिदीप्त परिवर्तन से पाठक का मन विद्रोह कर उठता है। 'सुनीता' और 'मुक्तिपथ' की चरम सीमायें भी ऐसी ही हैं जिनपर सहज विश्वास नहीं किया जा सकता। इनमें अत्यन्त अस्वाभाविक चरम सीमाओं को अगर कोई वस्तु थोड़ी-बहुत स्वाभाविक बनाती है तो वह यह गतिवेग ही है जो अत्यन्त नियंत्रित होकर घटनाओं का संचालन करती है धीरे-धीरे परिस्थितियों को अनुकूल रूप देती है पाठक के मन को प्रस्तुत चरम सीमा को निस्तर्क स्वीकृत करने को प्रेरित करती है।

फ्रेंच और अंग्रेजी के आधुनिक विश्लेषणात्मक लघु उपन्यासों में भी भाव वेग कम होता है। फ्रेच में ज्ञात होता है फ्लाबेयर का 'मदाम बोवारी' ही इस तरह के उपन्यासों का मार्ग-दर्शक है। उसके लगभग चार सौ पृष्ठों में एक नारी की कभी न तृप्त होनेवाली वासना के क्रमगत विकास का ही वर्णन है। इसी तरह मोपासाँ का 'एक स्त्री का जीवन' बादे का सफो पियर लोटी के 'लोटी की शादी' 'मदाम क्रिसन्तेम' फ्रांस के 'ताई' सिल्वेस्टर बेन्नार्ड का 'अपराध' मारिया के 'काले देवता' 'जो खो गया' बौद के 'जिजीवियेव' 'तंग दरवाजा' आदि उपन्यासों का भाव वेग बहुत ही मन्द है। अंग्रेजी में भी वर्जीनिया वुल्फ डोरोथी रिचर्डसन एलुअस हक्सले डी एच लारेन्स आदि विश्लेषणकारियों के सभी उपन्यास इस तरह मन्द गति से चलते हैं। रूसी में दास्तायवस्की और तुर्गनेव के अतिरिक्त किसी पुराने लेखक ने मन्द गति से चलनेवाले उपन्यास नहीं लिखे हैं। तास्स्ताय चेखव और गोर्की मध्यम गति से चलते हैं। आधुनिक समाजवादी यथार्थवाद के उपन्यासों में जिनमें किसी जनता के आन्तरिक और बाह्य विकास का क्रमबद्ध रूप मिलता है विकास के ठीक बोध के लिए भाव-गति मंद रखी जाती है। सोलोखोव का 'नयी जुती जमीन' फ्रेडिन के 'नगर और वर्ष' 'वासकास का सुख' और 'अपूर्व ग्रीष्म' प्लावकोव के 'धिमन्ट' आदि

फ्लयेव का 'पाने वढ़ो समय' ! मिबिरिल्स्की का 'एक नायक का जन्म' कोप्टयेवा का 'इवान इवानोविच' पानियाव का 'एक सच्चे आदमी की कहानी' निकोलेयवा का 'फसल' आदि इसके उदाहरण हैं।

फ्रेंच के समावित' 'ज्याँ क्रिस्ताफे' 'भूतकाल-पर्यवेक्षण' आदि सरिताेपम उपन्यासों की भी गति मंद है। बहुत धीरे रेंगते हुए विशाल उपन्यासों को पढ़ते समय गतिहीनता से पाठक प्राय ऊब उठता है विशेषकर प्रूस्त के 'भूतकाल-पर्यवेक्षण' से। लेकिन पूरा पढ़ने के बाद पुन स्मरण करने पर इनकी कई घटनायें लुप्त-सी हो जाती हैं और प्रधान पात्र पर पड़ा उनका प्रभाव-मात्र साफ-साफ दिखायी देता है। अत पढ़ते समय लक्षित गति से कथा की गति अधिक तीव्र ज्ञात होती है। इस तरह की प्रकृति हिन्दी के किसी उपन्यास में नहीं आयी है।

तीव्र गति के आधार पर और कुछ तीव्र गति के उपन्यास

१८५ भाव-वेग की दृष्टि से तीव्र उपन्यासों में तीव्रता प्राय निम्नलिखित कारणों से आती है

१ एक के बाद एक घटना का बिना किसी अवरोध के प्रतिपादन करते जाने से टेम्पो तीव्र होती है।

२ विभिन्न घटनाओं और पात्रों के रहते हुए भी उन सबको एक ही केन्द्र की ओर उन्मुख करने से शीघ्रता का आभास होता है।

३ भाव-वेग उपन्यास के आधारभूत विषय के वैकारिक भार (Emotional weight) और तीक्ष्णता पर भी अवलंबित रहता है। विषय की वैकारिक समृद्धि (Emotional richness) से भाव-वेग बढ़ता है। विकार-न्यूनता से भाव-गति मंद होती है।

४ वाक्यों की भाव-शक्ति (*Stamina*) भी टेम्पो का नियंत्रण करती है। पर अभिव्यंजन की भाव-शक्ति लेखक के हृदय की ही प्रेरक शक्ति का दूसरा रूप है। एक अच्छा उपन्यास लिखते समय कम मनन-शक्ति का उपयोग नहीं होता। लेखक की समस्त शिराओं की उत्तेजक प्रेरणा उपन्यास में प्राण-संचार करती है। अध्याय के अध्याय—पृष्ठ के पृष्ठ—वैकारिक तीक्ष्णता को बनाये रखने के लिए प्रत्येक वाक्य की भावशक्ति को तीव्र रखना पड़ता है।

उपर्युक्त सभी गुण रांगेय राघव के 'विषादमठ' में और फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आँचल' तथा 'परती परिकथा' में हैं। तीनों में चलचित्र की भांति घटनायें 'अहमहमिकया' आती रहती हैं। घटनाचक्र की इस तीव्र गति के साथ छोटे-छोटे वाक्यों की भाव-व्यंजना शक्ति भी है। घटनाओं का एक केन्द्र से संबन्ध 'विषादमठ' में अधिक है। सभी घटनायें एक कथा को विकसित करने से बढ़कर, बंगाल के अकाल की दशा को प्रकट करने में अधिक सहायक हैं। यशपाल के राजनीतिक उपन्यासों में भी छोटे-छोटे वाक्यों से बड़ी तीव्रता लायी गयी है। लेखकों के वैकारिक भार और समृद्धि का परिचय इन सबमें मिलता है।

७

मनोदशा (Mood)

१८६ आत्माविष्करण और आत्माभिव्यंजन की प्रवृत्ति कविता में ही नहीं साहित्य की अन्य रचनात्मक विधाओं में भी उपस्थित रहती है। उच्चकोटि के उपन्यासों में लेखक की आत्मा पात्रों में जीवन फूंकती है पात्रों को पाठक के लिये सहज गम्य बना देती है। पात्रों को समझने का अर्थ केवल उनका बौद्धिक परिचय प्राप्त करना नहीं है उनके भावों को अनुभूत करना है उनके सुख-दुःखों के साथ सन्तुष्ट विपण्ण होना है संक्षेप में उनका जीवन जीना है—कम से कम उस समय जब उनके संपर्क में पाठक रहता है। इसी तरह लेखक को पूर्णतया समझने का अर्थ है लेखक की ही अनुभूतियों में अपने-आपको भी डुबा देना। इस तरह का तादात्म्य स्थापित करने के लिए सबसे आवश्यक है मनोदशा को अनुरंजित करना (Tuning of Mood)। उपन्यास का प्रभाव मुख्यतया लेखक और पात्रों के मूड पर आश्रित रहता है और पाठक के मूड को रूप देता है। साधारण रचनाओं में लेखक का मूड स्पष्टतः प्रकट रहता है पर उत्कृष्ट रचनाओं में वह परोक्ष रूप में पात्रों को रूप देता है और पाठकों पर प्रभाव डालता है। प्रायः आदर्शवादी और आलोचनात्मक यथार्थवादी उपन्यासों में लेखक का मूड प्रत्यक्ष रहता है उत्कृष्ट यथार्थवादी निरपेक्ष भाव से अपने मूड को अप्रकट रखता है। आदर्श और यथार्थ के परे विश्लेषणी उत्कृष्ट कला के विधायक विश्व के सर्वश्रेष्ठ कलाकार वे ही हैं जो अपने अपने पात्रों के तथा पाठकों के मूडों में समरस सम्बन्ध और तादात्म्य स्थापित करने में सफल हुए हैं।

लेखक का मूड

अब हम विविध प्रवृत्तियों के अन्तर्गत आनेवाले उपन्यासों में लेखक के मूड का विश्लेषण कर देखें।

१८७ औत्सुक्यपूर्ण रचनाओं में लेखक का मूड—हिन्दी में प्रेमचन्द के पूर्व के उपन्यासों में दो तरह की मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं—एक किसी कल्पित कथा के आश्चर्य और रहस्यपूर्ण समर्थों द्वारा पाठक की उत्सुकता बनाये रखने की है—ऐयारी-जासूसी उपन्यास इस श्रेणी में आते हैं। दूसरी प्रवृत्ति सामाजिक कुरीतियों का भंडाफोड़ करने की है। इनमें प्रथम प्रवृत्ति के उपन्यासकार न अपना ही कोई मूड रखते हैं न पात्रों के मूड पर ध्यान रखते हैं। ये लेखक अनुभूति के परे हैं क्योंकि उनकी रचनाओं में अनुभूति के योग्य कुछ भी नहीं रहता। मगर वे पाठक से कोई संबन्ध रखते हैं तो पाठक में उत्सुकता उत्पन्न करने का। दूसरे प्रकार के आलोचनात्मक उपन्यासों की दशा भिन्न है।

१८८ आलोचनात्मक यथार्थवादी उपन्यासकारों का मूड—आलोचनात्मक यथार्थवादियों की दृष्टि जीवन के निकृष्ट पक्ष की ओर अधिक आकृष्ट रहती है, और बुराइयों की आलोचना उनका ध्येय रहता है। आलोचना में निरपेक्षता रखना प्रायः

असंभव ही रहता है, अतः आलोचनात्मक उपन्यासों में लेखक का तीक्ष्ण आक्रोश-भाव प्रकट होता ही है। 'परीक्षा गुरु' से लेकर आज तक के आलोचनात्मक उपन्यासों में—यही स्मरणीय है कि हिन्दी उपन्यास में यही एक प्रवृत्ति आरंभ काल से अब तक अक्षुण्ण प्रवाहित रहती आयी है—लेखक का एक तरह का संयमहीन मनोभाव दिखायी पड़ता है। बुराइयों के प्रति भयंकर घृणा, दुष्ट पात्रों के प्रति अपार विरोध, बिना किसी दया-ममता के उनकी खाल उखाड़ने का अमित आग्रह, यही आलोचनात्मक यथार्थवादी का रूप है। किशोरीलाल गोस्वामी के 'चपला' 'कुसुम कामिनी' 'सौतिया डाह' चन्द्रशेखर पाठक के 'अबला की आत्महत्या' 'वारांगना रहस्य' प्रसाद के 'कंकाल' 'तितली' कौशिक के 'माँ' 'भिखारिणी' चतुरसेन के 'हृदय की प्यास' 'अमर अभिलाषा' 'नरमेध' 'धर्मपुत्र' उग्र, ऋषभचरण, मन्मथनाथ गुप्त, गुरुदत्त आदि के सभी उपन्यास निराला के 'अप्सरा' 'अलका' 'निरुपमा' भगवती प्रसाद बाजपेयी के 'पिपासा' 'निमन्त्रण' 'पतिता की साधना' 'दो बहनें' 'अनाथ पत्नी' उषादेवी के 'पिया' 'पथचारी' प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विकास' 'विसर्जन' 'बयालीस' आदि उपन्यासों में लेखकों के भयंकर ईर्ष्याकारी रूप देख सकते हैं। पर जहाँ वे लेखक भयंकर निर्ममता दिखाते हैं, दूसरी ओर सद्पात्रों पर असीम कृपा करके उनपर समस्त गुणों का आरोप कर उन्हें देव तुल्य भी बना देते हैं।

इनमें उग्र, मन्मथनाथ और चतुरसेन को छोड़कर सब लेखक थोड़े-बहुत संयम से ही समाज की बुराइयों का चित्रण करते हैं। उग्र और मन्मथनाथ हमेशा नग्न कुत्सितता को नाक-भौं सिकोड़कर ऐसे शब्दों में प्रकट करते हैं, जो कम कुत्सित नहीं हैं, कम असभ्य नहीं हैं।[1] कहीं-कहीं इनमें बालजाक टोन (Balzac tone) आ जाता है :

> 'जब मैंने मंगलाप्रसाद की लड़की को देखा तभी से मन वह मुझे मिले इसके लिए पागल हो रहा है। ब्याह ज्येष्ठ में होगा जिसे अभी तीन महीने हैं। आजकल तो फागुन की हवा चल रही है। अगर वह आज ही मिल जाती तो क्या मजा आता।'[2]

बालजाक, मोपासाँ और जोला में भी इस तरह के नग्न चित्रण मिलते हैं, किन्तु उग्र और मन्मथनाथ में इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता, जबकि उक्त फ्रेंच कलाकारों ने जीवन के अन्य अंगों का भी मार्मिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उग्र और मन्मथनाथ का मूड आलोचना का है, कोसने का है, गालियाँ देने का है, जबकि बालजाक, मोपासाँ और जोला निरपेक्ष तटस्थ भाव रखते हैं।

१८६ यथार्थवादी उपन्यासकारों का मूल निरपेक्ष भाव—यथार्थवादी कलाकार प्रायः पात्रों के प्रति निरपेक्ष भाव स्वीकृत करते हैं। पात्रों के गुण-दुर्गुणों को निर्मम भाव से निरखनेवाले ये कलाकार बिना किसी अन्तर के सत् और असत् का रूप

---

१. दे. उग्र के 'बुधुआ की बेटी' 'दिल्ली के दलाल' 'बधी में बोतल', मन्मथनाथ का 'होटल दी माज' चतुरसेन के 'अमर अभिलाषा', 'हृदय की प्यास'।

२. उग्र का 'जी जी जी' पृ. २२।

दिखाते हैं। समाजवादी यथार्थवादी आदर्शोन्मुख यथार्थवादी यथार्थ यथार्थवादी (Real Realist) मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी ये सब इस निरपेक्षता का पालन करते हैं। यूरोप के प्रायः सभी आधुनिक यथार्थवादी निरपेक्ष रहते हैं। फ्रैंच के फ्लाबेयर, मोपासाँ जैसे प्रकृतिवादी आन्द्रे जीद मन्तरसों मूस्त मारिया आदि मनोविश्लेषक रूस के समाजवादी-यथार्थवादी सब थोड़ी-बहुत मात्रा में इस निरपेक्षता का पालन करते हैं। अंग्रेजी के गाल्सवर्दी और बेनेट जैसे समाज-विश्लेषक और हक्सले वूल्फ आदि मनोविश्लेषक भी निरपेक्ष निरीक्षक हैं।

हिन्दी में उपेन्द्रनाथ अश्क उदयशंकर भट्ट नागार्जुन भगवतीप्रसाद वाजपेयी (केवल नवीनतम उपन्यासों में) आदि लेखक जहाँ यथार्थवादी रहते हैं वहाँ निर्मम भी रहते हैं। अश्क का 'गिरती दीवारें' कविराज रामदास के प्रसंग को छोड़कर सर्वत्र निरीह भाव से यथार्थ का चित्रण करता है। भट्टजी के 'सागर, लहरें और मनुष्य' के अन्तिम खण्ड को छोड़कर बाकी में भी लेखक की निर्ममता द्रष्टव्य है। अन्तिम खण्ड में उनका आदर्शवाद रत्ना और मछवन्त पर सहानुभूति का कारण बनता है। नागार्जुन और रेणु निरपेक्ष रहकर भी कुछ-कुछ प्रेमचन्द की सी प्रसन्नता के मूड में हैं।

कुछ विशेष लेखकों का मूड

१६० प्रेमचन्द—प्रेमचन्द का मूड साधारणतया निरपेक्ष निश्चिन्तता और उससे उत्पन्न प्रसन्नता का है। घोर व्यथा के दृश्यों को शोकात्मक बनाने के लिए वे मूड बदलते तो हैं, लेकिन वहाँ भी ऐसा लगता है कि लेखक इन घोर यातनाओं को कुछ नहीं समझता एक फ़िलासफ़र की भाँति इन सबसे ऊपर उठ जाता है। जब प्रेमचन्द के पात्र भयंकर वेदना में पड़ जाते हैं,तब ऐसा नहीं लगता कि प्रेमचन्द रो रहे हैं या रुष्ट हो रहे हैं, पर लगता है कि वे जीवन पर हँस रहे हैं। जीवन के इस अनुभवी के लिए—जो जन्म से मरण तक कष्टों का ही अनुभव करता रहा—यह स्वाभाविक ही है। उनका यह मनोभाव देखकर कभी-कभी लगता है कि यह ऐसा आदमी है जो मरते समय भी हँसता रहेगा। किन्तु इस हँसी के बीच में भी एक करुणा है। हृदय की जो तप्त ज्वालामुखी है वह इस हँसी में अप्रत्यक्ष नहीं होती। जहाँ-जहाँ प्रेमचन्द आदर्शवादी न होकर जीवन का यथार्थ चित्रण करते हैं, उनका यह रूप स्पष्ट है। इस निर्ममता में पात्रों पर सहानुभूति की हीनता नहीं है उलटे असीम सहानुभूति है। पर यह सहानुभूति एक व्यथाग्रस्त व्यक्ति को देखकर दया करनेवाले सुखी और सन्तुष्ट मनुष्य की नहीं है बल्कि ऐसे एक व्यक्ति की है जो उस व्यक्ति से अधिक यातनायें सह चुका है अतः अधिक कठोर हो चुका है। इसलिये प्रेमचन्द की सहानुभूति में अधिक सहृदयता है। 'निर्मला' में मन्साराम के मरण के और 'निर्मला' के अन्त के प्रसंगों में तथा 'गोदान' के अन्त में प्रेमचन्द का यह रूप द्रष्टव्य है।

---

१. परिभाषा 'यथार्थवाद' के अध्याय में दी जावेगी। —अध्याय ७ परिच्छेद ७

लेकिन प्रेमचन्द जब मार्क्सवादी बन जाते हैं जहाँ उनकी दशा अन्य सुधारवादियों की सी ही है, वे पात्रों से भी अधिक व्याकुल दिखायी पड़ते हैं उनसे अधिक व्यग्रता से उनके कष्टों को दूर करने का रास्ता ढूँढते हैं। यह व्यग्रता उनकी सबसे बड़ी कमजोरी है।

सुख-दुख राग-विराग प्रीति-विद्वेष आदि के बन्धन में पड़े मनुष्यों से ऊपर उठना और फिर ऊपर से मनुष्य के उन्नत से उन्नत बौद्धिक विकास और आध्यात्मिक चैतन्य को तथा उसकी नग्न मूर्खता और घोर बर्बरता को देखकर मन्द हास करने की शक्ति विश्व-साहित्य में ही बहुत कम लेखकों में है। हिन्दी उपन्यासकारों में एक प्रेमचन्द ही इस स्तर तक कुछ-कुछ उठ पाये हैं। रूसी में तास्तायवस्की तुर्गनेव और सबसे अधिक तास्ताय साधारण मानवता से ऊपर उठ पाये हैं। गोर्की ऊपर उठते तो हैं पर मुस्कराते-से रह जाते हैं। बाद के लेखक जीवन में अधिक डूबते जा रहे हैं। फ्रेंच में मानव-जीवन का महाभाष्य प्रस्तुत करनेवाले ह्यूगो बहुत ऊँचे उठे पर उसके बाद मनोविश्लेषण के झमेले म पड़े हुए लेखक इस उन्नत स्तर तक नहीं पहुँच सके। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि फ्रेंच के विश्लेषणकारी लेखकों में जीवन के प्रति पूर्ण निर्लिप्तता का भाव है। अंग्रेजी उपन्यास में भी आजकल यही दशा है। पर बहुत पहले ही थैकरे अपने 'शेखी का बाजार' (Vanity Fair) में जीवन पर हँस चुके थे और बहुत हँस चुके थे।

साधारण सामाजिक और गार्हस्थ्य-जीवन के दृश्यों म प्रेमचन्द का जो प्रसन्न भाव है वह, ज्ञात होता है रूसी उपन्यास की देन है। सरल से सरल किन्तु अत्यन्त मार्मिक और हृदय को प्रभावित करनेवाले अपरिमित नाटकीय दृश्य प्रेमचन्द के प्रत्येक उपन्यास मे होते हैं। यही दृश्य इस प्रसन्नता के कारण हैं।

अंग्रेजी जेन आस्टिन के उपन्यासों में यह प्रसन्नता देख चुकी है। अपने विषय को घर की चहारदीवारी के अन्दर ही सीमित रखनेवाली जेन आस्टिन इसी प्रसन्न भाव से पाठकों को मुग्ध करती है। प्रेमचन्द के समान ही वे साधारण क्षुद्र घटनाओं को भी ऐसा रूप देती हैं कि उनमें मन्द हास की माधुरी आ जाती है। 'अहंभाव और पूर्वग्रह' (Pride and Prejudice) के इन प्रथम वाक्यों से ही स्पष्ट होगा कि यह लेखिका कितनी शान्त निर्मम और निश्चिन्त है: "यह सब जगह मानी हुई सचाई है कि हरएक अकेला युवक जिसके पास काफी धन हो एक स्त्री की जरूरत में होगा। पड़ोस में प्रथम-प्रथम आकर रहनेवाले ऐसे एक युवक के वास्तविक भावों और विचारों के सम्बन्ध में कोई जानकारी न हो तो भी आस-पास के घरवालों के लिए यह एक निश्चित सत्य है कि वह युवक उनकी लड़कियों में किसीकी संपत्ति है।" जेन आस्टिन के बाद अंग्रेजी में किसी उपन्यासकार का ऐसा मूड नहीं है। हिन्दी में प्रेमचन्द के बाद यह प्रसन्न भाव और डिकेन्सफर का सा हास्यपूर्ण वैराग्य और किसी लेखक में स्थायी रूप में नहीं रहा। यशपाल का उपन्यास 'मुनिया की शादी' प्रसन्नता में प्रेमचन्द के पास पहुँचता है पर उनके अन्य उपन्यास नहीं। अमृतराय के 'बीज' के प्रारंभिक अध्यायों में निर्मम प्रसन्नता है, पर शीघ्र ही वह नष्ट हो जाती है।

यह उतरा प्रेमचन्द का व्यक्तिगत गुण। पाठकों के प्रति उनका भाव बड़ी ईमानदारी का है सच्चे मित्र का है। देवराज उपाध्याय के मत में "प्रेमचन्दजी का पाठक ऐसा अनुभव करता है वह मानो एक साफ-सुथरी खुली हुई सड़क पर चल रहा हो। वह निश्चय रूप से जानता है कि वह बिना किसी कष्ट के अपने लक्ष्य स्थान पर अवश्यमेव पहुँच जायगा। वह जानता है कि लेखक अर्थात् उसका पथ प्रवर्तक बड़ा ही समामानस है सहृदय है वह उसे हाथ पकड़कर लक्ष्य पर पहुँचा ही देगा कभी उसे धोखा न देगा।[१]

जैनेन्द्र ने भी यही मत प्रकट किया है। यह ईमानदारी का भाव प्रेमचन्द की अपार सहृदयता का परिचायक है। जैनेन्द्र के मत में

> "अपने पाठक के साथ मानो वे अपना भेद को बाँटते चलते हैं। अपनी में यों कहूँगे कि वे पाठक को कान्फिडेन्स में—विश्वास में—ले लेते हैं। प्रेमचन्दजी ऐसे विश्वास ऐसी मैत्री और परिचय के साथ सब कुछ बतलाते हुए पाठक को वहाँ तक ले जाते हैं कि उसे धक्का-सा कुछ भी नहीं लगता। पग-पग पर उसे पता चलता है कि इस कहानी के स्वर्ग में से उसका हाथ पकड़कर ले जाता हुआ उसका पथ-दर्शक बड़ा सहृदय और विलक्षण पुरुष है।[२]

प्रेमचन्द की इस ईमानदारी का यह प्रयोजन हुआ है कि वे सदा पाठक की मनोदशा को अनुरणित (Tuned) करने में समर्थ रहते हैं। उनके प्रत्येक पात्र के सम्पर्क में आते ही पाठक एक विशेष तरह के मूड या मनोदशा में आ जाता है। सामान्य जीवन में अपने परिचित व्यक्तियों में किसीको देखते ही हम जैसे एक विशेष मनोदशा में आ जाते हैं उसी तरह प्रेमचन्द के पात्रों से कुछ परिचित होने के पश्चात्, उनमें से किसीके सम्पर्क में आते ही हम एक विशिष्ट मनोदशा अपना लेते हैं। मनोदशा के अनुरणन या अनुस्वरण (Tuning of mood) में प्रेमचन्द के अतिरिक्त हिन्दी का कोई उपन्यासकार (अज्ञेय को छोड़कर) इतना सफल नहीं हुआ है। प्रेमचन्द इसमें तास्ताय और दास्तायवस्की के स्तर तक पहुँच जाते हैं। इन कलाकारों के उपन्यास पात्रों के मनोविकारों की उठती-गिरती तरंगों के साथ पाठक के विकारों को अनुधावित करते हुए उसे पात्रों की प्रकृति से इतना परिचित करा देते हैं कि एक-एक पात्र के दर्शन-मात्र से उसमें एक-एक प्रकार की मनोदशा उत्पन्न हो जाती है। ह्यूगो प्रेवास्त फ्लाबेयर, मारिया मोपासाँ जीद आदि फ्रेंच उपन्यासकारों में और जेम आस्टिन एमिली ब्राँटी जार्ज इलियट, मेरिडिथ हार्डी आदि अंग्रेजी उपन्यासकारों में भी यह गुण विद्यमान है। 'वाँ-वल-वाँ' 'एक स्त्री का जीवन' 'जो लो गया' 'साइलस मार्नर' 'टेस' 'जूड' 'तंग दरवाजा' आदि उपन्यास मनोदशा के अनुरणन की दृष्टि से अत्युत्कृष्ट रचनायें हैं।

हिन्दी के अन्य उपन्यासकारों में केवल अज्ञेय ने मनोदशा के अनुस्वरण की

---

१ देवराज उपाध्याय हंस सितम्बर १९४२, पृष्ठ ११११।

२. जैनेन्द्र : साहित्य का श्रेय और प्रेय पृष्ठ १ १—१ २।

सामर्थ्य प्रकट की है। विशेषकर उनके 'नदी के द्वीप' के उत्तरार्द्ध में पात्रों के विकार पाठकों के विकारों को प्रभावित कर उनको रूप देते हैं। भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'यथार्थ से आगे' के पात्र भी मनोदशा को अनुस्वरित करने में थोड़ा-बहुत सफल हुए हैं।

१९१ **जैनेन्द्र और जोशी**—जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी दोनों मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार हैं पर उनकी मनोदशाओं में मौलिक अन्तर है। वस्तुतः दोनों में वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करनेवाले एक निरपेक्ष लेखक का मूड नहीं है जैसे कि दास्तायवस्की वेब्रिन मूरस मारिया डोरोथी रिचर्डसन प्रूस्त आदि उपन्यासकारों में है। इन यूरोपीय कथाकारों के उपन्यासों में कई ऐसे भाग हैं जो बिलकुल नीरस दीखते हैं। लेकिन उन नीरस भागों में अपार शक्ति निहित रहती है। इन भागों में लेखक और पात्रों के विशेष प्रकार के मूड के कारण ऐसा लगता है कि जीवन और उसकी समस्यायें अत्यन्त गम्भीर हैं। लेखक निष्क्रिय होकर चिन्तन में लगा दीखता है। जैनेन्द्र जोशी आदि हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों की दशा इससे बिलकुल भिन्न है।

जैनेन्द्र 'परख' और 'त्यागपत्र' के अतिरिक्त सभी उपन्यासों में एक आदर्शवादी दार्शनिक की मनोदशा में हैं। लेकिन यह दार्शनिक मनोदशा प्रेमचन्द की दार्शनिक मनोदशा से भिन्न है। प्रेमचन्द जीवन की क्रूर यातनाओं का अनुभव करके कठोर बन गये हैं और अब जीवन पर हँसते हैं पर जैनेन्द्र जीवन की व्याकुलताओं को देखकर चिन्तित-से दिखायी पड़ते हैं। उनका मन स्वयं व्याकुल-सा हो जाता है। उनके पात्र भी मानसिक उथल-पुथल की दशा में हैं। यह मानसिक उथल-पुथल अभिव्यंजन की शैली में भी प्रकट हुई है

"विवाह पर मुझे ठहरना चाहिए। वह क्या चीज है? मुझको मालूम होता है कि जीवन में उस जगह आकर एक मंजिल पूरी और दूसरी आरम्भ होती है। वहाँ से रास्ता कुछ और तरह का होता है। मानो राह अब तक समतल थी। अब वह ऊपर को चलती है। सरपट भागना यहाँ सम्भव नहीं। यहाँ व्यक्ति अकेला नहीं दूसरा भी साथ में है। दूसरा ही साथ नहीं है अन्य अनेक भी साथ हैं। विवाह के बाद व्यक्ति निरा व्यक्ति नहीं है वह नागरिक भी है। वह बड़े समाज का एक अंग है"[2]

इन छोटे-छोटे वाक्यों से व्याकुल मनोदशा का स्पष्ट परिचय मिलता है।

जोशी का मूड सर्वत्र एक प्रकार की रोमान्टिक उत्फुल्लता का भाव होता है। वे पाठक को चकित उत्कण्ठित और स्तम्भित करने को व्यग्र दिखायी पड़ते हैं। 'प्रेत और छाया' 'जहाज का पंछी' 'सुबह के भूले' आदि उपन्यासों में कई स्तोम जनक रस हैं। जोशीजी का दूसरा मूड उन प्रसंगों में मिलता है जहाँ वे समाज की आलोचना करते हैं। ऐसे सन्दर्भों में वे उद्वेग और आवेश में आ जाते हैं। भाषा भी इस आवेश का प्रतिबिम्ब करती है जैसे

---

१ देखिये अनुच्छेद १८ १९१।

२ सुनीता पृ ६।

"प्राज सामूहिक और संगठित हिंसा के सम्बन्ध में भी मेरे विचारों में मूलगत परिवर्तन आ गया है। पर इस वास्तविकता की ओर से मैं आँखें बन्द किए हुए हूँ कि जब तक आज के संसार की अत्यन्त संकीर्ण रूप से भौतिक और भ्रष्टाचारी मनोवृत्ति में परिवर्तन नहीं होता जब तक विश्व समाज का कोई वर्ग अधिकाधिक अर्थ संचय के निरर्थक प्रलोभन के दलदल में स्वयं फँसते चले जाने और अपने साथ दूसरों को भी उस कभी भ्रष्ट न होनेवाले प्रवाह में घसीटते रहने के चक्कर में पड़ा रहेगा" १

इस आवेग और स्वच्छन्दता के कारण जोशीजी चिन्तन के प्रसंगों में भी गम्भीरता का पालन नहीं कर सकते जो मनोविश्लेषण में अत्यन्त आवश्यक है।

१९२ रेणु—फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' दोनों में एक विशेष प्रकार के मूड का परिचय मिलता है। उसके छोटे-छोटे वाक्य शीघ्र दृश्य-परिवर्तन दृश्यों का एक-एक करके ऐसे आना जैसे कोई 'लेण्डस्केप' रेलयात्री को दिखायी पड़े यह सब मिलकर पाठक में एक वैकारिक तनाव (Emotional tension) उत्पन्न करता है। संपूर्ण उपन्यास में ऐसी तनातनी है कि लगता है लेखक ने बड़े उतावलेपन से साँस रोककर यह सब लिखा है।

यही वैकारिक तनातनी रांगेय राघव के 'विषादमठ' में भी है। उसकी शैली रेणु की शैली से बहुत कुछ भिन्न है पर विकारों को प्रभावित करने में वह भी 'मैला आँचल' की श्रेणी में आता है।

इतनी विवेचना के बाद अन्त में हम यह कह सकते हैं कि हमारे अधिकांश उपन्यासकारों ने मूड या मनोदशा के प्रति सचेत रहकर उपन्यास नहीं लिखे हैं। केवल रेणु के उपन्यासों में विशेष रूप से सचेत रहने का आभास मिलता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों का मूड स्वतःसिद्ध और सहज है प्रमचन्द की ही वास्तविक मनोदशा उनके उपन्यासों में प्रकट हुई है। अन्य उपन्यासकारों ने विशेष सतर्कता नहीं दिखायी है। उनके उपन्यासों में जिन मनोदशाओं का आभास मिलता है वे विषय के विकास के साथ-साथ स्वयं आयी हुई हैं।

---

१. 'मुक्तिपथ' पृष्ठ १४१।

चौथा अध्याय

उपन्यास और समाज

१६३ साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब माना जाता है किन्तु सभी साहित्यिक रचनायें समान रूप में सामाजिक जीवन की विभिन्न दशाओं तथा उसकी गतिविधियों को प्रकट करती है, यह कहना त्रुटिरहित नहीं है। विभिन्न देशों और कालों की रचनाओं में और एक ही देश और काल की भिन्न-भिन्न साहित्यिक धाराओं में सामाजिक प्रवृत्तियों का जो आभास मिलता है उसमें बहुत कुछ अन्तर रहता है। तत्कालीन परिस्थिति साहित्यिक सामाजिक आर्थिक और धार्मिक मान्यतायें लेखक की वैयक्तिक अभिरुचि तथा उसके ज्ञान चेतना और अनुभूति की सीमायें आदि के अनुसार ही साहित्य में समाज का प्रतिरूप उसकी समस्याओं का विश्लेषण और उसकी आशाओं और अभिलाषाओं का प्रदर्शन मिलते हैं।

उपन्यास बुर्जुआ साहित्य की सर्वश्रेष्ठ सृष्टि है।[१] किन्तु वह इस समय सबसे अधिक जनतन्त्रीय साहित्यिक विधा है[२]—जनतन्त्रीय इस अर्थ में कि वह जनता के हर वर्ग के बाह्य रूपों तथा आन्तरिक भावों को उसकी विकासोन्मुख गति को व्यक्ति और वर्ग की प्रत्येक विचारधारा को बिना किसी सवरण (रिजर्वेशन) के प्रतिपादित करने की क्षमता रखता है। किसी वैयक्तिक अथवा सामाजिक समस्या के आधार पर लिखित लघु-उपन्यास (Novelette) से लेकर हजारों पृष्ठों में मानव-जीवन के चिरन्तन सत्यों को या सामाजिक क्रान्तियों के इतिहास को प्रस्तुत करनेवाले विशालकाय महाकाव्यों समान उपन्यासों तक में वैयक्तिक या सामाजिक जीवन का छोटा-बड़ा अंश प्रतिबिम्बित होता है। सामाजिक वातावरण और वैयक्तिक अनुभूतियों का वैज्ञानिक रीति में अध्ययन करने की क्षमता जितनी उपन्यास में—आधुनिक उपन्यास में—रहती है साहित्य के अन्य किसी रूप में नहीं रहती। सन्तोष और आनन्द को जन्म देनेवाली वेदनाएँ, क्षण मात्र में ही निराशा मे परिणत होनेवाली अस्थायी आशाएं, अस्त-मात्र हरियाली देखकर रूप बदलनेवाली निराशाएं, जीवन को अभ्युदय की प्रेरणा देनेवाली अपरिवर्तित प्रवृत्तियाँ इन सबका वैयक्तिक और सामाजिक धरातल पर विश्लेषण करने के लिए सबसे उपयुक्त साहित्यिक माध्यम उपन्यास ही है। इस विश्लेषण के क्षेत्र में नये पर्दों

---

१ *"We can say that not only is the novel the most typical creation of bourgeois literature, it is also its greatest creation"*—Fox The Novel and the People P 80,

२ 'The Novel is the most democratic form of literature easily *adaptable to minds of high, low and no intelligence*"—*Phelp* The Advance of the English Novel, P 5

और नये उपादानों को ढूंढ निकालने का प्रयत्न उपन्यास-साहित्य के इतिहास में सदा रहा है और इस प्रयत्न के फलस्वरूप उपन्यास में विषय-सीमा और टेक्नीक की दृष्टि से बहुत वैविध्य आया है। इस तरह हम देखते हैं भाव और शिल्प की दृष्टि से उपन्यास का जीवन से कितना अटूट सम्बन्ध है।

मनुष्य के ज्ञान-सत्र के क्रमिक विकास के अनुसार जीवन के प्रति उसकी दृष्टि भी बदलती आयी है। मानव-जीवन का इतिहास बताता है कि उसके विकास की विविध दशाओं में भावुकता क्रमशः कम होती आयी है और बौद्धिकता का विकास होता आया है। उपन्यास साहित्य में यह विकास स्पष्टतया द्रष्टव्य है। आरम्भकालीन उपन्यासों में जीवन के प्रति जो नैतिक धारणायें स्पष्ट की गयी हैं उनसे आज की धारणायें बदल गयी हैं। दूसरी बात यह है कि प्रारम्भिक दशा में उपन्यास सामाजिक जीवन एवं व्यक्ति के बाह्य जीवन के सम्बन्धों पर ही अवलंबित रहता था लेकिन बौद्धिक विकास ने हमें जो नयी दृष्टि दी है उसके कारण अब समाज की विषमताओं को समझने के लिए व्यक्ति की मानसिक ग्रन्थियों का अध्ययन भी किया जाने लगा है। तीसरी बात यह है कि पहले व्यक्ति और समाज को सुधारना उपन्यास का एक मुख्य ध्येय माना जाता था अब नैतिकता के प्रश्न पर अधिक महत्त्व न देकर जीवन को समझने का प्रयत्न किया जा रहा है। यह विकास-क्रम सामान्य रूप में हिन्दी एवं पाश्चात्य उपन्यासों में द्रष्टव्य है। इन्हीं बातों की विवेचना करने का प्रयत्न इस अध्याय में किया जा रहा है। किन्तु पाश्चात्य उपन्यासों के अध्ययन में उनमें प्रतिपादित सभी समस्याओं तथा यूरोपीय समाज से उनके सम्बन्धों की विस्तृत चर्चा यहां नहीं की जाती है क्योंकि यूरोप की समस्याओं का हिन्दी उपन्यास की समस्याओं से कोई सम्बन्ध नहीं है और यूरोपीय उपन्यास के सामाजिक आधार को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक विवेचन प्रथम अध्याय में ही किया जा चुका है।

१
सामाजिक अनैतिकता और सुधारवादी दृष्टिकोण

हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों की सामाजिक समस्याएँ

१६४ उन्नीसवीं सदी के भारत ने सामाजिक क्षेत्र में कई महत्त्वपूर्ण धार्मिक बौद्धिक और सांस्कृतिक प्रेरक-शक्तियों का अवतरण देखा। राजा राम मोहन राय और ब्रह्म-समाज ने स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज ने मदाम ब्लावत्स्की और ब्रह्मविद्या-संघ ने (थीयोसाफिकल सोसाइटी) रामकृष्ण विवेकानन्द और रामतीर्थ ने भारतीय समाज और धर्म की पतनोन्मुख प्रवृत्तियों को पहचानकर जीवन के विकास में बाधक रूढ़ियों परम्पराओं अन्धविश्वासों और आचार-विचारों का भयकर विरोध किया। बाल-विवाह पर्दा-प्रथा सती अस्पृश्यता

अच्छे इनसान को शैतान की मिट्टी में बरबस ले जाकर झोंक देता है यह वह सनक है जिसमें आदमी अपने खानदान को ईमान और भगवान तक को भूल जाता है। यह मद आदमियों के पीने की चीज नहीं है यह शराब का पानी है, सत्यानाश का प्रबल प्रवाह है।[1] यहां बिना कलात्मक धारणा के केवल लेक्चरबाजी से काम लिया गया है। इसी तरह शुष्क आलोचना का रूप रांगेय राघव के प्रथम उपन्यास में भी उपलब्ध है

मगर यह मुर्दुआ लड़कियाँ! साम्राज्यवाद को यह बुरा समझती हैं, मगर रेड क्रास के फण्ड के लिए नाच-गा सकती हैं चाहे वह साम्राज्यवादी युद्ध के लिए ही चन्दा क्यों न हो रहा हो। साम्राज्यवाद भी ठीक है मगर अपनी गरीबी नहीं। पार्टियों पर इश्क भी लड़ाती हैं और सतीत्व का भयंकर पर्दा भी इनपर पड़ा रहता है।"[2] नवीनतम उपन्यासों में सामाजिक अनीतियों और अत्याचारों की आलोचना सबसे अधिक इलाचन्द्र जोशी के 'जहाज का पंछी' में मिलती है। इसमें पढ़े लिखे नायक के जीने का मुख्य उद्देश्य ही सामाजिक नीति-अनीति पर लेकर झगड़ना मालूम होता है। 'प्रेत और छाया' 'मुक्तिपथ' 'सुबह के भूले' आदि भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं।

११७ (ख) प्रत्यक्षीकरण—समाज की अनैतिकता को दिखाने के लिए स्वीकृत दूसरा मार्ग उनका प्रत्यक्ष रूप से वर्णन करना और अनाचारों के दृश्यों को उपस्थित करना है। ११४ के पहले के प्रायः सभी उपन्यासों का मुख्य आधार यही प्रवृत्ति रहा है। अत्याचारों और असामाजिकता के प्रत्यक्षीकरण-मात्र के आधार पर ही पूरे के पूरे उपन्यास रचे गये। गोस्वामी प्रसाद निराला उग्र चतुरसेन मन्मथनाथ इनके उपन्यास विशेष उल्लेखनीय हैं।

११८ (ग) उपदेश—नैतिकता का उपदेश नैतिकवादी उपन्यासों की तीसरी प्रवृत्ति है। इस उपदेश के भी दो रूप मिलते हैं। आलोचनात्मक उपन्यासों में जो आदर्श पात्र हैं—प्रायः वे नायक होते हैं—वे अपने जीवन द्वारा ही उत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत करते हैं। दूसरी ओर आदर्श स्वयं लेखक के अथवा पात्रों के उपदेशपूर्ण वचनों में भी मिलते हैं। उपर्युक्त सभी उपन्यासों में इनके उदाहरण मिलते हैं। नमूने के लिए दो-एक ही लें।[3]

'तितली' में इन्द्रदेव के शब्द हैं 'मैं तो समझता हूँ कि गाँवों का सुधार होना चाहिए। कुछ पढ़े-लिखे संपन्न और स्वस्थ लोगों को नागरिकता के प्रलोभनों को छोड़कर देश के गाँवों में बिखर जाना चाहिए। उनके सरल जीवन में विश्वास प्रकाश और आनन्द का प्रचार करना चाहिए।"[4]

'कंकाल' में एक गोस्वामी का उपदेश है 'जाओ सेवा में लगो समाज-सेवा करके अपना हृदय शुद्ध बनाओ जहाँ स्त्रियाँ सताई जायें मनुष्य अपमानित हों, वहाँ

१ शराबी पृ १८०।
२. घरौंदा पृ ६१।
३ विषाद पृ ११ से १८।
४ तितली, पृ २६४।

तुमको अपना धर्म छोड़कर कर्तव्य करना होगा।[१]

'विकास' और 'बयालीस' में प्रतापनारायण श्रीवास्तव पृष्ठों तक उपन्यास को पूर्ण विराम देकर लम्बे-लम्बे विवेचनों और उपदेशों में लग जाते हैं।[२] उपदेश के नमूने देखिए— 'हमें अपने समाज का निर्माण इसी प्रकार करना चाहिए जिसमें हम उन गर्तों में न गिरें, जिनमें पश्चिमी राष्ट्र गिर रहे हैं। हमें अपने देश-काल की परिस्थिति के अनुसार उतना ही बदलना चाहिए जितना आवश्यक हो।[३]

उदाहरण बढ़ाना अनावश्यक है। उपर्युक्त तीन प्रवृत्तियों का विस्तृत विवेचन यहाँ मुख्य उद्देश्य नहीं है।[४] हमें देखना यही है कि इन उपन्यासों में सामाजिक तत्त्व कहाँ तक हैं और उनका विश्लेषण कैसा हुआ है। वस्तुतः इन सब आलोचनात्मक और उपदेशपूर्ण उपन्यासों में समाज का अपूर्ण और एकांगी रूप ही प्राप्य है। आलोचना करते हुए जीवन के काले पक्ष को ही देखा गया है जो अपूर्ण जीवन नहीं है। जो आदर्श जीवन प्रस्तुत किये गये हैं वे भी जीवन से नितान्त दूर हैं। दृष्टिकोण के एकांगी होने के कारण जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों का सन्तुलित विश्लेषण भी असम्भव हो गया है। प्रेमचन्द को छोड़कर और किसीके उपन्यास में हमारे समाज का सर्वांगीण रूप प्रतिबिम्बित नहीं हुआ है।

ऐसे उपदेशों तथा समाजनीति के प्रचार के कारण अधिकांश उपन्यासों के शिल्प-विधान में शिथिलता आयी है और पात्र बहुत कुछ अस्वाभाविक हो गये हैं। इस तरह के प्रचार के संबंध में प्रेमचन्द ने लिखा था "वह (प्रोपगंडा) रसविहीन होने के कारण आनन्द की वस्तु नहीं। लेकिन यदि कोई चतुर कलाकार उसमें सौन्दर्य और रस भर सके तो वह प्रोपगंडा की चीज न होकर सत्-साहित्य की वस्तु बन जाती है।[५]

वस्तुतः जैसे एक अंग्रेजी आलोचक ने कहा है—प्रत्येक लेखक की रचना उसके विश्वासों से प्रभावित रहती है अतः यह कहना कठिन हो जाता है कि कहाँ लेखक की तटस्थता समाप्त होती है और कहाँ 'प्रचार' का प्रारम्भ होता है।[६] इस संबंध में कहा जा सकता है कि औपन्यासिक वास्तव पर आघात किये बिना और पात्रों की नैसर्गिक गति में बाधा उपस्थित किये बिना लेखक अपने आदर्शों का प्रचार करे तो

---

१ कंकाल पृ १६६।

२ विकास पृ ४२-४८ बयालीस पृ ११ १२।

३ विकास पृ ६८।

४ उक्त प्रवृत्तियों का विवेचन यथार्थवाद से संबंधित अध्याय में किया जाना है।

५ 'साहित्य का आधार' शीर्षक लेख, 'जागरण' १२ अक्तूबर १६३२, पृ ३।

६ "What a man writes will be modified by what he believes and having got so far it will be almost impossible to say where detachment and objectivity end and 'propaganda in its more subtle and insiduous form begins. —Henderson The Novel Today P 16

अच्छे इनसान को शैतान की भट्ठी में बरबस ला झोंक देता है यह वह सनक है जिसमें आदमी अपने खानदान को ईमान और मनबान तक को भूल जाता है। यह अच्छे आदमियों के पीने की चीज नहीं है यह सरारत का पानी है सत्यानाश का प्रबल प्रवाह है।[1] यहाँ बिना कलात्मक धारणा के केवल लेक्चरबाजी से काम लिया गया है। इसी तरह युक्त आलोचना का रूप रांगेय राघव के प्रथम उपन्यास में भी उपलब्ध है

मगर यह बूर्जुआ लड़कियाँ! साम्राज्यवाद को यह बुरा समझती हैं, मगर रेड क्रास के फंड के लिए नाच-गा सकती हैं चाहे वह साम्राज्यवादी युद्ध के लिए ही चन्दा क्यों न हो रहा हो। साम्राज्यवाद भी ठीक है मगर अपनी गरीबी नहीं। पार्टियों पर इश्क भी लड़ाती हैं और सतीत्व का भयंकर पर्दा भी इनपर पड़ा रहता है।"[2] नवीनतम उपन्यासों में सामाजिक अनीतियों और अत्याचारों की आलोचना सबसे अधिक इलाचन्द्र जोशी के 'जहाज का पंछी' में मिलती है। इसमें पढ़े-लिखे नायक के जीने का मुख्य उद्देश्य ही सामाजिक नीति-अनीति पर लेक्चर झाड़ना मालूम होता है। 'प्रेत और छाया' 'मुक्तिपथ' 'सुबह के भूले' आदि भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं।

११७ (ख) प्रत्यक्षीकरण—समाज की अनैतिकता को दिखाने के लिए सबसे कुछ दूसरा मार्ग उनका प्रत्यक्ष रूप में वर्णन करना और अत्याचारों के दृश्यों को उपस्थित करना है। १९४ के पहले के प्रायः सभी उपन्यासों का मुख्य आधार यही प्रवृत्ति रहा है। अत्याचारों और असम्यामिकता के प्रत्यक्षीकरण-मात्र के आधार पर ही पूरे के पूरे उपन्यास रचे गये। गोस्वामी प्रसाद निराला उग्र चतुरसेन मन्मथनाथ इनके उपन्यास विशेष उल्लेखनीय हैं।

११८ (ग) उपदेश—नैतिकता का उपदेश नैतिकवादी उपन्यासों की तीसरी प्रवृत्ति है। इस उपदेश के भी दो रूप मिलते हैं। आलोचनात्मक उपन्यासों में जो आदर्श पात्र हैं—प्रायः वे नायक होते हैं—वे अपने जीवन द्वारा ही उत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत करते हैं। दूसरी ओर आदर्श स्वयं लेखक के अथवा पात्रों के उपदेशपूर्ण वचनों में भी मिलते हैं। उपर्युक्त सभी उपन्यासों में इनके उदाहरण मिलते हैं। नमूने के लिए दो-एक ही लें।[3]

'तितली' में इन्द्रदेव के शब्द हैं "मैं तो समझता हूँ कि गाँवों का सुधार होना चाहिए। कुछ पढ़े-लिखे संपन्न और स्वस्थ लोगों को नागरिकता के प्रलोभनों को छोड़ कर देश के गाँवों में बिखर जाना चाहिए। उनके सरल जीवन में विश्वास प्रकाश और आनन्द का प्रचार करना चाहिए।"[4]

कंकाल' मे एक गोस्वामी का उपदेश है 'आओ सेवा में लगो समाज-सेवा करके अपना हृदय शुद्ध बनाओ जहाँ स्त्रियाँ सतायी जाएँ मनुष्य अपमानित हो वहाँ

१ शराबी, पृ १ ।
२. घरौंदा पृ ११।
३ विश्वास पृ ११ से १८।
४ तितली, पृ ११४।

तुमको अपना दम्भ छोड़कर कर्तव्य करना होगा।"[1]

'विकास' और 'बयालीस' में प्रतापनारायण श्रीवास्तव पृष्ठों तक उपन्यास को पूर्ण विराम देकर लम्बे-लम्बे विवेचनों और उपदेशों में लग जाते हैं।[2] उपदेश के नमूने देखिए—"हमें अपने समाज का निर्माण इसी प्रकार करना चाहिए जिसमें हम उन गर्तों में न गिरें, जिनमें पश्चिमी राष्ट्र गिर रहे हैं। हमें अपने देश-काल की परिस्थिति के अनुसार उतना ही बदलना चाहिए जितना आवश्यक हो।[3]

उदाहरण बढ़ाना अनावश्यक है। उपर्युक्त तीन प्रवृत्तियों का विस्तृत विवेचन यहां मुख्य उद्देश्य नहीं है।[4] हमें देखना यही है कि इन उपन्यासों में सामाजिक तत्त्व कहां तक है और उनका विश्लेषण कैसा हुआ है। वस्तुतः इन सब आलोचनात्मक और उपदेशपूर्ण उपन्यासों में समाज का अपूर्ण और एकांगी रूप ही प्राप्य है। आलोचना करते हुए जीवन के काले अंश को ही देखा गया है जो सम्पूर्ण जीवन नहीं है। जो आदर्श जीवन प्रस्तुत किये गये हैं वे भी जीवन से नितान्त दूर हैं। दृष्टिकोण के एकांगी होने के कारण जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों का सन्तुलित विश्लेषण भी असम्भव हो गया है। प्रेमचन्द को छोड़कर और किसी के उपन्यास में हमारे समाज का सर्वांगीण रूप प्रतिबिम्बित नहीं हुआ है।

ऐसे उपदेशों तथा समाजनीति के प्रचार के कारण अधिकांश उपन्यासों के शिल्प-विधान में शिथिलता आयी है और पात्र बहुत कुछ अस्वाभाविक हो गये हैं। इस तरह के प्रचार के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने लिखा था "वह (प्रोपगंडा) रसविहीन होने के कारण आनन्द की वस्तु नहीं। लेकिन यदि कोई चतुर कलाकार उसमें सौन्दर्य और रस भर सके तो वह प्रोपगंडा की चीज न होकर सत्-साहित्य की वस्तु बन जाती है।"[5]

वस्तुतः जैसे एक अंग्रेजी आलोचक ने कहा है—प्रत्येक लेखक की रचना उसके विश्वासों से प्रभावित रहती है अतः यह कहना कठिन हो जाता है कि कहां लेखक की तटस्थता समाप्त होती है और कहां 'प्रचार' का आरम्भ होता है।[6] इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि औपन्यासिक वास्तव पर आघात किये बिना और पात्रों की स्वाभाविक गति में बाधा उपस्थित किये बिना लेखक अपने आदर्शों का प्रचार करे तो

---

१ बंधन पृ १६५।

२. विकास पृ १२-३८ बयालीस पृ ११ १२।

३ विकास पृ १०।

४ इन प्रवृत्तियों का विवेचन यथार्थवाद से संबंधित अध्याय में किया जाता है।

५. 'साहित्य का आधार' शीर्षक लेख 'जागरण' १९ अगस्त १९३२ पृ ६।

६. What a man writes will be modified by what he believes and having got so far it will be almost impossible to say where detachment and objectivity end and 'propaganda in its more subtle and insiduous form begins."—Henderson The Novel Today P 16

कोई आपत्ति नहीं है। पर जहां लेखक के विचार उपन्यास से दूध-पानी की तरह न मिलकर अलग दिखायी पड़ते हैं वहां उपन्यास कमजोर हो जाता है और हमारे अधिकांश उपन्यासों का यही एक दोष है। इसके संबंध में प्रीस्टली के वे ही शब्द उद्धृत किये जा सकते हैं जो उन्होंने *उन्नीसवीं सदी के मध्यकालीन अंग्रेजी उपन्यासों* के संबन्ध में कहे हैं, "इस सदी के मध्यकालीन राजनीतिक-सामाजिक उपन्यास निस्सन्देह देश के लिये उपयोगी थे पर हमारी दृष्टि में कथा-साहित्य में उतने अच्छे न थे। इस समय के उपन्यासों के सबसे दुर्बल अंश सामाजिक प्रचार से भरे हुए भाग हैं।"[1]

२

स्त्री-समस्या

संसार भर के उपन्यास-साहित्य में स्त्री की समस्या एक सर्वकालीन विषय रही है। इसके दो रूप प्राप्य हैं—सामाजिक समस्या के रूप में और मनोवैज्ञानिक समस्या के रूप में। हिन्दी उपन्यास में ये दोनों रूप मिलते हैं किन्तु मनोविज्ञान के आधार पर स्त्री-जीवन की व्याख्या और अध्ययन प्रेमचन्द के पश्चात्—जैनेन्द्र से ही प्रारंभ हुआ। नारी के सामाजिक बन्धनों पारिवारिक जीवन की विसंगतियों और परम्परागत रूढ़ियों के कारण उसपर आरोपित यातनाओं का निरूपण हमारे उपन्यास साहित्य के एक विशाल भाग का विषय है।

स्त्री के सामाजिक बन्धन और पराधीनता

१९९ विशाल रूप में स्त्री की सामाजिक पराधीनता और तद्जन्य समस्याओं को उपन्यास का विषय बनानेवाले प्रथम उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी थे। उन्होंने अपने दर्जनों उपन्यासों में वेश्या-प्रथा बाल-विवाह विधवा-जीवन आदि की विस्तृत चर्चा की है। 'कुसुम कुमारी' में एक कुलीन लड़की को देवदासी बनाकर वेश्या बनने को विवश किया जाता है। इसके अध्याय १४ और १९ पूर्णरूप से देवदासी प्रथा और वेश्या-जीवन के कारणों की मीमांसा और आलोचना बन गये हैं। इस कारण से औपन्यासिक कथा बहुत कुछ कुण्ठित हो गयी है। गोस्वामी के 'चपला' का सामाजिक आधार अधिक ठोस नहीं है। इसमें समाज के उच्चस्तरीय वर्गों के विलासमय जीवन का जो चित्रण हुआ है वह भी गूंगा चोटी पात्रों का गायब होना रहस्यमय पथ सतीत्व-भंग का प्रयास और किसी भद्र पुरुष द्वारा रक्षा आदि कल्पनापूर्ण विचित्र घटनाओं में छिप-सा जाते हैं। 'हैप्टामिराम' की सी इसकी जटिलता उपन्यास की सामाजिक नींव को बहा देती है। 'तरुण तपस्विनी' 'प्रेममयी' आदि कुछ उपन्यास उतने जटिल नहीं हैं। त्रिकोण प्रेम और प्रेम मार्ग की बाधाएं इनके विषय हैं। 'प्रेममयी' का केवल

---

१ Priestly The English Novel P 43

रुपया ऐंठने के लिए कई विवाह करनेवाला पियक्कड़ पति और उसकी सब तरह से सताई जानेवाली पत्नी भारत के उच्छृङ्खल पुरुष और विवश अबला के प्रतीक हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में स्त्री-समस्या

२००. नारी-समाज के प्रति प्रेमचन्द की अपार श्रद्धा थी और वे बड़ी दया और सहानुभूति से ही नारी-जीवन का निरीक्षण करते थे। भावुकता से यथा-साध्य बचकर यथार्थवादी दृष्टिकोण से समाज का निरीक्षण करनेवाले प्रथम लेखक होने पर भी जहाँ तक नारी से उनका सम्बन्ध है वे भावुकता से पूर्णतया मुक्त नहीं हो पाये। प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यासों के विषय भारतीय स्त्री का विषम जीवन ही है। 'प्रेमा' अथवा 'प्रतिज्ञा' वैधव्य की समस्या का और 'सेवा-सदन' वेश्या-जीवन का भावुकतापूर्ण आख्यान है। 'प्रतिज्ञा' में विधवाश्रम की और 'सेवा-सदन' में सेवा-सदन की स्थापना वस्तुतः लेखक के अप्रौढ़ मस्तिष्क की भावुक कल्पना है। वैधव्य और वेश्या-जीवन की जो तर्क-वितर्क पूर्ण मीमांसा की गयी है वह औपन्यासिक धारणा में बाधक सिद्ध हुई है। 'सेवा-सदन' के पद्मसिंह के विचारों की तुलना किशोरीलाल गोस्वामी के 'कुसुम कुमारी' के अध्याय १५ और १६ से करने पर ज्ञात होगा कि इस मार्गों में प्रेमचन्द अधिक आगे नहीं बढ़े हैं। किन्तु इन तर्कों को जिन कथाओं में स्थान दिया है वे जटिल घटना की सृष्टि नहीं हैं और उन कथाओं का जिस रूप में विकास किया गया है वह स्वच्छन्दतावादी कलाकार की कला से बहुत कुछ भिन्न है। किन्तु 'वरदान' की जटिल कथा अपनी जटिलता के कारण भी सामाजिक तत्त्व के विकास में बाधक हुई है।

'निर्मला' कलात्मक दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट नहीं है यहाँ तक कि उसमें कई असंगत्य और संयोग की घटनाएं हैं। उसमें अनमेल विवाह की जो समस्या प्रस्तुत की गयी है उसका मार्मिक विश्लेषण मनोवैज्ञानिक आधार पर किया गया है। शायद यही हिन्दी में यौगिक मनोविज्ञान का प्रथम प्रयास है। प्रेमचन्द असाधारण मनोभावों की व्याख्या नहीं करते यौन-सम्बन्धी कुण्ठाओं के प्रभाव तल तक पहुँचने का प्रयास नहीं करते लेकिन उन्होंने बड़ी सरलता से निर्मला और मन्साराम के सामाजिक मर्यादा का पालन करते हुए भी उनके हृदय के एक-एक अज्ञात कोण से पलनेवाले स्वाभाविक पारस्परिक आकर्षण का जो सजीव रूप दिखाया है वह मनोविज्ञान की दृष्टि से बहुत सफल बना है। स्त्री को मोहित करने के लिये अधेड़ पति के व्यर्थ प्रयत्न निरीह निर्मला और मन्साराम पर सन्देह और दुरन्त आपदाओं से होते हुए दो जो जीवियों का जीवन और अन्त इन सबका चित्रण अत्यन्त मार्मिक हुआ है। निर्मला और मन्साराम के मानसिक द्वन्द्व में यौगिक कुण्ठाओं की सफल जटिलता नहीं है, सामाजिक वातावरण में संघर्ष करनेवाले व्यक्तियों का संघर्ष है। पति के सन्देह का आभास पाकर निर्मला निश्चय कर लेती है कि मैं भूलकर भी मन्साराम से न बोलूंगी। पर उसकी दशा देखिए

लेकिन यह तपस्या उसे अपार त्रास देती थी। मन्साराम से हँसने-बोलने

कोई आपत्ति नहीं है। पर जहां लेखक के विचार उपन्यास से दूध पानी की तरह न मिलकर अलग दिखायी पड़ते हैं वहां उपन्यास कमजोर हो जाता है और हमारे अधिकांश उपन्यासों का यही एक दोष है। इनके संबंध में प्रीस्टली के वे ही शब्द उद्धृत किये जा सकते हैं जो उन्होंने उन्नीसवीं शती के मध्यकालीन अंग्रेजी उपन्यासों के संबन्ध में कहे हैं, 'इस शती के मध्यकालीन राजनीतिक-सामाजिक उपन्यास निस्सन्देह देश के लिये उपयोगी थे पर हमारी दृष्टि में कथा-साहित्य में उनके अंश न थे। इस समय के उपन्यासों के सबसे दुर्बल अंश सामाजिक प्रचार से भरे हुए भाग हैं।'[1]

२
स्त्री-समस्या

संसार भर के उपन्यास-साहित्य में स्त्री की समस्या एक सर्वकालीन विषय रही है। इसके दो रूप प्राप्य हैं—सामाजिक समस्या के रूप में और मनोवैज्ञानिक समस्या के रूप में। हिन्दी उपन्यास में ये दोनों रूप मिलते हैं किन्तु मनोविज्ञान के आधार पर स्त्री-जीवन की व्याख्या और अध्ययन प्रेमचन्द के पश्चात्—जैनेन्द्र से ही आरंभ हुआ। नारी के सामाजिक बन्धनों पारिवारिक जीवन की क्लिष्टताओं और परम्परागत रूढ़ियों के कारण उसपर आरोपित यातनाओं का निरूपण हमारे उपन्यास साहित्य के एक विशाल भाग का विषय है।

स्त्री के सामाजिक बंधन और पराधीनता

१६६ विशाल रूप में स्त्री की सामाजिक पराधीनता और तदुत्पन्न समस्याओं को उपन्यास का विषय बनानेवाले प्रथम उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी थे। उन्होंने अपने दर्जनों उपन्यासों में वेश्या प्रथा बाल विवाह विधवा-जीवन आदि की विस्तृत चर्चा की है। कुसुम कुमारी में एक कुलीन लड़की को देवदासी बनाकर वेश्या बनने को विवश किया जाता है। इसके अध्याय १२ और १६ पूर्णरूप से देवदासी प्रथा और वेश्या-जीवन के कारणों की मीमांसा और आलोचना बन गये हैं। इस कारण से औपन्यासिक कथा बहुत कुछ कुण्ठित हो गयी है। गोस्वामी के 'चपला' का सामाजिक आधार अधिक ठोस नहीं है। इसमें समाज के उच्चस्तरीय वर्गों के विलासमय जीवन का जो चित्रण हुआ है वह भी खून चोरी पात्रों का गायब होना रहस्यमय पत्र सतीत्व भंग के प्रयास और किसी भद्र पुरुष द्वारा रक्षा आदि कल्पनापूर्ण विचित्र घटनाओं में छिप-से जाते हैं। 'हेम्यमेरान' की सी इसकी जटिलता उपन्यास की सामाजिक नींव को ढहा देती है। 'तरुण तपस्विनी' 'प्रेममयी' आदि कुछ उपन्यास उतने जटिल नहीं हैं। त्रिकोण प्रेम और प्रेम-मार्ग की बाधाएं इनके विषय हैं। 'प्रेममयी' का केवल

---

[1] *Priestly The English Novel,* P 43

रुपया ऐंठने के लिए कई विवाह करनेवाला पियक्कड़ पति और उसकी सब तरह से भलाई चाहनेवाली पत्नी भारत के उच्छृंखल पुरुष और विवश अबला के प्रतीक हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में स्त्री-समस्या

२००[१] नारी समाज के प्रति प्रेमचन्द की अपार श्रद्धा थी और वे बड़ी दया और सहानुभूति से ही नारी-जीवन का निरीक्षण करते थे। भावुकता से यथा साध्य बचकर यथार्थवादी दृष्टिकोण से समाज का निरीक्षण करनेवाले प्रथम लेखक होने पर भी जहाँ तक नारी से उनका सम्बन्ध है वे भावुकता से पूर्णतया मुक्त नहीं हो पाये। प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यासों के विषय भारतीय स्त्री का विषम जीवन ही है। 'प्रेमा' अथवा 'प्रतिज्ञा' वैधव्य की समस्या का और 'सेवा-सदन' वेश्या-जीवन का आदर्शवादी आख्यान है। 'प्रतिज्ञा' में विधवाश्रम की और 'सेवा-सदन' में सेवा-सदन की स्थापना वस्तुतः लेखक के प्रमौढ़ मस्तिष्क की भावुक कल्पना है। वैधव्य और वेश्या-जीवन की जो तर्क-वितर्क पूर्ण मीमांसा की गयी है वह औपन्यासिक वास्तव से बाधक सिद्ध हुई है। 'सेवा-सदन' के पद्मसिंह के विचारों की तुलना किशोरीलाल गोस्वामी के 'कुसुम कुमारी' के अध्याय १५ और ११ से करने पर ज्ञात होगा कि इन भावों में प्रेमचन्द अधिक आगे नहीं बढ़े हैं। किन्तु इन तर्कों को जिन कथाओं में स्थान दिया है वे जटिल कल्पना की सृष्टि नहीं है और उन कथाओं का जिस रूप में विकास किया गया है वह स्वच्छन्दतावादी कलाकार की कला से बहुत कुछ भिन्न है। किन्तु 'वरदान' की जटिल कथा अपनी जटिलता के कारण भी सामाजिक तत्व के विकास में बाधक हुई है।

'निर्मला' कलात्मक दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट नहीं है यहाँ तक कि उसमें कई असंभाव्य और संयोग की घटनाएं हैं। उसमें अनमेल विवाह की जो समस्या प्रस्तुत की गयी है उसका मार्मिक विश्लेषण मनोवैज्ञानिक आधार पर किया गया है। शायद यही हिन्दी में लैंगिक मनोविज्ञान का प्रथम प्रयास है। प्रेमचन्द असाधारण मनोभावों की व्याख्या नहीं करते यौन-सम्बन्धी कुण्ठाओं के अगाध तल तक पहुँचने का प्रयास नहीं करते लेकिन उन्होंने बड़ी सरलता से निर्मला और मन्साराम के सामाजिक मर्यादा का पालन करते हुए भी उनके हृदय के एक-एक अज्ञात कोण में पनपनेवाले स्वाभाविक पारस्परिक आकर्षण का जो सजीव रूप दिखाया है वह मनोविज्ञान की दृष्टि से बहुत सफल बना है। स्त्री को मोहित करने के लिये अधेड़ पति के व्यर्थ प्रयत्न निरीह निर्मला और मन्साराम पर सन्देह और दुरन्त व्यथाओं से होते हुए दो दो जीवियों का जीवन और मरण इन सबका विश्लेषण अत्यन्त मार्मिक हुआ है। निर्मला और मन्साराम के मानसिक द्वन्द्व में वैयक्तिक कुण्ठाओं की संकुल वृत्तियां नहीं है सामाजिक वातावरण में संघर्ष करनेवाले व्यक्तियों का संघर्ष है। पति के सन्देह का आभास पाकर निर्मला निश्चय कर लेती है कि मैं भूलकर भी मन्साराम से न बोलूंगी। पर उसकी दशा देखिए

लेकिन यह तपस्या उसे असाध्य ज्ञात पड़ती थी। मन्साराम से हँसने-बोलने

कोई आपत्ति नहीं है। पर जहाँ लेखक के विचार उपन्यास से दूध-पानी की तरह न मिलकर अलग दिखायी पड़ते हैं, वहाँ उपन्यास कमजोर हो जाता है और हमारे अधिकांश उपन्यासों का यही एक दोष है। इनके संबंध में प्रीस्टली के वे ही शब्द उद्धृत किये जा सकते हैं जो उन्होंने उन्नीसवीं शती के मध्यकालीन अंग्रेजी उपन्यासों के संबन्ध में कहे हैं, 'इस शती के मध्यकालीन राजनीतिक-सामाजिक उपन्यास निस्सन्देह देश के लिये उपयोगी थे पर हमारी दृष्टि में कथा-साहित्य में उतने अच्छे न थे। इस समय के उपन्यासों के सबसे दुर्बल अंश सामाजिक प्रचार से भरे हुए भाग हैं।"[1]

२

स्त्री-समस्या

संसार भर के उपन्यास-साहित्य में स्त्री की समस्या एक सर्वकालीन विषय रही है। इसके दो रूप प्राप्य हैं—सामाजिक समस्या के रूप में और मनोवैज्ञानिक समस्या के रूप में। हिन्दी उपन्यास में ये दोनों रूप मिलते हैं किन्तु मनोविज्ञान के आधार पर स्त्री-जीवन की व्याख्या और अध्ययन प्रेमचन्द के पश्चात्—जैनेन्द्र से ही प्रारंभ हुआ। नारी के सामाजिक बन्धनों पारिवारिक जीवन की विषमताओं और परम्परागत रूढ़ियों के कारण उसपर आरोपित यातनाओं का निरूपण हमारे उपन्यास साहित्य के एक विशाल भाग का विषय है।

स्त्री के सामाजिक बन्धन और पराधीनता

१९९ विशाल रूप में स्त्री की सामाजिक पराधीनता और तदुत्पन्न व्यथाओं को उपन्यास का विषय बनानेवाले प्रथम उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी थे। उन्होंने अपने दर्जनों उपन्यासों में वेश्या-प्रथा बाल विवाह विधवा-जीवन आदि की विस्तृत चर्चा की है। 'कुसुम कुमारी' में एक कुलीन लड़की को देवदासी बनाकर वेश्या बनने को विवश किया जाता है। इसके अध्याय ११ और १२ पूर्णरूप से देवदासी प्रथा और वेश्या-जीवन के कारणों की मीमांसा और आलोचना बन गये हैं। इस कारण से औपन्यासिक कला बहुत कुछ कुण्ठित हो गयी है। गोस्वामी के 'चपला' का सामाजिक आधार अधिक ठोस नहीं है। इसमें समाज के उच्चस्तरीय वर्गों के विलासमय जीवन का जो चित्रण हुआ है वह भी गुप्त चोरी लाशों का गायब होना रहस्यमय पथ सतीत्व भंग के प्रयास और किसी भद्र पुरुष द्वारा रक्षा आदि कल्पनापूर्ण विचित्र घटनाओं में छिप-से जाते हैं। 'हृदयहारिणी' की सी इसकी जटिलता उपन्यास की सामाजिक नींव को बहा देती है। 'तरुण तपस्विनी' 'प्रेममयी' आदि कुछ उपन्यास उतने जटिल नहीं हैं। त्रिकोण-प्रेम और प्रेम-मार्ग की बाधाएं इनके विषय हैं। 'प्रेममयी' का केवल

---

१ Priestly The English Novel, P 43

से विभूषित हैं। 'वरदान' की विरजन 'प्रतिज्ञा' की सुमित्रा 'प्रेमाश्रम' की विद्यावती 'निर्मला' की निर्मला 'रंगभूमि' की इन्दु—सब अयोग्य पतियों को पाकर भी बड़ी श्रद्धा और तत्परता से उनकी सेवा करती हैं। उनके कष्ट और व्यथाओं का कारण पुरुषों के अत्याचार हैं या समाज की रूढ़िग्रस्त परम्पराओं के निर्मम व्यवहार हैं। इन आपत्तियों से उनको बचाने की आकुलता में प्रेमचन्द ने जो हल ढूंढ निकाले हैं उनको हम अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं मान सकते। 'वरदान' की विरजन अपनी व्यथा काव्य रचना में भूल देती है पर उसका चरित्र स्वयं काव्यमय और वायविक बनकर अयथार्थ हो जाता है। 'सेवा-सदन' 'प्रतिज्ञा' आदि के आश्रम-स्थापन भी केवल कल्पित (Utopian) आदर्श हैं। इनके अतिरिक्त जहाँ मरण या आत्महत्या से नारी का अंत कर दिया गया है वहाँ समस्याओं की भयंकरता तो अधिक स्पष्ट होती है पर यथार्थता सन्दिग्ध ही रहती है।

प्रेमचन्द-काल के लेखकों के उपन्यासों में स्त्री-समस्या

प्रेमचन्द-काल के अन्य लेखकों ने भी स्त्री के विवाह की समस्याओं और दाम्पत्यजीवन की विषमताओं को ही अपने उपन्यासों का विषय बनाया। इनमें अधिकांश लेखक प्रेमचन्द के समान ही स्त्री की दयनीय दशा से व्यथित थे और उन्होंने नारी-जीवन के उन्हीं पहलुओं को उपन्यास में स्थान दिया जिनमें सुधार की आवश्यकता थी। लेकिन उनमें न प्रेमचन्द के समान हार्दिक सहानुभूति का भाव था न यथार्थवादी निरीक्षक की तटस्थता। सामान्य रूप में कहा जा सकता है कि उन्होंने आलोचना की दृष्टि से सामाजिक भूमिका में स्त्री-जीवन का निरीक्षण किया और कुछ सुधार के उपाय सामने रखे।

२०१ सामाजिक भूमिका में स्त्री-जीवन—प्रेमचन्द के काल में और उसके तुरन्त पश्चात् सामाजिक भूमिका में स्त्री-जीवन की विषमताओं का विश्लेषण करने वाले लेखकों में कोई विशेष दृष्टिकोण आया यह नहीं कहा जा सकता है। थोड़ा-सा जो अन्तर आया उसका परिणाम यह हुआ कि केवल रोचकता के लिए कल्पित आश्चर्यमय असंभव कल्पित घटनाओं को कम किया गया। संयोग की घटनाएं भी कम हुईं। कल्पना के बदले समाज के कठिन प्रश्नों को स्थान दिया गया। लेकिन इन प्रश्नों के विश्लेषण के लिए जिस कथा का विधान किया जाता था उसमें अतिरंजन की मात्रा कम नहीं थी। यह अतिरंजन कभी-कभी पात्र के असाधारणत्व और घटनाओं की असंभाव्यता तक अवश्य पहुँच जाता था।

यथार्थ की मात्रा और आदर्श के समन्वय के आधार पर इन उपन्यासों को कई श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। दो धाराएं मुख्य हैं—'आलोचनात्मक यथार्थवादी और भग्नतावादी।

प्रथम श्रेणी में भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'अनाथ पत्नी' 'त्यागमयी' 'पतिता की साधना' वृन्दावनलाल वर्मा के 'लगन' 'कुंडलीचक्र' आदि प्रसाद के 'कंकाल' और 'तितली' भगवतीचरण वर्मा का 'तीन वर्ष' कौशिक के 'माँ' 'भिखारिणी' उपादेवी

में उसकी विलासिनी कल्पना उत्तेजित भी होती थी और तृप्त भी। उससे बातें करते हुए उसे एक अपार सुख का अनुभव होता था जिसे वह शब्दों में प्रकट न कर सकती थी।" समवयस्क युवक-युवतियों का यह स्वाभाविक आकर्षण सामान्य मनोविज्ञान का एक सत्य है किन्तु 'कुवासना की उसके मन में छाया भी न थी। वह स्वप्न में भी मन्साराम से कलुषित प्रेम करने की बात न सोच सकती थी। निर्मला के इस संयम का कारण प्रेमचन्द का आदर्शवाद नहीं है। अपनी परम्परागत संचित संस्कृति में पलनेवाली एक भारतीय नारी और कुछ नहीं हो सकती—दूसरा मनोवैज्ञानिक सत्य! सृष्टि की सबसे बड़ी प्रबल शक्ति—यौन चेतना—पर भारतीय नारी ने जो संयम रखना सीखा है उसीका रूप यहां प्रस्तुत है। फिर भी प्रकृति प्रबेय है अतः "प्रत्येक प्राणी को अपने हमजोलियों के साथ हँसने-बोलने की जो नैसर्गिक तृष्णा होती है उसीकी तृप्ति का यह अज्ञात साधन था। अब वह अतृप्त तृष्णा निर्मला के हृदय में दीपक की भांति जलने लगी। रह-रहकर उसका मन किसी अज्ञात वेदना से विकल हो जाता।[1] यहां जिन मनोवृत्तियों का प्रेमचन्द ने प्रत्यक्ष उल्लेख किया है उनका मूल रूप में विकास 'निर्मला' के कई अध्यायों तक प्रसारित है। निर्मला के विवाह से मन्साराम की मृत्यु तक प्रेमचन्द मनोविज्ञान के आधार पर ही कथानक का विकास करते हैं।

इस अनुचित और अनमेल विवाह का परिणाम है—कई निरीह व्यक्तियों की *भयंकर मानसिक पीड़ा और दो-दो कुटुम्बों का सर्वनाश। इस यथार्थ कथा में अन्ततः* प्रेमचन्द की दृष्टि सुधारवादी है। निर्मला की कथा में सुधारवाद परोक्ष रूप में है तो उसकी बहन की कथा में प्रत्यक्ष रूप में—आदर्श-विवाह के रूप में—प्रस्तुत है।

प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों में 'गबन' को छोड़कर सबमें अन्य मुख्य समस्याओं के साथ स्त्री के दाम्पत्य-जीवन की विषमताओं का चित्रण है। केवल 'गबन' में स्त्री की एक विशिष्ट मनोवृत्ति आभूषण प्रेम को प्रधान विषय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि यहां जालपा का आभूषण प्रेम ही सब आपत्तियों का कारण है तो भी अन्त में वह इतनी उदात्त मनोवृत्तियों का परिचय देती है कि उसकी आरंभ की कालिमा धुल जाती है। 'प्रमाश्रम' की विद्यावती और 'कर्मभूमि' की नैना दुष्ट-दुराचारी पतियों को पाकर व्यथित हैं। विद्यावती सब सहकर भी पति की सेवा करती है और अन्त में जब सहना असम्भव हो जाता है आत्महत्या कर लेती है। *नैना ऐसी भीरु नहीं है वह देश-सेवा में जाकर शहीद हो जाती है। विद्यावती* का पति उसकी बहन गायत्री को उसके मन के लिए चाहने लगता है और उसे पतित करता है। सभी उपन्यासों में प्रेमचन्द ने उस पूंजीवादी व्यवस्था की कलई खोल *दिखायी है जिसमें स्त्री की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है जिसमें वह केवल पुरुष के उपभोग की* वस्तु मानी जाती है, जिसे पुरुष जब चाहे जैसा चाहे मजा ले और फिर ठुकरा दे। इस भयंकर पराधीनता का मार्मिक रूप प्रेमचन्द के हर उपन्यास में मिलता है।

प्रेमचन्द की सभी नारियाँ सतीसाध्वी अबलाएं हैं, जो भारतीय स्त्री के आदर्शों

---

१ निर्मला पृष्ठ ६१।

वाजपेयीजी ने 'पवित्रता की भावना' में भी प्रेमियों को कष्टों से गुजारकर मिलाने का प्रयत्न किया है। बिन्दा मन्दा और वेदर हरिनाम एक-दूसरे से आकृष्ट होते हैं, पारिवारिक उत्सवों में मिलते हैं। अन्त में वह गर्भिणी हो जाती है। अपमान से बचने के लिए मन्दा गंगा में कूदती है पर बच जाती है किन्तु मरने का समाचार फैलता है। निराशा में घौर्चे फोड़कर भिखारी बननेवाले हरि से मन्दा मिलती है और दोनों सन्तुष्ट होते हैं। यहाँ यद्यपि वाजपेयीजी ने मन्दा की समस्या को विधास सामाजिक समस्या का रूप देने में और यथार्थ बनाने में असमर्थ हुए हैं तो भी उसके मानसिक संघर्ष का चित्रण कर चरित्र को मार्मिक बनाने में उन्हें काफी सफलता प्राप्त हुई है।

वृन्दावनलाल वर्मा ने 'लगन' में दहेज की समस्या का हल प्रस्तुत करके अपना आदर्श स्थापित किया है। सौ मेंस दहेज में देने की शर्त पूरा न होने से विवाह रुक जाता है। पर वर देवसिंह अपने लोगों का तिरस्कार कर वधू रामा के यहाँ पहुँचता है और खूब पिटता है। इसी समय वधू घर से भाग निकलकर वर के घर पहुँच जाती है। 'कुण्डलीचक्र' में दो लड़कियों का जीवन है जिनमें एक रतन अपनी शान्त प्रकृति और भारतीय परम्परा की रूढ़ि के कारण अपने मनचाहे व्यक्ति से विवाह नहीं कर पाती। इसके विरुद्ध पूर्णिमा अपने मानसिक बल से काम लेती है और अपना वर चुन लेती है। दिवलाल, अजित, भुजबल ये तीन युवक उससे आकृष्ट रहते हैं। भुजबल धोखे से उससे विवाह का प्रबन्ध कर लेता है। पर पूर्णिमा अपनी बुद्धि एवं धैर्य से काम लेकर इन दोनों से बच जाती है और अजितसेन से विवाह कर पाती है। रतन से ललित के ये शब्द लेखक के आदर्श को स्पष्ट करते हैं—"तुम्हीं यदि कुछ रौद्र प्रकृति की होतीं तो आज यह नौबत क्यों आती? तुम लोगों की आदर्श पूजा ने ही अछूत-से पुरुषों को नरक का कीड़ा बना रखा है।"[1]

२ २ उग्रवादी या नग्नवादी—प्रेमचन्द के काल में (और पश्चात् भी) सामाजिक रूप में स्त्री समस्या को उपन्यास का मुख्य विषय बनानेवालों की दूसरी धारा भयंकर आवेश और निष्ठुर नग्नता के साथ—कभी-कभी अतिरंजन की सीमा तक पहुँचाते हुए भी—समाज की विलास-वृत्तियों का भण्डाफोड़ करनेवाले लेखकों की है जिन्हें नग्नवादी अथवा उग्रवादी कह सकते हैं। इनमें पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' चतुरसेन शास्त्री ऋषभचरण जैन मन्मथनाथ गुप्त आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

व्यभिचार इन सबका मुख्य विषय है। अन्य विषय बहुत ही गौण मात्रा में इधर-उधर दिखायी पड़ते हैं। उदाहरण के लिए उग्र के 'बुधुआ की बेटी' 'दिल्ली का दलाल' 'शराबी' 'कलकत्ता रहस्य' चतुरसेन के 'हृदय की प्यास' 'अमर अभिलाषा' 'आत्मदाह' ऋषभचरण के 'हर हाइनेस' 'बम्बा पुत्र' मन्मथनाथ के 'चाही' 'दुश्चरित्र' 'होटल दी ताज' आदि को ले सकते हैं। बिना किसी आवरण के और घूमते हुए बीच शब्दों में अनेक व्यभिचार-वृत्तियों का वर्णन इन उपन्यासों में है। कला के सामाजिक

---

१ कुण्डलीचक्र पृ २४।

के 'पथचारी' 'पिया' निराला के 'अप्सरा' 'अलका' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सबका विषय प्राय: स्त्री जीवन की असफल पराधीनता और पुरुष की अक्षम्य उच्छृंखलता है। समाज ने स्त्री को विवश बनाने के लिए जो जो नियम बना रखे हैं, रूढ़ियाँ बना रखी हैं उनकी घोर उत्पीड़ना इन उपन्यासों का ध्येय है। दहेज कुलीनता पुरुष की व्यभिचार-वृत्ति आदि जितनी बातें स्त्री को विषम परिस्थिति में डालती हैं उनको एक-एक करके लिया गया।

'अनाथ पत्नी' में किशोरीलाल की पत्नी कन्या रजनी की कुलीनता पर सन्देह करके बरात लौट जाती है पर इससे चिन्तित वर प्रतिमा से विवाह करके भी शान्ति नहीं पाता। वह व्यथा से विचलित होकर परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाता है। प्रतिमा चिन्ता से बीमार हो जाती है रजनी जो अब तक डाक्टर बन चुकी है उसकी चिकित्सा करती है। एक दिन प्रतिमा मकान से नीचे गिरती है और चिकित्सा करने पर भी मर जाती है—पर रजनी को पहचानकर और उसे सुशील को सौंपकर। आदर्शवादी लेखक को दोनों प्रेमियों को मिलाना था इसके लिए वे विवश थे। इसीलिए रजनी को डाक्टर बनाकर, उसकी तबदीली कराकर, प्रतिमा की चिकित्सा के लिए लाना पड़ा प्रतिमा को छत से गिराना पड़ा—बिलकुल निर्मम हत्या !—उसकी चिकित्सा के लिए रजनी को ही बुलवाना पड़ा और दिन रात दिन जगाकर सुश्रूषा करने पर भी उसे मरने को विवश करना पड़ा। 'त्यागमयी' में भी लेखक को ललिता को फाँसी चढ़ाकर विजय और एलिस के प्रेम को सफल कराना पड़ा है। ललिता का जीवन करुणाजनक है। कोई युवक उसे वंचित कर छोड़ देता है उसके आत्महत्या के लिए गंगा में कूदने पर विजय बचाता है फिर वह एलिस की एक हत्या का अपराध अपने पर लेकर दण्ड-वरण करती है और इस तरह एलिस और विजय का रास्ता साफ कर देती है। ललिता के बच्ची होने पर उसकी जेठानी उसे गला घोंटकर मार डालती है। लेखक ने इस विलासिता और निर्दयता की कड़ी आलोचना की है।

'एक कुलीन कुलवधू जिसे अपनी प्रतिष्ठा और संपत्ति की अन्धभक्ति ने पशु-पक्षियों से भी गया-बीता बना रखा है कितनी क्रूर और प्रस्तर हृदय की सिद्ध होती है ? यही है न नारी-जीवन का नग्न रूप'। (पृ० ७१)।

प्रतिमा और ललिता की मृत्यु से निर्मला की मृत्यु की तुलना करें तो स्पष्ट होगा कि वाजपेयीजी का सामाजिक आधार कितना शिथिल है। प्रतिमा और ललिता की हत्या करके लेखक ने उनको उदात्त बनाया है लेकिन उपन्यासों में उठायी गयी सामाजिक समस्याओं से उनका कोई संबन्ध नहीं है केवल लेखक की इच्छा-पूर्ति तथा भावुकता की तृप्ति के लिए ये हत्याएं हुई हैं। इसके विरुद्ध निर्मला की मृत्यु में लेखक के हृदय की पुञ्जीभूत व्यथा प्रकट हुई है एक तरह से यह एक बलि है जो सामाजिक मंगल के लिए चढ़ायी जाती है। दूसरी बात यह है कि निर्मला का अन्त मानसिक व्यथा की क्रमिक वृद्धि से होता है। और उसका मानसिक संघर्ष तीव्र रूप में व्यक्त हुआ है। पर ललिता और प्रतिमा की मृत्यु आकस्मिक है लेखक की रची हुई है अत: अस्वाभाविक है।

वाजपेयीजी ने 'पतिता की साधना' में भी प्रेमियों को कष्टों से गुजारकर मिलाने का प्रयत्न किया है। विधवा नन्दा और देवर हरिलाल एक-दूसरे से आकृष्ट होते हैं पारिवारिक उत्सवों में मिलते हैं। अन्त में वह गर्भिणी हो जाती है। अपमान से बचने के लिए नन्दा गंगा में कूदती है पर बच जाती है किन्तु मरने का समाचार फैलता है। निराशा में आँखें फोड़कर भिखारी बननेवाले हरि से नन्दा मिलती है और दोनों सन्तुष्ट होते हैं। यहाँ यद्यपि वाजपेयीजी ने नन्दा की समस्या को विशाल सामाजिक समस्या का रूप देने में और यथार्थ बनाने में असमर्थ हुए हैं तो भी उसके मानसिक संघर्ष का चित्रण कर चरित्र को मार्मिक बनाने में उन्हें काफी सफलता प्राप्त हुई है।

वृन्दावनलाल वर्मा ने 'लगन' में दहेज की समस्या का हल प्रस्तुत करके अपना आदर्श स्थापित किया है। सौ रुपये दहेज में देने की शर्त पूर्ण न होने से विवाह रुक जाता है। पर वर देवसिंह अपने लोगों का तिरस्कार कर वधू रामा के यहाँ पहुँचता है और खूब पिटता है। इसी समय वधू घर से भाग निकलकर वर के घर पहुँच जाती है। 'कुण्डलीचक्र' में दो लड़कियों का जीवन है जिनमें एक रतन अपनी शान्त प्रकृति और भारतीय परम्परा की रूढ़ि के कारण अपने मनचाहे व्यक्ति से विवाह नहीं कर पाती। इसके विरुद्ध पूर्णिमा अपने मानसिक धर्य से काम लेती है और अपना वर चुन लेती है। शिवलाल भजित मुबक्स ये तीन युवक उससे आकृष्ट रहते हैं। मुबक्स धोखे से उससे विवाह का प्रबन्ध कर लेता है। पर पूर्णिमा अपनी बुद्धि एवं धैर्य से काम लेकर इन तीनों से बच जाती है और ललितसेन से विवाह कर पाती है। रतन से भजित के ये वाक्य लेखक के आदर्श को स्पष्ट करते हैं— 'तुम्हीं यदि कुछ रौद्र प्रकृति की होतीं तो आज यह नौबत क्यों आती ? तुम लोगों की आदर्श पूजा ने ही बहुत-से पुरुषों को नरक का कीड़ा बना रखा है।'[1]

२ २ उग्रवादी या नग्नवादी—प्रेमचन्द के काल में (और पश्चात् भी) सामाजिक रूप में स्त्री समस्या को उपन्यास का मुख्य विषय बनानेवालों की दूसरी धारा भयंकर आवेश और निष्ठुर नग्नता के साथ—कभी-कभी अतिरंजन की सीमा तक पहुँचाते हुए भी—समाज की विलास-वृत्तियों का भण्डाफोड़ करनेवाले लेखकों की है जिन्हें नग्नवादी अथवा उग्रवादी कह सकते हैं। इनमें पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' चतुरसेन शास्त्री ऋषभचरण जैन मन्मथनाथ गुप्त आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

व्यभिचार इन सबका मुख्य विषय है। अन्य विषय बहुत ही गौण मात्रा में इधर-उधर दिखायी पड़ते हैं। उदाहरण के लिए उग्र के 'बुधुआ की बेटी' 'दिल्ली का दलाल' 'शराबी' 'कलकत्ता रहस्य' चतुरसेन के 'हृदय की प्यास' 'अमर अभिलाषा' 'व्यभिचार' ऋषभचरण के 'हर हाइनेस' 'वेश्यापुत्र' मन्मथनाथ के 'चाही' 'पुरचरित' 'होटल दी ताज' आदि को ले सकते हैं। बिना किसी आवरण के और चुभते हुए सीधे शब्दों में अनेक व्यभिचार-वृत्तियों का वर्णन इन उपन्यासों में है। कला के सामाजिक

[1] कुण्डलीचक्र पृ २४।

दायित्व और मर्यादा के प्रति इनकी दृष्टि ही नहीं गयी है।

'कुसुमा की बेटी' में औरतों को भक्त होने के मार्ग बतानेवाले ढोंगी फकीरों और धार्मिक संस्थाओं से सम्बन्धित ढोंगियों का और 'दिल्ली का दलाल' तथा 'कलकत्ता रहस्य' में तथाकथित भद्र समाज में फैली हुई दुर्वृत्तियों का चित्रण है। 'शराबी' में एक किशोरी हीरा यौवन में प्रविष्ट होने के पहले ही एक दुब्याहे वर से बाँधी जाती है जो उसे अपनी कामातुरता का शिकार बनाता है। जब वह हीरा से प्रेम पाना असंभव समझता है बाजार की हवा खाने लगता है। पुरुष की कामातुरता का अतिरंजित वर्णन ही 'शराबी' का विषय है। उग्र 'जी जी जी' में आकर अधिक नरम और संयत हुए हैं।

मन्मथनाथ के 'दुश्चरित्र' में गाँव के मुखिया का बेटा किसान गिरधारी की बेटी का चरित्र भंग करता है और वह काशी में छोड़ दी जाती है—बिरादरी के डर से। लेकिन अन्त में जब गिरधारी अपनी दूसरी बेटी और नयी पत्नी को मुखिया के पुत्र के मनमाने के लिए समर्पित कर देता है तो बिरादरी कुछ नहीं कहती। समाज में पाप जब खुल जाता है तभी वह पाप है। गिरधारी की पत्नी के शब्दों में लेखक ने इस दशा को स्पष्ट किया है— 'यहाँ पाप को कौन पूछता है? अब तो देख रही हूँ पाप से कुछ नहीं आता-जाता बस इतनी ताकत हो कि पाप छिपा ले या खुल ही जाय तो लोगों की कुछ हिम्मत न पड़े तो कोई बात नहीं।'[1] चतुरसेन के 'अमर अभिलाषा' में विधवा भगवती को सामाजिक रूढ़ियों, पुरुषों की वासना और अपनी दुर्बलता के कारण पतित होकर भयंकर कष्ट सहने पड़ते हैं।

इन सब लेखकों को प्रायः प्रकृतिवादी कहा जाता है।[2] किन्तु इनका दृष्टिकोण ध्येय शैली सब प्रकृतिवाद से बहुत दूर है।[3] समाज की आलोचना ही इनका भी ध्येय है। इस समय के और इसके पहले के अन्य उपन्यासों और इन उग्रवादियों के उपन्यासों में एक बड़ा अन्तर जो है वह स्त्री के प्रति दृष्टिकोण में है। अब तक के उपन्यासों में स्त्री स्वयं बिगड़ती थी तो वह एक विशेष वर्ग की होती थी। साधारण या मध्य श्रेणी की स्त्रियों का जो पतन होता था वह पुरुष के अत्याचार के कारण होता था। लेकिन उग्रवादियों के उपन्यासों में व्यभिचार के लिए पुरुष को जबरदस्ती नहीं करनी पड़ती। अपने पूर्ववर्तियों ने स्त्री के प्रति जो अपार उदारता दिखायी उसकी आवश्यकता उग्रवादियों ने नहीं समझी। स्त्री अपनी दुर्बलता या विवशता के कारण स्वयं भी पतन की ओर जाती है। 'अमर अभिलाषा' में विधवा भगवती परिस्थितियों और अपने

---

१. दुश्चरित्र, पृ० १४१।

२. देखें डा० श्रीकृष्णलाल : आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० ११२।
शिवदानसिंह चौहान : साहित्यानुशीलन, पृ० ११६।
नन्ददुलारे वाजपेयी : नया साहित्य नये प्रश्न, पृ० १।
त्रिभुवनसिंह : हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ० १८६-१८७।

३. देखें प्रकृतवाद से संबंधित परिच्छेद।

असंयम के कारण ही इरगोविन्द की वशवर्तिनी होती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चतुरसेन ने यहाँ एक अत्यन्त मार्मिक वास्तव को ग्रहण किया है। बाल्यकाल में ही विधवा होकर जीवन के समस्त सुखों से विरक्त रहनेवाली युवतियों में नैसर्गिक वासना का जागरित होना स्वाभाविक है। विधवा भगवती जिसे अन्य युवतियों के समान अच्छा खाने और अपने को अलंकृत करने का अधिकार नहीं मिलता हरगोविन्द से मिठाइयाँ और प्रसाधन-सामग्री पाकर छिपे-छिपे उनका उपभोग करती है धीरे धीरे उसके वश में आकर पतित होती है। यहाँ तक चतुरसेन ने बड़े औचित्य से काम लिया है। इसके बाद उसमें हुए घटनाचक्र का निर्माण यही दिखाने के लिए हुआ है कि पतिता विधवाओं को कैसी-कैसी ठोकरें खानी पड़ती है। उग्रजी के 'बुधुआ की बेटी' में भी स्त्री अपनी काम-वासना अथवा पुत्र प्राप्ति की इच्छा से ही पतन की ओर जाती है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में स्त्री-समस्या सामाजिक पक्ष

प्रेमचन्द के परवर्ती उपन्यासकारों ने स्त्री और स्त्री-समस्या के अध्ययन में अधिक सूक्ष्म दृष्टि से काम लिया है। समस्याओं के विश्लेषण और चरित्र चित्रण की जो पद्धति प्रेमचन्द ने उपस्थित की थी वह तो थी ही। प्रेमचन्द की एक बड़ी देन यह थी कि उन्होंने पात्रों को अमूर्त (Abstract) न रखकर मूर्त बना दिया था धर्मभावना न रखकर जीवन की विस्तृत भूमि में चलने फिरने की स्वतन्त्रता दी थी।

पश्चात् के लेखकों ने प्रेमचन्द के इन आदर्शों को अपनाया। साथ-साथ क्रमशः विश्लेषण की प्रवृत्ति भी आने लगी। अतः अन्य समस्याओं के समान स्त्री-समस्या का भी सामाजिक तत्त्वों और मनोविज्ञान के आधार पर विश्लेषण किया जाने लगा। इस कारण परवर्ती उपन्यासों में स्त्री-चरित्र और स्त्री-जीवन की समस्याओं का अधिक जटिल और वैषम्यपूर्ण रूप मिलता है। इनमें भी सामान्यतया स्त्री-जीवन की विवशता और पराधीनता का ही चित्रण है जैसाकि प्रेमचन्द-काल के और उसके पहले के उपन्यासों में। अन्तर केवल दृष्टिकोण और निरूपण के ढंग में है। समस्याओं के प्रति समीपन और दृष्टिकोण के अनुसार इन उपन्यासों को कई श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं।

२ १ प्रथम श्रेणी में उन उपन्यासों को ले सकते हैं जिनमें केवल समस्या-निरूपण के उद्देश्य से पात्रों को रूप दिया गया है। 'त्यागपत्र' 'पिया' 'जीवन की मुस्कान' 'आखिरी दाँव' आदि ऐसे ही उपन्यास हैं। इन सबमें सामाजिक विवशता या पुरुषों की उच्छृंखलता के कारण दयनीय अन्त को प्राप्त होनेवाली युवतियों की करुण कथाएँ प्रस्तुत हैं। 'त्यागपत्र' की मृणाल पति द्वारा सन्देह के कारण बाहर निकाली जाती है और गली की ठोकरें खाकर मरती है। 'पिया' की पपीहरा अभीष्ट पुरुष की अप्राप्ति से निराश होकर देश-सेवा में लग जाती है अपनी बीमारी में भी आँधी पानी में एक सभा में जाकर लौटते समय रास्ते में ही मर जाती है। इस कथा के साथ-साथ और दो स्त्रियों की रामकहानी भी है। पपीहरा का काका सुकान्त अपनी पत्नी की

विधवा बड़ी बहन को अपने प्रेम का शिकार बनाता है। गर्भिणी होने पर बेचारी को आत्महत्या के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं रहता। पपीहरा की दीदी यमुना का पति स्त्री-स्वातंत्र्य का लेक्चर देता फिरता है और अपनी पत्नी को कड़े बन्धन में रखता है लेकिन स्वयं दूसरी स्त्रियों के पीछे दौड़ता रहता है। उषादेवी ने इस तरह स्त्री-जीवन की विवशता के विविध रूपों को एक ही उपन्यास में समाहित किया है। 'आखिरी दाँव' की चमेली भी विधवा है और उसे सास के अत्याचारों से बचने के लिए घर से भाग जाना पड़ता है। फिर वह भिन्न-भिन्न पुरुषों के संपर्क में आती है उनकी चंचलता और दुर्व्यसनों के कारण बार-बार पतित होकर और ठोकरें खाकर अन्त में आत्महत्या करती है। इन सब उपन्यासों में लेखक का दृष्टिकोण आलोचनात्मक है। पात्र सब एकांगी हैं और उन्हीं पहलुओं से युक्त हैं जो लेखक को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक हों।

२०४ दूसरे प्रकार के कुछ उपन्यासों में स्त्री की पराधीनता के भयंकर रूप दिखाने के साथ-साथ उनकी मुक्ति के मार्ग भी बताए गए हैं। चतुरसेन के 'अपराजिता' की नायिका वैवाहिक जीवन की असंगतियों और पति ससुर आदि के अत्याचारों के विरुद्ध सत्याग्रह कर बैठती है। दाम्पत्य-जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिए गांधी वाद का यह उपयोग तत्कालीन राजनीति का प्रभाव है। उषादेवी ने 'पथचारी' में ठीक इसके विरुद्ध नारी को आर्थिक स्वतंत्रता और शारीरिक बल प्राप्त करके सामाजिक स्वतंत्रता प्राप्त करने का मत दिया है। बाबुरीदेवी की व्यायामशाला कसरत द्वारा बल और व्यवसायों से धन प्राप्त करने की शिक्षा देती है। प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने भी 'विसर्जन' में यही नारा लगाया है। "इसका प्रतिकार तथा आदरत्व के कर्त्तव्यों का नाश उसी समय होगा जब स्त्री-मानव पुरुष-मानव के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करेगी।[1] लेखक ने इसका जो उदाहरण दिया है वह और भी विचित्र है। उर्मिला आदर्श पात्र है इसलिए उसे हर तरह की आपत्ति से बचाना लेखक अपना कर्त्तव्य समझता है। निवसन उर्मिला को कमरे में बंद करके पिस्तौल लिए उसे वश में करने जाता है उसे धक्का में भरने के लिए पिस्तौल खाट पर छोड़ता है और उर्मिला बड़ी सरलता से उसे लेकर निवसन को मार डालती है।

इन सुधारवादी लेखकों में किसीने समुचित दृष्टि से सामाजिक समस्याओं को नहीं देखा है। स्त्री-स्वातन्त्र्य के जो उपाय बताए गए हैं, वे सार्थक नहीं हैं। संघर्ष और प्रतिकार से स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध व्यवस्थित नहीं किया जा सकता है। स्त्री का आत्मसम्मान धैर्य आदि पाना अच्छा है पर उसका पुरुष से प्रतिद्वन्द्वी का सम्बन्ध कहाँ तक उचित है यह सोचने की बात है। सामाजिक शृंखलाएं तो विच्छिन्न की जा सकती हैं पर उन मानसिक शृंखलाओं का क्या होगा जो अनादि काल से स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण अधिकार और उच्छृंखलताओं का कारण बनी रहती हों? पुरुषवत् सबल बनकर और आर्थिक स्वतन्त्रता पाकर स्त्री स्वतंत्र हो सकेगी यह बात

---

१ विसर्जन पृ० १६६।

सन्देह से रहित नहीं है। स्त्री का लाठी लेकर पुरुष का दिमाग दुरुस्त करना और अपने अस्तित्व को सुरक्षित करना उपन्यास में सरल कार्य है पर सामाजिक जीवन की विषमता में यह कहां तक प्रायोगिक है यह बात चिन्तनीय है। इस समस्या को सुलझाने के लिए अधिक अगाध तल पर मनोवृत्तियों का अध्ययन करना होगा। समाज के व्यवहारों को रूप देनेवाली मूल प्रवृत्तियों को ढूंढ निकालना होगा। पर इन उपन्यासकारों का विश्लेषण प्रायः स्त्रियों से यह कहलाते समाप्त हो जाता है कि हम लोग आदमियों से कमजोर पड़ती हैं। इसलिए वे मार के बल से मनचाहा करवा लेते हैं।[1] किसी भी लेखक ने विस्तृत रूप में स्त्री की पराधीनता का सामाजिक कारण ढूंढ निकालकर उसके सिर पर सबल आघात नहीं किया है।

२ ब तीसरे प्रकार के उपन्यास वे हैं, जो कुछ सौम्यता सहित प्रेमचन्द के उपन्यासों के समान समस्याओं को प्रस्तुत करते हैं और उनको सुलझाने की चेष्टा करते हैं। उदाहरण के रूप में नागार्जुन का 'नई पौध' मन्नदत्त का 'मुनिया की शादी' और लक्ष्मीनारायण लाल का 'बया का घोंसला और सांप' आदि को ले सकते हैं। प्रथम दोनों स्वाभाविक पारिवारिक वातावरण में खड़ी होनेवाली विवाह की समस्या को सुलझाने का मार्ग ढूंढते हैं। मुनिया के विवाह की बाधा का कारण सामाजिक नहीं है। उसका बाप बन्नू आवारा है घर का काम-काज तक नहीं देखता। पर उसकी मां रामजनिया और दादा बूढ़ा बालादीन निरन्तर परिश्रम से कुछ रुपया इकट्ठाकर विवाह सम्पन्न करते हैं। बन्नू घर से वह रुपया हड़प लेने का प्रयत्न करने पर भी जनिया की सतर्कता के कारण विफल होता है। प्रेमचन्द के समान ही सन्तुलित रूप में 'घाट' और 'चेत' देकर मन्नदत्त ने वातावरण को व्यक्त किया है। आकर्षण यहां कथा का नहीं है उस घरेलू परिस्थिति का है जो समस्या उत्पन्न करती है। ट्रेजडी किसी मार्मिक संघातिक घटना से नहीं है, सम्पूर्ण उपन्यास की शोकात्मक छाया में है (अन्त में बन्नू की लात से उसके पिता का मरना उतना प्रभावशाली नहीं है जितना कि उपन्यास में आद्योपान्त व्यापी हुई शोक छाया।) जब बूढ़ा बालादीन और बहू रामजनिया विकट परिस्थिति में भी जय न खोकर केवल मुनिया की शादी के विचार से एक-एक पैसा जुटाने के प्रयत्न में अपने जीवन अर्पित करते दिखाई पड़ते हैं, तब जीवन की जटिलता और सार्थकता समझ में आती है। 'नई पौध' में नागार्जुन इस तरह गम्भीरता का पालन नहीं कर सके हैं फिर भी उनकी दृष्टि बहुत सन्तुलित रही है। बिसेसरी का एक बूढ़ से विवाह कराकर नारकीय जीवन में ढकेलने का जो षड्यन्त्र ढलती पीढ़ी ने किया है और समाज ने जिसका अनुमोदन किया है उसे उठती पीढ़ी के नवयुवकों ने ढा दिया है। परिवार और ग्राम के युवक अपनी समस्त शक्तियों के उपयोग से आयोजित विवाह का विरोधकर योग्य युवक से उसका विवाह करा देते हैं। कहीं-कहीं नागार्जुन ने प्रत्यक्ष रूप में कड़ी आलोचना की है। जब विवाह रोकने के लिए बिसेसरी से कै कराने आदि का प्रबन्ध किया जाता है तब

---

१ बिलवम पृ १६६।

समस्या एक घेरतमाथे से ऊपर उठ नहीं पाती। 'बया का घोंसला और सांप' में तीव्रता अधिक है अस्वाभाविकता भी अधिक है। इसमें एक मां और बेटी की कथा है जिनकी असहाय दशा में समस्त समाज उनके सतीत्व भंग का प्रयत्न करता रहता है, और ऐसे उपन्यासों की साधारण परिपाटी के अनुसार उनकी रक्षा करनेवाले आदर्श पुरुष भी हैं। इन सब उपन्यासों में स्त्री-जीवन की परवशता की समस्या को बिना किसी जटिलता के विश्लेषण कर सुलझाया गया है।

२०६ इनके अतिरिक्त भौथी यशी के जो उपन्यास हैं उनमें स्त्री-जीवन की अधिक जटिल समस्याओं का विश्लेषण मिलता है। 'सितारों का खेल' 'बड़ी-बड़ी आँखें' 'निधिकान्त' 'तट के बन्धन' 'नये मोड़' 'संन्यासी' 'निर्वासित' आदि ऐसे कुछ उपन्यास हैं जिनमें जीवन के कुछ सामाजिक पहलुओं को लिया गया है। आज जीवन न एक सीधी-सादी कहानी है न सरलता से सुलझनेवाली समस्या। सामाजिक उत्तरदायित्वों और वैयक्तिक कर्तव्यों की उलझनों के बीच में विवश जीवन की विषमताएं सुगमता से हल नहीं की जा सकतीं। समाज और पुरुष की जाहिरदारी और चालबाजी से विवश स्त्रियों की कथा इन उपन्यासों में है। 'सितारों के खेल' की लता ने विवाह के भारतीय आदर्शों का समर्थन करनेवाले जगत से विवाह किया पर उसके आदर्शों के खोखलेपन के खुल जाने पर व्याघातग्रस्त होकर चंदी की ओर आकृष्ट हुई। फिर उसका जीवन मानसिक व्याघातों से होकर व्यतीत होता है। 'निधिकान्त' और 'नये मोड़' में सम्मानपूर्वक स्वतंत्र जीवन बिताने का आग्रह करनेवाली स्त्रियों की कठिनाइयां दिखायी गयी हैं। 'संन्यासी' और 'निर्वासित' मनोवैज्ञानिक होने पर भी उससे बढ़कर सामाजिक हैं और स्त्री की निस्सहाय दशा का परिचय देते हैं। 'तट के बन्धन' में विवाह की कठिनाइयों के आगे वर्जन से अधिक उदाहरण हैं।

स्त्री-समस्या का विवेचन करनेवाले सबसे प्रौढ़ उपन्यास वे हैं, जिनमें सेक्स को समस्या का रूप दिया गया है। वे प्रायः मनोवैज्ञानिक उपन्यास हैं और मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों के आधार पर उनका अध्ययन आवश्यक है। पर इस अध्याय में केवल उनके सामाजिक रूप की चर्चा की जाती है।

प्रेमचन्द के बाद के उपन्यासों में स्त्री-समस्या यौन पक्ष

२०७ अब तक जिन उपन्यासों की चर्चा की गयी उनमें स्त्री-समस्या को केवल उसके सामाजिक रूप में परखा गया है उनका कोई मनोवैज्ञानिक आधार नहीं है। सेक्स की समस्या एक चिरन्तन समस्या है और प्रत्येक युग में किसी न किसी रूप में साहित्य का विषय रही है। मानव-जीवन के संचालन-सूत्र को नियंत्रित करनेवाली महाशक्ति यौन-आकर्षण है और वह व्यक्ति एवं समाज के जीवन के ढांचे का निर्णय एक बड़ी सीमा तक करता है। आधुनिक उपन्यासकारों ने इस शक्ति की व्यापकता को समझा है और उपन्यास-साहित्य यौन-आकर्षण से उत्पन्न वैयक्तिक एवं सामाजिक संघर्ष को अधिकाधिक महत्त्व देने लगा है। किन्तु हिन्दी उपन्यास में जैनेन्द्र के पहले स्त्री और पुरुष का संबन्ध एक सामाजिक संबन्ध के रूप में ही चित्रित हुआ

था। उनमें पुरुष की उच्छृंखलता और विलासलीलाओं का जो रूप मिलता है वह किसी मानसिक पृष्ठभूमि पर नहीं है केवल सामाजिक अत्याचार के रूप में है। इन उपन्यासों में प्रेम वही श्रेष्ठ है जो वासना से रहित है दैहिक है एक-दूसरे के लिए त्याग करने की भावना से ओत प्रोत है। किन्तु वस्तुतः वासना ही जीवन का चिरस्थायी तत्व है, मनोवृत्तियों को और बाह्यप्रवृत्तियों को रूप देने में उसका विशेष स्थान है। जैनेन्द्र के पूर्व के उपन्यासों में इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया गया है। उन सबसे यही प्रतीत होता है कि वासना एक कुत्सित वस्तु है। वह मनुष्य को पशु बनाती है जीवन को नरक बनाती है अतः इस सामाजिक जीवन में वह एक अनावश्यक एवं आपत्ति-जनक वस्तु है।

जैनेन्द्र से लेकर इस धारणा में एक परिवर्तन आया। धीरे-धीरे हमारे उपन्यासकारों को—यानी उन उपन्यासकारों को जो थोड़ा बहुत मनोविज्ञान का आश्रय लेते थे—विदित होने लगा कि प्रेम केवल अध्यात्म की अनुभूति नहीं है शरीर से उसका दृढ़ सबन्ध है मांस में उसकी चेतना है रक्त में उसका उफान है। यह वासना चाहे अच्छी हो चाहे बुरी जीवन का अनिवार्य अंग है। इस बात को समझ लेने पर वह साहित्य में केवल आलोचना का विषय नहीं रही अध्ययन का विषय बन गयी। जैनेन्द्र तथा बाद के कई लेखकों ने सेक्स की विभिन्न प्रवृत्तियों का विभिन्न रूपों में विश्लेषणात्मक अध्ययन किया है। हमें इस अध्याय में केवल उसके सामाजिक स्वरूप को देखना है।

२ ८ जैनेन्द्र के उपन्यासों में—जैनेन्द्र के उपन्यासों में एक ही समस्या है—नारी का सतीत्व तथा तत्सम्बन्धी मान्यताएँ। वे नारी के उस रूप को मान्यता नहीं देते जो हमारी सांस्कृतिक परम्परा को मान्य है। अनन्य सहिष्णुता से समस्त सामाजिक बन्धनों और अत्याचारों को सहती हुई, निर्बल किन्तु मायामयी नारी जैनेन्द्र के लिए अज्ञात है। स्त्री के प्रति जैनेन्द्र का दृष्टिकोण मनु के 'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति' के सिद्धान्त को माननेवाला नहीं है। पर पाश्चात्य सभ्यता की उस जागृत नारी को भी वे मान्यता नहीं देते जो पुरुष तथा समाज के बन्धनों को खोलकर—बल्कि तोड़कर—अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करती है। उन स्त्रियों के जीवन का आधार प्रेम और सहयोग नहीं है अतः स्त्री का यह रूप भी जैनेन्द्र के लिए वर्ज्य है। उन्होंने जिस नारी का चित्रण किया है वह भव्य है पुरुष से अधिक मानसिक बल रखनेवाली है प्रेम तथा अन्य सद्भावनाओं की अधिष्ठात्री है आत्मशक्ति में अप्रतिम है—और यह सब होने के कारण बहुत कुछ अलौकिक और अस्वाभाविक भी है।

'परख' और 'त्यागपत्र' में सेक्स के जिस रूप का अध्ययन किया गया है वह सामाजिक है मनोवैज्ञानिक नहीं है।[१] डा देवराज ने इनमें भी मनोवैज्ञानिक अध्ययन ढूँढ निकालने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः जीवन में हर व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया किसी मनोवैज्ञानिक प्रेरणा से ही परिचालित होती है किन्तु इस कारण से हर उपन्यास में

१ हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान पृ ११।

मनोविज्ञान का अन्वेषण करना आवश्यक नहीं है। जहाँ लेखक का ध्येय मनोवैज्ञानिक अध्ययन न होकर सामाजिक समस्याओं का अध्ययन होता है वहाँ जबरदस्ती मनोविज्ञान का आरोप करना समीचीन नहीं है। 'परख' में बिहारी तथा कट्टो के त्याग और परोपकारी जीवन को वासना का मनोवैज्ञानिक उदात्तीकरण मानने का कोई आधार नहीं है। यह केवल एक किशोर प्रेम-कथा का आदर्शवादी अन्त है। प्रेमचन्द के युग के कई सामाजिक उपन्यासों में भी कुण्ठित प्रेम का ऐसा परिणाम दिखाया गया है। उनमें भी लेखक की दृष्टि मनोवैज्ञानिक नहीं रही है।

'परख' में कट्टो और सत्यधन का प्रेम प्लैटोनिक (Platonic) है। उसके पहले के कई उपन्यासों के समान उसमे भी प्रेम-मार्ग की बाधाएँ दिखाकर आदर्शवादी ढंग से कथा का उपसंहार किया गया है। 'त्याग पत्र' में भी सामाजिक अत्याचार और स्त्री की पराधीनता मुख्य विषय है। किन्तु 'त्याग-पत्र' के पहले 'सुनीता' में जैनेन्द्र ने यौन आकर्षण को एक सामाजिक समस्या के रूप में उपस्थित कर मानसिक संघर्ष के प्रसंग निर्मित किए थे। हरिप्रसन्न का सुनीता के प्रति आकर्षण एक समाज विरोधी प्रवृत्ति है। अब तक उसे स्त्री-जीवन से सम्पर्क का अवसर नहीं मिला था अब इस यौवन की दशा में एक मनोविक प्रबोदन के फलस्वरूप उसका सुनीता के प्रति आकृष्ट होना स्वाभाविक है। किन्तु सुनीता उसको चाहते हुए भी उसके प्रति दैहिक आकर्षण नहीं रखती—अथवा रखती है तो समाज के भय के कारण उसे दमित रखती है—प्रकट होने नहीं देती। दोनों के मानसिक संघर्ष के कारण सामाजिक हैं, किन्तु संघर्ष स्वयं वैयक्तिक है। इसका जो समाधान लेखक ने प्रस्तुत किया है उसमें गान्धीवाद से प्रभावित आदर्शवाद है।

जैनेन्द्र मानते हैं कि व्यक्ति त्याग और कष्ट-सहन के द्वारा दूसरों को सही मार्ग पर ला सकता है—शुद्ध गान्धीवाद। उनके विचार में इस नैतिक समस्या का समाधान नारी की स्वतंत्रता में नहीं उसके पुरुष के समान होने में नहीं बल्कि कष्ट-सहन एवं त्याग के द्वारा अनैतिक पुरुष को नैतिक बनाने में है—गांधीवादी मन-परिवर्तन। सुनीता का आत्मसमर्पण ऐसी ही प्रवृत्ति है। यह नारी एक भावुक के कल्पना-लोक में असीम उदात्तता तक पहुँचकर आदर और श्रद्धा का पात्र बन सकती है पर कोई बौद्धिक व्यक्ति उसकी वास्तविक सत्ता पर विश्वास करेगा यह बात संदिग्ध है। वह व्यावहारिक नहीं है तर्क-संगत नहीं है लौकिक बिलकुल नहीं है। 'कल्याणी' 'सुखदा' 'व्यतीत' और 'विवर्त' में भी पात्रों का सामाजिक जीवन दैहिक जीवन से बहुत प्रभावित है। कल्याणी सुखदा जितेन ('विवर्त' में) और जयन्त ('व्यतीत' में) के जीवन की गति पूर्णतया उनकी काम प्रवृत्ति (Sexual frustration) की प्रतिक्रिया है। कल्याणी पहले एक युवक से प्रेम करके उसे निराश करती है पर विवाह हो जाने पर पति डा. असरानी के साथ उसका जीवन सुखमय नहीं बनता। उनकी परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि उसे स्वस्थ और सुखमय यौन जीवन का अवसर नहीं मिलता। आय-वृद्धि के लिए कल्याणी को खुद प्रैक्टिस करनी पड़ती है और इस बीच वह भटनागर से परिचित होने के कारण पति के सन्देह का पात्र बनती है। पारस्परिक

वैमनस्य छोटी से छोटी बातों से बढ़ जाता है। प्रेम के अभाव में वह अपना जीवन अन्यों की सेवा में लगाती है और स्वयं व्यथाएँ सहती है। मनोवैज्ञानिक भाषा में यह एक तरह का 'उदात्तीकरण' है।[1] अब सुखदा के जीवन को लीजिए। कान्त के साथ उसका जीवन पहले आनन्दमय रहता है पर फिर उसमें काम-अतृप्ति से एक नैराश्य आ जाता है। प्रथम आनन्द की दशा इच्छाओं की पूर्ति की आशा की दशा है उसमें सेक्स की चेतना जाग्रत होने की दशा में है। जाग्रत होने पर उसे दाम्पत्य जीवन में तृप्ति नहीं मिलती। परिणाम में वह राजनीति में आती है। फिर लाल से परिचय—पति की ईर्ष्या—मानसिक संघर्ष। उसके पारिवारिक जीवन का ढाँचा पूर्णतया सेक्स की प्रवृत्ति से निर्णीत है। 'विवर्त' में मानिक असमत्व के कारण भुवनमोहिनी से विवाह को अनुचित समझनेवाले जितेन की दमित कामवृत्ति आत्मतृप्ति का दूसरा मार्ग ढूँढ़ती है क्रान्तिकारी जीवन में। 'व्यतीत' में जयन्त के सामाजिक पारिवारिक एवं वैयक्तिक जीवन को रूप देनेवाली चीज अनिता के प्रति उसकी रुग्ण आसक्ति (Morbid fixation) की प्रवृत्ति से उत्पन्न नैराश्य ही है। इन सब प्रसंगों में एक बात द्रष्टव्य यह है कि जैनेन्द्र सामाजिक पृष्ठभूमि को छोड़कर केवल मनोविज्ञान की गहराई में नहीं डूबते। किन्तु सामाजिक आधार कितना पुष्ट बन पाया है यह दूसरा प्रश्न है। सामान्य बुद्धि (कामनसेंस) से जैनेन्द्र के उपन्यासों के सामाजिक तथ्यों पर विचार करें तो कई असंगतियाँ मिलती। कहीं-कहीं जैनेन्द्र स्वयं समस्या बनाते हैं—ऐसी समस्या जो वस्तुतः समाज की समस्या नहीं है। वैवाहिक जीवन में व्यक्तित्व और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के विकास की भी एक सीमा होती है और पति का अपनी पत्नी को अपने मित्र के नैराश्य को दूर करने के लिए सब कुछ करने का आदेश देने[2] अथवा पत्नी के उसके प्रेमी के कमरे में कई दिनों तक रहने का स्वयं पति द्वारा प्रबन्ध कर देने[3] की दशा तक जाना असंभव ही है। सुखदा का पति कान्त सुनीता के पति श्रीकान्त का ही दूसरा रूप है। 'परख' में आत्मपीड़न और आत्मसंयम पर विशेष जोर देनेवाला जो गान्धीवादी आदर्श शुरू होता है वही 'सुनीता' 'त्याग-पत्र' और 'कल्याणी' से होकर जीर्ण-जर्जर हो जाता है और 'सुखदा' में वह जीवित रूप में नहीं है तो मृत रूप में है। ऐसी कई असंगतियों पर ध्यान दें तो इन उपन्यासों का मनोवैज्ञानिक आधार कुछ क्षीण-सा हो जाता है।

'कल्याणी' और 'सुखदा' में दूसरा एक पहलू भी है जो शायद मनोवैज्ञानिक अध्ययन से बढ़कर जैनेन्द्र को अभीष्ट है। यह शुद्ध रूप में एक सामाजिक पहलू है और भारतीय समाज में क्रमशः विकास-पथ से चलनेवाले नारी-जीवन के संक्रमणमय रूप का पहलू है। देश-भर में फैलती हुई शिक्षा एवं सामाजिक चेतना के कारण आज नारी अपने बन्धनों से मुक्त हो रही है। नवीन शिक्षा में पलकर स्वयं चिन्तन की

---

१ देखें अनुच्छेद २८०-२८१।

२ सुनीता में।

३ सुखदा' में।

शक्ति रखती हुई और आत्मनिर्भर-शक्ति के कारण आर्थिक स्वतंत्रता-प्राप्त नारी अपनी परम्परागत उचित संस्कारजनित मानसिक पराधीनता से पूर्णतया मुक्त नहीं हुई है। आज भी भारत की नारी पुरुष की अनुगामिनी है सहगामिनी नहीं बन पायी है। विकासशील नारी-जीवन की यह पराधीनता 'कल्याणी' और 'सुखदा' में उपलब्ध है। कल्याणी पति की आज्ञा मानकर प्रैक्टिस करने लगती है। यद्यपि वह पहले ही यह शर्त उससे स्वीकृत कराती है कि उसपर पर-पुरुष सम्बन्ध का सन्देह नहीं करना चाहिए, तो भी जब पति उसे डा० भटनागर से सम्बन्ध रखने की शंका में पीटता है तो वह चुपचाप सहन कर लेती है उसमें अपना ही दोष मानती है। इतनी पढ़ी लिखी अपने पति से भी अधिक चिकित्सा में कुशल आत्म-गर्विणी (उसकी बातों से यह प्रकट है) नारी की यह दोष-स्वीकृति क्या भारतीय नारी की उस परम्परा-सिद्ध सहनशीलता और पातिव्रत्य के आदर्श को नहीं दिखाती जिससे कल्याणी मुक्त नहीं है?

सुखदा में भी स्त्री का व्यक्तित्व जाग्रत् होता है। अपने एक नौकर लड़के को क्रान्तिकारी दल में होने से गिरफ्तार होते देखकर वह अपने पति को 'नीरस' 'सामान्य' और 'कायर' समझने लगती है। 'जाने किस एक अनिर्दिष्ट शक्ति से मैं (सुखदा) पति से स्वाधीन होती चली गयी।' वह पति के सामने घोषणा करती है 'मैं इस सभा में जाऊँगी तुम रोक नहीं सकते' और 'घर की दासी जो स्त्री बन सकती है, वह मैं नहीं हूँ।'[२] उसकी यह स्वच्छन्द वृत्ति गृह-जीवन में आँधी पैदा करती है फिर भी वह क्रान्तिकारी दल की उपाध्यक्ष बनकर काम करती है। समस्याओं की एक पूरी शृंखला हमें मिलती है। क्या सुखदा स्वयं अपने इस कार्य से होनेवाली उलझनों को नहीं जानती? क्या वह अपने अहं के विकास के कारण अपनी राह चलना चाहती है? या केवल राजनीति के मोह में ऐसा होता है? या फिर क्रान्तिकारियों में पुरुषत्व की ज्योति देख स्त्री का मन स्वाभाविक रूप से उनके प्रति आकृष्ट होता है? जैनेन्द्र के प्रेम के सम्बन्ध में उठनेवाला मुख्य प्रश्न यह है कि क्या सुखदा का यह प्रयत्न स्त्री की युग-युग की पराधीनता से मुक्त होकर सामाजिक स्वातन्त्र्य प्राप्त करने की चेष्टा के रूप में एक सामाजिक क्रिया का चित्र है अथवा 'अहंवृत्ति' के विकास से वैयक्तिक स्वतंत्रता प्राप्ति के रूप में एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन? मुझे लगता है कि जैनेन्द्र पहली बात से शुरू करते हैं पर जाने-अनजाने दूसरी में आ जाते हैं। पूर्णतया सामाजिक समस्या होती तो लेखक स्वयं ऐसी परिस्थिति में सामाजिक बन्धनों और परम्परा के विरोध का विश्लेषण करता सुखदा स्वयं सामाजिक उत्तरदायित्व से वंचित नहीं रहती। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह सामाजिक बन्धनों को स्वीकृत कर अपने पर नियन्त्रण रखती पर यही है कि वह आत्मविकास करते हुए भी प्रत्येक बन्धन को पहचानती उन्हें काटने का प्रयत्न करती कुछ को खोल पाती कुछ बन्धन बँधे ही रह जाते और इन सब क्रिया-कलापों में उसका जीवन अधिक संघर्षमय होता। 'सुखदा' में

१ सुखदा पृ० [illegible]।
२ वही पृ० १२ ११।

सामाजिक स्वतंत्रता का यह वैज्ञानिक इतिहास नहीं है। उसके सामाजिक कार्य में भाग लेती हुई उसके व्यक्तित्व का विकास होता जाता है और उसकी चरम सीमा तब होती है जब वह लास के कमरे में सोती है।

२०९ गुनाहों का देवता—सेक्स की समस्या का सामाजिक उत्तरदायित्व के साथ विश्लेषण करनेवाले दो उपन्यास १९४९ में निकले—भारती का 'गुनाहों का देवता' और अश्क का गिरती दीवारें। दोनों में सैक्सिक विकारों का मनःशास्त्रीय अध्ययन है किन्तु व्यक्ति की मानसिक कुण्ठाओं के आवरण से जीवन के सामाजिक रूप को प्रच्छन्न नहीं बनाया गया है। स्त्री-पुरुष का पारस्परिक आकर्षण एक नैसर्गिक *मनोवृत्ति है जिसके नियन्त्रण और संचालन का सामाजिक रूढ़ियों और नियमों* ने काफी प्रयत्न किया है। मानव-सभ्यता में इस नियन्त्रण को बहुत महत्त्व दिया जाता है। काम की नैसर्गिक प्रवृत्तियों से प्रेरित असयत चेष्टाएं पाशविक मानी जाती हैं और इस नैसर्गिक प्रवृत्ति का नियन्त्रण मानव सभ्यता के विकास का परिचायक माना जाता है। मनुष्य के सामाजिक जीवन का इतिहास वासना की इस प्राकृतिक प्रवृत्ति एवं मनुष्य द्वारा निर्मित नियमों के पारस्परिक संघर्ष के मध्य हुआ है और आज भी यह कहना कठिन है कि मनुष्य ने अपनी मानसिक संस्कृति और सामाजिक सभ्यता के द्वारा इस नैसर्गिक कामवृत्ति पर विजय प्राप्त कर ली है। सेक्स के इस सर्वग्रसम रूप का स्पष्टीकरण भारती और अश्क ने किया है।

गुनाहों का देवता' में चन्द्र का जीवन काम-प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया का नमूना है। सुधा बाल्यकाल से ही चन्द्र की आत्मा बन जाती है। उनमें शैशवी-यौन-आकर्षण (Infantile Sexuality) है जो बाह्य क्रियाओं की सीमा तक नहीं पहुँचता जो केवल मानसिक विकार के रूप में रहता है शारीरिक बनकर गहरी चेतना को उत्तेजित नहीं करता—एक तरह का प्लेटोनिक प्रेम। इससे अनभिज्ञ समाज सुधा को और किसीस विवाह के लिए विवश करता है पर सुधा अच्छा वर पाकर भी कुण्ठाग्रस्त मन की घोर निराशा में गलकर मर जाती है। चन्द्र की दमित वासना जागरित होकर एक सामाजिक समस्या बन जाती है। वह एक ओर पमीला डिक्रेज की ओर और दूसरी ओर बिनती की ओर आकृष्ट होता है। विवाह-मोचन पाकर स्वच्छन्द जीवन बितानेवाली पम्मी वासनामय जीवन में संतृप्ति न पाकर पति से माफी मांग फिर वैवाहिक जीवन में प्रविष्ट होना चाहती है। लेखक का सामाजिक आदर्श स्पष्ट है। पम्मी चन्द्र को लिखती है "स्त्री बिना पुरुष के आश्रय के नहीं रह सकती। उस अभागी को प्रकृति न जैसा कोई अभिशाप दे दिया है मैं थक गयी हूँ। इस प्रेत-लोक की भटकन से मैं अपने पति के पास जा रही हूँ। मैं अब सोच रही हूँ कि स्त्री स्वाधीन नहीं रह सकती। उसके पास पत्नीत्व के सिवा कोई चारा नहीं। जहाँ वह जरा स्वाधीन हुई कि वह उस अन्ध-कूप में जा पड़ती है, जहाँ मैं थी। वह शरीर भी खोकर तृप्ति नहीं पाती। फिर प्यार से मेरा तो विश्वास जैसे उठता जा रहा है। प्यार स्थायी नहीं होता पत्नीत्व स्थायी होता है। मैं ईसाई हूँ पर सभी अनुभवों के बाद मुझे पता लगता है कि हिन्दुओं के यहाँ प्रेम नहीं वरन् धर्म और सामाजिक परिस्थितियों के आधार पर विवाह की रीति

बहुत वैज्ञानिक और नारी के लिए सबसे ज्यादा लाभदायक है। उसमें नारी के लिए थोड़ा बन्धन क्यों न हो लेकिन स्वामित्व रहता है सन्तोष रहता है वह अपने घर की रानी रहती है। [1] यह वही पमीला है जो उपन्यास के आरम्भ में कहती है 'शादी अपने-आपको दिया जानेवाला सबसे बड़ा धोखा है।'[2] पमीला का यह परिवर्तन भारतीय संस्कृति के नैतिक आदर्शों पर अवलम्बित ही नहीं है बल्कि मनोविज्ञान से समर्थित भी है।

पूर्वराग और विवाह की समस्या को भी भारती उठाते हैं। चन्द्र द्वारा यह प्रश्न उठाया जाता है कि दो भिन्न जाति के लड़के-लड़की अपना मानसिक सन्तुलन ज्यादा अच्छी तरह कर सकते हैं, तो क्यों न विवाह की इजाजत दी जाए ? इस प्रश्न के विपक्ष को भी स्पष्ट करते हुए भारती बड़ी बारीकी से समस्या का विश्लेषण करते हैं। पहला प्रश्न यह आता है कि व्यक्तियों के झुकाव को मान्यता देकर समाज को क्यों नुकसान पहुँचावें ? दूसरा प्रश्न है विवाह के पूर्व का आकर्षण क्या विवाह के बाद भी उसी तरह रहेगा ?[3] इस अनिश्चय की दशा में सभी आपत्ति में रहती है। केदार से बिनवा मन्ना पूछती है, "ब्याह के पहले ही एक-दूसरे के स्वभाव और जीवन का परिचय पा लेने में दोनों के मेल से जब कभी कोई अपनी सभ्यता की मर्यादा भंग कर बैठेंगे तब उसकी जिम्मेदारी किसके ऊपर होगी ?[4] इन सब प्रश्नों को उठाने पर भी उपन्यास के अन्त को देखते हुए पता चलता है कि भारती पूर्वराग-युक्त विवाह का समर्थन करते हैं।

२१० गिरती दीवारें—'गुनाहों के देवता' में अगर पम्मी विलासिता के जीवन से असंतुष्ट होकर पति की ओर लौटती है तो 'गिरती दीवारें' में 'चेतन' उच्छृंखल जीवन से संतोष न पाकर पत्नी की ओर लौटता है। चेतन का जीवन भी काम प्रवृत्ति का उदाहरण है। सामाजिक परवशता के कारण—परिवार के अनुरोध के कारण वह अपनी इच्छा के विरुद्ध एक मोटी-भुटली लड़की चन्दा से विवाह करने को विवश होता है। पहले कुछ दिन तो विरोध करके टालता रहता है और कई लड़कियों से आकृष्ट होकर अपनी असहायता समझ पाता है। कुन्ती प्रकाशो केसर इनके प्रति उसका आकर्षण उसे स्वस्थ यौगिक जीवन नहीं दे सकता। अन्त में पश्चात्ताप-चित्त होकर चन्दा से विवाह कर लेता है पर उसके काम-वैराग्य में कोई अन्तर नहीं आता। चन्दा 'सरल सीधी समझदार' लड़की है उसके मार्ग में बाधा डालनेवाली नहीं है। किन्तु ये सब गुण चेतन के जीवन के लिए नकारात्मक सिद्ध होते हैं। चन्दा में सक्रिय आकर्षण नहीं है। उसकी भावात्मक-वासना को तृप्त करने का कोई साधन नहीं है।

गिरती दीवार में समस्या केवल नैतिक विकार की न रहकर अधिक विवास

१ गुनाहों का देवता पृ २१-२१।
२. गुनाहों का देवता पृ १।
३ वही पृ ६१।
४ वही पृ ११६।

बनी है और हमारे पारिवारिक जीवन के बन्धनों और वैभिन्य को भी व्यक्त करती है। चेतन को अनिच्छित विवाह से बचने के लिए मां-बाप से भागना पड़ता है उनका वैमनस्य मोल लेना पड़ता है—वैभिन्य की प्रथम दशा। भिन्न रुचि और संस्कृति की पत्नी को जैसी की तैसी रखकर उससे सामञ्जस्य स्थापित करना असंभव ज्ञात होता है—पारिवारिक वैभिन्य की दूसरी दशा। उसे अपनी रुचि के अनुकूल बनाने का चेतन का प्रयत्न अधिक उलझनों को जन्म देता है। वह उसे पढ़ना-लिखना गाना-बजाना और अधिक खुला व्यवहार करना सिखाता है। लेकिन यह चन्दा की सास और भाभी को अच्छा नहीं लगता—यह वैभिन्य की तीसरी दशा है। इस असामञ्जस्यपूर्ण दांपत्य जीवन से हरदम अशान्त चेतन की वासना उसके सम्पर्क में आनेवाली प्रत्येक स्त्री की ओर उन्मुख रहती है भले ही उन स्त्रियों का सामाजिक स्तर ऊँचा न हो भले ही वे उम्र में उससे बड़ी हों। यहाँ तक कि वह नौकर मायाराम की पत्नी तक से प्रेम कर बैठता है पर किसी तरह उसे शान्ति नहीं मिलती। बढ़ता हुआ मानसिक संघर्ष अत्यन्त विषादमय वातावरण उपस्थित करता है। उसकी कार्यिणी शक्तियों की पराजय इसकी चरम सीमा है। वह गाता था पर अब सभा में जाते समय भयंकर पराजय होती है नाटक सुन्दर खेलता था पर अब एक छोटी-सी बात से—दो मित्रों को पास न दिला सकने से—मानसिक सन्तुलन खोकर ऊटपटांग बोलने लगता है और रंगमंच से भाग जाता है।[1] इस ट्रैजडी को आगे बढ़ाना लेखक को शायद अभीष्ट नहीं है। इसलिए इन सब उलझनों को सुलझाते हुए अपना आदर्शवादी समाधान सामने रखते हैं। चेतन कविराज के उपदेशों से प्रभावित होकर चन्दा की ओर लौटता है।

परीक्षा और चेतन के इस मन-परिवर्तन को मनोविज्ञान कहाँ तक मान्यता देगा यह विषय यहाँ विचारणीय नहीं है क्योंकि उपन्यासों से स्पष्ट है कि इन प्रसंगों में लेखक पात्रों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने का प्रयत्न नहीं करते बल्कि मानसिक उलझनों का आदर्श समाधान ढूंढने का प्रयत्न ही करते हैं।

सेक्स की समस्या का अधिक जटिल रूप ?

कामवासना की प्रवृत्ति मनुष्य के भावों और क्रियाओं पर जो प्रभाव डालती है वह सीधा और सरल नहीं होता। वासना की प्रतिक्रिया अत्यन्त जटिल होती है। इन जटिल प्रक्रियाओं से जीवन में कैसी उलझनें और विकृतियाँ आती हैं तरह-तरह के मानसिक संघर्षों को पार कर जीवन कैसे-कैसे मोड़ लेता है। इन सबका अध्ययन इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय के उपन्यासों में मिलता है। यद्यपि इन दोनों के उपन्यास अत्यधिक वैयक्तिक हैं तथापि उनका ध्येय सामाजिक है। उनके सामाजिक मूल्य का निर्धारण करने के पहले उनकी सेक्स की समस्याओं का निरूपण करना आवश्यक है।

२११ इलाचन्द्र जोशी—जोशीजी का ध्येय फ्रायड आदि के सिद्धान्तों का

[1] गिरती दीवारें पृ० ५४२।

समर्थक नहीं हैं, और वे अपने उपन्यासों पर फ्रायडवाद का आरोप होते देखकर चिढ़ते हैं।[१] किन्तु वे अपने उपन्यासों में फ्रायड या और किसीके मनोविश्लेषणवाद के होने का निषेध नहीं करते। उनके अपने ही कथन से स्पष्ट है कि उन्होंने मनोविज्ञान को जो अपनाया है सामाजिक मनोवृत्तियों के अध्ययन के लिए अपनाया है विशेष कर मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का आधार लेकर बुभुक्षा समाज की मनोवृत्तियों को वस्तुस्थिति द्वारा समझने का प्रयास किया है।[२] जोशीजी के उपन्यासों के क्रमिक अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उनकी मूल प्रेरणा सामाजिक ही है। 'पर्दे की रानी' और 'सन्ध्या' (या घृणामयी) में उन्होंने समाज में जो सेक्स सम्बन्धी कुण्ठा बताया है उसका मनोवैज्ञानिक कारण बूझा है। 'पर्दे की रानी' वेश्या-जीवन के सम्बन्ध में उसके पहले के उपन्यासों से अधिक ऊपर नहीं उठता किन्तु उसमें जीव विज्ञान की पैतृकता (Heredity) और मनोविज्ञान के नियतिवाद (Psychic Determinism) की एक हल्की रेखा भी मिलती है। 'पर्दे की रानी' की निरंजना पतित माता-पिताओं की संतान है। अतः उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों के आधार पर उसका पतन की ओर जाना अस्वाभाविक नहीं है। अच्छी परिस्थितियों में पलती हुई वह बहुत दिनों तक इस पतनोन्मुखता का निवारण करती है पर अन्त में इन्द्रमोहन द्वारा उसका कौमार्य भंग होता ही है। किन्तु निरंजना को पाने के लिए इन्द्रमोहन जो विचित्र लीलाएं करता है, वे सब किसी दृढ़ मनोवैज्ञानिक आधार पर भड़ित नहीं है जासूसी और ऐयारी के उपन्यासों के विचित्र रोमाण्टिक घटना चक्रों के समान ही है।

अब जोशीजी के 'संन्यासी' 'निर्वासित' और 'प्रत और छाया' को लें। इन तीनों के नायकों की समस्त प्रवृत्तियां जो लेखक ने दिखाई है सेक्स से प्रेरित है। उनकी कामोन्मत्त की मानसिक प्रवृत्तियां और विकृतियां यहां चर्चा का विषय नहीं है क्योंकि वे वैयक्तिक मनोविज्ञान से अधिक सम्बन्धित है और उनकी अलग चर्चा की जायगी। यहां इन प्रवृत्तियों के सामाजिक परिणामों को देखें। 'संन्यासी' में विद्यार्थी जीवन में उच्छृंखल रहनेवाला नन्दकिशोर पहले जयन्ती से फिर शान्ति से प्रेम करता है। इन दोनों प्रसंगों में स्त्री की पराधीनता और पुरुष की उच्छृंखलता एवं अधिकारेच्छा व्यक्त है। शान्ति को सभा से लाकर वह उसके साथ कई दिन रहता है। इस समय वे पूर्णतया भाई-बहन का ही सम्बन्ध रखते हैं। अब अन्त का भाई आकर शान्ति को भाग जाने की प्रेरणा देता है ताकि नन्दकिशोर का जीवन स्वच्छन्द हो जाए, उसके मार्ग में कोई बाधा न आवे और उसकी बहना के विवाह में उलझन न हो। यहां शान्ति के भविष्य के सम्बन्ध में उसे बिलकुल चिन्ता नहीं रहती। यही

---

१ "मैं फ्रायडवाद का समर्थक नहीं हूँ, हालांकि मेरे आलोचकों ने मेरी रचनाओं को फ्रायडवादी बताकर बदनाम कर दिया है। —साहित्य-चिन्तन पृ. [illegible]।

२ यदि आज फ्रायड या एडलर [illegible] मनोविश्लेषणवाद [illegible] ऐसा काम देता है जिससे आज बुभुक्षा मनोवृत्ति [illegible] समझ सकते हैं तब उसे जनता में [illegible] क्यों भारतीय होना है? —साहित्य चिन्तन पृ. [illegible]।

वह दुर्बुध्दा मनोवृत्ति है जो सभ्यता और सदाचार का दम्भ भरती है एवं अपनी सामाजिक दशा को बनाए रखने की धुन में उससे हानि उठानेवाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में ज़रा भी नहीं सोचती। और फिर जयन्ती से मन्नू का विवाह हो जाता है पर उसके साथ जयन्ती का जीवन असुख रहता है और वह जल मरती है। यह स्त्री की दूसरी तरह की पराधीनता का उदाहरण है जिसके कारण वह अपने मनचाहे पुरुष को वरण करने का अवसर न पाकर किसीके गले बांध दी जाती है। इस तरह की भयकर पराधीनता में स्त्री को दबा रखकर भी अहिंसा, उदारता और बाहिरदारी का दावा करनेवाले समाज की जोड़ीजी ने खाल उड़ा दी है। जब नन्दकिशोर का भाई शान्ति से कहता है 'तुम नारी हो तुम्हें आत्मत्याग का महत्त्व सिखाना नहीं है।' और जब पुराणों का उदाहरण देकर भाग जाने की प्रेरणा देता है तब उस समाज की नृशंसता और हृदय की हीनता स्पष्ट प्रकट होती है।

'निर्वासित' और 'प्रेत और छाया' 'सन्यासी' से भी अधिक वैयक्तिक हैं। 'निर्वासित' का नायक महीप और 'प्रेत और छाया' नायक पारसनाथ नन्दकिशोर के समान ही कई लड़कियों से प्रेम करते हैं। महीप कन्या परिवार की दो लड़कियों से प्रेम करके उनका विवाह हो जाने पर तीसरी लड़की नीलिमा से प्रेम करता है उसका विवाह भी और एक धनी से हो जाता है। यहाँ समस्या पूर्णतया वैयक्तिक है और इसमें महीप से बढ़कर नीलिमा के मानसिक संघर्ष का महत्त्व दिया गया है। लेकिन इसके बाद प्रतिमा, शारदा, रम्भा आदि की कथाओं से उपन्यास में जो परिवर्तन आता है—यह परिवर्तन तकनीक की दृष्टि से उतना समीचीन नहीं लगता—उसके कारण वैयक्तिक संघर्ष के बदले स्त्री की सामाजिक पराधीनता मुख्य विषय बन जाती है। और इसके आगे जब इन पीड़ित नारियों की दुर्दशा देख और शान्ति की प्रेरणा पाकर सामाजिक क्रान्ति के निमित्त गुप्तदल का सम्पर्क होता जाता है और कई स्त्रियों को पतित करनेवाले ठाकुर साहब के घर को आग लगाई जाती है तब सामाजिक आधार भी बिलकुल शिथिल हो जाता है। स्त्रियों की समस्या को लेकर भारत में कोई गुप्तदल संगठित हुआ ऐसा ज्ञात नहीं। यह स्त्री-समस्या का हल ढूंढने का लेखक का व्यर्थ प्रयत्न है। और चूंकि महीप के गुप्तदल की हिंसा-नीति के विरुद्ध हो जाना और ठाकुर साहब का बचाना लेखक की गांधीवाद पर आस्था का परिचायक है। इन सब क्रिया-कलापों में और महीप के मानसिक परिवर्तन प्रेरक परिस्थितियों का विवेचन उपन्यास में नहीं होता।

'प्रेत और छाया' में पारस जो अपने पिता से समझ पाता है कि वह उसका पुत्र नहीं है माता की अवैध सन्तान है कई स्त्रियों से यौन-संबन्ध स्थापित करता है। इन सब स्त्रियों के प्रति उसके आकर्षण के कारण बिलकुल मनोवैज्ञानिक हैं और अत्यन्त जटिल हैं। ये वैयक्तिक सम्बन्ध और बीच-बीच में आई कई विभिन्न घटनाएं उपन्यास के सामाजिक आधार को ढहा देती हैं। जटिल कथानक और

१ उदाहरण के लिए पंचन परिच्छेद का भंग-गुरु-गुरु सेन का दृश्य लीजिए जिसमें

अनावश्यक भावुकता के कारण भी उपन्यास समाज से बहुत दूर जा पड़ता है।

जोशी के 'मुक्तिपथ' में नैतिक समस्या का बिलकुल भिन्न एक रूप है। राजीव एक अनाथ बालिका सुनन्दा को अपने साथ रखकर उसके व्यक्तित्व का विकास करता है। वह बड़ा आदर्शवादी है। अतः उससे उदात्त सम्बन्ध ही रखता है। सुनन्दा की मौन चेतना एक ओर दमित होकर और दूसरी ओर राजीव से व्यक्तित्व-विकास का अवसर पाकर दूसरा रूप धारण कर लेती है। अन्त में वह अपने व्यक्तित्व को इतना विकसित पाती है कि वह राजीव का आश्रय ग्रहण करने को भी तैयार नहीं रहती और अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर उसके यहाँ से चली जाती है। लेखक ने यहाँ मनोवैज्ञानिक आधार पर व्यक्तित्व का जो विकास दिखाया है अत्यन्त समीचीन है और यह एक तरह का उदात्तीकरण (Sublimation) है। इस उपन्यास का भी सामाजिक आधार अधिक ठोस नहीं है।

२१२ अज्ञेय—अज्ञेय के 'शेखर' में जितनी स्त्रियाँ आयी हैं, सब शेखर की भयंकर अहंवृत्ति के कारण किसी न किसी तरह की वेदना का अनुभव करनेवाली हैं। सबसे मार्मिक चित्रण शशि का है, जो शेखर की महत्ता के सामने झुकती है और असीम व्यथाएँ सहती है। स्त्री के रूप में शशि के दो रूप स्पष्ट हैं। पहला रूप वह जो शेखर को जीवन की प्रेरणा देकर उसके कार्यों को संचालित करता है। वह बालिका जिसके सिर पर लोटा मारकर शेखर ने चोट की थी उसके लिए सब कुछ बन जाती है। शेखर में जागरित शैशव की चेतना तक शशि के प्रति एक उदात्त रूप धारण कर लेती है और उसका जीवन ही जाकर उसपर टिक जाता है। अन्यत्र सब जगह शेखर की अहम्ता अपने स्वैर विहार की स्वतंत्रता न पाकर दब जाती है किन्तु शशि के सामने वह अपनी पूर्णता प्रकट होती है वह उससे प्रेम करते हुए भी उसकी अवहेलना करता है। फिर शशि उसकी प्ररणा है। वह कहता है 'जितने स्वप्न मैंने देखे तुममें आकर घुल जाते हैं।'[1]

शशि का दूसरा रूप स्त्री की पराधीनता और विवशता को दिखाता है। किन्तु पता वह नहीं जिसके कारण हमारे सामाजिक उपन्यासों की कितनी ही युवती सुन्दरियाँ पुरुषों के अत्याचार से पतित और समाज से निष्कासित होकर गंगा के आँचल में आश्रय खोजती हैं। शशि की विवशता नारी-समाज की नैसर्गिक विवशता है 'तुम्हारी आवश्यकता मुझे है क्योंकि मेरा कल्पित व्यक्तित्व तुम्हारे द्वारा अभिव्यंजना का मार्ग पाता है।'[2] शेखर के प्रति शशि के ये शब्द एक अनिर्वचनीय सत्य की ओर संकेत करते हैं। स्त्री की उस मानसिक दुर्बलता और विवशता की ओर जिसके संबन्ध में प्रसाद ने कहा था

एक पहाड़ी लड़की भी शामिल होती है उसका एक गुंडे से झगड़ा हो जाता है और उसकी रक्षा के लिए मास्टर चारुदत्त पहुँचता है। यह किशोरीलाल गोस्वामी की नायिकाओं की याद दि और मास्टरों के वीर कर्मों से जरा भी ऊपर नहीं उठता।

१ शेखर द्वितीय भाग पृ १६५।

२ शेखर, द्वितीय भाग पृ १४७।

मुख-सता फँसाकर-नख-तट में
भूसे-सा भोंका जाती हूँ।

अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' में भी सामाजिक आधार अधिक पुष्ट नहीं है। यद्यपि इसमें उठायी गयी सेक्स की समस्या बड़े सामाजिक महत्त्व की है। पात्रों की मनोवृत्तियाँ विकृत हैं अतः सामान्य नहीं हैं। एक विशेष तरह का मानसिक वैषम्य उन सबके संपूर्ण व्यक्तित्वों को और विशेष कर यौन-भावों को अभिभूत रखता है। भुवन और रेखा को एक-दूसरे के प्रति दैहिक आकर्षण होता है—इसे प्रेम कहना अनुचित है। जो अवैध संपर्क की दशा तक पहुँचता है और रेखा को गर्भिणी बनाता है किन्तु दोनों विवाह के लिए तैयार न होते। जब भुवन विवाह का प्रस्ताव करता है तब रेखा इन्कार करती है जब रेखा तैयार होती है तब भुवन गौरा के प्रति आकृष्ट हो चुका है। रेखा में भी वैषम्य कम नहीं है। वह भुवन के प्रति आकृष्ट है। रात के समय कामोन्माद की दशा में भुवन के कमरे तक में जाती है। फिर भी भुवन द्वारा गर्भिणी होने पर विवाह नहीं चाहती भ्रूणहत्या करती है। इन जटिल व्यक्तित्वों को जिस सामाजिक नींव पर खड़ा किया है वह भी कमजोर है। रेखा गौरा आदि स्त्रियों को उपन्यास में स्वच्छन्द विहार की और पर-पुरुषों से मिलने-जुलने की जो स्वतन्त्रता मिली है वह शायद हमारे समाज के किसी वर्ग में नहीं मिलती। सामाजिक वातावरण से विलग ये पात्र इतनी बड़ी समस्या को सामान्य अनुभूति का विषय न बना सके यह आश्चर्य की बात नहीं है।

२१३ डा देवराज—इनके 'पथ की खोज' का नायक चन्द्रनाथ भी सेक्स की चेतना से आक्रान्त वैयक्तिक पात्र है। 'शेखर' में महत्ता शेखर की कामवृत्ति को नियंत्रण में रखनेवाली चीज है, तो 'पथ की खोज' में अहं का दौर्बल्य। चन्द्रनाथ पढ़ी लिखी हर एक लड़की से प्रेम करता है, पर इससे आगे बढ़ने की हिम्मत उसमें नहीं है। किसीसे प्रेम-याचना करने को वह तैयार न होता। साधना का यौन भाव रेखा का सा वैषम्यपूर्ण है वह बार-बार चन्द्रनाथ के प्रति आकृष्ट होती है, प्रेम-याचना तक करती है पर जब चन्द उसके पास आता है वह बुखार उतर जाता है और उसे 'भैया' कहना पसन्द करती है।

यौन समस्या का सामाजिक मूल्य

२१४ भारतीय समाज में और पाश्चात्य समाज में स्त्री और पुरुष के पारस्परिक संबन्ध में बहुत बड़ी भिन्नता है। यह सत्य है कि सर्वत्र स्त्री-पुरुषों को एक-दूसरे की ओर आकृष्ट करनेवाली मूल कामवृत्ति एक ही है। किन्तु उसके बाह्य रूपों में और उससे प्रेरित सामाजिक क्रियाओं में सामाजिक रुचि के कारण बहुत अन्तर आ गया है। यूरोपीय देशों में स्त्री और पुरुष को मिलने और परस्पर निकटता से व्यवहार करने की जो स्वतंत्रता मिली है वह आज भी हमारे समाज में नहीं मिली है। दूसरी बात यह है कि हमारे समाज में सैकड़ों वर्षों से स्त्री पराधीनता और पीड़न का पात्र बनकर अपना व्यक्तित्व ही खो चुकी है और अब स्त्री के जागरण के होते हुए

भी वह पूर्णतया अपने स्वातंत्र्य की घोषणा करके अपनी इच्छानुसार पुरुषों से मिलने-जुलने और व्यवहार करने का साहस नहीं कर सकी है। इस परिस्थिति के कारण हमारे समाज में स्त्री-पुरुष के बीच में बहुत बड़ा व्यवधान आ गया है।

हमारे मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में जिन स्त्रियों और पुरुषों की विशेष चर्चा है ऐसे स्त्री-पुरुष हमारे वास्तविक जीवन में कम मिलेंगे। महीप नन्दकिशोर, पारस नाथ दत्तर या भुवन हमारे समाज के किसी भी वर्ग में मिलेंगे इसमें सन्देह है। इन सबमें जिस यौन-कुण्ठा का आरोप किया है उसके विकास के लिए भी हमारा समाज शायद अधिक अवसर नहीं देता। अगर कोई पुरुष घर में अपनी वासना पूर्ण कर नहीं पाता तो वह कुण्ठाओं में अपने आपको बसाने की आवश्यकता नहीं समझता। उसके लिए मार्ग साफ है आज भी हमारे देश में संसार के सबसे पुराने पेशे का बाजार गरम है।

दूसरी ओर स्त्रियों की पराधीनता भी इस कुण्ठा के विकास में बाधक है। वैसे अपने व्यक्तित्व से ही वंचित स्त्रियाँ भारतीय संस्कार की चहरदीवारी में पलनेवाली स्त्रियाँ अन्य पुरुषों के साथ स्वतंत्र व्यवहार की कल्पना तक नहीं कर सकती। अगर *वह अपनी मर्यादा छोड़कर थोड़ी-सी स्वतंत्रता दिखाये तो समाज उसका बहिष्कार कर* देगा। निरजना नीलिमा मजरी रेखा गौरा आदि की तरह व्यवहार की स्वतन्त्रता प्राप्त युवतियाँ हमारे समाज में कितनी मिलेंगी? अज्ञेय और जोशीजी ने जिस मध्य वर्ग का चित्रण किया है उसमें भी आज समाज का कड़ा नियंत्रण है उसमें भी युवतियों को अधिक स्वतन्त्रता की अनुमति नहीं दी जाती। जिन स्त्रियों को इस तरह की स्वतंत्रता प्राप्त है उनका समाज ने एक वर्ग ही बना रखा है जो विलासी पुरुषों की वासना पूर्ति का साधन बनता है। पर अब समाज से और किसी तरह का सम्बन्ध स्थापित न करके अपना असम जीवन व्यतीत करता है। ऐसी परिस्थिति में स्त्री-पुरुषों के ऐसे व्यवहारों और कुण्ठाओं की चर्चा करना और उनके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में उपन्यासों के पन्न-पन्न पृष्ठ रंग देना अधिक सामाजिक उत्तरदायित्व का परिचायक नहीं है। इन मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में जो समस्याएं उठायी गई हैं वे अधिकतर रूप में वैयक्तिक हैं और उनका कोई आधार है तो भारतीय समाज में नहीं यूरोपीय समाज में है। हमारे उपन्यास-साहित्य में कुण्ठाग्रस्त नर-नारियों को जो स्थान मिला है उसकी तुलना में बहुत कम ऐसे सात्वों स्त्री-पुरुषों को मिला है जो अपना सारा जीवन जीवन का भार ढोने में ही बिता देते हैं कभी रोमान्स का अनुभव नहीं करते अथवा करते हैं तो भी सामाजिक रूप में बहुत ही क्षीण रूप में। इसका अर्थ यह न समझा जाए कि भारत का समाज सेक्स की प्रवोदक शक्तियों से पूर्णतया मुक्त है। इसका मतलब इतना ही है कि इन उपन्यासों में जिस तरह और जिस रूप में चित्रण हुआ है उस तरह और उस रूप में हमारे समाज में कम मिलता है। इसी कारण नन्दकिशोर, महीप पारसनाथ दत्तर भुवन नीलिमा मंजरी रेखा गौरा आदि से आत्मीयता का अनुभव करने में हम असमर्थ होते हैं। उन्हें समझने में हमें कठिनाई होती है चाहे उनके चरित्र कितने ही प्रभविष्णु हों। चरित्र के एकांतिक स्वरूप में

विश्लेषण में उनका सामाजिक अस्तित्व नष्ट-सा हो जाता है। विषय की एकान्ति कता केन्द्रीकरण (Concentration), प्रकरण (Selection) और परिधि निर्णय तक- नीक की दृष्टि से बुरी नहीं है बल्कि उपन्यास को प्रभावशाली बनाने में उपयोगी ही है। पर जब इस तरह की संकुचित सीमाओं से उपन्यास बांधा जाता है तब उसका प्रतिपादित विषय सामान्य सामाजिक जीवन से अधिक सम्बन्धित न हो तो उसका सामाजिक मूल्य संदिग्ध हो जाता है।

यह प्रवृत्ति मात्र केवल हिन्दी में ही मिलती है ऐसी बात नहीं। अंग्रेजी और फ्रेंच के उपन्यास-साहित्य भी इसी धारा म बहते जा रहे हैं। सामाजिक यथार्थवाद से प्रभावित तत्कालीन रूसी, हुंगेरियन, पोलिश, रूमानियन आदि भाषाओं के साहित्य जब सामाजिक जीवन के अध्ययन मे अधिक दिलचस्पी दिखाते हैं तो फ्रेंच और अंग्रेजी के उपन्यास व्यक्ति की मानसिक ग्रन्थियों को सुलझाने के प्रयत्न में हैं। हिन्दी से वे इस बात में भिन्न हैं कि वे केवल सेक्स की ही नहीं मनोविज्ञान के अन्य क्षेत्रों से सम्बन्धित ग्रन्थियों के अपग्रन्थन में लगे हुए हैं। इस तरह के वैयक्तिक अध्ययन से मनुष्य को समझने में और उसकी समस्याओं को सुलझाने म और उसके सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन में जो विषमताएँ हैं उनको दूर करने में कहाँ तक सफलता मिलेगी, यह समय ही बता सकेगा।

३

राष्ट्रीय वातावरण का प्रतिबिम्ब

२१५ विश्व-इतिहास में बीसवीं सदी की दो सबसे बड़ी स्थायी प्रभाव की घटनाएँ रूस और भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति है। दोनों महायुद्धों से भी इन घटनाओं का अधिक महत्त्व है क्योंकि इनका प्रभाव अधिक गहरा और अपने-अपने देशों की जनता की भाग्य-विधायक है। इनका महत्त्व केवल राजनीतिक क्रांतियो के रूप में नहीं मानवजाति के चिन्तन-जगत् के महान विप्लवों के रूप में भी है। रूसी विप्लव एक ऐसा सम्भव था जो केवल रूस की राजसत्ता को बदलकर जनता का का विधि-निर्णायक ही नहीं सिद्ध हुआ बल्कि उसने संसार की राष्ट्रीय सीमाओं समाजशास्त्रीय मान्यताओं दार्शनिक विचारों और आर्थिक सिद्धान्तों में विप्लवात्मक विचार-परिवर्तन का बीजारोपण भी कर दिया। विधान नैतिक सामाजिक और आर्थिक योजनाओं से युक्त गांधीवाद भी कम महत्त्व का नहीं है। किसी निश्चित विधान कार्यक्षेत्र में उसकी सम्भावनाओं का पूर्ण परीक्षण अब तक नहीं हुआ है। अत उसकी महत्ता के सम्बन्ध में अभी कुछ कहना असामयिक होगा। किन्तु यह निश्चित है कि गांधीवादी पद्धति से संचालित भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम संसार के इतिहास में कम महत्त्व का विषय नहीं है। ये दोनों देशीय विप्लव साहित्य-क्षेत्र में भी अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। ये इतनी शानदार घटनाएँ हैं कि उनके सम्बन्ध में प्रथम श्रेणी के उपन्यास रचे जा सकते हैं। हिन्दी और रूसी में इस विप्लव के चित्रण का थोड़ा बहुत प्रयत्न

भी वह पुरातन अपने स्वातन्त्र्य की घोषणा करके अपनी इच्छानुसार पुरुषों से मिलने-जुलने और व्यवहार करने का साहस नहीं कर सकी है। इस परिस्थिति के कारण हमारे समाज में स्त्री-पुरुष के बीच में बहुत बड़ा व्यवधान आ गया है।

हमारे मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में जिन स्त्रियों और पुरुषों की विशेष चर्चा है ऐसे स्त्री-पुरुष हमारे वास्तविक जीवन में कम मिलेंगे। महीप, नन्दकिशोर, पारस नाथ, शेखर या भुवन हमारे समाज के किसी भी वर्ग में मिलेंगे इसमें सन्देह है। इन सबमें जिस यौन-कुण्ठा का आरोप किया है उसके विकास के लिए भी हमारा समाज यथेष्ट अधिक अवसर नहीं देता। अगर कोई पुरुष घर में अपनी वासना पूर्ण कर नहीं पाता तो उसे कुण्ठाओं में अपने आपको कसने की आवश्यकता नहीं समझता। उनके लिए मार्ग साफ है। आज भी हमारे देश में व्यभिचार के सबसे पुराने पेशे का बाजार गर्म है।

दूसरी ओर स्त्रियों की पराधीनता भी इस कुण्ठा के विकास में बाधक है। जैसे अपने व्यक्तित्व में ही बन्दिनी स्त्रियाँ भारतीय संस्कार की चारदीवारी में पलनेवाली स्त्रियाँ अन्य पुरुषों के साथ स्वतंत्र व्यवहार की कल्पना तक नहीं कर सकतीं। अगर वह अपनी मर्यादा तोड़कर थोड़ी-सी स्वतंत्रता दिखाये तो समाज उसका बहिष्कार कर देगा। निरंजना, नीलिमा, मंजरी, रेखा, गौरा आदि की तरह व्यवहार की स्वतंत्रता प्राप्त युवतियाँ हमारे समाज में कितनी मिलेंगी? जैनेन्द्र और अज्ञेयजी ने जिस मध्य वर्ग का चित्रण किया है उसमें भी आज समाज का कड़ा नियंत्रण है उसमें भी युवतियों को अधिक स्वतंत्रता की अनुमति नहीं दी जाती। जिन स्त्रियों को इस तरह की स्वतंत्रता प्राप्त है उनका समाज में एक वर्ग ही बना रहता है जो विलासी पुरुषों की वासना पूर्ति का साधन बनता है। पर वह समाज से और किसी तरह का सम्बन्ध स्थापित न करके अपना अलग जीवन व्यतीत करता है। ऐसी परिस्थिति में स्त्री-पुरुषों के ऐसे व्यवहार और कुण्ठाओं की चर्चा करना और इनके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में उपन्यासों के पृष्ठ-पर-पृष्ठ रंग देना अधिक सामाजिक उत्तरदायित्व का परिचायक नहीं है। इन मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में जो समस्याएँ उठायी गई हैं वे अधिकतर रूप में वैयक्तिक हैं और उनका कोई आधार है तो भारतीय समाज में नहीं यूरोपीय समाज में है। हमारे उपन्यास-साहित्य में कुण्ठाग्रस्त नर-नारियों को जो स्थान मिला है उसकी तुलना में बहुत कम ऐसे सामान्य स्त्री-पुरुषों को मिला है जो अपना सारा यौवन जीवन का भार ढोने में ही बिता देते हैं, कभी रोमान्स का अनुभव नहीं करते अथवा करते हैं तो भी सामाजिक रूप में बहुत ही थोड़े रूप में। इसका अर्थ यह न समझा जाए कि भारत का समाज सेक्स की प्रयोजक शक्तियों से पूर्णतया मुक्त है। इसका मतलब इतना ही है कि इन उपन्यासों में जिस तरह और जिस रूप में चित्रण हुआ है उस तरह और उस रूप में हमारे समाज में कम मिलता है। इसी कारण नन्दकिशोर, महीप, पारसनाथ, शेखर, भुवन, नीलिमा, मंजरी, रेखा, गौरा आदि से आत्मीयता का अनुभव करने में हम असमर्थ होते हैं। उन्हें समझने में हमें कठिनाई होती है चाहे उनके चरित्र कितने ही प्रभविष्णु हों। चरित्र के एकान्तिक स्वरूप के

विश्लेषण में उनका सामाजिक अस्तित्व नष्ट-सा हो जाता है। विषय की एकान्तिकता केन्द्रीकरण (Concentration) प्रवरण (Selection) और परिधि-निर्णय तकनीक की दृष्टि से बुरी नहीं है बल्कि उपन्यास को प्रभावशाली बनाने में उपयोगी ही है। पर जब इस तरह की संकुचित सीमाओं से उपन्यास बाधा जाता है तब उसका प्रतिपादित विषय सामान्य सामाजिक जीवन से अधिक सम्बन्धित न हो तो उसका सामाजिक मूल्य संदिग्ध हो जाता है।

यह प्रवृत्ति आज केवल हिन्दी में ही मिलती है ऐसी बात नहीं। अंग्रेजी और फ्रेंच के उपन्यास-साहित्य भी इसी धारा में बहते जा रहे हैं। सामाजिक यथार्थवाद से प्रभावित तत्कालीन रूसी हंगेरियन पोलिश रूमानियन आदि भाषाओं के साहित्य जब सामाजिक जीवन के अध्ययन में अधिक दिलचस्पी दिखाते हैं तो फ्रेंच और अंग्रेजी के उपन्यास व्यक्ति की मानसिक ग्रन्थियों को सुलझाने के प्रयत्न में हैं। हिन्दी के वे इस बात में भिन्न हैं कि वे केवल सेक्स की ही नहीं मनोविज्ञान के अन्य दोषों से सम्बन्धित ग्रन्थियों के अध्ययन में लगे हुए हैं। इस तरह के वैयक्तिक अध्ययन से मनुष्य को समझने में और उसकी समस्याओं को सुलझाने में और उसके सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन में जो विषमताएँ हैं उनको दूर करने में कहाँ तक सफलता मिलेगी यह समय ही बता सकेगा।

३

राष्ट्रीय वातावरण का प्रतिबिम्ब

२१५ विश्व-इतिहास में बीसवीं सदी की दो सबसे बड़ी स्थायी प्रभाव की घटनाएँ रूस और भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति हैं। दोनों महायुद्धों से भी इन सम्बन्धों का अधिक महत्त्व है क्योंकि इनका प्रभाव अधिक गहरा और अपने-अपने देशों की जनता की भाग्य-विधायक है। इनका महत्त्व केवल राजनीतिक क्रांतियों के रूप में नहीं मानवजाति के चिन्तन-जगत् के महान विप्लवों के रूप में भी है। रूसी विप्लव एक ऐसा सम्भव था जो केवल रूस की राजसत्ता को बदलकर जनता का का विधि-निर्णायक ही नहीं सिद्ध हुआ बल्कि उसने संसार की राष्ट्रीय सीमाओं समाजशास्त्रीय मान्यताओं दार्शनिक विचारों और आर्थिक सिद्धान्तों में विप्लवात्मक विचार-परिवर्तन का बीजारोपण भी कर दिया। विशाल नैतिक सामाजिक और आर्थिक योजनाओं से युक्त गांधीवाद भी कम महत्त्व का नहीं है। किसी निश्चित विधान कार्यक्षेत्र में उसकी सम्भावनाओं का पूर्ण परीक्षण अब तक नहीं हुआ है। अतः उसकी महत्ता के सम्बन्ध में अभी कुछ कहना असामयिक होगा। किन्तु यह निश्चित है कि गांधीवादी पद्धति से संचालित भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम संसार के इतिहास में कम महत्त्व का विषय नहीं है। ये दोनों देशीय विप्लव साहित्य-क्षेत्र में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ये इतनी शानदार घटनाएँ हैं कि उनके सम्बन्ध में प्रथम श्रेणी के उपन्यास रचे जा सकते हैं। हिन्दी और रूसी में इस विप्लव के चित्रण का थोड़ा बहुत प्रयत्न

हुआ है। इन क्रान्तियों और उनके तुरन्त पूर्व और पश्चात् की विराट राजनीतिक घटनाओं से सम्बन्धित उपन्यासों की चर्चा यहाँ की जायगी।

प्रेमचन्द

२१६ हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनों को यथायोग्य महत्त्व देनेवाले प्रथम उपन्यास प्रेमचन्द के ही हैं। यद्यपि राजनीतिक परिस्थितियों का विस्तृत अध्ययन उनके उपन्यासों में केवल 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' में ही मिलता है तो भी 'प्रेमाश्रम' 'कायाकल्प' और 'गोदान' में प्रस्तुत समाज भी देशीय वातावरण को बहुत कुछ स्पष्ट करते हैं। 'प्रेमाश्रम' में पतित पददलित किसानों पर जमींदारों तथा सरकारी कर्मचारियों के जो अत्याचार होते थे उनका विस्तृत अध्ययन किया गया है तो 'कायाकल्प' में हिन्दू-मुस्लिम समस्या का रूप दिखाया गया है। इन दोनों में तथा देशीय विप्लव का ही रूप प्रस्तुत करनेवाले 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द एक सुधारवादी के रूप में प्रकट हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि उन्होंने देशीय वातावरण का यथार्थ और सर्वांगीण चित्रण अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया सभी वर्गों के सभी प्रकार के लोगों का अध्ययन किया और देश के दम घुटानेवाले विदेशी शासन तथा स्वयं जनता के मनोभावों के दूषित पक्षों पर अपार घृणा प्रकट की। साथ ही स्वातन्त्र्य की अदम्य आकांक्षा से मचलती हुई जनता की अपार चेतना को उन्होंने प्रत्यक्ष कर दिखाया। सत्याग्रह आन्दोलन का जो विस्तृत चित्रण प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलता है, उनकी सजीवता अतुलनीय है। मातृभूमि के लिए समस्त जीवन समर्पित करने वाले अगणित स्त्री-पुरुषों को उन्होंने श्रद्धांजलि अर्पित की। स्त्रियों पर प्रेमचन्द की अपार श्रद्धा थी ही। पुरुषों से भी अधिक उत्साह और आत्मीयता से आन्दोलन में भाग लेनेवाली और देश-सेवा करनेवाली स्त्रियों को प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' की सोफ़िया इन्दु और जाह्नवी तथा 'कर्मभूमि' की सुखदा मुन्नी रेणुकादेवी नैना सकीना आदि के रूप में अमर कर दिया। इस तरह हम देखते हैं कि प्रेमचन्द ने असीम सहानुभूति देश प्रेम तथा ममता से हमारे देशीय आन्दोलन का चित्रण किया है। मातृभूमि उनके लिए सजीवरणीय देवी थी स्वातंत्र्य संग्राम उनके लिए अति पवित्र यज्ञ था।

किन्तु जैसे सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिए उन्होंने असंभाव्य आदर्श प्रस्तुत किये उसी तरह राष्ट्रीय-आन्दोलन के परिणामों के सम्बन्ध में भी कुछ विचित्र कल्पनाएँ की। गांधीवादी मन-परिवर्तन और समझौता ही यहाँ भी उनकी 'अक्सीर दवा' है। ऐसा लगता है कि समस्याओं से उलझते समय वे कभी-कभी भावुकता के आधिक्य के कारण विश्लेषण की दृष्टि खो जाते हैं। पर इससे उनकी ईमानदारी और ममता कम नहीं होती भले ही उनके समाधान अपरिपक्व लगें।

प्रेमचन्द और गोर्की

२१७ मैक्सिम गोर्की रूसी जनक्रान्ति की पृष्ठभूमि को आवेग-भरे शब्दों में चित्रित करनेवाले कलाकार हैं तो भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम के वातावरण का उनके

समष्टि रूप में प्रस्तुत करनेवाले सबसे बड़े लेखक प्रेमचन्द हैं। यद्यपि दोनों के दृष्टिकोण और रचना-विधान आदि में बहुत अन्तर है तथापि राजनीतिक चेतना के आधार पर देखा जाए तो दोनों बहुत निकट हैं। प्रेमचन्द और गोर्की ने एक ओर जीर्ण जर्जर समाज की अन्ध-परम्पराओं और रूढ़ियों से सचालित कुत्सित मनोवृत्तियों पर अपार असतुष्टि प्रकट की तो दूसरी ओर जागती हुई जनशक्ति की गतिविधियों को जानकर विशाल क्रान्ति की प्रेरणा दी। दोनों ने परिवर्तन की प्रेरणा देते हुए अपने उपन्यासों में जो राष्ट्रीय वातावरण प्रस्तुत कर दिखाए हैं उनके दो रूप हैं। प्रथम रूप उन उपन्यासों में है जिनमें उन्होंने राष्ट्रीय चिन्तन से मुक्त रहकर केवल समाज की कुत्सित वृत्तियों को खाल उखाड़कर दिखाया पराधीन जनता की ओर विवशताओं को बड़ी सहानुभूति से चित्रित किया। प्रतिज्ञा' 'सेवासदन' 'वरदान' 'निर्मला' 'गबन' 'गोदान' आदि में एक या अधिक समस्याओं को लेकर समाज की व्यथाग्रस्त जनता की आहें प्रकट की गयी हैं। पर गोर्की ने समस्याओं का सूत्र पकड़कर जीवन को नहीं देखा स्वयं जीवन को लेकर उसका सर्वांगीण रूप में निरूपण किया। उनका 'आर्टमनोव' 'फोमा गोर्देयेव' और आत्मकथात्मक उपन्यासों में तत्कालीन समाज के निम्न वर्गों के पतित और दयनीय जीवन का चित्रण है। लेकिन गोर्की प्रेमचन्द के समान कहीं भी किसी समस्या को लेकर जीवन को एकांगी नहीं बनाते। अत उनका सामाजिक वातावरण अधिक विस्तृत और अधिक भयाव है। किन्तु प्रेमचन्द के समान निम्न वर्ग के जीवन से उनकी असतुष्टि स्पष्टतया प्रकट है। प्रेमचन्द प्रचारक और सुधारक होने के कारण न जीवन को संपूर्णता में देख पाए हैं, न उसके प्रति तटस्थ दृष्टि रख सके हैं। उनमें जो प्रत्यक्ष आलोचना और प्रचार है उससे गोर्की बहुत दूर हैं। प्रेमचन्द की तुलना में गोर्की की श्रेष्ठता का कारण यही है। किन्तु पतित वर्ग के प्रति प्रेमचन्द की सहानुभूति और उनकी ईमानदारी पर कभी सन्देह नहीं किया जा सकता है। उनके हृदय की वेदना और असतुष्टि गोर्की की वेदना और असतुष्टि से किसी दशा में कम नहीं है। दोनों के हृदय एक हैं और उनमें सहानुभूति और दया के स्पन्दन ही हैं भले ही उनकी बौद्धिक शक्तियों और अनुभव-सीमाओं के अन्तर के कारण दोनों की कला में बहुत कुछ अन्तर आ गया हो।

दूसरी श्रेणी के उपन्यासों में देश की तत्कालीन जागृति का चित्रण और स्वतन्त्रता के लिए आगे बढ़ने की प्रेरणा है। गोर्की का 'माँ' सोवियत क्रान्ति की प्रेरक शक्ति के रूप में प्रसिद्ध हो चुका है। प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' में देशीय जागरण का एक विशाल रूप अंकित कर दिखाया। उनकी 'समर यात्रा' और दूसरी कहानियों से उनकी राष्ट्रीय चेतना स्पष्ट होती है। पूँजीवादी आदर्शों को स्वीकृत कर असीम आस्था के साथ गुलामी की शृंखलाओं को तोड़ने का प्रयत्न करती हुई जनता के हृदयों को उन्होंने समस्या और अपने उपन्यासों और कहानियों में प्रदर्शित किया। सोवियत की जागृति दूसरे प्रकार की थी। सर्वहारा वर्ग ने अपनी शक्ति पहचान ली और उस शक्ति से अपने अधिकारों को हस्तगत करना चाहा। भारत की आध्यात्मिकता और गांधीवाद ने स्वयं कष्ट सहकर, स्वयं लाठी-गोली सहकर शत्रुओं

को आत्मशक्ति से पराजित करने की प्रेरणा दी। भारतीय और रूसी देशीय आन्दोलनों में जो अन्तर है वही प्रेमचन्द और गोर्की के उपन्यासों में है। गोर्की ने सिखाया "हम अब लोगों से घृणा करने को विवश हैं जिससे भविष्य में ऐसा समय आवे जब हम सबसे प्रेम कर सकें। हमें गिर हर एक व्यक्ति को मिटा देना होगा जो प्रगति के मार्ग में बाधक बन खड़ा हो जो अपनी कीर्ति और सुरक्षा के निमित्त धन कमाने के लिए दूसरों का बध देता हो।" तो प्रेमचन्द ने बार-बार अहिंसा और अक्रमराहित्य का प्रचार किया 'तुम धर्म की लड़ाई लड़ रहे हो। लड़ाई नहीं यह तपस्या है। तपस्या में क्रोध और द्वेष आ जाता है तो तपस्या भंग हो जाती है।'[1] प्रेमचन्द तो आदर्शवादी और आशावादी हैं ही। पर अन्य उपन्यासों में यथार्थवादी के रूप में दिखायी पड़नेवाले गोर्की भी 'माँ' में आदर्शवाद और आशावाद को अपनाते हैं। पावेल कहता है 'मैं जानता हूँ ऐसा एक समय आएगा जब लोग अपनी ही सुन्दरता को देख कर चकित रह जाएँगे जब हर कोई दूसरा के लिए एक तारा बन जायगा। सारी भूमि स्वतंत्र लोगों से आबाद हो जो अपनी स्वतन्त्रता में महान होंगे।'[2] राष्ट्रीय आन्दोलन से सम्बन्धित उपन्यासों में गोर्की का उपन्यास प्रेमचन्द के उपन्यासों से अधिक चुस्त है। प्रेमचन्द के समस्या प्रधान उपन्यासों से उनके राजनीतिक उपन्यासों का विषय शिथिल है पर विषय जितना शिथिल है उतना ही उसका विस्तार है और देश का सम्पूर्ण वातावरण सामने आ जाता है। इसके विरुद्ध गोर्की के अन्य उपन्यासों में जो वैविध्य है वह 'माँ' में नहीं है। 'माँ' का कथानक निश्चय से इधर-उधर नहीं हटता उसमें पात्रों के वैयक्तिक जीवन का अधिक विस्तार भी नहीं है। पर 'आर्टमनोव' 'मदरमेंट' फोमा गोर्देयेव' 'आर्टमनोव' आदि में जैसा विशाल सामाजिक वातावरण है वह 'माँ' में नहीं है।

टेढ़े-मेढ़े रास्ते' और 'सीधा-सादा रास्ता'

२१८ प्रेमचन्द के पश्चात राष्ट्रीय वातावरण को विस्तृत रूप में प्रस्तुत करनेवाले दो बड़े उपन्यास 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' और 'सीधा-सादा रास्ता' हैं जो एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न दृष्टिकोणों से लिखित हैं। भगवतीचरण वर्मा का उपन्यास १९४६ में प्रकाशित हुआ था रांगेय राघव का १९५१ में। दोनों उपन्यासों का विषय और प्रायः पात्र भी एक-से हैं पर दोनों के दृष्टिकोण में बहुत अन्तर है। इस अन्तर का कारण केवल लेखकों के वैयक्तिक मतों का अन्तर नहीं है उनके लिखने के समय का भी है। नौ वर्ष साहित्य के इतिहास में शायद लम्बा काल नहीं हो पर इन उपन्यासों के विषय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' उस समय लिखा गया था जब हमारे स्वातन्त्र्य-संग्राम का विधि-निर्णय नहीं हुआ था और राजनीति की

---

१ Mother P 153
१ कर्मभूमि पृ १११।
१ Mother P 154

भावी गति-विधियों की कल्पना बिलकुल नहीं की जा सकती थी। यह समय हमारे राष्ट्रीय मानस में आँधियों का समय था। लेकिन 'सीधा-सादा रास्ता' के लेखन के समय आँधी थम चुकी थी राष्ट्रीय आन्दोलन का विधि-निर्णय हुए आठ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। अतः रांगेय राघव के सामने राष्ट्रीय विप्लव की अधिक ठोस सामग्री थी जो वर्माजी को उपलब्ध न थी। वर्माजी के लिए आन्दोलन के भविष्य सम्बन्ध में निश्चित पूर्व धारणा बनाकर लिखना कठिन था रांगेय राघव के सामने आन्दोलन का परिणाम प्रभाव रूप में था अतः उसके आधार पर राजनीतिक घटनाओं और पार्टियों का मूल्यांकन करना अधिक सरल था। विभिन्न पार्टियों के संगठन में जो शिथिलता थी उनसे जो त्रुटियाँ हुई, इन सबको ही वर्माजी ने देखा। पार्टियाँ स्वयं अपने संबन्ध में जो दावा करती थी और अन्य पार्टियों पर जो दोषारोपण करती थीं उससे वर्माजी परिचित थे। लेकिन उनकी दृष्टि एकांग है क्योंकि उन्होंने विभिन्न पार्टियों की शिथिलताकारक शक्तियों को ही देखा। इन शिथिलताओं दोषों त्रुटियों और अपराधों के बीच में भी जो महान शक्ति जागरित होकर काम कर रही थी जो प्रावेग कन्याकुमारी से कश्मीर तक की जनता के हृदय में लहरें मार रहा था उनको वर्माजी ने नहीं पहचाना। अतः उनके कांग्रेसी कम्युनिस्ट आतंकवादी किसीका मार्ग सीधा नहीं है सब पराजय का वरण करके विदेशी शासन और उससे पनित सभी दुर्व्यवस्थाओं को रहने देते हैं। इस तरह उपन्यास निराशावादी बन जाता है। किन्तु रांगेय राघव ने जन-चेतना को पहचाना है। विदेशी शासन के विरुद्ध संपूर्ण जनता म और तथा कथित उच्चवर्गों के विरुद्ध निम्नस्तर के लोगों में जो जागृति आयी थी उसको उन्होंने स्पष्ट दिखा दिया है। समाज की कुत्सित प्रवृत्तियों म और स्वार्थलोलुप अवसर वादियों के निकृष्ट कर्मों के बीच में भी उनकी दृष्टि म मानवता की ज्योति बची है। श्यामनाथ कहता है 'दुनिया में अभी इन्सानियत बाकी है। जिस दिन वह कहीं भी नहीं मिलेगी उसी दिन हम एक-दूसरे का गला घोंटकर हत्या करने लगेंगे।'[1] 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में स्वतंत्रता के लिए अपने-अपने आदर्श लिए बढ़नेवाले व्यक्ति प्रतिक्रियात्मक शक्तियों से रोक जाते हैं पर सीधा-सादा रास्ता' म व प्रतिक्रियात्मक शक्तियों स लड़ते हुए आगे बढ़ते हैं। इन अन्तरों के होने पर भी इन दोनों को प्रेमचन्द के पश्चात् हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन पर लिखित सर्वश्रेष्ठ उपन्यास मानना होगा।

प्रेमचन्द के उपन्यासों की तुलना में देखा जाए तो इनमें वह विशाल जनता नहीं मिलती जो 'प्रेमाश्रम' 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' म है। दो-तीन ग्रामीण पात्रों के होने पर भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि यह आन्दोलन एक जन-आन्दोलन है। पर कुछ मध्यवर्गीय पात्रों तक ही सीमित रह जाता है।

बयालीस' 'स्वाधीनता के पथ पर' 'फन्दे' 'बीज'

२१६ हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन पर लिखित अन्य उपन्यासों में प्रतापनारायण

---

१ सीधा-सादा रास्ता पृ. ४१ ।

श्रीवास्तव का 'बयालीस' गुरुदत्त का 'स्वाधीनता के पथ पर' हंसराज रहबर का 'कफ़र' अमृतलाल का 'बीज' आदि नाम लिए जा सकते हैं। ये बहुत उत्कृष्ट उपन्यास नहीं माने जा सकते क्योंकि इनमें विषय अत्यन्त संकुचित है, दृष्टिकोण एकांगी है और तकनीक त्रुटिपूर्ण है। फिर भी हमारे राष्ट्रीय इतिहास को लिपि-बद्ध करने के कारण ये उपेक्ष्य भी नहीं हैं।

'बयालीस' में १९४२ के आसपास का हमारा राष्ट्रीय वातावरण है। प्रताप-नारायण श्रीवास्तव की ओजस्विनी शैली स्वतंत्रता के लिए जनता में जो आवेग था उसे प्रभावशाली रूप में प्रकट करने में समर्थ हुई है। जमींदारों के अत्याचार, अंग्रेजों द्वारा हिन्दू-मुसलमानों में मत विरोध उत्पन्न करना उनके एजेंट बनकर मौलवियों और पुरोहितों का कट्टर साम्प्रदायिक मनोभावों का प्रसार करना—इन सबके बीच में भी स्वतंत्रताकांक्षी जनता के हृदय की भावामय अभिलाषाएँ पल्लवित होती हैं। सवर्णमय जीवन भयकर ट्रैजडी में परिणत होकर सन् बयालीस का दयनीय चित्र खींचता है साम्राज्यवादियों का पिट्ठू बनकर जनता का शोषण करनेवाले जमींदार का पुत्र (दिवाकर) ही स्वतंत्रता के समर में जाता है पुत्री माधवी और यशोधरा समर से सहानुभूति रखती हैं। इनके अतिरिक्त इस समर में सम्मिलित होनेवाले मध्यवर्ग से आनेवाले अन्य पात्र भी हैं। यह बात स्पष्ट होती है कि भारत का जन-आन्दोलन निम्नवर्ग से नहीं मध्यवर्ग से ही आगे बढ़ाया गया। दिवाकर अपने पिता से ही मारा जाता है और जमींदार पागल हो जाता है। यही शोकात्मकता का कारण है। मुल्ला पुरोहितों का मन-परिवर्तन गांधीवाद के संस्पर्श से युक्त आदर्शवाद है।

गुरुदत्त का 'स्वाधीनता के पथ पर' १९२१ के राजनीतिक वातावरण पर लिखित है और सत्याग्रह आन्दोलन तथा आतंकवादी दल की हिंसात्मक प्रवृत्तियों के बीच के संघर्ष पर आधारित है। प्राक्कथन में लेखक का दावा है कि दोनों पक्षों को यथार्थ रूप में प्रकट करने पर ध्यान दिया गया है। किन्तु यह उपन्यास अपने सीमित पात्रों और उनकी पार्टियों के सीमित वातावरण को छोड़ विशाल जन-आन्दोलन की ओर नहीं जाता। समस्त राजनीतिक पार्टी के सदस्यों के वैयक्तिक सबन्धों में ही समाप्त हो जाती है। मुख्य पात्र मधुसूदन और पूर्णिमा के जीवन राजनीतिक आदर्शों से बढ़कर पारस्परिक रोमाण्टिक प्रेम से ही संचालित हैं। पूर्णिमा क्रान्तिकर पार्टी में आकर बम फेंकती है और फिर मधुसूदन के पैरों पर पुष्पार्पण करती है। उनके प्रेम और उसमें आनेवाली बाधाओं से भरे हुए कथानक को 'स्वाधीनता के पथ पर' बनाने के लिए इधर उधर कुछ गांधीवादी और साम्यवादी नारे घुसा दिए गए हैं। मधुसूदन जो सत्याग्रह कर जेल जाता है जेल से भाग आता है, तो उस भगोड़े से विवाह करने को पूर्णिमा तैयार न होती। वह फिर जेल जाना चाहता है। पूर्णिमा चिन्ता से तपेदिक-पीड़ित होकर मर जाती है और मधुसूदन पागल हो जाता है। इस भावुक कथा से राजनीति का संबन्ध जोड़कर जो कथानक तैयार किया गया है वह भावुक और आवेगमय है पर यथार्थ से बहुत दूर।

हंसराज रहबर के 'कफ़र' और अमृतराय के 'बीज' में भी सामाजिक विप्लव

का विकास रूप नहीं है। मजदूरों के वर्गों और राजनीतिक पार्टियों के राजनीतिक कर्म और उनमें आनेवाली बाधाएं, फूट, संघर्ष इतने तक ही 'कंकर' सीमित है। 'बीज' का मुख्य आकर्षण सत्यवान और राजेश्वरी का वैयक्तिक जीवन है जो बहुत पहले सूत्र से ही राजनीतिक संघर्ष से बाँधा गया है। इन दोनों में विचार और भावुकता का अनमेल सबन्ध है। जहां लेखक परिस्थितियों और समस्याओं पर विचार प्रकट करते हैं, वहा केवल तर्क का आधार लेते हैं उपन्यास के लिए अनिवार्य रागात्मकता से वंचित हो जाते हैं और जहां भावुकता में खो जाते हैं वहां तर्क-बुद्धि शून्यवत् हो जाती है।

यशपाल के उपन्यास

२२० यशपाल के सामाजिक उपन्यास आतंकवादी दल की क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों का उद्‌घाटन करते हैं। 'दादा कामरेड' 'देशद्रोही' 'पार्टी कामरेड' 'मनुष्य के रूप' इनमें आतंकवादियों की रोचक और रहस्यमय प्रवृत्तियों का विस्तृत चित्रण मिलता है। यशपाल स्वयं आतंकवादी हैं और उन्हें उन सब क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों का परिचय है जो आतंकवादियों ने अपनाई थी। साथ-साथ मजदूर-वर्ग की कठिनाइयों और उनमे फँसे हुए असन्तोष से भी वे परिचित हैं। इन सब बातों पर यशपाल के उपन्यास अद्वितीय हैं। लेकिन यशपाल न सन्तुलित एवं विश्लेषणात्मक दृष्टि अपना सके हैं और न क्रान्ति का सार्वजनिक रूप प्रस्तुत कर सके हैं। इसीसे उनके पात्र प्रायः अतिमानव अथवा रोमान्टिक हो जाते हैं। 'दादा कामरेड' में आतंकवादी दल की संगठित प्रवृत्तियों से अधिक सुलतान की अलौकिक प्रवृत्तियाँ हमें आकृष्ट करती हैं। 'देशद्रोही' में डा खन्ना के जीवन की घटनाओं की बहुलता अति की मात्रा तक पहुँच जाती है। यशपाल के इन उपन्यासों का सबसे बड़ा दोष उनके पात्रों को सैंगिक जीवन का अनियन्त्रित प्रवाह है। स्त्री-पुरुष का पारस्परिक आकर्षण प्रकृति का सत्य है पर उससे प्ररित प्रवृत्तियों को अर्सभाव्यता तक पहुँचा देना जीवन की अनुचित व्याख्या है। 'मनुष्य के रूप' में राजनीति वैयक्तिक जीवन के सामने सिर झुका लेती है और संम्पूर्ण उपन्यास स्त्री-पुरुषों के अनैतिक सम्बन्धों के आधार पर चलता है। सोमा स्वाभिमान की रक्षा के लिए स्वार्थ-लोलुप पुरुषों की कामवासना की तृप्ति के लिए बार-बार आत्मसमर्पण करती है। सोमा और मनोरमा के चरित्रों में नारी के विविध मनोभावों का जो विश्लेषण किया गया है उसका विस्तार यहाँ असंगत है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस उपन्यास में स्त्री-पुरुष की समस्या के सामने विशाल राष्ट्रीय समस्याएँ लुप्त हो जाती हैं। 'दादा कामरेड' की बात भी भिन्न नहीं है। उसमें से रोमान्टिक अंश को निकाल दें तो कुछ रूखे राजनीतिक विचारों और पार्टी के दाँव-पेंचों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रहेगा।

हमारा स्वातन्त्र्य-संग्राम हमारे इतिहास की सबसे रोचक घटना रही है। हिन्दी उपन्यास के तीव्र गति से विकसित होते समय हमारे देश में हुई आहुति और जन-आन्दोलन उत्कृष्ट कला को प्रेरणा दे सकते थे। गाँधीजी के नाम से देश का बच्चा-

अच्छा पुलकित होता था। 'वन्देमातरम्' और 'भारत माता की जय' सूत्रों में भी जीवन डालते थे। ऐसी महान घटना हमारे साहित्य को एकाधिक उत्तम कोटि की रचनाएँ प्रदान कर सकती है। लेकिन आज तक भारत के इस राष्ट्रीय संग्राम के संबन्ध में एक विशाल उपन्यास नहीं लिखा गया है जो सम्पूर्ण भारत की जगती हुई आत्मा को अभिव्यंजित कर सके।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् के देशीय वातावरण पर लिखित उपन्यास

२२१ स्वातंत्र्य प्राप्ति के तुरन्त पश्चात् हमारे देश का सबसे वेदना-जनक *संभव देन—विभाजन के दुष्परिणाम के रूप में हुई अराष्ट्रीय घटनाएँ थीं।* इनके आधार पर लिखित उपन्यासों में यज्ञदत्त का 'इन्सान' चतुरसेन का 'धर्मपुत्र' और देवेन्द्र सत्यार्थी का 'कठपुतली' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कला की दृष्टि से प्रथम दोनों विशेष महत्त्व के नहीं हैं। हिन्दू-मुसलमान दंगे से संबन्धित पाशविक अत्याचारों को कला का रूप देना सहज कार्य नहीं है। हत्या और व्यभिचार से उपन्यास में रोचकता और सनसनी आ सकती है विशेषकर जब लेखक की लेखनी भी अत्यन्त तीक्ष्ण होती हो तब सनसनी की कमी हो ही नहीं सकती। लेकिन हृदय के कोमल विकारों को धीरे धीरे जगाकर मानवता के प्रति स्वस्थ सहानुभूति की दृष्टि उत्पन्न करने के लिए यही पर्याप्त नहीं है। आवेश और क्षोभ हृदय पर सात्त्विक प्रभाव नहीं डाल सकते। यज्ञदत्त में आवेश जितना अधिक है संतुलन और तर्क उतना ही कम है। 'इन्सान' का प्रारंभ हिन्दू-मुसलमान दंगे के वातावरण में किया गया है और फिर कम्युनिस्ट पार्टी की प्रवृत्तियों की आलोचना करते हुए मानवी आदर्शों की घोषणा की गयी है। दंगे के प्रसंग *में जो भी बीभत्स दृश्य उपस्थित किये गए हैं, वे प्रभावशाली अवश्य हैं,* पर उनका प्रभाव चौंकानेवाला है अनुभूति का जगानेवाला नहीं। क्रोध और आवेश में अत्याचार की जो आलोचना की गयी है और उसके बाद कम्युनिस्ट पार्टी के कल्पित एकांकी क्रिया-कलापों का सृजन करके उनका जो खण्डन किया गया है, वे सब कलाकार के लिए क्या उचित हैं? पार्टियों के परे मनुष्य की जो सत्ता है उसे यज्ञदत्त देख ही नहीं सके हैं।

चतुरसेन भी हल्के रंगों का उपयोग करना नहीं जानते। 'धर्मपुत्र' में रोमान्स और यथार्थ का अपूर्व मिश्रण है। एक अविवाहित मुस्लिम बालिका हुस्नबानू का अवैध पुत्र किसी हिन्दू कुटुम्ब में हिन्दू धर्म से पाला जाता है। वह कट्टर हिन्दू बनकर दंगे में भाग लेता है और माँ का ही घर जला देता है। यह नाटकीय प्रसंग अत्यन्त रोचक बना है। लेकिन उपन्यास का विषय स्पष्ट नहीं हो पाता। अवैध यौन-सम्पर्क अनजान में *हत्या का प्रयत्न आदि पुराने उपादानों का ही अवलंबन* चतुरसेन ने किया है। हिन्दू मुस्लिम दंगा यहाँ अपना स्वतंत्र महत्त्व नहीं रखता केवल कथानक में एक रोचक प्रसंग उपस्थित करने का कार्य करता है।

'कठपुतली' इस विषय पर सबसे सफल उपन्यास है। एक कलाकार के अनुभूति शील हृदय में भारत विभाजन के बाद की घटनाओं का जो प्रभाव हुआ उसे सत्यार्थी ने चित्रित किया है। साम्प्रदायिक विद्रोहों ने कितने ही बन्धुओं को अलग-अलग कर दिया

कितने ही पारस्परिक बन्धनों को विच्छिन्न कर दिया। मानव-हृदय पर इस समय जो भयकर आघात किया वह सुनील नामक कलाकार के दृष्टिकोण से हमारे सामने आता है। वैयक्तिक जीवन और देशीय वातावरण का ऐसा सुन्दर समन्वय सत्यार्थी ने किया है कि दोनों एक-दूसरे के कारण अधिक मार्मिक हो गए हैं। सुनील का कलात्मक हृदय हिन्दू-मुसलमानों के अत्याचारों की क्रूरता को समझने में सहायक है तो उसका कलात्मक जीवन इस भयंकर वातावरण में अधिक सात्विक दिखाई पड़ता है।

४

द्वन्द्वात्मक जीवन का विश्लेषण

२२२ सामाजिक उपन्यासों में प्रौढ़तम उनको मानेंगे जिनमें समाज-विकास को प्रभावित करनेवाली प्रेरक एवं अवरोधक शक्तियों के पारस्परिक संघर्ष का अध्ययन किया गया हो। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए, तो यह संघर्ष सदा रहा है और उसी में मानवता का इतिहास निहित है। आज के प्रबुद्ध मानव ने इन परस्पर विरोधी शक्तियों को पहचान लिया है और मनुष्य को समझने के लिए ह्रासोन्मुख तथा विकासोन्मुख शक्तियों का अध्ययन आवश्यक समझता है। यह विचारधारा मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की प्रणाली से प्रभावित है और दर्शन एवं शास्त्र के हर एक क्षेत्र में उसे थोड़ी-बहुत मान्यता प्राप्त हुई है। मार्क्स और एंजिल्स के द्वन्द्वात्मक दर्शन के अनुसार जगत् (भौतिक एवं मानसिक) गतिशील है प्रकृति की परस्पर-विरोधी शक्तियों की एक-दूसरी पर जो प्रतिक्रिया होती है उसके परिणाम में होनेवाले विरोधाभास के स्वरूप में प्रकृति में विकास होता है।[1]

इन विरोधी शक्तियों से होकर विकसित होनेवाले समाज का विश्लेषण और गति निर्णय करने के लिए ऐतिहासिक दृष्टि से इस द्वन्द्व का अध्ययन करना होगा। अतः समाजशास्त्र में ऐतिहासिक भौतिकवाद का विशेष महत्त्व है। समाज का अध्ययन करनेवाले कलाकार को भी इन शक्तियों के प्रति पूर्णतः अवगत होकर ही मनुष्य की प्रत्येक प्रवृत्ति का विश्लेषण करना पड़ता है।

यद्यपि हिन्दी उपन्यासकारों ने जान-बूझकर द्वन्द्वात्मक (Dialectic) प्रणाली नहीं अपनायी है तो भी कुछ नवीनतम उपन्यासों में उसका प्रभाव अवश्य पड़ा है। उपन्यास के प्रारम्भकाल में समाज की दुष्प्रवृत्तियों का खण्डन कर सदाचार का उपदेश देने की जो प्रवृत्ति थी वह अब समाप्त हो गयी है। आज सत् एवं असत् वृत्तियों को समाज के

1 Dialectics...is only the reflection of the motion through opposites which asserts itself everywhere in nature and which by the continual conflict of the opposites and their final passage into one another or into higher forms, determines the life of nature.

—Engels Dialectics of Nature P 280

मैकबिक मंत्र मानकर विश्लेषण करने की जो प्रवृत्ति आई है वह द्वन्द्वात्मक प्रणाली की ही पद्धति है और प्रौढ़ बौद्धिक चिन्तन का द्योतक है। क्रमशः विकसित होने का प्रयत्न करते हुए भी मनुष्य को विविध बाधाओं का सामना करना पड़ता है परम्परा के बन्धनों से मुक्त होने का प्रयत्न करने पर भी वह पूर्णतया मुक्त नहीं हो पाता इन बातों को ध्यान में रखकर जो उपन्यास लिखे गए हैं उनकी चर्चा यहां करेंगे। यहाँ यह बात स्मरण रखने की है कि ये समाज की आलोचना करके कुछ कल्पित आदर्श उपस्थित करनेवाले उन उपन्यासों से बिलकुल भिन्न हैं जिनमें ह्रास-विकास की परस्पर विरोधी शक्तियों का संघर्ष ही नहीं होता।

२२३ हिन्दी के द्वन्द्वात्मक विश्लेषणवादी उपन्यासों को हम दो श्रेणियों में विभक्त करेंगे। प्रथम श्रेणी में ऐसे उपन्यासों को रखेंगे जिनमें परम्परा की प्रबल प्रगतिरोधक शक्तियों से संघर्ष करते हुए जीवन का अग्रसर होना दिखाया गया है। अश्क का 'गिरती दीवारें' अंचल के 'चढ़ती धूप' और 'उल्का' तथा गुरुदत्त के 'भुग्न' को इस श्रेणी के अन्तर्गत मान सकते हैं। द्वितीय श्रेणी के उपन्यासों में विकास के लिए प्रयत्नशील समाज का गत्यवरोध करनेवाली प्रतिक्रियात्मक शक्तियां प्रदर्शित की गई हैं। अश्क का 'बड़ी बड़ी आँखें' यशपाल के 'इन्साफ' और 'बदलती राहें' वृन्दावनलाल वर्मा का 'अमर बेल' प्रभाकर माचवे का 'साँचा' आदि को इस श्रेणी में रख सकते हैं। रेणु के उपन्यासों को इस श्रेणी के अधिक विस्तृत उपन्यास मान सकते हैं।

२२४ गिरती दीवारें में अश्कजी ने पुरानी परम्परा की दीवारों के गिरने और नयी पीढ़ी की नवीन विचारधारा के निर्माण के प्रश्न को उठाया है। लेकिन प्रायः अश्कजी ने सर्वत्र परम्परा को ही सशक्त दिखाया है। परम्पराओं और रूढ़ियों की दीवारें गिर नहीं पातीं उनके सामने नयी पीढ़ी की आशाओं की दीवारें ही गिर जाती हैं। चेतन अपनी इच्छा के विरुद्ध चन्दा से विवाह करता है क्योंकि उसके माँ-बाप के मन में वह अच्छे स्वभाव की है। चेतन में विरोध करने का साहस नहीं है। विवाह भी नयी आर्यसमाजी रीति से होता है पर चेतन को पुरानी प्रथा की छेड़-छाड़ और उल्लास से वंचित होकर भग्न-हृदय होना पड़ता है। एक ओर प्रकृति की तीव्र अभिलाषा दूसरी ओर पुरानी परम्परा से सम्बन्ध-विच्छेद करने में असन्तोष —यह सामाजिक विकास की सबसे कठिन ग्रन्थि है। चेतन का वैवाहिक जीवन भी नये-पुराने के संघर्ष में ही बीतता है। चेतन के अनुकूल होने का प्रयत्न करनेवाली बहू को सास निकम्मी समझती है और उसकी हरदम शिकायत करती है। चेतन चाह कर भी चन्दा को पढ़ा नहीं सकता विवश होकर उसे पत्नी उठने देर से जाने और पथ्य एवं परम्परागत आदर्शों का पालन करने का आदेश देता है (पृ० १७१)। पर साथ-साथ चेतन उसे घुमाने ले जाता है अधिक पर्दा न करने को और हँसमुख रहने को भी कहता है। इन सबसे कुपित होकर सास मौन चली जाती है जेठानी चन्दा को डाँटती है। नये-पुराने विचारों के बीच ठोकर खानेवाली बेचारी चन्दा की दशा अत्यन्त दयनीय है। दूसरी ओर नवयुवती सुन्दरी नीला का विवाह एक अधेड़ से होता है जिसे नीला की बहन बिना देखे ही नीला के लिए चुन लेती है। यहाँ भी पुरानी दीवारें

प्रयत्न जारी रहती हैं मान्यताओं और अभिलाषाओं की दीवारें ही गिरती हैं।

२२५ अंचल के दोनों उपन्यासों में मार्क्सीय दृष्टि से कुछ समस्याओं का अध्ययन है। 'उठती हुई बौद्धिक चेतना और पीढ़ियों से चला आ रहे जीवन-व्यापी संस्कारों का पारस्परिक घात-प्रतिघात और संघर्ष'[1] दिखाना उसका ध्येय है। परम्परा से चलती आनेवाली सड़ी-गली रीतियों के विरुद्ध और उन रीतियों के कारण उत्पन्न दम घुटानेवाली परिस्थितियों के विरुद्ध विद्रोह करनेवाले युवक-युवतियों के जीवन दोनों उपन्यासों में हैं। पर ये बन्धन और समस्याएँ देश के अगणित सार्वजनिक बन्धनों और समस्याओं के रूप में नहीं आतीं केवल वैवाहिक जीवन की झंझटों से उलझी हुई हैं। 'चढ़ती धूप' का मोहन आर्थिक कष्टों और विषम परिस्थितियों से संघर्ष करता हुआ क्रान्तिकारी बन जाता है लेकिन इस क्रान्ति को सामाजिक रूप देने में अंचल सफल नहीं हुए हैं। 'उल्का' में स्त्री की पराधीनता की समस्या ही है। ससुराल के लोगों की पूँजीवादी सभ्यता से जनित कंजूसी विलासिता स्त्री को केवल उपभोग की सामग्री समझने का भाव आदि से मंजु की शिक्षित परिष्कृत और स्वाभिमानी आत्मा विद्रोह कर उठती है। ससुराल में धनाहृत नारी का आदर मातृगृह में भी नहीं होता। हर जगह उसे संघर्ष करना पड़ता है।

इनमें किसी उपन्यास में विशाल दृष्टि से परिवर्तनशील समाज की विभिन्न प्रवृत्तियों का विश्लेषण नहीं किया गया है। परिवार के विकास की दृष्टि से देखा जाय तो हमारे समाज के सम्मिलित परिवार का जीवन और उसका क्रमशः पतन एक अच्छे उपन्यास का विषय बन सकता है जो गाल्सवर्दी के 'फ़ारसाइट सागा' के समान विशाल आकार और वैज्ञानिक अध्ययन से अति गम्भीर बन सकता है। इस विषय को 'पुष्कर' में कुसरत ने उठाया है पर उसे संभालने की शक्ति लेखक में नहीं है। माता पिता सम्बन्धों सांस्कृतिक विचार-बन्धनों, और पीढ़ी-दर-पीढ़ी बदलती हुई सामाजिक मान्यताओं पर ध्यान रखते हुए विषय का निर्वाह लेखक नहीं कर सके हैं। मधवन स्वरूप की पीढ़ी के पश्चात् उसके पुत्र-पुत्रियों की पीढ़ी जिस रूप में बदलती है वह समाज क्रमिक विकास के अनुकूल नहीं है। दोनों पीढ़ियों का अन्तर इतना अधिक है कि उसपर सहज विश्वास नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः समाज का विकास ऐसा नहीं होता जैसाकि मार्ग के अन्त में कलैण्डर का पृष्ठ उलटने पर तुरन्त मार्च के चिह्न मिट जाते हैं और अप्रैल आ जाता है। सच्ची बात यह है कि जीवन परम्परा से मुक्त होने का प्रयत्न करते हुए, पर पूर्ण मुक्त न होकर निरन्तर विकसित होते हुए, उस प्रकृति के समान बदलता है जो अपने परिवर्तन का स्पष्ट आभास दिए बिना ही मार्च से अप्रैल में चली जाती है। स्पष्ट रेखाएँ खींचकर सामाजिक विकास की विभिन्न दशाओं की सीमा निर्धारित करना असम्भव है। पुष्कर का जीवन कलण्डर के पृष्ठ के समान बदलता है। दोनों पीढ़ियों से अलग-अलग निश्चित आकारों के साँचों में ढालकर कृत्रिम आकार दिये गए हैं। माँ-बाप पुरानी भारतीय पूँजीवादी परम्परा के हैं पुत्र विलायती

[1] चढ़ती धूप भूमिका पृ० १।

शिक्षा-प्राप्त श्रीकौल जो माँ-बाप से अलग होना चाहते हैं। पुत्र स्वयं विवाह करने और अलग रहने का निश्चय करने के बाद माँ-बाप को सूचना देता है। माँ-बाप के यह पूछने पर कि कितनी बार हमें देखने आओगे जवाब देता है कि 'जितनी बार माताजी उसके (बहू के) पास आया करेंगी।' (पृ १८)। पत्नी के लिए माँ-बाप से अलग होते हुए पुत्र में और माँ-बाप में जो मानसिक संघर्ष होगा वह एक श्रेष्ठ कलाकार के हाथ में अनुभूतियों का एक अलग संसार ही रच सकता था। पर मुरब्बत ने इस मार्मिक प्रसंग को नहीं पहचाना है। इसी तरह सम्पूर्ण उपन्यास लेखक के आदर्शों से कसकर दबाये हुए पात्रों से भरा हुआ है।

२२६ दूसरी श्रेणी के उपन्यास प्रायः १९५१ के बाद लिखे गए हैं और उनका विषय स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् का भारतीय समाज है। देश में नया संविधान बना नये नियमों का निर्माण हुआ नयी योजनाएं बनाई गयीं इन सबको कार्यान्वित करने के लिए पर्याप्त प्रयत्न भी किया गया। लेकिन इन सबके बीच में कितनी ही विरोधी शक्तियों ने बाधाएं उपस्थित की। एक ओर गुलामी में पली संस्कृति ही स्वच्छन्द और स्वस्थ विकास को रोकने लगी तो दूसरी ओर अवसरवादियों और समाजारोहकों (Social climbers) के भ्रष्टाचार भी बने रहे। इस दशा के प्रति भयंकर अतृप्ति प्रकट करना ही इन उपन्यासों का मुख्य ध्येय है। जमींदारी-उन्मूलन के पश्चात् देश भर में फैले हुए भ्रष्टाचार का नग्नचित्र 'अमर बेल' का विषय है। अफीम और अन्य वस्तुओं का चोरबाजार, पुलिस विभाग के अत्याचार लूट-मार सहकारी समिति और खेतों की चकबन्दी आदि में कार्यकर्ताओं की भयंकर अनीतियां इन सबपर वर्माजी की सूक्ष्म दृष्टि गयी है। योजनाओं के प्रति जनता की अनास्था और सन्देह नयी वस्तु को अपनाने में शंका करनेवाली हमारी मानसिक पराधीनता का परिचायक है। पटवारी और दारोगा के अत्याचार और अवसरों से लाभ उठाकर अपनी दशा को सुरक्षित और दृढ़ बनानेवाले पूंजीवादी ही मुरब्बत के 'बदलती राहें'[1] में भी राह के बदलने में बाधक हैं। मुन्नूलाला जो पहले ही स्वार्थी और शोषक था अब समाज में अधिक धन और उन्नत पद प्राप्त कर लेता है 'मुन्नू लाला एक साधारण सड़क पर पड़े पत्थर के टुकड़े से बढ़कर अब तक विशाल पर्वत बन चुके थे।" नयी पीढ़ी के विजय और सीता के आदर्श कर्मों और उनकी प्रेरणा से रघुवीर सिंह श्याम मगन आदि के मन-परिवर्तन में समाज की उन्नति का आशावादी समाधान मिलता है। इसी प्रभचन्द्र के उपन्यासों का सुधारवाद भी मान सकते हैं, लेकिन भ्रष्टाचारों की आवेशपूर्ण आलोचना न करके यथार्थ को लेखक ने यथार्थ के रूप में अपनाया है। 'बड़ी-बड़ी आँखें' 'इंसाफ' और 'धोखा' निराशावादी हैं। आज हमारे समाज में जो जाहिरदारी और पाखण्ड फैले हुए हैं उनकी कलई अश्क ने 'बड़ी-बड़ी आँखें' में खोल दिखायी है। सुधार के नाम से कितनी ही संस्थाएं खोली जाती हैं कितने ही लोग देश-सुधार और समाज-सेवा करने का दावा करते हैं। पर

---

१ बदलती राहें पृ ११।

इन सबमें चाहिरदारी भी कम नहीं होती। जितना बाहरी दिखावा होता है सुधार के जितने भव्य रूप का ढिंढोरा पीटा जाता है उतना ही आन्तरिक खोखलापन भी होता है। देवाजी के द्वारा स्थापित 'देवनगर' 'देवमण्डल' 'देववाणी पत्रिका' आदि में उन सब संस्थाओं के प्रति तीव्र व्यंग्य है, जिनके नाम सुन्दर होते हैं विज्ञापन लुभावने होते हैं पर जिनके अन्दर ही अन्दर हृदयहीन स्वार्थ का नग्न नाट्य होता है। देवाजी का प्रैक्टिकल स्कूल खोलना एक उदाहरण है। "देवाजी के सामने इस समय सब से बड़ा मामला इस सस्ती खरीदी जमीन को ऊँचे दामों बेचना है लेकिन इस बीहड़ में कोई क्यों आएगा और क्यों महँगी जमीन मोल लेगा? इसीलिए उन्होंने प्रैक्टिकल स्कूल शुरू किया है।"[1] इस प्रैक्टिकल स्कूल में अमीर लड़कों को ही जगह मिलती है। यह ढोंग और ढकोसला तब जाकर भयकर रूप में प्रकट होता है जब गाँव और आस पास में भयकर आंधी के कारण किसानों का सर्वनाश होने पर भी सर्वत्र त्राहि-त्राहि मचने पर भी बड़ी धूम-धाम और कोलाहल से स्कूल का उद्घाटन किया जाता है, जिसमें देवाजी कोरी निर्लज्जता से लेक्चर झाड़ते हैं। 'देहात की इस तबाही को देख कर मन नहीं होता कि हम प्रैक्टिकल स्कूल के उद्घाटन का उत्सव मनाएँ लेकिन मौत का एक ही जवाब है—जिन्दगी। नाश का एक ही जवाब है—निर्माण। इस खुशी में हमारी सारी वृत्तियाँ उन्हीं भाइयों साथियों और पड़ोसियों की ओर लगी हुई हैं जो इस दैवी विपत्ति में अपनी सारी कमाई लुटा बैठे हैं।[2]

धन और अधिकार के ठेकेदारों के अत्याचारों से विवश कृषकों की घोर निराशा को यशदत्त ने 'इंसाफ' में बड़े मार्मिक ढंग से प्रकट किया है। श्यामू और पत्नी बम्मो बड़े उत्साह से आजादी की दीपमाला जलाते हैं यह आशा करते हुए कि 'आजादी में सुख होगा कपड़ा होगा खाना होगा और इन्तकालियत का अधिकार होगा'[3] जमींदारी के अन्त से प्रसन्न होकर जेवरों तक को बेचकर सरकार में जमा करते हैं। लेकिन उनकी आशाएँ एक-एक करके मिट्टी में मिल जाती हैं। जमींदारी गयी तो भी किसान को भूमि नहीं मिली। शोषण का रूप-मात्र बदला। एक के स्थान में अनेक शोषक आ जमके। अन्त में उनको कहना पड़ता है 'इस आजादी से तो आजादी न मिलती वही अच्छा था'[4] जीवन-भर सघर्ष करते हुए उन्हें पुलिस जमीन से निकाल कर छोड़ देती है—मजदूरी का आश्रय लेने के लिए। श्यामू का यह अन्त होरी के अन्त के समान ही करुणाजनक है।

ऐसी ही परिस्थितियों का विश्लेषण करके प्रभाकर माचवे 'साँचा' में ईमानदारी से निष्कर्ष देते हैं कि पहले जीवन एक साँचे में था अब भी साँचे में है। जीवन का विकास नहीं हो पाया है। "हमारी जिन्दगियाँ साँचे में जैसे बँध-सी गयी हैं।

---

१ नदी-नदी आँखें पृ० ११६।
२. नदी-नदी आँखें, पृ० १७१।
३. इंसाफ, पृ० १६।
४ इंसाफ, पृ० ६७।

विधि-निषेध के ये चौखटे साँचे दरबे दराज छोटे छोटे खाने और बिल ! क्या हमारी इच्छाएँ और हमारे इरादे कोई पालतू पक्षी हैं या चिड़ियाखाने में कैद बोतल-बंद जन्तु-कीट ?[1] इस दयनीय दशा में भी जो आशा बँधी हुई है, उसे लेखक ने एक मजदूर के छोटे बच्चे के आग्रह के रूप में प्रकट किया है। वह भी 'भारत का राजा' होना चाहता है।[2] इस अबोध आग्रह में एक आशावादी भाव है, तो साथ-साथ हमारे रक्त में भरी हुई अधिकारेच्छा भी है।

रूसी उपन्यासों से तुलना

१२७ विषय-साम्य के कारण इन उपन्यासों की तुलना रूस के सामाजिक निर्माण-संबन्धी उपन्यासों से की जा सकती है। अक्तूबर-विप्लव ने रूस के शोषक और पूँजीवादी वर्गों को एकदम समाप्त नहीं किया था। राष्ट्रीय विकास योजनाओं को कार्यान्वित करते हुए रूसी जनता को भी अनेक प्रतिक्रियात्मक शक्तियों का सामना करना पड़ा था। इन शक्तियों का सोवियत उपन्यासकारों ने बड़े वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया है। शोषक-वर्ग की स्वार्थ भावना जगानेवाले निम्नवर्गों के कुछ जन सरकारी व्यक्तियों के स्वार्थमूलक कार्य वैयक्तिक विरोध और तज्जन्य समाज विरोधी प्रवृत्तियाँ इन सबके अतिरिक्त योजना के किसी विशेष क्षेत्र में काम करनेवाले नये कार्यकर्ताओं की अनुभवहीनता और अप्रत्याशित प्राकृतिक शक्तियों के कारण होनेवाली कठिनाइयों को भी रूसी उपन्यासकारों ने सूक्ष्म दृष्टि से देखा है। शोलो-खोव फेदिन फादयेव पास्तोवस्की कोचेवनिकोव बकल्किन मसीमा निकोलायेवा आदि लेखकों के निर्माण-संबन्धी उपन्यासों में इस द्वन्द्वात्मक जीवन-विकास का वैज्ञानिक अध्ययन है। शोलोखोव के 'नयी जुती जमीन' में साम्यवादी निर्माण-पद्धतियों में बाधा डालनेवाले और व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा करनेवाले कुलकों की प्रवृत्तियों के साथ ही उनको निर्दयता से गोली मारकर या देश से निकालकर योजनाओं को विजयी बनाने का चित्रण है।[3] तरह-तरह के सन्देहों के कारण नयी योजनाओं और नये सिद्धान्तों को स्वीकृत करने में असमर्थ अज्ञ जनता के प्रति शोलोखोव को अपार सहानुभूति है। कूकोव मिश सन्देह करता है कि सबके वेश बच्चे स्त्रियाँ कटोरे चम्मच सब स्टेट के बनाए जाएँगे।[4] बूढ़ियों में यह वार्ता फैल जाती है कि सबको काम करना होगा अतः उन सबको भी अंडों पर बैठकर उन्हें सेंकने का काम दिया जायगा। और वे एकदम इंकलाब के लिए तैयार हो जाती हैं।[5] सामूहिक कृषि-कर्म

---

१. साँचा पृ १६।
२. साँचा, पृ १७।
३. Vergin Soil Upturned P 12, 43 84-85, 208, 287
४. Ibid., P.24
५. Ibid., P 203

में लगे कामचोर कृषक रुपया बचाने के लिए झूठ बोलनेवाले[१] सबको पोलोवोव ने हमारे सामने खड़ा कर दिया है। बाबुश्किन के 'फ्लोटिंग स्तानित्सा' में खबलयेव कुटुम्ब के पंथ सार्वजनिक मत्स्यवादियों से छिपे छिपे मछली पकड़कर व्यक्तिगत लाभ उठाना चाहते हैं तो कार्यकर्त्ताओं में ही कुछ लोग निरोधित स्थलों पर और निरोधित मछलियों को पकड़ते हैं। उदाहरण बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। प्राय सभी उपन्यासों में ऐसे प्रसंग मिलते हैं। इन उपन्यासों की विशेषता यह है कि लेखकों ने जीवन को इन समाज विरोधी प्रवृत्तियों के कारण निराशा की दृष्टि से नहीं देखा है। इन विरोधियों को या तो स्वयं बदलकर नये सिद्धान्त को अपनाना पड़ता है या वे बड़ी निर्ममता से नष्ट किये जाते हैं। प्रकृति की विनाशकारिणी शक्तियाँ एक-एक करके जीती जाती हैं मनुष्य को ही नहीं बल्कि वर्ग मछलियों तक को प्रकृति की विडंबनाओं से बचाया जाता है। १९२५ से लेकर आज तक के सोवियत उपन्यास आशावादी हैं। उन्हें अन्धकार के बीच में भी एक ज्योति स्पष्ट दीख पड़ती है। विशाल मरुभूमि में दूर पर हरियाली दृष्टिगत होती है। 'नयी जुती जमीन' में शाकुलनोव कहता है, "सब लोग मिले-जुले हो जाएंगे गोरे पीले और काले की चर्चा तक न रहेगी। सबके चेहरे प्रसन्न रहेंगे।"[२] 'फसल' में वासिली पराजयों के बीच में भी अपने-आप कहता है 'मुँह लटकाये रहने से क्या फायदा? आज बुरा है पर कल अच्छा होगा। संभल जाओ!'[३] 'फ्लोटिंग स्तानित्सा' में वासिली की घोषणा है 'विनाशकारी मनुष्य का लोप हो रहा है और उसके स्थान पर एक नये रचनाकारी मनुष्य का उदय हो रहा है।'[४] इन सब उपन्यासों में एक नये प्रकार का मानवतावाद है, जो मनुष्य की अपार शक्ति पर विश्वास करता है।

हिन्दी के उपर्युक्त उपन्यासों में भी समाज की ऐसी द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियों का अध्ययन हुआ है। प्रेमचन्द के काल से लेकर आज तक इन प्रवृत्तियों के अध्ययन की एक निरन्तर धारा प्रवाहित होती आयी है। राजनीतिक एवं सामाजिक दृष्टि से जनता को समझने के लिए ये उपन्यास अत्यन्त उपयोगी हैं। रूस में अक्तूबर-क्रान्ति के पश्चात् एक निश्चित परिपाटी के अनुसार साहित्य-सर्जना करने के लिए जो लेखक-समितियाँ बनायी गयीं उनके कारण ऐसे उपन्यासों की रचना का एक बोध-पूर्ण प्रयत्न हुआ। अत उन उपन्यासों में समाज की पतनोन्मुख एवं विकासोन्मुख शक्तियों के द्वन्द्व का अधिक वैज्ञानिक अध्ययन हुआ तो आश्चर्य की बात नहीं है। पर भारत में ऐसी कोई पद्धति नहीं चली अत द्वन्द्वात्मक समाज-विश्लेषण के श्रेष्ठतम उदाहरण प्रस्तुत नहीं हुए। कुछ लेखकों की ओर से इस दिशा में जो प्रवृत्ति हुई वह स्तुत्य है।

---

१ Ibid P 92.

२ Ibid P 253 108-109

३ Ibid., P 166.

४ Harvest, P 154.

५ Floating Stanitsa, P 278.

रेणु के उपन्यास

२२८ रेणु के उपन्यासों में यही प्राशावाद और मानवतावाद मिलते हैं। 'मैला प्रांचल' और 'परती परिकथा' दोनों ग्रामीण विकास-योजनाओं से संबन्धित हैं। रूसी योजना-उपन्यासों के समान इनमें जीवन का द्वन्द्वात्मक रूप प्रस्तुत है। योजनाएँ आगे बढ़ रही हैं जनता का पूरा विश्वास नहीं है। 'परती परिकथा' में जनता विद्रोह के लिए भी तैयार हो जाती है। रेणु की दृष्टि सम्पूर्ण सामूहिक जीवन पर है। ग्रामीण वर्गों में जो स्वार्थ पक्षपात और पारस्परिक ईर्ष्या है वे निर्माण कार्यों में बहुत कुछ बाधक हैं। लेकिन रेणु इन सबसे निराश नहीं होते। उन्हें जनता की शक्ति पर आस्था है। जागरित होती हुई जनता पर और संपन्न धरती की संभावनाओं पर उन्हें पूरा विश्वास है। वही आशावाद और मानवतावाद यहाँ देख सकते हैं जो रूसी उपन्यासों में मिलते हैं। पराजयों से निराश न होकर प्रशान्त कहता है "मैं फिर काम शुरू करूँगा। यहीं इस गाँव में मैं प्यार की खेती करना चाहता हूँ। आँसू से भीगी हुई धरती पर प्यार के पौधे लहलहाएंगे। मैं साधना करूँगा। ग्रामवासिनी भारतमाता के मैले आँचल तले! कम से कम एक ही गाँव के कुछ प्राणियों के मुरझाये होंठों पर मुस्कराहट लौटा सकूँ उनके हृदय में आशा और विश्वास को प्रतिष्ठित कर सकूँ।"[1] अज्ञान अन्धविश्वास अवसरवाद स्वार्थ-लोलुपता इन सबसे भरे हुए लोगों के ग्राम की परती भूमि भी अन्त में 'आसन्न प्रसवा हो' करवटें बदलने लगती है।[2] हिन्दी के नवीनतम उपन्यासों में प्रकट होनेवाली यह आशा क्या स्वतंत्रता की वायु में श्वास लेती हुई हमारी जनता की आशाओं-अभिलाषाओं तथा कल्पनाओं की प्रथम किरणें तो नहीं हैं?

५

मूल्यांकन

२२९ हिन्दी उपन्यास की मुख्य सामाजिक प्रवृत्तियों का विवेचन करने के बाद अब हमें देखना है कि उसमें भारतीय समाज का प्रतिबिम्ब कहाँ तक हुआ है और कितनी विश्वस्तता के साथ हुआ है।

बिना सन्देह के हमें कहना पड़ेगा कि हमारे उपन्यास साहित्य में सामाजिक जीवन का एक बृहत् अंश उपेक्षित रहा है और जिन अंशों का अध्ययन हुआ है वह बहुत यथार्थ नहीं है। कोई विदेशी पाठक हमारे उपन्यासों से हमारे सामाजिक जीवन का ज्ञान प्राप्त करना चाहे तो प्रेमचन्द के अतिरिक्त और कोई सबल सहाय उसे नहीं मिलेगा। प्रेमचन्द ने हमारे समाज का जितना विस्तृत अध्ययन किया है और सभी लेखकों ने मिलकर भी नहीं किया है।

---

१ मैला आँचल पृ ४२२।

२. परती : परिकथा पृ ४९८।

विस्तार का प्रभाव

२३० हमारे उपन्यास साहित्य की एक बड़ी कमी है। न सामाजिक जीवन के विविध पहलुओं पर हमारे उपन्यासकारों का ध्यान गया है न वैयक्तिक जीवन की वैविध्यपूर्ण मनोवृत्तियों पर। दोनों क्षेत्रों में हमारे उपन्यासकारों ने कुछ विशेष और विचित्र प्रवृत्तियों को ही लेकर अपनी प्रतिभा समाप्त कर ली है। हमारी सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा का वास्तविक स्वरूप किसी उपन्यास में मिलता है? जेन आस्टिन घर की चहरदीवारी के अन्दर रहकर भी घरेलू जीवन का जो संपूर्ण चित्र खींच सकी वह निश्चित ही प्रशंसनीय है। गाल्सवर्दी ने कई पीढ़ियों का शृंखलाबद्ध इतिहास प्रस्तुत करके पारिवारिक जीवन के विविध पहलुओं को ही नहीं प्रकट किया है बल्कि अंग्रेजी समाज का समाजशास्त्रीय अध्ययन भी किया है। हिन्दी में आज तक इस घरेलू जीवन से और सामाजिक विकास से संबंधित कोई उपन्यास नहीं लिखा गया है।

देश के विशाल वातावरण को लेकर प्रेमचन्द के अतिरिक्त हमारे कितने लेखकों ने लिखा है? यूरोप के मनोरमिक उपन्यासों में विविध श्रेणियों की जनता को विभिन्न राज्यों को और भिन्न भिन्न संस्कृतियों को लेकर जो विशाल अध्ययन किया गया है वह संपूर्ण मानवता को समझने के लिए पर्याप्त है। यूरोप-भर के युद्धकालीन वातावरण को सामने लानेवाला 'आँधी' फ्रांस और रूस के नेपोलियन के समय के वातावरण के साथ-साथ संपूर्ण मानवता के हृदय-विकारों का अध्ययन करनेवाला 'युद्ध और शान्ति' १११ से ११२ तक के रूस के संपूर्ण समाज को और संसार की एक सबसे महान घटना को अपने-आपमें समाविष्ट कर रखनेवाले 'डोन' उपन्यास आदि अपनी विस्तृति तथा जीवन के अध्ययन के कारण ही इतने प्रसिद्ध हुए हैं। भारतीय जीवन भी अपने वैविध्य और वैचित्र्य के कारण इतने ही विशाल उपन्यास की सामग्री दे सकता है पर आज तक हिन्दी में ही नहीं किसी भारतीय भाषा में ऐसे विशाल उपन्यास लिखने का प्रयत्न नहीं किया गया है।

एक ही व्यक्ति के अथवा कई पीढ़ियों के वैयक्तिक जीवन के साथ-साथ विशाल सामाजिक जीवन को भी प्रस्तुत करनेवाले सरितोपम उपन्यास में सामाजिक जीवन की विशालता और वैयक्तिक जीवन की गंभीरता सिद्ध होती है। हिन्दी में सरितोपम उपन्यास का भी कहने योग्य विकास नहीं हुआ है।

हमारे आलोचनात्मक उपन्यासों में डिकेन्स और थैकरे की सी विस्तृति नहीं है और न डास्तायवस्की का सा गहन अध्ययन। डिकेन्स और थैकरे ने जिस अंग्रेजी समाज को प्रदर्शित किया उसमें सद्वृत्तियों का अभाव नहीं तो कमी अवश्य है। फिर भी जिस दृष्टि से उन्होंने लिखा उस दृष्टि से देखा जाए तो उनका विस्तार पर्याप्त है। अनैतिकता के जितने रूप समाज में प्रचलित हैं उनमें प्रायः सभी का निरूपण उन्होंने किया। लेकिन हिन्दी उपन्यास में समाज की जिन कुरीतियों की चर्चा हुई है उनका संबन्ध अधिकतर अनैतिक यौन-संपर्क से ही है। आर्थिक शोषण और सांप्रदायिकता पर भी थोड़ा-बहुत लिखा गया है। इन विषयों पर लिखित उपन्यासों में भी गहरे अध्ययन और सुनिश्चित विश्लेषण का अभाव है। डास्तायवस्की और टाल्स्टाय ने अनैतिकता

को आत्मा की समस्या के रूप में देखा। पाप-वृत्ति और पश्चाताप मानवात्मा के अविकल अंग हैं। पशुता से मानवता की ओर बढ़नेवाले मनुष्य के विकास की मध्यम दशा में दोनों का जो संघर्ष है उसका दार्शनिक विवेचन जैसा इन लेखकों ने किया है, हिन्दी के किसी कथाकार ने नहीं किया है।

हमारे क्रांतिकारी लेखकों के उपन्यासों को देखें तो और भी निराश होना पड़ता है। भारत की देशीय क्रान्ति का इतिहास प्रस्तुत करनेवाला कोई भी श्रेष्ठ उपन्यास हमें नहीं मिला है। जो उपन्यास लिखे गए हैं उनमें प्रेमचन्द के उपन्यासों को छोड़कर किसी में विशाल जनसमाज को अग्रवर्ती नहीं दिखाया गया है। यशपाल की क्रान्ति कुछ व्यक्तियों तक ही में सीमित रहती है। प्रेमचन्द उन कृषक लोगों के जीवन तक पहुँच पाए, जो हमारे देश की सबसे बड़ी शक्ति हैं। पर इस परम्परा को विकसित करनेवाला परवर्ती लेखक एक भी नहीं हुआ।

राष्ट्रीय क्रान्ति की दृष्टि से ही नहीं सामान्य जीवन की दृष्टि से भी देखा जाय तो हमारे उपन्यासों में निम्न वर्गों की विशेषकर कृषक-वर्ग की जो उपेक्षा हुई है वह असम्य है। जिस देश की नब्बे प्रतिशत जनता कृषक वर्ग की है उसके उपन्यास साहित्य में उस वर्ग का सम्पूर्ण जीवन प्राप्त न हो तो वह निश्चय ही खेद का विषय है। हमारे देश के नित-नित जीवन से संघर्ष करते हुए बार-बार बाढ़ों अति वर्षाओं सूखियों अकालों और महामारियों का सामना करते हुए जीवन-यापन करनेवाले धरती के लालों को जो स्थान मिला है, उससे अधिक वेश्याओं को और विकृत चित्तवृत्ति के कुछ युवक-युवतियों को प्राप्त हुआ है। हम यह नहीं कह सकते कि कृषक या मजदूर वर्ग के चित्रण से ही कोई उपन्यास चटपटा बनता है। विशिष्ट मनोवृत्तियों का गहरा अध्ययन भी उपन्यास को उत्कृष्ट बना सकता है। लेकिन सामाजिक उपन्यासों में समाज के वृहद् अंग की उपेक्षा करके बिलकुल नगण्य वर्ग का ही प्रतिबिम्ब प्रस्तुत किया जाय तो वह अवश्य चिन्तनीय विषय बन जाता है। इच्छावादी व्यभिचार और वैयक्तिक कुण्ठा समाज की सबसे बड़ी बातें नहीं हैं। पर हमारे सभी प्रकारों के अधिकांश उपन्यासों के प्रमुख विषय ये ही हैं। सामान्य दृष्टि से देखा जाय तो हमारे उपन्यास-साहित्य ने भारत के आम पुरुष और आम स्त्री को क्या स्थान दिया है? 'आम पुरुष' और 'आम स्त्री' का यहाँ तात्पर्य श्रमिक-वर्ग के स्त्री-पुरुषों से ही नहीं है सामान्य स्त्री-पुरुषों से है जो किसी भी वर्ग के होने पर भी कई बाह्य एवं आन्तरिक भिन्नताओं के बीच में भी अधिकतम समानता रखकर 'भारतीय' बने हुए हैं। क्या हमारी अधिकांश स्त्रियाँ किशोरेपन से इच्छावादी करनेवाली हैं? क्या हमारे अधिकांश स्त्री-पुरुषों के जीवन का सबसे बड़ा अंग व्यभिचार या वैयक्तिक कुण्ठा है? अंग्रेजी समाज और उपन्यास में स्त्रियों के जो रूप मिलते हैं, उनकी तुलना करते हुए वर्जीनिया वुल्फ ने स्थापित किया है कि उपन्यास स्त्रियों के प्रति न ईमानदार रहा है, न न्याय कर सका है। वुल्फ ने स्पष्ट कहा है अधिकांश स्त्रियाँ न व्यभिचारिणी होती हैं, न किशोरेपन से इच्छावादी करनेवाली। उनकी दृष्टि में साधारण स्त्री अपने घर के ही कामों में डूबी हुई और अपने

शब्दों से उसमें हुई दिखायी पड़ती है।[1] अगर अंग्रेजी समाज की दशा यह है तो हमारे भारतीय समाज की जिसमें स्त्रियों को समाज ने बहुत-कुछ नियन्त्रित कर रखा है और जिसमें स्त्रियाँ स्वयं अधिक संकोचशील हैं उसकी क्या दशा होगी ? अगर हम भारत के किसी भी वर्ग की वयःप्राप्त साधारण नारी से पूछें कि उसके लिए जीवन का मतलब क्या रहा तो वह बीच में गद्गद करनेवाले कण्ठ से बताएगी कि उसका गौना कब हुआ था पति से प्रथम मिलन के अवसर पर वह कैसे लाज से सिकुड़ गयी थी सहेलियों ने उसका कैसा मज़ाक उड़ाया था उसके पहले बेटे का जन्म कब हुआ था दूसरी बेटी के लिए उसने कितने कष्ट सहे थे लड़ाई के समय चीज़ों के दाम कैसे आसमान तक चढ़ गए थे और अपनी प्यारी छोटी बहन की अकाल-मृत्यु के अवसर पर वह कितनी रोयी थी ! यह है भारत की साधारण नारी। इस साधारण नारी के प्रति हमारे उपन्यासकारों ने कितना न्याय किया ? और उसी तरह हमारे साधारण पुरुष के जीवन को हमारे उपन्यास-साहित्य ने कितनी ईमानदारी से प्रतिबिम्बित किया है ? मानवता के पुजारी इस महादेश में विश्व-साहित्य की उत्कृष्टतम रचनाओं की श्रेणी में आनेवाले ऐसे उपन्यास नहीं लिखे जा सके हैं जो भारत के महामानव के पारिवारिक *एवं सामाजिक जीवन का आध्यात्मिक और भौतिक जीवन का बौद्धिक और मानसिक* जीवन का परिचय दे सकें। भारत की आत्मा को प्रदर्शित करनेवाले लेखक हमें कितने मिले हैं ? लगता है कि हमारे अधिकांश लेखकों से बढ़कर पर्ल एस बक ने भारत की आत्मा को समझा है। जब इस विदेशी महिला के एक पात्र के मुँह से निकलता है कि 'भारत अपनी मिट्टी पर पैर रखनेवाले हर व्यक्ति को बदल देगा।'[2] तब वह भारतीय संस्कृति का शंखनाद-सा लगता है। भारतीयों के आचार-विचारों को सामाजिक परम्पराओं को और उसकी आत्मा को पर्ल एस बक के समान सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन से चित्रित करनेवाले उपन्यासकार हिन्दी में शायद नहीं हैं। संस्कृति के सम्बन्ध में भाषण दिये बिना ही पात्रों की सहज स्वाभाविक प्रवृत्तियों और शब्दों के द्वारा भारत की आत्मा को बक न प्रदर्शित किया है।[3]

अगाधता का अभाव

२३१ हिन्दी के उपन्यासों में जैसे विशालता का अभाव है उसी तरह अगाधता का भी है। चाहे सामाजिक जीवन का अध्ययन हो चाहे वैयक्तिक जीवन का हमारे लेखकों ने सूक्ष्म दृष्टि से वैज्ञानिक अध्ययन करने की आवश्यकता नहीं समझी है। यूरोप के प्रारंभिक उपन्यासों में अगाध अध्ययन का अभाव है पर अधुनातम यूरोपीय

---

१ Woolf A Room of One's Own P 133-134

२. Come, My Beloved, P 72.

३ देखें भारतीय धर्म के संबन्ध में दरिया के शब्द पृ० ८८ आस्तिकता के संबन्ध में शीलानिधि के शब्द पृ० ११, पुनर्जन्म के संबन्ध में दरिया के शब्द पृ ८०; धर्म और विज्ञान के संबन्ध में दरिया के शब्द पृ ८८।

उपन्यास का आधार ही गम्भीर अध्ययन है। समाज का शास्त्रीय अध्ययन और व्यक्ति का मनोवैज्ञानिक अध्ययन अपने कितने ही पहलुओं को लेकर बढ़ने लगा है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में व्यक्ति की सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाओं और प्रवृत्तियों का विश्लेषण फ्रेंच कलाकारों की विशेषता है। अंग्रेजी में वूल्फ, हक्सले लारेन्स मई सिन्क्लेयर और डोरोथी रिचर्डसन के नाम स्मरणीय हैं। रूसी उपन्यासों में व्यक्ति का इतना विशद विश्लेषण नहीं हुआ है पर उनमें वैज्ञानिक विषयों का सूक्ष्म एवं कलात्मक अध्ययन द्रष्टव्य है। वैज्ञानिक मत्स्य व्यवसाय इस्पात निर्माण गेहूँ की खेती आदि कितने ही विषयों पर उपन्यास लिखे जा चुके हैं जिनका शैक्षणिक महत्त्व असंदिग्ध है। इसके विरुद्ध हमारे उपन्यासों में अध्ययन का अभाव है सांकेतिकता का अस्तित्व ही नहीं है। हमारे अधिकांश मनोवैज्ञानिक उपन्यास (जैनेन्द्र जोशी और अज्ञेय के) भावुकता के आधार पर ही चले चलते हैं, वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर नहीं।

किन्तु हमारी संभावनाएँ अधिक हैं। रूसी के से सामाजिक उपन्यास फ्रेंच के से मनोवैज्ञानिक उपन्यास और अंग्रेजी के से विश्लेषणात्मक उपन्यास हिन्दी में निकले हैं। प्रायः प्रत्येक धारा क्षीण रूप में प्रवाहित हुई है। गत तीस-चालीस वर्षों में हमारे उपन्यास साहित्य में जो वैविध्य आया है वह कम महत्त्व का नहीं है। प्रत्येक धारा को विकसित करने पर हमारे समाज के समस्त विधान गंभीर एवं यथार्थ अध्ययन उपस्थित किये जा सकते हैं।

पाँचवाँ अध्याय

चरित्र चित्रण

१

चरित्र चित्रण का महत्त्व

मनुष्य को समझना और उसके सामाजिक जीवन एवं वैयक्तिक अन्तर्सत्ता की व्याख्या करना उपन्यास का ध्येय है। संपूर्ण मानवजाति में सामूहिक देशीय और वैयक्तिक विशेषताओं के कारण जो अनन्त वैविध्य है उसका अध्ययन सचमुच रोचक विषय है। मनुष्य चरित्र में एकरूपता विषमता और विविधता न होती तो उसको समझना कितना ही सरल होता किन्तु तब मनुष्य इतना रोचक प्राणी भी न होता। सामाजिक तथा वैयक्तिक आधार पर इस वैविध्य का और वैविध्य के बीच की एकता का अध्ययन करना ही उपन्यास में चरित्र-चित्रण का ध्येय है।

द्विविध महत्त्व

२१२ व्यक्ति और समाज का पारस्परिक संघर्ष और समन्वय है जीवन। व्यक्ति को सदा सामाजिक परिस्थितियों से संघर्ष करते रहना पड़ता है—यहाँ संघर्ष से तात्पर्य भौतिक पर्याप्ति के लिए परिस्थितियों के विरुद्ध होनेवाले संघर्ष से नहीं है मनुष्य के स्वतंत्र और स्वच्छन्द व्यक्तित्व में बाधा डालनेवाली सामाजिक परिस्थितियों के बीच में अपने व्यक्तित्व को बनाए रखने की सचेष्ट प्रवृत्ति से ही है[1]—किन्तु उस समाज से समझौता करके उसमें ही अपने जीवन को सफल बनाना पड़ता है। इस तरह उसका वैयक्तिक अस्तित्व एवं सामाजिक अस्तित्व दोनों का ही अपना अपना महत्त्व है और उपन्यास में दोनों का अध्ययन आवश्यक है। मानव-जीवन में जो वैविध्य है उसका आधार व्यक्तित्व ही है और सामूहिकता या सामाजिकता का आधार किसी प्रकार की समानता ही है।

तीन स्तरों के गुण

पूर्वगृहीत संस्कृति तथा सामाजिक परिस्थितियों के कारण मनुष्य में जितने गुण लक्षित हैं उन्हें उनके प्रसार-क्षेत्र की विस्तृति के आधार पर तीन स्तरों में रखा जा सकता है

---

१ पफिस्ट के अनुसार व्यक्ति में पैतामशिकी अथवा संस्कृति से अजित वासना-रूप में जो गुण होते हैं वे परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तन (Adaptation) द्वारा परिवर्तित अथवा विकसित होते हैं। इनमें प्रथम की वास्तविक सत्ता होने से उसे सत्तात्मक (पोजीटिव) और उत्पन्न विराची

१ व्यक्तिगत
२ सामूहिक
३ मानवीय

२३३ (१) उपन्यास में व्यक्तिगत विशेषताओं का अध्ययन दो बातों के लिए आवश्यक है—मनुष्य को समझने के लिए और बिम्ब-ग्रहण के लिए। साहित्य में हमें व्यक्तियों के द्वारा ही समाज को या सम्पूर्ण मानवता को समझने का अवसर मिलता है। जीवन के जो दृश्य उपस्थित किए जाते हैं उनके बिम्ब-ग्रहण के लिए व्यक्तिगत विशेषताओं का प्रदर्शन आवश्यक है। स्वभाव की अमूर्त विशेषताएँ व्यक्ति का आधार पाकर साकार हो उठती हैं और तभी प्रभावशाली होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी विशेष आन्तरिक सत्ता तो होती ही है उसकी बाह्य चेष्टाओं में भी विशेषता रहती है। बोलचाल का ढंग कुछ विशेष शब्दों का बहुत प्रयोग (सखुन तकिया) चलने-फिरने उठने-बैठने की रीति इन सबसे वैयक्तिकता की पहचान होती है। शब्द-चित्रों द्वारा बिम्ब-ग्रहण कराने में समर्थ दृश्य उपस्थित करने के लिए व्यक्ति की ऐसी विशेषताओं की मूर्त रूप में अभिव्यक्ति आवश्यक है। कलात्मक प्रभाव की दृष्टि से उपन्यास मे वैयक्तिक विशेषताओं का विशेष महत्त्व होता है।

२३४ (२) किसी विशेष समाज अथवा जाति की जनता में विद्यमान सामान्य गुण उस समाज या जाति की संस्कृति के परिचायक होते हैं। जातीय विशेषताएं एक ही जाति के विभिन्न अंगों को एक साथ बांधती हैं, तो एक जाति को दूसरी जाति से अलग भी कर दिखाती हैं। उपन्यास में समूह या जाति की छोटी-बड़ी सीमाएँ निर्धारित कर उनके अन्तर्गत जनता का अध्ययन किया जा सकता है और किया जाता है।[१] मनुष्य के ऐतिहासिक एवं समाजशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से इन जातीय विशेषताओं का परिज्ञान महत्त्वपूर्ण है।

२३५ (३) किन्तु साहित्य की मौलिक प्रेरणा व्यष्टि को समष्टि में विलीन कर देने और समष्टि को व्यष्टि मे प्रकट करने की उत्कट अभिलाषा है। वैयक्तिक एवं जातीय विशेषताओं के कारण संसार में कितना ही विघटन हो फिर भी समस्त मानवता को एक साथ बांधनेवाली कुछ नैसर्गिक प्रवृत्तियां भी सदा काम करती रहती हैं। मानव-मात्र की ऐसी प्रवृत्तियों का अभिव्यंजन ही विश्व-साहित्य की उत्कृष्टतम रचनाओं के साथ स्थायी मूल्य का कारण है। जन्मजात प्रवृत्तियों के रूप में मनुष्य में रक्त-मूल रहनेवाले प्रेम तथा क्रोध लोभ ईर्ष्या आदि गुण-दोष किसी जाति की

होने से दूसरे को नकारात्मक या निषेधात्मक (निगेटिव) मान सकते हैं या दूसरे को गतिशीलता के कारण धनात्मक और प्रथम की को गत्यवरोधक होने से नकारात्मक भी मान सकते हैं। देखें Dialectics of Nature, P 282.

[१] समर, लहरें और मनुष्य' में मछुओं का जीवन 'गोदान' में भारतीय कृषक का जीवन 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' में बिहार का ग्रामीण जीवन 'कोन उपन्यासों में कलाकों का जीवन आदि द्रष्टव्य है।

विशेषता नहीं है। वे समस्त मानवजाति में न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान रहते हैं। ऐसे देश-कालातीत गुणों से युक्त पात्र सम्पूर्ण मानव-जाति को प्रभावित कर सकते हैं और साहित्य के शाश्वत मूल्य के हेतु हुआ करते हैं। मानव-सुलभ इन सहज प्रवृत्तियों के कारण ही कालिदास और बाल्मीकि के पात्र आज भी प्रभावशाली बने हुए हैं।

२९६ उपर्युक्त तीन श्रेणियों के गुणों के समावेश के कारण पात्रों के तीन सांचे या टाइप हो सकते हैं। १ वैयक्तिक टाइप जो अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण हमारे निकट-सम्पर्क में आता है और अपनी यथार्थता के कारण विश्वसनीय होता है २ सामूहिक टाइप जो अपनी जातीय विशेषताओं के कारण समाजशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहता है ३ मानवीय टाइप जो व्यक्ति और समाज के समस्त बन्धनों का उल्लंघन कर मानवता की एकता की घोषणा करता है।

यहाँ यह भी कहना आवश्यक है किसी पात्र को निश्चित सीमा में बांधकर किसी टाइप के अन्तर्गत मानना असम्भव है। इनमें एकाधिक टाइपों के गुण भी एक ही पात्र मे हो सकते हैं और ऐसा होना आवश्यक भी है। पूर्णतया यथार्थ होने के लिए पात्र को तीनों प्रकार की विशेषताओं का प्रतिनिधित्व करना आवश्यक है, क्योंकि जीवन म भी प्रत्येक व्यक्ति में उसकी अपनी वैयक्तिक विशेषताएं होती हैं उसके समाज की विशेषताएं समाहित रहती है और वह मानवीय गुणों से भी युक्त रहता है। इसके विरुद्ध पात्र केवल वैयक्तिक रहें सामाजिक जीवन स और मानवता से असंबद्ध रहें तो उनका जीवन उन्हीं का जीवन रह जाएगा उनकी समस्याएं उन्हींकी समस्याएं रह जाएंगी। उनका सामाजिक या सार्वजनिक मूल्य निर्धारित करने पर निराश ही होना पड़ेगा। अत. उपन्यास-कार को व्यक्ति का आधार लेने पर भी सामान्य का विचार रखना ही पड़ता है।[1]

२
चरित्र चित्रण का प्रारम्भिक स्वरूप

एकांगी पात्र या समतलीय पात्र (Flat Characters)

२९७ व्यक्तित्व का विनाश करके जब पात्र को किसी तथ्य का प्रतिपादन या सिद्धान्त की व्याख्या करने को विवश किया जाता है तब वह स्वच्छन्द विकास का अवसर न पाकर एकांगी हो जाता है। आरंभकालीन उपन्यासों में जीवन के यथार्थ चित्रण से अधिक जीवन के सुधार का ही विचार था। अत उनमें जिन पात्रों की सृष्टि हुई है वे निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार सृष्ट हैं। हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासों से लेकर प्रेमचन्द तक के और प्रेमचन्द क पश्चात् भी कई लेखकों के पात्र

---

1 Doubtless the novelist should select among the particular that which has an application to the general.

—George A Novelist on Novels, P 96.

रहस्यमय हैं कि हमारे लिए उनको समझना ही कठिन हो जाता है। मगर पात्र-सृष्टि में ये लेखक अपने पूर्ववर्तियों से आगे बढ़े हैं, तो केवल इस बात में कि इन्होंने सभी मान वीय दुर्बलताओं से रहित आदर्श पात्रों का सृजन नहीं किया है। कौशिक श्रीवास्तव और वाजपेयी के उपन्यासों में कुछ आदर्श पात्र भी मिलते हैं पर प्रसाद उग्र चतुरसेन मन्मथनाथ आदि के उपन्यास अलौकिक आदर्श पात्रों से रहित हैं। परन्तु केवल इसी कारण से पात्र यथार्थ नहीं बनते क्योंकि इनके सभी पात्र समाज की कुछ अनीतियों और अत्याचारों को दिखाने के निमित्त ही निर्मित हैं। ये सब सबल और प्रभावशाली होते हुए भी एकांगी और असाधारण हैं। व्यक्तित्व की व्यंजना के लिए जो सूक्ष्म रेखायें आवश्यक हैं समाज के प्रतिबिम्बन के लिए जिस निरपेक्ष सन्तुलन और विधायकता की आवश्यकता है मानवता की चिरन्तन अनुभूतियों को अभिव्यंजित करने के लिए जो उदात्त दर्शन वांछनीय है और मानवता के प्रति जो सहानुभूति अनुपेक्षणीय है उन सब से कौशिक प्रसाद श्रीवास्तव वाजपेयी उग्र चतुरसेन मन्मथनाथ आदि बहुत दूर हैं। इनकी सहानुभूति केवल मनुष्य के दुर्बलो के प्रति है अतः उसके अपराधों को वे दुर्बलता के रूप में नहीं देखते। समाज के कलंकित भागों से अवगत ये लेखक उसके उन्नतिशील पक्ष की उपेक्षा करते हैं। इनके पात्र हैं तो निश्चित रूप से टाइप ही पर किसी विशेष समाज के नहीं बल्कि कुछ विशेष गुणों के कुछ विशेष सिद्धान्तों के। पूर्ववर्ती उपन्यासकारों के पात्रों की अपेक्षा ये समाज से अधिक समन्वित हैं और यही उनके आंशिक यथार्थ रूप का कारण है।

प्रेमचन्द के पात्र टाइप-मात्र हैं ?

२१९ प्रेमचन्द के पात्रों के सबन्ध में साधारणतः कहा जाता है कि वे सब टाइप हैं अथवा टाइप-मात्र हैं। एक लेखक का कहना है कि पात्र प्रेमचन्द के लिए समाज चित्रण के उपकरण-मात्र हैं एक पात्र के अध्ययन से समाज के उस वर्ग का पूरा ज्ञान मिल जाता है जिससे उसका जन्म हुआ है।[1] निस्सन्देह प्रेमचन्द के पात्र अपने-अपने वर्ग का प्रायः पूर्ण परिचय देते हैं—केवल उनके सुधारक कल्पित हैं, वास्तविक समाज के किसी वग से अधिक संबन्धित नहीं हैं। निर्मला सुमन आदि हमारे समाज की पीड़ित नारियों का प्रतिनिधित्व करती हैं, जालपा आभूषण-प्रिया पर कर्तव्य-परायणा गृहिणी है होरी और उसका कुटुम्ब भारतीय कृषक परिवार का यथार्थ रूप है। इसके अतिरिक्त जमींदार, पट्टेदार, वकील कलक्टर आदि समाज की सभी श्रेणियों के पात्रों को सामने लाकर प्रेमचन्द हमे संपूर्ण समाज में पर्यटन कराते हैं। पर क्या इतने से ही प्रेमचन्द के पात्रों के इयत्ता समाप्त हो जाते हैं ? क्या सामाजिक टाइप बनने से बढ़कर उनका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है ?

---

१ A marked characteristic of Premchand s characters is that, like Dickens they are always types and not individuals like Thackeray s. They are merely pliant tools for Premchand to portray a whole

'नहीं' कहना असंभव है क्योंकि निर्मला और मन्साराम सुमन और शान्ता सूरदास सूफ़िया और सुभागी जालपा और रमानाथ होरी धनिया गोबर और झुनिया ऐसे मुख्य पात्र ही नहीं प्रसंग मौण पात्र भी एक साथ आँखों के सामने आकर चुनौती देते हुए खड़े हो जाते हैं। इस तरह सामने प्रत्यक्ष हो जाना ही उनके व्यक्तित्व का सबल प्रमाण है। टाल्स्टाय के 'युद्ध और शान्ति' में एक चंचल बालिका के रूप में आनेवाली नताशा के प्रथम परिचय का दृश्य-मात्र पढ़ने से उसका रूप मन में ऐसा जम जाता है कि उसे भूलना असंभव हो जाता है। प्रेमचन्द के कई पात्र भी इससे कम नहीं हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों को पूरा न पढ़कर केवल 'निर्मला' में निर्मला और कृष्णा का (पृ ४-५) तथा कल्याणी और उदयभानुलाल का (पृ ६-११) 'गबन' में जालपा और मानकी का (प्रथम दो अध्याय) 'गोदान' में होरी और धनिया का तथा गोबर और झुनिया का प्रथम परिचय देनेवाले दृश्यों को ही पढ़ा जाए तो भी इन पात्रों को भूलना असंभव हो जाएगा। अगर वे सामाजिक टाइप-मात्र होते तो प्रथम दर्शन में ही इतना प्रभाव नहीं होता। इस प्रभाव का कारण व्यक्तित्व नहीं तो क्या है? जैसे वास्तविक जीवन में हम लोगों से परिचित होकर एक मानसिक निकटता से बंध जाते हैं उसी तरह प्रेमचन्द के पात्रों से भी एक हार्दिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। डिकेन्स के पात्रों से ऐसा संबन्ध होना असंभव है इसलिए वे टाइप-मात्र हैं। टाल्स्टाय और प्रेमचन्द इस विषय में बहुत कुछ समान स्तर पर हैं। प्रेमचन्द के जो प्रसंग ऊपर उल्लिखित हैं, वे केवल कुछ चुने हुए उदाहरण ही हैं। इसी तरह अन्य पात्रों के सम्बन्ध में भी कितने ही प्रसंग उपलब्ध हैं जो पात्रों को व्यक्तियों के रूप में उपस्थित करते हैं।

फिर प्रेमचन्द के पात्रों के व्यक्तित्व पर संदेह क्यों? इस प्रश्न का उत्तर हमें प्रेमचन्द के पात्रों की हिन्दी और अन्य भाषाओं के उपन्यासों के कुछ सबल पात्रों की तुलना करने पर मिलेगा। जैनेन्द्र, जोशी अज्ञेय दास्तायवस्की तुर्गनेव टाल्स्टाय फ्लाबेयर मोपासाँ जॉर्ज एलियट गाल्सवर्दी प्रूस्ट, लारेन्स डोरोथी जैसे उपन्यासकारों के तथा प्रेमचन्द के पात्रों के व्यक्तित्वों में बड़ा अन्तर है। उनकी तुलना में प्रेमचन्द ने पात्रों के मानसिक जगत् की ओर कम ध्यान दिया है। व्यक्ति के अभाव मानसिक व्यापारों तथा संकुल ग्रन्थियों का सूक्ष्म विश्लेषण प्रेमचन्द ने नहीं किया है। उनके पात्रों का व्यक्तित्व उनकी वर्गगत विशेषताओं तथा सामान्य दृष्टि में दिखाई पड़नेवाली वैयक्तिक विशेषताओं में ही प्रायः समाप्त हो जाता है। जहाँ वे मानसिक व्यापारों की

---

society If you study one character thoroughly you know everything about the stratum from which it springs.

—Madan Gopal Premchand P 52.

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी भी कहते हैं —प्रेमचन्द जी के चरित्र वर्गगत, आदिगत या प्रतीकात्मक होते हैं। जमींदार किसान आदि में अपने वर्ग या साधारण विशेषताओं का आरोप रहता है। आधुनिक व्यक्ति-चित्रण-प्रणाली से वे दूर हैं।

—नन्ददुलारे वाजपेयी आधुनिक साहित्य पृ १६

ओर जाते हैं, वहां भी केवल ऊपरी तह का ही स्पर्श कर पाते हैं। सकुलता उनके पात्रों में कहीं भी नहीं खटती अतः उनको समझना अत्यन्त सरल है। तास्ताय के पात्र यद्यपि बाह्य रूप में प्रेमचन्द के पात्रों से मिलते हैं तथापि वे अपने अत्यन्त तीव्रण आलोक से प्रकाशित अन्तर्लोक के कारण प्रेमचन्द के पात्रों से कुछ भिन्न हैं। तास्ताय दास्तावस्की आदि दार्शनिक लेखकों ने तथा हिन्दी फ्रेंच और अंग्रेजी के मनोवैज्ञानिक लेखकों ने पात्रों के मानसिक जगत् को जो महत्त्व दिया है, वही उनके व्यक्तित्वों को सबल बनाता है।

व्यक्तिगत विशेषताओं को तीन श्रणियों में (अनुच्छेद २ १–२१२) विभाजित कर उनका विश्लेषण कर देखें तो इन उपन्यासकारों तथा प्रेमचन्द के पात्रों का अन्तर स्पष्ट होगा।

प्रेमचन्द ने अपने पात्रों पर सामाजिक एवं मानवीय विशेषताओं का उसी मात्रा में आरोप किया है जिस मात्रा में साधारणतः देखने में आता है। किन्तु सबल व्यक्तित्व की सृष्टि करनेवाले उपन्यासकारों ने सामाजिक तथा मानवीय विशेषताओं को भी वैयक्तिकता के स्तर पर लाकर उनका अध्ययन किया है। उदाहरण के लिए तुर्गनेव के रुदिन ('रुदिन' में) लेजनोव ('अक्षत भूमि' मे) तथा बजारोव ('बाप-बेटे' में) को लें। ये तीनों पात्र तत्कालीन समाज के सुधारवादी उपरिप्लव (Superfluous) युवकों के प्रतिनिधि हैं। पर तुर्गनेव ने सामाजिक उपरिप्लवता का जो अध्ययन किया है व्यक्तिगत स्तर पर किया। लेखक इस सामाजिक विशेषता का पात्रों के मनोजगत् में प्रक्षेपण (Projection) करता है—उसके बाद उसका ध्यान समाज के प्रति उतना नहीं जाता जितना व्यक्ति के प्रति। इस कारण वे पात्रों का अन्तर्जगत् अधिक महत्त्व धारण कर लेता है जबकि समाज केवल एक धूमिल वातावरण के समान रह जाता है लेकिन प्रेमचन्द यद्यपि अपने पात्रों पर सामाजिक विशेषताओं का आरोप करते हैं तो भी उन विशेषताओं का पात्रों के मानसिक जगत् में प्रक्षेपण करके विश्लेषण नहीं करते। सुमन निर्मला होरी आदि का संघर्ष बाह्य जीवन से है। उनके मानसिक द्वन्द्वों के प्रति प्रेमचन्द का ध्यान अधिक नहीं। प्रेमचन्द के पात्रों की वैयक्तिकता के अधिक तीव्र न होने का एक कारण यही है।

प्रायः यह देखा जाता है कि सभी सबल वैयक्तिक पात्र कुछ विशेष भावों का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रेमचन्द ने भी कुछ अपने पात्रों को कुछ भावों का प्रतिनिधि बनाया है पर वे भाव सामाजिक ही हैं। होरी भारतीय किसान है, निर्मला और सुमन परतन्त्र विवश पीड़ित नारियां हैं। पर व्यक्तिवादी उपन्यासों के पात्र सामाजिक विशेषताओं के प्रतिनिधि न होकर (सामाजिक विशेषताओं के प्रतिनिधि हों तो भी इन विशेषताओं का अध्ययन व्यक्तिगत स्तर पर ही किया जाता है, जैसेकि ऊपर दिखाया जा चुका है) वैयक्तिक विशेषताओं अथवा मानवीय (सार्वजनिक) मनोवृत्तियों के प्रतिनिधि होते हैं। अन्ना करेनिना नताश्या (तास्ताय के 'पुनर्जीवन' में) नस्तास्या फ़िलिपगोवना (दास्तावस्की के 'महामूर्ख' में) प्रिंस मिश्किन (महामूर्ख' में) रस्कोलनिकोव ('अपराध और दण्ड' में) 'जाँ-वल-जाँ' ('ल मिजरावल्स' में) मदाम बोवारी ('मदाम

बोवारी' में) मानन लेस्को ('मानन लेस्को' में) एलीसा ('तंग दरवाजा' में) साइलस मार्नर ('साइलस मार्नर' में) पाल मोरेल ('बेटे और प्रेमी' में) राजीव (जोशी के 'मुक्तिपथ' में) पारसनाथ ('प्रेत और छाया' में) शेखर ('शेखर' में) भुवन एवं रेखा ('नदी के द्वीप' में) गुलाबिया ('सुबह के भूले' में) आदि सामाजिक सांचे में ढले हुए पात्र नहीं हैं। उनके व्यक्तित्व मानवीय गुणों तथा मनोविकारों का व्यक्तियों में प्रक्षेपण करने से बने हैं। एम्मा अनियन्त्रित लैंगिक विकार तथा अपनी नैतिक मान्यता के कारण मानसिक द्वन्द्व में पड़ती है। नताल्या में विनीतता के साथ आत्माभिमान और आत्मपीड़न की प्रवृत्तियां हैं। नस्तास्या अतिशय चंचल मन रखने पर भी अपने उत्तरदायित्व की चिन्ता करनेवाली है। मिशकिन पतित के प्रति दया से अभिभूत है। रस्कोल्निकोव अपनी पाप करने की शक्ति की परीक्षा करके पछतानेवाला है। ज्याँ-वल-ज्याँ पशुता से देवत्व की ओर जाता हुआ साधक है। मदाम बोवारी और मानन लेस्को भोग-लिप्सा की चरम सीमा तक पहुंची हुई स्त्रियां हैं। एलीसा प्रेम और ईश्वर के बीच के द्वन्द्व में पड़ी हुई है। साइलस स्वार्थ से आत्मोत्सर्ग की ओर प्रयाण करता है। पाल लैंगिक विकारों के बद्धत्व (Fixation) से पीड़ित है। राजीव में अहं और आत्मदमन तथा शेखर में विद्रोही अहं और सेक्स के दमन की प्रवृत्तियां सबल हैं। रेखा काम विकार की तीव्रता में भी स्वार्थरहित है। गुलाबिया आधुनिक जीवन के विलास और आडम्बर की ओर अपार आग्रह से अग्रसर होती है पर उससे उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती।

अन्त में ऐसे जीवन के खोखलेपन से अवगत होकर पुनः सरलता की ओर आती है। इच्छाओं को स्वच्छन्द विहार की अनुमति देनेवाले भौतिकवादी जीवन पर यह एक तीक्ष्ण व्यंग्य है। प्रेमचन्द के किसी उपन्यास में इस तरह की कोई मनोवृत्ति पात्र के व्यक्तित्व का मुख्य और एकमात्र आधार नहीं बनायी गयी है। इस तरह के मनोविकारों के आधार पर निर्मित पात्र भले ही असाधारण और कभी-कभी अस्वाभाविक लगें तो भी उनमें सबल वैयक्तिकता अवश्य रहती है। प्रेमचन्द के पात्रों में व्यक्तित्व का ऐसा रूप नहीं मिलता।

पर क्या प्रेमचन्द के पात्रों में अपनी व्यक्तिगत विशेषताएं नहीं हैं? क्या सुमन, निर्मला, मंसाराम, जालपा, होरी, धनिया, गोबर, झुनिया आदि वैयक्तिकता से रहित हैं? वस्तुतः इन सब पात्रों में सामाजिक व्यक्तित्वों (Social personality) के अतिरिक्त जो वैयक्तिक व्यक्तित्व (Individual personality) हैं, वे नगण्य नहीं हैं। किन्तु प्रेमचन्द ने वैयक्तिक व्यक्तित्व को रूप देनेवाली विविध प्रवृत्तियों का अगाधतम मानसिक जगत् में प्रक्षेपण नहीं किया है और न उनका विश्लेषणपूर्ण अध्ययन ही किया है। हम किसी निकट परिचय के व्यक्ति के जिन जिन गुण-दोषों तथा मनोवृत्तियों से परिचित होते हैं उन सबको प्रेमचन्द ने भी प्रकट किया है—इतने सहज रूप में प्रकट किया है जिससे हमें यह प्रतीति होने लगती है कि हम पात्रों से सीधे परिचित होते हैं। यही कारण है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों को (उनके यथार्थवादी ग्रंथों को) पढ़ते समय हमें लगता है कि हम जीवन से ही परिचित हो रहे हैं। इस प्रकार के व्यक्तित्व-चित्रण से बिम्ब-ग्रहण अधिक सुसाध्य होता है। सबल व्यक्तित्व के पात्रों के अध्ययन से हम एक

भावलोक में अपने-आपको खोकर उनसे तादात्म्य पाते हैं, तो प्रेमचन्द के पात्रों को यथार्थ रूप में देखकर उनसे सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

प्रेमचन्द प्रायः मनुष्य की उलझी हुई संवेदनाओं उत्कट भाव-द्वन्द्वों और अवचेतन की अज्ञात एवं अर्द्धज्ञात दशाओं से दूर रहते हैं। 'निर्मला' में लेखक ने निर्मला और मन्साराम के आन्तरिक द्वन्द्व का चित्रण करते हुए मनोव्यापारों का थोड़ा बहुत अध्ययन किया था परन्तु इस कार्य को वे किसी अन्य उपन्यास में आगे नहीं बढ़ा पाए। इसी आन्तरिक व्यक्तित्व की तीव्रता की कमी के कारण प्रेमचन्द के पात्रों की वैयक्तिकता पर सन्देह किया जाने लगा है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द के पात्र अपने अपने वर्ग के प्रतिनिधि भी हैं, और काफी हद तक व्यक्तिगत विशेषताओं से भी युक्त हैं। वे डोस्टोवोस्की, टाल्सटाय, एहरनबर्ग, फ्लौबेर्ट, ब्रासेस्कू आदि आधुनिक रूसी कलाकारों के पात्रों से मिलते हैं। व्यक्ति की मानसिक ग्रन्थियों को सुलझाने का प्रयत्न न करने पर भी इनके और प्रेमचन्द के पात्र हमारे लिए उतने ही सजीव बन जाते हैं जितने कि हमारे अपने घर के अपने माँ-बाप और भाई-बहनें। इन पात्रों का निर्माण लेखकों ने नहीं किया है बल्कि वे स्वयं बने हैं। लेखकों ने केवल उनको जीवन से लेकर उपन्यास में रख दिया है। होरी के सम्बन्ध में अगर प्रेमचन्द दावा करें कि मैंने एक मौलिक पात्र की सृष्टि की है तो होरी हड़बड़ाकर उठ बैठेगा और चिल्ला उठेगा "सृष्टि आपने खाक की है, मैं तो स्वयंभू हूँ आपने मेरा चित्र-मात्र उतारा है।"

२

कुछ व्यक्तित्वपूर्ण पात्र

प्रेमचन्द ने उपन्यास-साहित्य में जिस व्यक्तित्व की स्थापना की उसका क्रमशः विकास होता गया और हमारे मनोवैज्ञानिक उपन्यासों तक आते-आते अत्यन्त सबल व्यक्तित्वपूर्ण पात्रों का निर्माण होने लगा। इस बीच में कुछ व्यक्तित्वपूर्ण पात्रों को लेकर उनका वैयक्तिक एवं सामाजिक मूल्य निर्धारित करना आवश्यक है।

अश्क के पात्र

२४० अश्क के 'गिरती दीवारें' के चेतनाथ को छोड़कर और सभी पात्र व्यक्तित्व रखते हैं। वे किसी वर्ग के विशिष्ट गुणों को दिखाने के ही उद्देश्य से निर्मित नहीं हैं, पर मानव-मात्र से भी उनका सम्बन्ध है। दोषों और कमजोरियों को सहानुभूति से देखते हुए अश्क ने प्रायः सभी पात्रों पर न्याय किया है। गौण पात्रों की भी मानवीय भावना इधर-उधर जब उभर आती है, तब अश्क की तूलिका हमें सचमुच एक मानवलोक में ले जाती है। तांगेवाले की बहन के प्रति आकृष्ट चेतन अपने मित्र को लिखता है

तांगेवाले के एक माँ है, बहन है और छोटे-छोटे भाई हैं। उसकी यह बहन

मैं देख रहा हूं कुछ दिनों से मुझमें दिलचस्पी लेने लगी है। जब मैं अपने कमरे में बैठा लिखा करता हूं तो वह खिड़की में आ जाती है। यह खिड़की एक खुला-सा झरोखा है इसमें न किवाड़ है न सींखचे—धूप तेज होने पर भी उसीमें बैठी रहती है

मोटी कुरूप और फूहड़—इसे प्रेम करने को भी कोई और नहीं मिला ! लेकिन अनन्त दिन ही तो है।

और फिर दफ्तर से प्रधान संपादक की झुड़कियां सुनकर जब आता हूं और उसी झरोखे में बैठी अपने मोटे होठों पर मीठी मदिर मुस्कान लाकर वह मेरा स्वागत करती है तो अनन्त ! मन हरा-सा हो जाता है और संपादक महोदय की तीखी बातों से दिल पर पड़े घाव कुछ भर-से जाते हैं। [1]

यहां मानव-सहज कोमल विकारों के साथ ही दोनों के व्यक्तित्व का कम से कम एक अंश स्पष्ट रूप से प्रकट होता है। यहां हम एक कलाकार को देखते हैं जो हमें धोखा देना नहीं चाहता मेस्मरेज़ करना नहीं चाहता बल्कि शुद्ध जीवन में डुबा देता है। 'मोटी कुरूप और फूहड़' लड़की के 'मोटे-मोटे होठों' पर भी 'मीठी मदिर मुस्कान' आ सकती है और वह एक पुरुष को आकृष्ट कर सकती है। खुला झरोखा तेज धूप—उसमें उस मोटी लड़की का आ बैठना—फिर होठों पर मुस्कान द्वारा हृदय प्रत्यक्ष दीखने लगता है यही नहीं उस मोटी लड़की का मीठा हृदय भी थोड़े ही शब्दों में प्रकट हो जाता है। और चेतन के विकारों को कितनी सूक्ष्म रेखा से लेखक खींचता है ! उस मुस्कान से उसका मन 'हरा' नहीं होता 'हरा-सा' हो जाता है और दिल के घाव 'कुछ भर-से' ही जाते हैं। दो-तीन छोटे-छोटे शब्दों से लेखक पात्रों को हमारे हृदय से मिला देता है। इन पात्रों का व्यक्तित्व तीव्र नहीं है पर उनका प्रभाव अस्थायी भी नहीं है।

उपन्यास के आरम्भ से अन्त तक चेतन के मनोजगत् के भावों का विकास भी किया गया है। मनुष्य दुर्बल है नारी के प्रति पुरुष का आकर्षण स्वाभाविक है। अशिक्षित वधू से विवाह करने के बाद कई नारियों से चेतन का आकर्षण उसके संचित संस्कार से अथवा सामाजिक बन्धनों से नियंत्रित होता है। लेखक को मान सिक द्वन्द्व के चित्रण का अवसर मिलता है। पर अश्कजी न इस द्वन्द्व को अति तक पहुंचाकर अस्वाभाविक बनाते हैं न हमारे मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों के समान उसके विश्लेषण के लिए पृष्ठ के पृष्ठ काला देते हैं। लेखक मानसिक ग्रन्थियों के विश्लेषण की ओर न जाकर दो-तीन अस्पष्ट रेखाओं से संपूर्ण भावों को व्यंजित कर देता है। नीला गौण होने पर भी अपना व्यक्तित्व रखती है। बड़े भोलेपन से नीला चेतन की सेवा और उसे छेड़-छाड़ करनेवाली वह बालिका कह देती है कि "मैं कभी विवाह नहीं करूंगी। यह सब बालिश है उसके अन्दर की युवती नहीं जगी है। फिर भी जब चेतन उसे पकड़कर आलिंगन करता है तब वह भाग जाती है। उसका अवचेतन उसमें कुछ जगती देखता है।

[1] गिरती दीवारें पृ० ६६।

'गरम राख' और 'बड़ी-बड़ी आँखें' आदि में पात्रों का व्यक्तित्व इतना विकसित नहीं हुआ है। 'गरम राख' में सम्पादक गोपालदास कवि जालक पंडित धर्मदेव वेदालंकार, साम्यवादी हरीश आदि केवल टाइप हैं। सत्या और हुरो व्यक्तित्व रखती हैं, लेकिन उनके व्यक्तित्व भी शिथिल हैं। त्रिकोण प्रेम के चौखट के अन्दर उनके व्यक्तित्वों का पूर्ण विकास नहीं हो पाया है। 'बड़ी-बड़ी आँखें' के पात्र पूर्णतया व्यक्तित्वरहित हैं।

उदयशंकर भट्ट के पात्र

२४१ उदयशंकर भट्ट के 'सागर, लहरें और मनुष्य' में सामाजिक एवं व्यक्तिगत विशेषताओं के समन्वय से प्रायः सभी पात्र पूर्ण हुए हैं। बरसोवा के मछुओं की यह कहानी उनके सामाजिक जीवन के विविध पहलुओं को दिखाती है पर उससे अधिक विभिन्न पात्रों के मानसिक संस्कार को प्रकट करती है। इसके पात्रों का सामाजिक महत्त्व इसलिए है कि वे अपने वर्ग के जीवन को पूर्णतया प्रतिबिम्बित करते हैं। मातृसत्ता पर आधारित समाज में स्त्री और पुरुष का क्या स्थान है उनके पारस्परिक व्यवहारों का क्या रूप है इन सबके अध्ययन के कारण उपन्यास समाज-शास्त्र से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। रत्ना वंशी यशवन्त माणिक इन चार मुख्य पात्रों के जो रूप व्यक्त हुए हैं, वे यथार्थवाद की दृष्टि से बहुत सफल और उत्कृष्ट हैं। अपने अधिकारों की और आत्माभिमान की सदा चिन्ता रखनेवाली वंशी बड़ी महत्त्वाकांक्षा से पूर्ण रत्ना आधुनिक नागरिक सभ्यता के उपरिप्लव रूप में ही डूबा हुआ माणिक परिश्रमी और निःस्वार्थ प्रेमी बकार यशवन्त इन सबके अपने-अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व हैं। घर की मालकिन वंशी किसीकी नहीं मानती हर जगह अपना अधिकार बताती है पति (बल्कि पतियों) को अपनी इच्छानुसार नचाती है। वह मातृसत्ता पर आधारित परिवार का केन्द्र है। उसके प्रभाव से और अन्य परिस्थितियों से रत्ना के व्यक्तित्व का विकास होता है। ग्रामीण सभ्यता और नागरिक शिक्षा ने मिलकर उसको दुहरा रूप दिया है एक ओर ग्रामीण बालिकाओं की कोमलता और उसके लिए जान लड़ाने को तैयार रहनेवाले यशवन्त से कोमल प्रेम—दूसरी ओर वह शिक्षित व्यक्तित्व जो बड़ी-बड़ी आकांक्षाएं रखता है, नागरिक जीवन की विलासिता के लिए उत्कंठित रहता है और इस आकांक्षा की पूर्ति-मात्र के हेतु मिथ्याडम्बर से बने ठगे माणिक से विवाह चाहता है। इतना चंचल इतना कोमल और इतना प्रभाव डालनेवाला स्त्री-पात्र हिन्दी उपन्यास में शायद और नहीं है। माणिक जो आवारा है रत्ना के प्रति आकृष्ट होता है पर उसपर अत्याचार नहीं करता। उसमें भी द्विविध व्यक्तित्व है बिना संकोच के अपराध करने और फिर पछताने की प्रवृत्तियां हैं। पहली पत्नी दुर्गा को उसने शराब पीकर पीटा था लेकिन उसके बीमार हो जाने पर खाना-पीना तक छोड़ बैठा था। उससे विवाह करने के बाद रत्ना भी उसके अत्याचारों से तंग होकर घर आ जाती है वंशी उसे माणिक को छोड़ देने का उपदेश देती है फिर भी माणिक से उसका मन नहीं हटता माणिक के अनुनय-विनय से द्रवित होकर वह फिर उसके साथ भाग जाती है। स्त्री-पुरुषों के द्वन्द्व और समझौतों का यह चिरन्तन रूप!

वह माणिक के सुधरने की आशा करती है यह जानते हुए भी कि वह सुधर नहीं सकता। आशा-निराशा की इस आँख मिचौनी का अध्ययन हिन्दी के अधिक उपन्यासकारों ने नहीं किया है। यद्यपि भट्टजी ने अवचेतन के विश्लेषण का प्रयास नहीं किया है *तो भी इस उपन्यास के पात्र व्यक्तित्व सृष्टि के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।* मानवता की उत्कण्ठा और बेबसी इन पात्रों में मूर्त रूप पाती है। भट्टजी के दूसरे उपन्यास में नायिका शेफाली के मानसिक द्वन्द्वों का अधिक विश्लेषण किया गया है तो भी रत्ना के समान प्रभाव नहीं डालती। इसका कारण यही ज्ञात होता है कि रत्ना के व्यक्तित्व में अन्दर और बाहर का जैसा समन्वय है वह शेफाली के व्यक्तित्व में नहीं है। नये मोड़ में लेखक कहीं भी बिम्ब-ग्रहण के योग्य दृश्य उपस्थित नहीं करता यही उसके अयथार्थ दीखने का कारण है।

अंचल के कुछ पात्र

२४२ 'चढ़ती धूप' और 'उल्का' में मनोवेगों के द्वारा व्यक्तित्व का विकास—विशेषकर ममता और मधु के—अंकित किया गया है। 'उल्का' में मधु का ज्यों-ज्यों क्रम से उज्ज्वल होता जाता है और उसका तेज उस समय बिजली का सा हो जाता है जब वह अपनी बच्ची के सम्बन्ध में कहती है *फिर आज मेरे जीवन-धारण का एक उद्देश्य है।* मुझे अपनी सन्तान को पालना है उसे दुनिया से संघर्ष करना सिखाना है। जन्म से वह सामाजिक कलंक के आवरण से ढंकी-ढंकी आयी लेकिन मैं जानती हूँ कि वह क्या है?—कैसी है—कहाँ से आयी है।[1] इतना विद्रोह करनेवाली सामाजिक रूढ़ियों से संघर्ष करते हुए अपने स्वतंत्र अस्तित्व की घोषणा करनेवाली यह नारी परम्परागत संस्कृति के बन्धनों से पूर्णतया मुक्त नहीं है यही उसकी स्वाभाविकता है। ईश्वर से अगणित विडम्बनायें पाकर भी वह उसपर विश्वास नहीं छोड़ सकती[2] यही उसका संस्कार है 'चढ़ती धूप' और 'उल्का' की दोनों नायिकाओं के व्यक्तित्व विकास की विशेषता यह है कि दोनों में अपार आत्मशक्ति है पर यह शक्ति बाह्य प्रेरणा से ही विकसित होकर अपने अस्तित्व का परिचय देती है। चन्द्र और मोहन ही इनको उज्ज्वल बनानेवाले प्रेरक हैं। पुरुष के प्रभाव से प्रभावित होनेवाली नारियों के ये उदाहरण हैं। मधुबन के 'मधु' की मधु का व्यक्तित्व भी राजन की शक्ति पाकर विकसित होता है किन्तु मधु अधिक सबल लगती है क्योंकि जहाँ राजन भी विचलित हो जाता है वहाँ मधु स्वयं चमक उठती है। राजन जो साहस से कहता है "मधु, मैं तुम्हें अपना चुका हूँ" मैं मानववादी व्यक्ति हूँ संसार का कोई भी प्रतिबन्ध मेरे मार्ग को अवरुद्ध नहीं कर सकता जिसे मैं ठीक समझता हूँ उसके मार्ग में यदि स्वयं भगवान भी आकर खड़े हो जायें तो मैं उन्हें भी पत्थर का टुकड़ा समझकर

---

१ उल्का पृ० २११।

२ उल्का पृ० १६।

ठुकरा दूँगा'।[1] यही कुछ दिन बाद मधु को अपनाने के सम्बन्ध में दुविधा में पड़ जाता है। तब मधु की उच्छ्वसता स्पष्ट दिखायी पड़ती है 'निर्लिप्त रहने का प्रयास करो राजन मुझमें फंसने से तुम्हारी साधना नष्ट हो जायगी।[2] यहां मधु और राजन की धात्मशक्ति एक-दूसरे की पूरक बनकर आगे बढ़ती है। जहां तक भावात्मक सत्ता का संबंध है, मधु और राजन का अस्तित्व बहुत ही वास्तविक है किन्तु भावना की पृष्ठभूमि में विकसित होने के कारण ये पात्र मंजु और ममता के समान ठोस धरा तल पर खड़े नहीं दीखते। अंचल के उपन्यासों के मुख्य पात्र चन्द्र प्रकाश और मोहन वस्तुतः दूसरों पर प्रभाव डालने पर भी स्वी पात्रों से दुर्बल हैं और स्वयं लेखक के ही बल खड़े रहते हैं। इन्हें सफल पात्र कहना कठिन है। उनको लेखक ने विशेष उद्देश्य से आदर्श व्यक्तित्व ही दिये हैं। मोहन असाधारण है क्रान्तिकारी है, पर इन रूपों में उसका विकास बहुत ही दुर्बल है। उसके क्रान्तिकारी जीवन में आन्तरिक व्यक्तित्व का सहयोग नहीं है (विरोध भी नहीं है)। वह जितना अधिक बोलता है उतना ही कम क्रान्तिकारी है। हिन्दी के कई उपन्यासकारों में न जाने कहां से यह धारणा आ गयी है कि क्रान्तिकारी पात्रों को बोलना अधिक चाहिए, कभी-कभी भाषण भी देना चाहिए। परन्तु बात सचमुच इसकी बिलकुल विरुद्ध है। पात्र जितना बोलता है, उतना उसमें आन्तरिक खोखलापन रहता है। क्रान्तिकारी पात्र का एक उत्कृष्ट उदाहरण है फ्रैंदिन के 'बाल्यकालीन सुख' का किरिल। यह पात्र बोलता बहुत कम है लेकिन उसके अन्दर जो ज्वालामुखी है वह भयंकर रूप में फूट निकलती है। उसकी तुलना में मोहन की बलहीनता स्पष्ट हो जायगी। तुर्गनेव के क्रान्ति के इच्छुक उपरिप्लव (Superfluous) युवकों के समान मोहन में खोखलापन नहीं है फिर भी वह दुर्बल भावुक है।

प्रेमचन्द के पात्रों के कुछ अनुगामी

२४३ प्रेमचन्द के पात्रों के सम्बन्ध में कुछ कहा गया था कि वे टाइप अधिक हैं, व्यक्ति कम वे व्यक्तित्व से रहित नहीं है पर उनके व्यक्तित्व का आन्तरिक पक्ष बलहीन है। इसी तरह से पात्रों का चित्रण कुछ परवर्ती उपन्यासों में भी प्राप्य है। उदाहरण के रूप में भ्रमरत का 'मुखिया की शादी और 'बदलती राह' भगवती चरण वर्मा के 'तीन वर्ष' 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' माखिरी दांव' नागार्जुन के 'रतिनाथ की चाची' 'नयी पौध' अश्क का 'बड़ी-बड़ी आंखें' लक्ष्मीनारायण लाल का 'बया का घोंसला और सांप' आदि उपन्यासों के पात्रों को ले सकते हैं। ये सभी पात्र अपने अपने वर्ग के प्रतिनिधि हैं साथ ही उनके जो व्यक्तित्व हैं प्रेमचन्द के पात्रों के व्यक्तित्वों के समान ऊपरी सतह के हैं। इन सबका सामाजिक अथवा वैयक्तिक रूप पूर्णतः में नहीं है क्योंकि समस्याओं के विश्लेषण के लिए जितना आवश्यक है, उतना ही उनका विकास किया गया है।

---

१ मधु, पृ १।
२ मधु, पृ १६।

सामाजिक दृष्टि से उनकी अपूर्णता तब स्पष्ट होगी जब हम कुछ ऐसे उपन्यासों के पात्रों से उनकी तुलना करें जो सामाजिक आचरणों की लेखा प्रस्तुत करते हैं। चोलोचोव के उपन्यासों में कज़ाकों के जीवन का सर्वांगीण रूप मिलता है। आचरण-वादी (Novel of Manners) उपन्यासों का सबसे अच्छा उदाहरण पर्ल बक का 'अच्छी भूमि' (Good Earth) नामक उपन्यास है। चीनी कृषक के सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन का पूर्ण रूप इसमें मिलता है। पुत्र-जन्म जन्मोत्सव शादी-ब्याह मरण पूजा अर्चना धार्मिक विश्वास और अन्धविश्वास इन सबका विशेष विवरण द्रष्टव्य है। भारत के ही पारिवारिक और सामाजिक आचरणों का अध्ययन पर्ल बक के 'आओ प्रिय' (Come, My Beloved) में हुआ है। सती प्रथा (पृ ८१ पृ १) स्नान का क्रम (पृ ११) शवसंस्कार (पृ २१) सर्पपूजा (पृ ३) आस्तिकता (पृ ५१ ५२) कर्म पर विश्वास (पृ ८७) धार्मिक सहिष्णुता (पृ १ ६) प्रत्येक काम की पूजा (पृ १११) नमस्कार प्रथा (पृ १५४) आदि सैकड़ों बातों पर प्रकाश पड़ता है। पात्रों के आचरण देशीय आचरण हैं उनके विचार देशीय विचार। अतः इन पात्रों को समझना भारत के समाज और संस्कृति को समझना है। प्रेमचन्द के पात्रों से भी हम भारत को बहुत कुछ समझ सकते हैं पर हिन्दी के अन्य उपन्यासकारों ने इस विषय में बहुत उपेक्षा की है।

४

व्यक्तिवादी उपन्यासों के पात्रों का व्यक्तित्व

आन्तरिक व्यक्तित्व

चरित्र-सृष्टि की कला का प्रौढ़तम रूप व्यक्तिवादी उपन्यासों में मिलता है जिनमें पात्रों के बाह्य रूप और आचरण के प्रत्यक्ष यथार्थ के परे मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों को यथार्थ के रूप में स्वीकृत किया जाता है। उपन्यास में चरित्र-चित्रण के विकास का इतिहास यह स्पष्ट करता है कि अन्तर्निरीक्षण की परिपाटी क्रमशः विकसित होती आयी है। उपन्यास के अन्तर्निरीक्षण और मनोविश्लेषण का अध्ययन आगामी अध्याय में किया जायगा यहाँ अन्तर्मुखी दृष्टि के उपन्यासों के पात्रों के व्यक्तित्व-मात्र की चर्चा की जाती है।

२४४ यूरोप में उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध ने ऐसे कई उपन्यास देखे जो जीवन की वास्तविकता को अधिक महत्त्व न देकर, उस जीवन को प्रेरणा देनेवाली मानसिक शक्तियों का विश्लेषण करने लगे।—अंग्रेजी में जॉर्ज एलियट मेरिडिथ रूसी में तुर्गनेव दास्तायवस्की तॉल्स्टाय फ्रेंच में फ्लाबेयर, दादे मोपासाँ आदि के उपन्यासों का उल्लेख हो चुका है। इनमें फ्रेंच के उपन्यास मन की विभिन्न प्रवृत्तियों से सम्बन्धित थे। रूसी में दास्तायवस्की और तॉल्स्टाय ने मनोवैज्ञानिक से अधिक दार्शनिक दृष्टि से चित्तवृत्तियों का विश्लेषण किया। पाप और पुण्य उनके विषय हैं, और पाप और

पुरुष का सम्बन्ध मन से अधिक आत्मा से है। तुर्गनेव का मनोनिरीक्षण अधिक वैज्ञानिक है और वह परम्परा से विकसित होती आनेवाली मनोवृत्तियों के विकास की दिशाओं को दिखाता है। उन्नीसवीं शती के मनस्तत्व से सम्बन्धित उपन्यास बहुत कुछ मनोवैज्ञानिक हैं पर दर्शन का भी पुट उनमें है।[1] बीसवीं शती में अन्तर्निरीक्षण का आधार मनोविज्ञान ही हो गया और व्यक्तिवादी उपन्यासों का अपार विकास हुआ। रूस की सामाजिक परिस्थिति इसके प्रतिकूल थी किन्तु फ्रांस और इंग्लैंड में व्यक्तिवादी उपन्यासों ने उपन्यास के लिए नयी दिशायें ढूंढ निकाली।

२४५ हिन्दी में व्यक्तिवादी उपन्यास का इतिहास केवल बीस वर्ष का है अर्थात् 'सुनीता' से लेकर। 'सुनीता' के पश्चात् के व्यक्तिवादी उपन्यासों को अध्ययन की सुविधा के लिए दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम श्रेणी के उपन्यास पूर्णतया किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व से संबन्धित हैं जैसे 'सुखदा' 'विवर्त' 'सन्यासी' 'प्रेत और छाया' 'निर्वासित' 'मुक्तिपथ' 'नदी के द्वीप' 'घर की खोज' आदि। दूसरी श्रेणी के उपन्यासों में एक या अधिक पात्रों के व्यक्तित्व के विकास के साथ सामाजिक वातावरण भी प्रस्तुत किया गया है 'गिरती दीवारें' 'गरम राख' 'सितारों का खेल' 'नये मोड़' 'गुनाहों का देवता' आदि को इस श्रेणी में रख सकते हैं। वस्तुतः प्रथम श्रेणी के उपन्यासों को ही व्यक्तिवादी कह सकते हैं। दूसरी श्रेणी के उपन्यासों में यद्यपि कुछ सफल व्यक्तित्वों का निर्माण हुआ है तथापि उनका आधारभूत विषय कुछ सामाजिक प्रवृत्तियों का उद्घाटन ही रहा है। गिरती दीवारें 'गरम राख' 'सितारों का खेल' 'गुनाहों का देवता' इनमें प्रेम और विवाह, वैयक्तिक समस्या से बढ़कर सामाजिक समस्या बन जाते हैं। व्यक्ति के आन्तरिक संघर्ष से बढ़कर समाज के नियमों और बन्धनों के विरुद्ध व्यक्ति का संघर्ष ही इनमें प्रबल है।

हिन्दी के व्यक्तिवादी उपन्यासों की विशेषताएं

२४६ अब हम पूर्णतया व्यक्तिवादी उपन्यासों के पात्रों के व्यक्तित्व को देखें प्रायः इन सबमें पात्रों की संख्या कम रहती है और दो-एक पात्रों की कुछ विशेष मनोवृत्तियों की विभिन्न दशायें ही उपन्यास का विषय बन जाती हैं। विषय की विस्तारहीनता ही इन उपन्यासों के पात्रों के सबल व्यक्तित्व का प्रधान कारण है।

प्रायः व्यक्तिवादी उपन्यासों में व्यक्तियों के सर्वांगीण रूप का परिचय नहीं मिलता किसी एक विशेष मनोवृत्ति का ही सूक्ष्म अध्ययन मिलता है। विशेषकर हिन्दी के व्यक्तिवादी उपन्यासों के पात्र प्रायः यौन-मनोवृत्ति की किसी तरह की विकृति से असाधारणता तक पहुंच जानेवाले हैं सेक्स की कुण्ठा के अतिरिक्त और भी कितनी ही मनोवृत्तियां हैं इस बात की ओर अधिक लेखकों ने ध्यान नहीं दिया है।

२४७ जैनेन्द्र के 'सुनीता' का हरिप्रसन्न पहले स्त्रियों से विरक्त रहनेवाला है नैसर्गिक सैक्स की वासना उसमें सुप्त या दमित रहती है और सुनीता के साहचर्य

---

१ लारेन्स मार्नेर आदम बीड' आदि में।

से वह आमरित हो जाती है। हरिप्रसन्न की परिवर्तित होनेवाली मनोवृत्तियों से संघर्ष करते हुए भी उसके सर्वथा अनुकूल रहना और अनुकूल रहते हुए भी अपनी आत्मशक्ति से उसके अनियंत्रित आवेग का दमन करना इसीमें सुनीता का व्यक्तित्व निहित है। जैनेन्द्र के अन्य उपन्यासों के मुख्य पात्रों के व्यक्तित्व भी सेक्स की कुण्ठा से प्रभावित हैं। यौन-वृत्ति के दमन या अतृप्ति से ही उन सबके जीवन का रूप निर्णीत होता है। सुखदा कान्त के प्रेम में मुग्ध रहते पर भी जीवन मे एक अभाव असन्तोष का अनुभव करती है। उसके जीवन की पराजय के दो कारण हैं। स्वभावतः स्त्री पुरुष में पुरुषत्व की उपासना करती है और फिर सुखदा का व्यक्तित्व शिक्षा के कारण काफी विकसित है। ऐसी स्त्री डेढ़ सौ रुपया मासिक के पानेवाले एक कर्मचारी की घरवाली-मात्र के रूप में अपने समस्त जीवन का व्यय कैसे कर सकती है? उसकी महत्त्वाकांक्षा गृह के भीतर सीमित नहीं रह सकती। सुखदा का व्यक्तित्व घर की दीवारों को तोड़कर बाहर जाने की महत्त्वाकांक्षा और परिवार के प्रति स्त्री का स्वाभाविक आकर्षण इन दोनों के बीच के संघर्ष से होकर विकसित होता है। 'विवर्त' में जितेन भुवनमोहिनी के प्रति अपने आकर्षण को दमित रखता है दमित वासना से सचालित उसका जीवन क्रांति की ओर चला जाता है और विनाशकारी कार्यों में लग जाता है। 'व्यतीत' के जयन्त के जीवन को निर्मित करनेवाली वस्तु उसकी अपनी दूर की बहन के प्रति स्पष्ट आसक्ति है। जो अमुक्ति के कारण उसकी चित्तवृत्तियों को असाधारण बना देती है। जैनेन्द्र के प्रायः सभी मुख्य पात्रों में इस तरह की मनोवृत्तियां काम करती हैं, और इसलिए उनके व्यक्तित्व असाधारण बन गये हैं।

२४८ जोशी के 'संन्यासी' 'प्रेत और छाया' 'निर्वासित' और 'मुक्तिपथ' में अज्ञेय के 'शेखर' और 'नदी के द्वीप' में तथा डा देवराज के 'पथ की खोज' में भी विशिष्ट मनोवृत्तियों का विकास हुआ है। 'संन्यासी' और 'निर्वासित' में वही सेक्स की कुण्ठा है जो पात्रों के मानसिक एवं सामाजिक जीवन को प्रभावित करती है। 'प्रेत और छाया' में मनोवैज्ञानिक निर्देशन (सजेस्चन) की प्रेरक शक्ति से नियंत्रित व्यक्ति जीवन सामाजिक परिस्थितियों में विकसित होता है। 'मुक्तिपथ' की समस्या इन सब उपन्यासों की तुलना में अधिक सीमित और वैयक्तिक है। अतः आन्तरिक भावों का विकास अधिक केन्द्रीकृत हुआ है। राजीव एक असाधारण आदर्श युवक है जो अनाथ सुनन्दा को आश्रय देकर अपने पास रखता है। उसका अहंवादी व्यक्तित्व सुनन्दा में भी 'अहं' का विकास करता है। वह बार-बार सुनन्दा को उसके व्यक्तित्व के प्रति सचेत करता है परिणाम यह होता है कि सुनन्दा का व्यक्तित्व भी इतना विकसित होता है कि वह राजीव तक से सहायता लेने को हीन समझकर अपने ही भरोसे चली जाती है। सबल व्यक्तित्व के असमत विकास का स्वाभाविक चित्रण है? यसे ही राजीव का आदर्शवाद जीवन की सीमा को पार कर जाता है। जोशी के पात्रों में राजीव और सुनन्दा को छोड़कर और सबका विकास समाज में ही होता है। उन सबके जीवन के साथ कुछ सामाजिक समस्यायें भी संबन्धित हैं। 'प्रेत और छाया' में समाज में वर्तमान नैतिक अनैतिकता के कितने ही उदाहरण हैं। 'जहाज का पंछी' के

नायक का जीवन पूर्णतया कृत्रिम है। पात्र के व्यक्तित्व की तीव्रता उसकी अन्तःसत्ता के आविष्कार के कारण नहीं है बल्कि उसके समाज के अगणित अत्याचारों का निरीक्षण और विश्लेषण करने में है। सम्बन्धबाहुल्य ही उसके जीवन को आकर्षक बनाता है पर यह आकर्षण हार्दिक नहीं है केवल घटनाओं के वैचित्र्य से होनेवाली एक सनसनी है। व्यक्तिवादी उपन्यास के रूप में इसे जोशीजी की पराजय ही मानना पड़ेगा।

२४९. अज्ञेय के 'शेखर' की 'जहाज का पंछी' से इस बात में तुलना की जा सकती है कि उसमें भी एक व्यक्ति का विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों के बीच से जाया गया है। किन्तु अज्ञेय तो सामाजिक परिवेश को व्यक्तित्व के विकास में एक प्रेरक शक्ति के रूप में ही ग्रहण किया है। 'शेखर' का मुख्य आकर्षण समाज नहीं व्यक्ति है। अहंवादी व्यक्तित्व का क्रमशः विकास परिस्थितियों के कारण उसका आन्तरिक संघर्ष और संघर्ष से होकर चलते हुए, अधिकाधिक सबल होता हुआ 'अहं' यही शेखर की विशेषता है। 'नदी के द्वीप' में भी अज्ञेय पात्रों के व्यक्तित्वों के कुछ विशेष अंशों को लेते हैं। शेखर की अपेक्षा उसका विषय सीमित है अतः उसके पात्रों के व्यक्तित्व भी अधिक संकुचित हैं। किन्तु जिस वैचारिक क्षेत्र का आश्रय ले लिया है उसके प्रत्येक अंश को उन्होंने मार्मिक बना दिया है। 'रेखा' इसकी सबसे सबल पात्र है। अपने वैवाहिक जीवन से कुछ न पानेवाली रेखा के भुवन के प्रति आकर्षण में अज्ञेय साधारण उपन्यासों के प्रमाभिव्यंजनों से बहुत ऊपर उठे हैं। जब लेखक बाह्य संसार को छोड़कर रेखा के मनोजगत् में प्रविष्ट हो जाता है और उसकी अनादि वासना के उत्कट रूप की ओर संकेत करती है तब समझ में आता है कि यथार्थ व्यक्ति के बाहर नहीं अन्दर ही होता है। एक दिन की क्षणिक अनुभूति के लिए वह भुवन का चिर ऋण मानती है इसी क्षणिक अनुभूति के कारण अपने निरास जीवन को सार्थक मानती है। भुवन को पूर्णतया मुक्त छोड़कर, और मुक्त छोड़ने के लिये भ्रूण-हत्या तक करके वह सदा उस अनुभूति के लिए उसका आभारी रहती है। जब वह बार-बार कहती है 'आइ ऐम फुलफिल्ड भुवन' तब उसके अन्धकारमय जीवन में उस अनुभूति का महत्त्व ज्ञात होता है। वासना एक यथार्थ है, और जीवन का सबसे बड़ा यथार्थ है। उसकी तृप्ति मन की एक विशेष दशा पर अवलम्बित रहती है भोग की मात्रा पर नहीं। यह मनोवैज्ञानिक सत्य ही नहीं दार्शनिक सत्य भी है। रेखा के मनोलोक में प्रविष्ट होकर लेखक इसी सत्य की परीक्षा करते हैं। यह एक सार्वजनिक सत्य है। अतः बाह्य लोक की उपेक्षा करके एक संकुचित क्षेत्र में प्रविष्ट होकर पात्रों को अत्यधिक व्यक्तिवादी बनाकर भी अज्ञेय उनको सामान्य अनुभूति का विषय बना सके हैं।

२५०. डा० देवराज के 'पथ की खोज' को भी इसी श्रेणी में रख सकते हैं, यद्यपि उसमें कलात्मक दृष्टि से कुछ शिथिलता है। चन्द्रनाथ के चरित्र में एक दुर्बल व्यक्ति का सबल चित्रण हुआ है। चन्द्र में काम-वासना का आधिक्य है पर उसकी पूर्ति का मार्ग ढूँढने का साहस नहीं है। रेखा के आत्मसमर्पण पर भुवन पहले उसे टालता है पर बाद में वह स्वयं रेखा से मुग्ध हो जाता है। यहाँ चन्द्रनाथ साधना के प्रति अधिक आकृष्ट है पर स्वयं आगे नहीं बढ़ता। साधना कामोन्मत्त से उसके पास

जाती है तो वह स्वीकृत करने को तैयार है पर यहां साधना—जो रेखा का उलटा रूप है—पहले वासना से पीड़ित होने पर भी पतन के पूर्व ही अपने-आपको संभाल लेती है और कहती है 'मुझे तुम्हें भैया कहना ही अच्छा लगता है।' अन्त की वासना विवशता से दमित और अतृप्त रह जाती है साधना अपनी वासना को स्वयं दबा लेती है। डा० देवराज भी सामाजिक पृष्ठभूमि से बहुत कुछ दूर रहकर पात्रों के आन्तरिक संसार का अवलोकन करते हैं।

कुछ यूरोपीय पात्र

२५१ व्यक्तिवादी उपन्यासों के पात्र व्यक्तित्व के वैज्ञानिक विश्लेषण के परिणाम बने हैं अतः उनकी सफलता इस बात पर निर्भर है कि उनमें व्यक्तित्व का निर्माण करनेवाले किसी मनोभाव को कितनी विश्वस्तता से यथार्थ का रूप दिया गया है। 'अन्ना करेनिना' में तालस्ताय ने वासना के दो रूप दिखाए हैं। एक वह जो सदा अशान्ति का कारण बना रहता है और अपनी चरम सीमा में आत्मनाश का कारण बनता है। अन्ना में वासना का यही रूप है। किट्टी में वासना का वह चिन्मय रूप है जो शान्ति का कारण है और सृजन का आधार है। पात्रों की वैयक्तिकता का कारण उनपर इन्हीं भावों का आरोप है यद्यपि अन्य कई कारणों से उपन्यास का सामाजिक महत्त्व भी कम नहीं है। 'पुनर्जीवन' (Resurrection) में मसलोवा की 'अहं वृत्ति' का चित्रण है जो उसके पतित होने के बाद उसे पतित करनेवाले व्यक्ति की दया को स्वीकृत करने से मना करती है। यातनाएं वह सह सकती है पर उस व्यक्ति की दया स्वीकृत करके उससे विवाह नहीं कर सकती जिसने उसे पतित किया था। दास्तावस्की के सभी पात्र अपनी आन्तरिक तीव्रता और बाह्य वैचित्र्य के कारण असाधारण हैं। रस्कोलनिकोव एक बूढ़ी बुढ़िया को मारता है केवल यह दिखाने के लिए कि वह मार सकता है लौकिक नैतिकता के नियमों का उल्लंघन कर अमानुषिक व्यक्तित्व प्राप्त कर सकता है। फिर उसके मन में होनेवाली तीव्र प्रतिक्रिया ही उपन्यास का विषय है। 'महामूर्ख' के प्रिंस मिश्किन में एक निष्कलंक पर व्यावहारिक कार्यों में पराजित होनेवाले बालक-तुल्य व्यक्ति के और प्रेम करते हुए भी प्रमी के सामाजिक पद का विचार कर उससे भागनेवाली और स्वयं पतित होनेवाली एक नारी के मानसिक विकारों का चित्रण है। इन सबमें लेखक पाप-पुण्य की दृष्टि से किसी एक मानसिक वृत्ति का विश्लेषण करते हैं। अतः ये मनोवैज्ञानिक ही नहीं दार्शनिक भी हैं।

फ्रेंच में 'ताई' और 'मिजराबल' इसी तरह के उपन्यास हैं। किन्तु अधिकांश फ्रेंच उपन्यासकारों के व्यक्तिवादी उपन्यासों के पात्रों में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही विकारों का अध्ययन हुआ है। यानिय के 'मादमोजिल द मापिन' में पुरुषों को समझने की इच्छुक एक स्त्री का जीवन है। एबी प्रीवोस्त का 'मानन लैस्को' ऐसी एक स्त्री का इतिहास है जो एक ओर प्रेम करती है और दूसरी ओर ऐश्वर्यों के प्रति आकृष्ट है। उसके कारण उसके पीछे पड़े हुए प्रेमी की संपत्ति का सबनाश हो जाता है। मनुमोग के लिए मनुमोग—सुख के लिए ही सुख—धर्म के लिए ही धर्म—इसीमें

उसे यानन्द मिलता है यह प्रवृत्ति उसमें एक उन्माद की तरह है। फ्लाबेयर की मदाम बोवारी ऐश्वर्य ही नहीं काम मुक्ति भी चाहती है। इन उपन्यासों में व्यक्तित्व के विकास का आधार कोई एक मानसिक प्रवृत्ति है जिसका पात्र में असाधारण रूप में विकास होता है। भान्द्रे जीद के 'तंग दरवाजा' की एलीसा में भी उसके अपार प्रेम और नैतिकता के बीच का संघर्ष है। फ्रांसो मारिया के 'जो खो गया' में नायक ऐसा एक व्यक्ति है जो किसी भी दशा में अपना अनियंत्रित उच्छृंखल जीवन नहीं छोड़ सकता पत्नी के मृत्यु-शय्या पर होने पर भी। अंग्रेजी में आधुनिक लेखकों ने जो व्यक्तिवादी उपन्यास लिखे हैं, उनमें प्रायः व्यक्तित्व को रूप देनेवाले परिवेश का भी महत्त्व रहता है। फ्रास्टर के 'ए रूम विद ए व्यू' में प्रेम के परिस्थिति-जन्य विकास का चित्रण है। लारेन्स के 'लेडी चाटर्ली का प्रेमी' में एक युवती के काम-विकारों का परिणाम है जिसका पति युद्ध में जाकर शारीरिक रूप में शिथिल और अशक्त हो चुका है। 'बेटे और प्रेमी' में अपनी रुचि के विरुद्ध पति से विवाह करनेवाली एक स्त्री का प्रेम उसके पुत्र पर जा टिकता है। माता के प्रेम का आश्रय बना हुआ पुत्र हर स्त्री में माता का ही रूप देखना चाहता है और पत्नी के रूप में किसीको अपना नहीं पाता।

उदाहरण बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। यहां हमारा ध्येय यही दिखाना है कि व्यक्तिवादी उपन्यासों में व्यक्ति का कैसा एकांगी किन्तु प्रभावपूर्ण रूप मिलता है। इन पाश्चात्य उपन्यासों के समान ही जैनेन्द्र जोशी अज्ञेय और देवराज ने व्यक्ति के किसी एक मनोभाव को एक-एक उपन्यास में लिया है।

सफलता निर्बलता—वास्तविकता अवास्तविकता

२५२ जहां मनोभाव सार्वजनिक रहे हैं, वहां लेखकों को सफलता मिली है। यहां सार्वजनिकता का अर्थ यह नहीं है कि ये भाव उसी रूप और मात्रा में सार्वजनिक हैं जिस रूप और मात्रा में पात्रों में प्रस्तुत किए गए हैं। वस्तुतः इन उपन्यासों के पात्रों में जो भाव-तीव्रता है वह सामान्य जीवन में देखना असम्भव है। यही एक कारण है कि सुनीता जयन्त सुखदा शेखर भुवनमोहिनी शेखर, रेखा भुवन गौरा नन्दकिशोर, मोहन पारसनाथ जगन्नाथ सब कोई अयथार्थ-से लगते हैं। इस अस्वाभाविकता का कारण ढूंढने पर दो-तीन बातें स्पष्ट होंगी। प्रथम है इन पात्रों का एकांगीपन। व्यक्तिवादी उपन्यासकारों ने पात्रों की किसी एक मानसिक विशेषता पर ही ध्यान दिया है और अन्य अंगों की उपेक्षा की है। अपूर्ण रूप में चित्रित इन पात्रों को पूर्णत्व के मापदण्ड से मापने पर अस्वाभाविकता ही दिखाई पड़ेगी। किन्तु व्यक्तिवादी उपन्यासों के पात्रों का अन्य उपन्यासों के पात्रों की तुलना में मूल्यांकन करना अनुचित है। पात्र का सर्वांगीण अध्ययन विस्तार तो हो सकता है पर उतना अगाध नहीं। आज के बौद्धिक संसार में मनुष्य को गहराई से समझने की आवश्यकता है इसीलिए व्यक्तिवादी उपन्यासकार विस्तार को छोड़कर अगाधता की ओर जाता है। विशेषीकरण (Specialisation) अगाधता के लिए अनिवार्य है। इसलिए वह अपने आवश्यक अंश-भाग को पकड़ और सबका तिरस्कार करता है। अतः लेखक

के प्रति हम न्याय तभी कर सकेंगे जब हम उसका दृष्टिकोण समझकर पात्रों के उसी अंश को देखने का प्रयत्न करें जिसे लेखक दिखाना चाहता है। उदाहरण के लिए रेखा को लें। वह असाधारण नारी है, बहुत कुछ अस्वाभाविक भी है पर उसकी वासना सत्य है। वह गृहस्थ जीवन में परितृप्त न होकर भुवन को एक दिन आत्मसमर्पण कर सन्तुष्ट होती है। वासना की तृप्ति शारीरिक भोग से नहीं मानसिक संतोष से होती है। मानसिक संतोष अनुभवी और अनुकाम्य व्यक्तियों पर आश्रित रहता है—यह एक परम सत्य है, और इसीको आत्मबाद जन्म-जन्मान्तर का संबन्ध मानता है। रेखा इसी सत्य की व्याख्या है। फिर भी वह असाधारण क्यों ? इस सामान्य और साधारण तत्त्व को अज्ञेय ने अत्यन्त प्रगाढ़ बना दिया है विकार जो सामान्य लोगों में साधारण रहता है, उसीको लेखक ने पुटपाक कर घनीभूत कर दिया है उसके अतिरिक्त रेखा में कुछ नहीं रहता। 'रेखाजी को मैं साधारण स्त्री मानता था पर अब देखता हूं उनका असाधारणत्व इसीमें है कि वह साधारणत्व का चरमोत्कर्ष है साधारण स्त्री की साधारण वासना अपने चरम रूप में उसमें विद्यमान है।"[1] चन्द्रमाधव के ये शब्द रेखा की व्याख्या है रेखा की नहीं सभी उत्कृष्ट व्यक्तिवादी उपन्यासों के पात्रों की व्याख्या है। इन शब्दों के प्रकाश में देखें तो अज्ञेय जैनेन्द्र जोशी दास्तायवस्की बलजेक, मारिया और लारेंस आदि के पात्र बहुत कुछ स्पष्ट होंगे। एक प्रकार से इन सबके पात्र अतिरंजित व्यंग्य-चित्र (Caricature cartoon) हैं ऐसे व्यंग्य-चित्र जिनके कुछ अंग विशेष रूप में ध्यान आकृष्ट करने के लिए अनुपात में बड़े दिखाए गए हैं। इससे चित्र अपनी पूर्णता में असत्य होने पर भी उस अंश का सत्य अधिक स्पष्ट होता है।

जोशीजी के पात्र यद्यपि व्यक्तित्व की दृष्टि से बहुत सफल नहीं हैं[2] तो भी उनका व्यंग्य उनमें कुछ विशेष वृत्तियों का आरोप करता है। 'निर्वासित' का महीप और 'संन्यासी' का नन्दकिशोर उपरिप्लव (Superfluous) युवक हैं। नन्द ने यह सोचकर कि पढ़ाई से क्या लाभ उसे छोड़ दिया और एक-एक कर दो युवतियों से प्रेम किया। उसकी अहम्मन्यता न उसे ही ऊपर उठाती है न उसे समाज के लिए उपयोगी बनाती है। बल्कि हम 'भाई' के सामने दो-दो अबलाओं को अपने जीवन का उत्सर्ग करना पड़ता है। वह किसी बन्धन में बंधना नहीं चाहता। शान्ति को पत्नीवत् रखते हुए भी उससे विवाह करने में हिचकता हुआ कहता है "मैं अपने अन्तर्ज्ञान में यह महसूस कर रहा था कि मैं जिस तरह का निकम्मा असांसारिक और अनावश्यक आदमी हूं—अंग्रेजी में जिसे कहते हैं Superfluous man उस तरह के आदमी से कभी किसी भी प्रकार के बन्धन में बंधे रहना (चाहे वह बन्धन कैसा ही पवित्र और स्वर्गीय क्यों न हो) सम्भव हो ही नहीं सकता।"[3] यह उत्तरदायित्व हीनता से बढ़कर 'भाई'

---

१ नदी के द्वीप पृ० ९५ ।

२. देखें अनुच्छेद २११ ।

३ संन्यासी, [illegible]

की उपभमुक्त वृत्ति है जो दूसरों से लेना ही नहीं जानती है, देना नहीं जानती। पर इससे उसे शान्ति भी नहीं मिलती। वनस्ती कहती है " "आप बड़े ग्रहंकारी हैं। आपका ग्रहंकार हद दर्जे तक आगे बढ़ा हुआ है। 'उसके कारण आपके जीवन में अक्सर अशान्ति और बेचैनी छाई रहती होगी इस ग्रहंभाव से चाहते हैं कि जिस स्त्री से आपका सम्बन्ध हो वह पूर्ण रूप से आपकी होकर रहे उसका कुछ भी स्वतंत्र रूप से अपना कहने को न रहे वह सब कुछ बिना किसी असमंजस के आपके पैरों-तल समर्पित कर दे। पर यह 'ग्रहं' केवल उपरिप्लव है क्योंकि उसे किसी तत्त्व पर आस्था नहीं है वह उसके जीवन को दिशा नहीं देता उलटे उसे शिथिल ही बनाता है। इसी तरह 'निर्वासित' का महीप जो एक भावुक युवक और कवि है अपने मे प्रतिभा और बल के होने पर भी जीवन में विफल होता है। स्थिरता और दृढ़ता से रहित इस युवक की कवि-कल्पना भ्रम का त्याग कर एकदम 'सुगर्म की घाय' में आ जाती है। इसी भावुकता के कारण वह आइ सी एस लिखना छोड़ देता है। जैसे नीलिमा कहती है 'उसका कवि-हृदय आवश्यकता से अधिक अनुभूतिशील है' और 'यही उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता है और यही उसका बल भी है।'[२] भावुकता उसे क्रान्तिकारी बनाती है, पर वह क्रान्तिकारी नहीं बन पाता। नन्द के समान ही वह आत्मशोधन करता है 'प्रगतिशील संस्कारों को पूरे तौर से अपनाने की चेष्टा करने पर भी बहुत संभव है मेरे भीतर मेरे अज्ञात में गलनशील सभ्यता के संस्कार बहुत कुछ रह गए हैं।[३] तुर्गनेव के रुदिन नेज्दानोव और बजारोव से इसकी तुलना की जा सकती है। तीनों ऐसे उपरिप्लव व्यक्ति हैं, जो बाहर से क्रान्तिकारी विचारधारा के हैं पर प्रायोगिक क्षेत्र में आने पर भयकर रूप म पराजित होते हैं। उनकी मानसिक संस्कृत परम्परा के बन्धन से छूट नहीं पाती। मध्यवर्गीय युवक की इस द्वन्द्वात्मक मनोदशा को ही जोशी ने भी दिखाया है।

यहां हमारा ध्येय जोशीजी के पात्रों के व्यक्तित्व का सामान्य रूप दिखाना ही था। इसी तरह अन्य उपन्यासों में भी उन्होंने व्यक्तित्व के किसी विशेष अंश को लेकर उसका विश्लेषण किया है विश्लेषण में सफलता कहां तक मिली है यह दूसरी बात है। यह भी विचारणीय है कि इन पात्रों को जोशीजी ने जो वातावरण दिया है वह कहां तक उचित है।

व्यक्तिवादी उपन्यासों के पात्र और वातावरण

२५३ उपन्यास के वातावरण के सम्बन्ध में विचारणीय एक मुख्य विषय यह है कि क्या व्यक्तिवाद का आश्रय लेकर पात्रों का समाज से सम्बन्ध तोड़ा जा सकता है? क्या उनका सामाजिक रूप नष्ट किया जाता है। हाल में अज्ञेयजी ने एक

---

१ संन्यासी पृ १८१।
२. निर्वासित पृ १।
३ निर्वासित पृ० ११।

ज्ञान के 'नदी के द्वीप' के सम्बन्ध में ऐसे एक प्रश्न के उत्तर में लिखा "एक पेड़ की हरी-भरी शाखाओं को देखने के लिए क्या यह देखने की आवश्यकता है कि उसकी जड़ जमीन पर है कि नहीं ?' अज्ञेयजी का यह प्रश्न बहुत ही सार्थक और महत्त्वपूर्ण है और हिन्दी उपन्यासकार इसके प्रति ध्यान दें तो उससे बहुत अधिक लाभ की संभावना है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए हम दो बातें कहेंगे

२५४ (१) हरी-भरी शाखाओं को देखते हुए (या देखने के लिए) पेड़ की जड़ को देखने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु शर्त यह है कि सदा यह ध्यान रखा जाय कि ये शाखाएं किस वृक्ष की हैं और व हमारे देश में हो सकती हैं कि नहीं। हिमालय की तलहटियों पर नारियल के रस-कलशों को देखकर अथवा वोल्गा के तटों पर आम्रमंजरियों को निहारकर सुध-बुध खोनेवाला लेखक हास्य का आलम्बन बन सकता है सफल उपन्यासकार नहीं। व्यक्तिवादी उपन्यास में समाज का चित्रण अनिवार्य नहीं है। पर व्यक्ति का समाज के अनुकूल होना आवश्यक है। अन्यथा लेखक को उन मानसिक तत्त्वों तक सीमित रहना चाहिए जो सार्वजनिक हों और पात्र के विशेष सामाजिक आवरणों की पूर्ण उपेक्षा करनी चाहिए। आन्द्रे जीद ने 'सम बरवादा' में और फ्रांसो मारिया ने 'जो खो गया' में यही किया है। दोनों लेखक समाज को पूर्णतया छोड़कर व्यक्ति के भावजगत् में प्रविष्ट हो जाते हैं, जो सार्वजनिक और समकालीन है जो देशकाल की सीमा के परे है। भाव की पृष्ठभूमि में भाव ही पात्र बनकर आते हैं। अज्ञेय ने 'नदी के द्वीप' के उत्तरार्ध में समाज से पात्रों का सम्बन्ध तोड़ दिया है और एक भावलोक का सृजन करके हमें उसमें प्रविष्ट कराने का सफल प्रयत्न किया है। हिन्दी के अन्य किसी लेखक को ऐसी सफलता नहीं मिली है। शायद ही कोई लेखक इस प्रवृत्ति की ओर उन्मुख हुआ हो।

किन्तु एक बात माननी पड़ेगी कि समाज की पूर्ण उपेक्षा करके पात्रों को मूर्त एवं यथार्थ रूप देना सहज कार्य नहीं है। क्या प्रेमचन्द के उपन्यास के यथार्थवादी भागों में पात्र जिस साकार रूप में प्रत्यक्ष होते हैं, उस रूप में अज्ञेय जैनेन्द्र या जोशी के पात्र आते हैं ? प्रभाव ये डालते अवश्य हैं पर वह प्रभाव दूसरे प्रकार का है क्योंकि वह भावात्मक है। पात्रों की अन्तःसत्ता के आधार पर एक अलग संसार रचकर उसीमें पाठक को भुला देना ऐसे व्यक्तिवादी उपन्यासों की सफलता है। यह प्रभाव वहीं होता है जहां लेखक समाज से पात्र का सम्बन्ध तोड़कर ऐसे एक भाव जगत् का सृजन करे जो अयथार्थ होने पर भी यथार्थ भासित हो। जीद और मारिया के उपन्यासों में तथा 'नदी के द्वीप' के उत्तर भाग में ऐसे भावजगत् की रचना हुई है।

२५५ (२) पेड़ की हरी भरी शाखाओं को देखने के लिए यह देखना अनिवार्य नहीं है कि उसकी जड़ जमीन पर है कि नहीं किन्तु जड़ को देखना निषिद्ध भी नहीं है, शर्त यह है कि जड़ और शाखाएं एक ही पेड़ की हों।

टाल्सटाय ने अन्ना के अन्तर्लोक में प्रविष्ट होकर समाज की पूर्ण उपेक्षा नहीं की है। रूसी उच्चवर्ग की सामाजिक एवं पारिवारिक दशा 'अन्ना' में द्रष्टव्य है। 'पुनर्जीवन' (Resurrection) में भी वातावरण का महत्त्व कम नहीं है। तुर्गनेव ने मेजनोव

रविन अजरोव इन तीनों उपरिलिखित युवकों का चारित्रिक विकास—जो मूलतः व्यक्ति-सम्बन्धी है—सामाजिक परिवेश में ही किया है। 'मदाम बोवारी' में फ्लाबेयर ने फ्रेंच समाज को छोड़कर मनःशास्त्र के खोखले में आश्रय नहीं लिया था। लारेन्स के 'बेटे और प्रेमी' में माता, पुत्र और दो प्रेमिकाओं के मानसिक चरित्रांकन के साथ ही खनिज-श्रमिकों के जीवन का जो चित्र आया है, वह विशाल न होने पर भी कम महत्त्व का नहीं है। और सरितोपम उपन्यासों में तो व्यक्ति और समाज को समान महत्त्व देकर विश्लेषण किया गया है और दोनों एक-दूसरे को अधिक स्पष्ट, अधिक सबल बनाने में सहायक हुए हैं। स्वयं अज्ञेय ने 'शेखर' में समाज की पूर्ण उपेक्षा नहीं की है। अतः स्पष्ट है कि व्यक्तिवादी उपन्यासों में समाज की उपेक्षा अनिवार्य नहीं है। किन्तु यह देखना आवश्यक है कि व्यक्ति एवं समाज के रूपों का अंकन करते समय दोनों के बीच का सन्तुलन नष्ट न हो, जिस समाज में पात्र जीवित रहें उसके अनुसार ही वे आचरण करें। जब पात्रों को सामाजिक पृष्ठभूमि में उपस्थित किया जाता है तब निस्सन्देह यह अनिवार्य हो जाता है कि समाज के सामान्य आचार-विचारों पर भी ध्यान रखा जाय। व्यक्तिवादी पात्रों के विकास के लिए समाज से मनमानी करने का अधिकार लेखक को नहीं है, भले ही वह समाज को पूर्णतः छोड़ दे। यहीं पर हमारे व्यक्तिवादी लेखकों ने हमारे समाज के प्रति भारी अपराध किया है। जैनेन्द्र यदि इस बात पर ध्यान रखते तो उनका श्रीकान्त हरिप्रसन्न की सब प्रकार की प्रसन्नता के लिए उसकी सेवा में अपनी पत्नी सुनीता को नहीं लगाता, कान्त अपनी पत्नी सुखदा को लाल के कमरे में नहीं रखता, कुमार ('व्यतीत' में) विदेश जाने के लिए जहाज पकड़ने अपनी कजिन चन्द्री को आकस्मिक उधर आए हुए बसन्त के साथ छोड़कर नहीं जाता। (चन्द्री और बसन्त का पहले परिचय ही नहीं है। एक साधारण मित्र के साथ एक सयानी लड़की छोड़कर जाना अचिन्त्य विषय नहीं है।) ये सब बातें भारत के किसी भी वर्ग के समाज में नहीं होतीं। फिर भी हमारे ये लेखक इस हठ से लिखते हैं कि हम इन सब पात्रों को भारतीय मानें। जोशीजी ने भी 'मुक्तिपथ' और 'सुबह के भूले' के अतिरिक्त अपने सभी उपन्यासों में व्यक्तियों को सामाजिक वातावरण में प्रस्तुत किया है, पर वे दोनों का सन्तुलन नहीं कर सके हैं। ('मुक्तिपथ' और 'सुबह के भूले' में सामाजिक वातावरण के होने पर भी उस वातावरण को पात्रों से अलग करके गौण मान सकते हैं, पात्रों के मनोजगत् का अपना पृथक् अस्तित्व है, पर अन्य उपन्यासों में पात्र और समाज अविच्छेद्य हैं।) व्यभिचार और अनैतिकता भारतीय समाज में कम नहीं है, यहाँ कुटुम्बों में भी अवैध सन्तानों का जन्म होता है, पर यूरोपियन फैशन का प्रेम का छिछलापन (Flirtation) हमारे समाज में शायद अभी नहीं आया है। लम्बा परिवार की तीन-तीन लड़कियों से महीप का प्रेम ('निर्वासित' में), शान्ति एवं जयन्ती से नन्दकिशोर का सम्बन्ध ('सन्यासी' में), पारसनाथ का आधे दर्जन से अधिक लड़कियों से (इनमें कुछ 'औरतें' भी हैं) प्रेम आदि व्यक्तित्व-विकास के हेतु सामाजिक यथार्थ पर किए गए आघात हैं। स्वयं अज्ञेयजी की रेखा को ही लें। अज्ञेय उसके मानसिक संसार के अन्तर्गत जिस मायालोक का निर्माण करते हैं,

उसमें मुग्ध होकर बाह्य संसार को भूल जाते हैं। भावात्मक पृष्ठभूमि में रेखा सजीव पात्र है। किन्तु उसे समाज में लाते हुए प्रश्नमयी उचितानुचितत्व का ध्यान कितना रखते हैं? रेखा भुवन और चन्द्रमाधव को कोंफ्री हाउसों में नदी के किनारों पर शहर के पार्कों में (वह भी रात के बारह बजे!) घुमाने की क्या आवश्यकता थी। 'नदी के द्वीप' के प्रथम कुछ अध्यायों में फ्रांस का ही वातावरण है। यहीं पर हमें कहना पड़ता है कि हरी भरी शाखाओं को देखते समय जड़ को न देखें तो भी यह ध्यान रखना पड़ता है मेपिल और एप्रिकाट के पेड़ भारत म नहीं होते अत: उनकी जड़ ही नहीं शाखाएं भी भारत म नहीं होती। अगर कोई लेखक उत्तरप्रदेश म मेपिल और एप्रिकाट के पेड़ों की शाखाएं ही देखे अथवा फ्रांस म नारियल के पेड़ का दीर्घ ही देखे तो वह अक्षम्य असत्य होगा। यदि सामाजिक यथार्थों का चित्रण व्यक्तिवादी उपन्यासकार का दायित्व नहीं है तो समाज के अयथार्थ चित्रण का निराकरण अवश्य उसका दायित्व है।

व्यक्तिवादी उपन्यासों के परतंत्र पात्र

२५८ साधारण लोग जब बोलते हैं, तब दार्शनिक भाषा में नहीं बोलते और न वे डेल कार्नेगी की संस्था में शिक्षित भावसबालाभा के समान ही बोलते हैं। पात्रों का व्यक्तित्व और उनका जीवन दार्शनिक भाषण देने मे नही है। अत: व्यक्ति वादी उपन्यासकार को सबल व्यक्तित्व के निर्माण के लिए भी विस्तृत दार्शनिक विवचनों का और विचारपूर्ण भाषणों का आश्रय लेना स्तुत्य नही है। हिन्दी के अधिकांश व्यक्तिवादी उपन्यासों में लंबे-लंबे भाषणों अथवा विवेचनों के रूप में दार्शनिक मनो वैज्ञानिक अथवा सामाजिक तत्त्वों का निरूपण किया गया है। जैनेन्द्र के पात्र दार्श निक है तो अज्ञेय के पात्र मनोवैज्ञानिक हैं और जोशी के पात्र मनोवैज्ञानिक एवं समाज-आलोचक।

हर लेखक का अपना एक दर्शन होता है, अपने कुछ विचार होते हैं जिनको प्रकट करना उपन्यास में अनिवार्य नहीं है, तो निषिद्ध भी नही है। जोला अपनी कोई फ़िलॉसफ़ी प्रकट नही करते जीवन को प्रकट करना ही उनकी फ़िलॉसफ़ी है पर टालस्टाय और दास्तायवस्की ने अपने दर्शनों को ही उपन्यास के रूप में प्रस्तुत किया है। दार्शनिक विचारों को अथवा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को प्रतिपादित करते समय पात्रों की स्वाभाविक गति में बाधा डालने की संभावना रहती है विशेषकर उस समय जबकि वे विचार और सिद्धान्त स्वयं पात्रों के मुंह से ही निसृत किये जाते है। सामाजिक पात्रों के आलोचनात्मक और सुधारात्मक उपदेशवाद और तद्द्वारा पात्रों के यथार्थ पर किये जानेवाले आघात का उल्लेख हो चुका है।[1] व्यक्तिवादी पात्रों के विश्लेषण में इसका अवसर अधिक रहता है। दर्शन और मनोविज्ञान उपन्यास में निषिद्ध नही है, बहुत कुछ आवश्यक है व्यक्तिवादी उपन्यासों में अनिवार्य भी है।

रश्मि बयरोव इन तीनों उपरिभव युवकों का चारित्रिक विकास—जो पूर्णतः व्यक्ति-सम्बन्धी है—सामाजिक परिवेश में ही किया है। 'मदाम बोवारी' में फ्लाबेयर ने फ्रेंच समाज को छोड़कर मनःशास्त्र के घोसले में आश्रय नहीं लिया था। लारेन्स के 'बेटे और प्रेमी' में माता पुत्र और दो प्रेमिकाओं के मानसिक चरित्रांकन के साथ ही खनिज-श्रमिकों के जीवन का जो चित्र आया है वह विशाल न होने पर भी कम महत्त्व का नहीं है। और सर्वोत्तम उपन्यासों में तो व्यक्ति और समाज को समान महत्त्व देकर विश्लेषण किया गया है और दोनों एक-दूसरे को अधिक स्पष्ट अधिक सक्षम बनाने में सहायक हुए हैं। स्वयं अज्ञेय ने 'शेखर' में समाज की पूर्ण उपेक्षा नहीं की है। *अतः स्पष्ट है कि व्यक्तिवादी उपन्यासों में समाज की उपेक्षा अनिवार्य नहीं है।* किन्तु यह देखना आवश्यक है कि व्यक्ति एवं समाज के रूपों का अंकन करते समय दोनों के बीच का सन्तुलन नष्ट न हो जिस समाज में पात्र जीवित रहें उसके अनुसार ही वे आचरण करें। जब पात्रों को सामाजिक पृष्ठभूमि में उपस्थित किया जाता है तब निस्सन्देह यह अनिवार्य हो जाता है कि समाज के सामान्य आचार-विचारों पर भी ध्यान रखा जाय। व्यक्तिवादी पात्रों के विकास के लिए समाज से मनमानी करने का अधिकार लेखक को नहीं है भले ही वह समाज को पूर्णतः छोड़ दे। यहीं पर हमारे व्यक्तिवादी लेखकों ने हमारे समाज के प्रति भारी अपराध किया है। जैनेन्द्र यदि इस बात पर ध्यान रखते तो उनका श्रीकान्त हरिप्रसन्न की सब प्रकार की प्रसन्नता के लिए उसकी सेवा में अपनी पत्नी सुनीता को नहीं लगाता कान्त अपनी पत्नी सुखदा को लाल के कमरे में नहीं रखता कुमार ('व्यतीत' में) विदेश जाने के लिए जहाज पकड़ने अपनी कथित भाभी को आकस्मिक उधर आए हुए जयन्त के साथ छोड़कर नहीं जाता। (भाभी और जयन्त का पहले परिचय ही नहीं है। एक साधारण मित्र के साथ एक सयानी लड़की छोड़कर जाना अविश्वस्त विषय नहीं है।) ये सब बातें भारत के किसी भी वर्ग के समाज में नहीं होतीं। फिर भी हमारे ये लेखक इस हठ से लिखते हैं कि हम इन सब पात्रों को भारतीय मानें। जोशीजी ने भी 'मुक्तिपथ' और 'सुबह के भूले' के अतिरिक्त अपने सभी उपन्यासों में व्यक्तियों को सामाजिक वातावरण में प्रस्तुत किया है पर वे दोनों का सन्तुलन नहीं कर सके हैं। ('मुक्तिपथ' और 'सुबह के भूले' में सामाजिक वातावरण के होने पर भी उस वातावरण को पात्रों से अलग करके गौण मान सकते हैं पात्रों के मनोजगत् का अपना पृथक अस्तित्व है पर अन्य उपन्यासों में पात्र और समाज अविच्छेद्य हैं।) व्यभिचार और अनैतिकता भारतीय समाज में कम नहीं है भद्र कुटुम्बों में भी अवैध सन्तानों का जन्म होता है पर यूरोपियन फैशन का प्रेम का खिलवाड़ (Flirtation) हमारे समाज में शायद अभी नहीं आया है। खन्ना परिवार की तीन-तीन लड़कियों से महीप का प्रेम ('निर्वासित' में) शान्ति एवं जयन्ती से नन्दकिशोर का सम्बन्ध ('संन्यासी' में) पारसनाथ का आधे दर्जन से अधिक लड़कियों से (इनमें कुछ 'औरतें' भी हैं) प्रेम आदि व्यक्तित्व विकास के हेतु सामाजिक यथार्थ पर किए गए आघात हैं। स्वयं इलाचन्द्रजी की रेखा को ही लें। अजय उसके मानसिक संसार के अन्तर्गत जिस मायालोक का निर्माण करते हैं,

उसमें मुग्ध होकर बाह्य संसार को भूल जाते हैं। भावात्मक पृष्ठभूमि में ऐसा सजीव पात्र है। किन्तु उसे समाज में लाते हुए अज्ञेयजी औचित्यानुचित्य का ध्यान कितना रखते हैं? ऐसा भुवन और चन्द्रमाधव को नॉर्थ हाउसों में नदी के किनारों पर शहर के पार्कों में (वह भी रात के बारह बजे!) घुमाने की क्या आवश्यकता थी। 'नदी के द्वीप' के प्रथम कुछ अध्यायों में फ्रांस का ही वातावरण है। यहीं पर हम कहना पड़ता है कि हरी भरी शाखाओं को देखते समय जड़ को न देखें तो भी यह ध्यान रखना पड़ता है मेपिल और एप्रिकाट के पेड़ भारत में नहीं होते अतः उनकी जड़ ही नहीं शाखाएं भी भारत में नहीं होतीं। अगर कोई लेखक उत्तरप्रदेश में मेपिल और एप्रिकाट के पेड़ों की शाखाएं ही देखे अथवा फ्रांस में नारियल के पेड़ का शीर्ष ही देखे तो वह असम्भव असत्य होगा। यदि सामाजिक यथार्थों का चित्रण व्यक्तिवादी उपन्यासकार का दायित्व नहीं है तो समाज के अयथार्थ चित्रण का निराकरण अवश्य उसका दायित्व है।

व्यक्तिवादी उपन्यासों के परदर्शन पात्र

२५६ साधारण लोग जब बोलते हैं, तब दार्शनिक भाषा में नहीं बोलते और न वे डेल कार्नेगी की संस्था में शिक्षित भाषणदाताओं के समान ही बोलते हैं। पात्रों का व्यक्तित्व और उनका जीवन दार्शनिक भाषण देने में नहीं है। अतः व्यक्तिवादी उपन्यासकार को सशक्त व्यक्तित्व के निर्माण के लिए भी विस्तृत दार्शनिक विवेचनों का और विचारपूर्ण भाषणों का आश्रय लेना स्तुत्य नहीं है। हिन्दी के अधिकांश व्यक्तिवादी उपन्यासों में लंबे-लंबे भाषणों अथवा विवेचनों के रूप में दार्शनिक मनोवैज्ञानिक अथवा सामाजिक तत्वों का निरूपण किया गया है। जैनेन्द्र के पात्र दार्शनिक हैं तो अज्ञेय के पात्र मनोवैज्ञानिक हैं और जोशी के पात्र मनोवैज्ञानिक एवं समाज आलोचक।

हर लेखक का अपना एक दर्शन होता है अपने कुछ विचार होते हैं जिनको प्रकट करना उपन्यास में अनिवार्य नहीं है तो निषिद्ध भी नहीं है। जोला अपनी कोई फिलॉसफी प्रकट नहीं करते जीवन को प्रकट करना ही उनकी फिलॉसफी है पर टालस्टाय और दास्तायवस्की ने अपने दर्शनों को ही उपन्यास के रूप में प्रस्तुत किया है। दार्शनिक विचारों को अथवा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को प्रतिपादित करते समय पात्रों की स्वाभाविक गति में बाधा आने की संभावना रहती है विशेषकर उस समय जबकि ये विचार और सिद्धान्त स्वयं पात्रों के मुंह से ही निःसृत किये जाते हैं। सामाजिक पात्रों के आलोचनात्मक और सुधारात्मक उपदेशवाद और तद्द्वारा पात्रों के यथार्थ पर किये जानेवाले आघात का उल्लेख हो चुका है।[1] व्यक्तिवादी पात्रों के विश्लेषण में इसका अवसर अधिक रहता है। दर्शन और मनोविज्ञान उपन्यास में निषिद्ध नहीं है बहुत कुछ आवश्यक है व्यक्तिवादी उपन्यासों में अनिवार्य भी है।

---

१ देखें अनुच्छेद ११८ १ २।

पर वह जब परोक्ष रूप में न होकर प्रत्यक्ष विश्लेषण बन जाता है, तब पात्रों के वास्तविक अस्तित्व में सन्देह होने लगता है। जब लेखक अपने विचारों को पात्रों पर लाद देता है और उनसे लंबे-लंबे लेक्चर दिलाता है तब पात्र लेखक का पिट्ठू बन जाता है। दास्तायवस्की के प्रायः सभी मुख्य पात्र इस दोष के कारण ही अस्वाभाविक लगते हैं। हिन्दी में जोशी में यह दोष अत्यधिक मात्रा में है। वैसे जैनेन्द्र और अज्ञेय भी इससे पूर्णतः मुक्त नहीं हैं। जैनेन्द्र ने प्रायः पात्रों के मानसिक द्वन्द्वों और विकारों का विश्लेषण उनके संभाषणों और प्रवृत्तियों में ही किया है। उनके संभाषण प्रायः अपने अभ्यार्थ तक ही सीमित न रहकर प्रायः आन्तरिक द्वन्द्वों को भी व्यंजित करते हैं। लेकिन कहीं-कहीं इस प्रयत्न में संभाषण अस्वाभाविक बन जाता है पात्रों के अस्तित्व में ही उनका व्यक्तित्व अप्रत्यक्ष हो जाता है उनपर लेखक के व्यक्तित्व का आरोप हो जाता है।[1]

फिर भी जैनेन्द्र में यह दोष कम है। अज्ञेय 'शेखर' में भले ही मनोविज्ञान के सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए पात्रों की असाधारण प्रवृत्तियों को दिखाते हों तो भी प्रत्यक्ष विश्लेषण से मुक्त रहते हैं। किन्तु 'नदी के द्वीप' में प्रायः पूरा वार्तालाप और पत्र-व्यवहार ही भाषा का ऐसा एक रूप स्वीकृत करता है जो सामान्यतः कोई नहीं बोलता। अपार दार्शनिकता और मनोविज्ञान कथोपकथन को भारी बना देते हैं। किन्तु अज्ञेय में इतनी कुशलता है कि वे दर्शन और मनोविज्ञान को पात्रों के व्यक्तित्व के अंग बनाने में बहुत कुछ सफल हुए हैं। फिर भी कुछ प्रसंग सामाजिक उपन्यासों के प्रचार प्रसंगों की सीमा तक पहुंच गये हैं।[2]

अब जोशी के पात्रों को लें। आलोचकों ने उनके पात्रों पर दुर्बल होने का दोष लगाया था और जोशी ने फ्लाबेयर, बल्जाक टाल्सटाय दास्तायवस्की आदि के दुर्बल पात्रों का उदाहरण देते हुए, इन दुर्बल पात्रों को अपने उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता बतायी है।[3] पर यहां जोशीजी से एक गलती हुई है। पात्र का दुर्बल होना और बात है और चरित्र-चित्रण का दुर्बल होना बिलकुल और। वस्तुतः दुर्बल पात्र का भी चरित्र-चित्रण सबल हो सकता है और यह कार्य बड़े प्रयत्न से सिद्ध होता है। 'अपराध और दण्ड' और 'महामूर्ख' में दास्तायवस्की ने 'मदाम बोवारी' में फ्लाबेयर ने 'अन्ना करेनिना' और 'क्रूज़ सोनाटा' में टाल्सटाय ने और 'हैमलेट' और 'मैकबेथ' नाटकों में शेक्सपियर ने दुर्बल पात्रों का सबल चरित्रांकन किया था। पर जोशीजी के पात्र ही नहीं उनका चरित्र-चित्रण भी दुर्बल है और इस दुर्बलता का कारण पात्रों पर लेखक के अपने विचारों का आरोप करना है। उनका दावा है कि उनके पात्र स्वतन्त्र हैं वे सामाजिक समस्याओं को स्पष्ट करने के लिए नहीं हैं पर समस्याएं अपने

१ देखें—सुनीता पृ २११ २११ ; सुखदा पृ १२९–१३२।

२ देखें—पृ ११—'पर मैं बाहर की" " 'सहारे चलना होता है।' तथा पृ २२४—'प्यार मिलता है" " " में ऊपर से।

३ साहित्य-चिन्तन पृ० ६१–६२।

आप ही आ गयी हैं।[1] लेकिन वस्तुतः वे पात्रों पर बहुत दबाव डालते हैं समाज की कुत्सित वृत्तियों को दिखाने के लिए अथवा किसी मनोवैज्ञानिक तत्त्व के निरूपण के लिए। पात्रों के सामाजिक विचारों के संबन्ध में वे कहते हैं "मैं अपने उन पात्रों के विचारों के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं समझता" यदि किसी दिन यह प्रमाणित हो जाय कि मेरे सभी कथा पात्रों के विचार मेरे ही अपने विचार हैं तो उस दिन मेरी कहानी कला की सबसे बड़ी असफलता सिद्ध हो जायगी।[2] लेकिन यह सत्य है कि जोशीजी के पात्र कई स्थानों पर केवल कठपुतली रहकर एक पतली डोरी के द्वारा लेखक की इच्छा के अनुसार ही नाचते हैं। एक अनिपेक्ष्य उदाहरण लिया जा सकता है। निर्वासित में हिन्दी भाषा साहित्य और लेखकों की उत्कृष्टता और वर्तमान दुरवस्था पर छः पृष्ठों की जो चर्चा है[3] उसे लीजिए। वस्तुतः यह एक लेख-सा बन गया है। इसे पढ़ने के बाद जोशीजी के 'साहित्य चिन्तन' को पढ़ें तो ज्ञात होगा कि पात्र लेखक की ही वाणी बोलते हैं कि नहीं। महीप के मन में बीसवीं शती के पूर्वार्ध के परिवर्तन-काल का हिन्दी साहित्य संसार के अन्य साहित्यों से पश्च है। यही विचार जोशी के निबन्धों में है।[4] अपने विचारों को पात्रों के मुँह से निकालते समय स्वाभाविक संभाषण के स्थान में लेक्चर-बाजी का उपयोग करने के कारण यह स्पष्ट प्रकट होता है कि वस्तुतः जोशी ही बोल रहे हैं। 'संन्यासी' और 'निर्वासित' में ही नहीं बाद में लिखित 'मुक्तिपथ' 'जहाज का पंछी' और 'सुबह के भूले' में भी दर्जनों ऐसे प्रसंग हैं जिनमें पात्र अपना व्यक्तित्व ही खोकर लेखक के विचारों को प्रकट करने के उपकरण-मात्र रह जाते हैं।[5] जहाँ वार्तालाप के द्वारा अपने विचारों की संभावना बिलकुल असंभव हो जाता है वहाँ लेखक किसी सभा का विधान करके पात्र से भाषण दिला देते हैं।[6] इन सब भाषणों को पात्रों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अन्तर्गत मानना कठिन लगता है। 'जहाज का पंछी' का नायक तो पूर्णतया 'हिज मास्टर्स व्यायस' का टेपरिकार्डर बनकर रह गया है—ऐसा टेपरिकार्डर जिसके पास कहने के लिए अपना कुछ भी नहीं रहता और जो 'मास्टर' के शब्दों को ही दुहराता है। एक प्रसंग से वार्तालाप का एक छोटा-सा अंश उदाहरण के रूप में यहाँ उद्धृत किया जाता है "मैं बुद्ध को सचमुच मानव-जाति के एक महामेता के रूप में मानता हूँ। उन्होंने शान्ति अहिंसा प्रेम और

---

१ निर्वासित भूमिका पृ ४।

२ निर्वासित भूमिका पृ ४।

३ निर्वासित पृ ३४-३६।

४ देखें—साहित्य-चिन्तन पृ ४१; विचार-धारा पृ २८-२६; कवीन्द्र रवीन्द्र के सम्बन्ध में 'जहाज का पंछी' और 'साहित्य-चिन्तन' में व्यक्त विचार भी तुलनीय हैं।

५ देखें—मुक्तिपथ पृ० ११५ ११६ ११८-१२१ १३३-१३४ १४६ ४६ जहाज का पंछी पृ ४३-४६, ६ ६ ११ १४२ १४८ १८८ १८६ २३६ २३६, ३३२-३३८ ४३३-४३०; सुबह के भूले, पृ० १८७-१८६, २४६ ४६।

६ देखें—जहाज का पंछी, पृ ३३६ ३३६, ४३३-४३० तथा मुक्तिपथ पृ ३४६-४६।

समता का जो पाठ मानवजाति को अपूर्व लगन और आश्चर्यजनक उद्यम के साथ पढ़ाया वह बहुत बड़ी चीज थी। उनके जन्म से लेकर आज तक प्रायः ढाई हजार वर्ष बीत चुके। यदि इतने लम्बे अरसे में मानवता ने उनके उस महासन्देश का एक कण भी सामूहिक जीवन में अपनाया होता तो पृथ्वी के रक्त-रंजित इतिहास की लम्बी परम्परा में बहुत-से काले पृष्ठों का कोई अस्तित्व ही न रह गया होता। पर जहां-जहां बौद्ध मत का प्रचार हुआ वहां मानवता ने केवल उसके बाहरी आचार और आडंबर को अपनाने का ढोंग रचा और उसके सारभूत और प्राणवान अंश को बुद्ध की विशाल प्रस्तर मूर्तियों उनकी राख के ऊपर स्थापित महास्तूपों और विराट शिलाओं पर खुदे प्रवचनों के रूप में जड़ निश्चल और मृत बनाकर उसकी निष्प्राण पूजा करके खतम कर दिया।"[1] ऐसे वर्णनों प्रसंगों को हम एक निमिष के लिए जोशीजी के वचन न मानकर (न मानना वस्तुतः असम्भव है) पात्रों के ही वचन मानें तो भी कहना पड़ेगा कि यहां बौद्धिक विचार और तर्क मूर्तरूप में नहीं प्रस्तुत किये गए हैं जो उपन्यास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यही नहीं पात्रों के ये शब्द वस्तुपरक होने के कारण पात्र के व्यक्तित्व पर एक घना आवरण डाल देते हैं, जिसे भेदकर पात्र के व्यक्तित्व का ज्ञान प्राप्त करना असंभव हो जाता है।

५
लेखक और पात्र

पात्र पर लेखक के अधिकार की सीमा

२४७ ऊपर विविध प्रकारों के उपन्यासों के पात्रों के सम्बन्ध में जो विवेचन किया गया है उसको ध्यान में रखते हुए अब हम लेखक और पात्रों के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में भी थोड़ा विचार करें। विचारणीय बात यह है कि लेखक पात्रों पर कितना अधिकार रख सकता है। इस सम्बन्ध में दो मत हो सकते हैं। प्रथम यह है कि पात्र लेखक से पूर्णतया मुक्त रहना चाहिए, लेखक को केवल तटस्थ निरीक्षक के रूप में उसकी प्रवृत्तियों से निरपेक्ष सम्बन्ध ही रखना चाहिए। दूसरे मत के अनुसार पात्रों पर लेखक को पूर्ण अधिकार रखना चाहिए, उनको मनमानी करने की अनुमति नहीं देनी चाहिए। यद्यपि ये दोनों कथन प्रथम दृष्टि में बिलकुल विरोधी लगें तो भी वस्तुतः इनमें कोई तात्त्विक विरोध नहीं है। दोनों मतों के मर्म समझने से यह बात स्पष्ट हो जायगी। जो कलाकार यह मानते हैं कि पात्रों को लेखक से मुक्त रहना चाहिए, उनका तात्पर्य यही है कि लेखक अपने विचारों के प्रचार के लिए उनको माध्यम न बनावे उनका जीवन वास्तविक जीवन के नियमों के अनुसार ही चले। अगर सार्त्रे यह कहें कि पात्र लेखक के नियन्त्रण से मुक्त रहकर उसे ही मन्त्रमुग्ध कर दें तो

[1] प्रेत और छाया पृ. ११३।

इसका तात्पर्य यही है कि पात्र अपने वैयक्तिक जीवन को न खोयें अपनी सहज प्रकृति के अनुसार ही प्रत्येक कार्य करें और लेखक उन पात्रों से तादात्म्य पाकर, उनकी प्रकृति प्रेरित क्रियाओं को देखकर मुग्ध हो जाए।[1] लेखक अपनी इच्छा के अनुसार कुछ पूर्वयोजित सिद्धान्त बनाकर, उन सिद्धान्तों को प्रमाणित करने के लिए पात्रों की प्रवृत्तियों का संचालन न करे। इसी तरह पात्रों पर लेखक के अधिकार का समर्थन करने वालों का भी तात्पर्य यही है कि लेखक पात्रों पर पूरा नियन्त्रण रखकर उनके जीवन का उसी तरह संचालन करे जैसे वास्तविक जीवन चलता है। वास्तविक जीवन में कोई व्यक्ति पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं होता। फिर उपन्यास के पात्र क्यों स्वतंत्र रहें? पात्रों पर लेखक के अधिकार रखने का दूसरा उद्देश्य यही है कि उपन्यास में नाटकीयता आ जाये।[2] पात्रों की भिन्न-भिन्न विशेषताओं तथा भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों के प्रति लेखक पाठक को विशेष रूप से आकृष्ट करना चाहता है उनको विशेष रूप से प्रकट करने के लिए लेखक विवश है। लेखक ऐसा न करे तो उसका ध्येय ही निष्फल हो जायगा। किन्तु यहां भी स्मरण रखने की बात यह है कि लेखक पात्रों के साथ मनमानी नहीं कर सकता। पात्र के विविध क्रिया कलापों अर्थात् तथा विशेषताओं के सापेक्षिक महत्त्व को स्पष्टतया प्रकट करने के लिए ही वह विपर्यय का आश्रय ले सकता है। ऐसी दशा में विपर्यय वस्तुतः चित्र में नहीं होता बल्कि उसके रंगों में—अथवा 'लाइट और शेड' (Light and Shade) में ही होता है। दास्तावस्की ने अपने पात्रों की कुछ व्यक्तिगत विशेषताओं को अति की सीमा तक पहुंचाकर असाधारण बना दिया है। किन्तु इससे यह प्रयोजन हुआ है कि पात्र की वे व्यक्तिगत विशेषताएं अधिक स्पष्ट हो सकी हैं। हमें यही मानना पड़ता है कि लेखक पात्रों के प्रति अधिक ईमानदार रहा है क्योंकि इस विपर्यय से वह प्रत्येक पात्र की वैयक्तिक विशेषताओं (Personality traits) के प्रति पाठक का ध्यान आकृष्ट कर सका है। विपर्यय का आश्रय न लिया जाता तो वे विशेषताएं अस्पष्ट ही रह जातीं और पाठक उन्हें समझने में असमर्थ रह जाता।

अतः पात्रों पर लेखक के अधिकार तथा लेखक से पात्रों की स्वतंत्रता के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि लेखक को अपने विचारों के प्रचार के लिए पात्रों के जीवन को अस्वाभाविक रूप नहीं देना चाहिए, उनके जीवन के आधार पर

---

१ "A work is never beautiful unless it in some way escapes its author If he paints himself without planning to, if his characters escape his control and impose their whims upon him if the words maintain a certain independence under his pen thus he does his best work."
—Sartre What is Literature ? P 154

२. "Don't let your characters casually wander on the scene carefully motivate and prepare each entrance by these means dramatic intensity can be achieved.
—Hogarth The Technique of Novel Writing, P 99

ही अपने विचारों को रूप देना चाहिए, अथवा यों कहा जा सकता है जीवन की स्वाभाविक गति से ही विचारों आदर्शों और मान्यताओं का जन्म होना चाहिए, सिद्धान्तों के सांचों में डालकर पात्रों को टकसाली रूप नहीं देना चाहिए। इस सम्बन्ध में मार्क्स का यह कथन अत्यन्त समीचीन लगता है 'हम यथार्थ जीवित मनुष्यों से प्रारम्भ करते हैं और उनके यथार्थ जीवन-व्यापार के आधार पर ही उस जीवन व्यापार के भावात्मक (आदर्शात्मक) प्रतिबिम्बों तथा प्रतिध्वनियों को सिद्ध करते हैं।'[1]

इस दृष्टि से देखा जाय तो हमारे बहुत कम उपन्यासकार पात्रों के प्रति ईमानदार रहे हैं जैसेकि ऊपर दिखाया जा चुका है।

पात्रों का प्रत्यक्ष प्रकटन

२५८ हास्यात्मक उपन्यासों के स्वरूप की विवेचना करते हुए स्पष्ट किया जा चुका है कि हास्य-विधान द्वारा पात्रों को मूर्त रूप में सामने लाना कितना महत्त्वपूर्ण कार्य है।[2] इस सम्बन्ध में यहां दो-एक और बातें भी उल्लेखनीय हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यास में पात्रों को मूर्तरूप में प्रकट करना आवश्यक है। जैसे नाटक में पात्र साकार रंगमंच पर आकर खड़ा होता है उसी तरह उपन्यास के पात्र को पाठक के मानसिक रंगमंच पर साकार खड़ा करना उपन्यासकार की सफलता का लक्षण है। जहां लेखक पाठक और पात्र के बीच खड़े पात्र की व्याख्या नहीं करता बल्कि पात्र को सामने उपस्थित करके मंच से हट जाता है, और इस तरह पात्र का सीधा परिचय प्राप्त करने के लिए पाठक को छोड़ देता है वहां नाटकीयता चरमोन्नति तक पहुंचती है। इसके विरुद्ध लेखक पात्र का व्याख्याकार बन जाय तो पात्र को मूर्त होने का अवसर ही उपलब्ध नहीं होता। पात्र की भलाई-बुराई की व्याख्या करने से वह मूर्तरूप में प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसेकि प्रसिद्ध रूसी दार्शनिक ने कहा है "जैसे किसी व्यक्ति के वर्णन-मात्र से उसके स्वरूप का परिचय नहीं मिलता उसी प्रकार उसके सदसद् गुणों के—वे कितने ही प्रभविष्णु हों—अमूर्त वर्णन-मात्र से उस व्यक्ति के व्यक्तित्व का सजीव रूप से अपेक्षित नहीं होता। उसे (पात्र को) स्वयं स्वतंत्र होकर अपनी भलाई-बुराई का परिचय देना चाहिए।"[3]

व्यक्तित्व के प्रभाव के सम्बन्ध में यह एक आश्चर्यजनक सत्य है कि प्रायः कोई निश्चित गुण या दोष स्थायी प्रभाव का कारण नहीं होता। यह एक अनुभवसिद्ध

---

१ 'We set out from real, active men and on the basis of their real life process we demonstrate the development of the ideological and echoes of this life process.

—Marx and Engels Literature and Art, P 11

२. देखें अनुच्छेद १४०-१४४।

३ Belinsky Selected Philosophical Works, P 189

सत्य है कि हम कभी-कभी अत्यन्त सुन्दर व्यक्तियों को देखकर भी जल्दी भूल जाते हैं किन्तु कुछ साधारण (न विशेष रूप से सुन्दर न कुरूप) चेहरों को जल्दी भूल नहीं सकते। उसी तरह व्यक्तित्व में भी भलाई-बुराई आदि गुणों के परे कुछ विशेषताएं होती हैं जो स्थायी प्रभाव डालती हैं। और जिनका वर्णन सामान्य शब्दों द्वारा नहीं हो सकता। इनका परिचय और ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा ही हो सकता है। हम अपने किसी अत्यन्त परिचित व्यक्ति की व्यक्तित्व-विशेषताओं का पूरा वर्णन किसी तीसरे व्यक्ति के सामने करें तो वह तीसरा व्यक्ति हमारे समान उन व्यक्तित्व विशेषताओं को समझ नहीं सकेगा भले ही हमारी वर्णन की प्रतिभा चरम कोटि की हो। इसका कारण व्यक्तित्व की उपर्युक्त अस्पष्ट विशेषताएं ही हैं जो केवल अनुभव द्वारा ही समझी जा सकती हैं। ऐसी विशेषताओं को प्रकट करना उपन्यासकार के लिए सबसे कठिन कार्य है। इसीके लिए पात्र को पाठक के सामने छोड़कर लेखक को हट जाना पड़ता है। इसके बदले लेखक अपने परिचित पात्र के व्यक्तित्व की विशेषताओं का वर्णन-मात्र पाठक के सामने रखे तो पाठक उस पात्र के व्यक्तित्व का मूर्तरूप में अनुभव नहीं कर सकेगा। यहीं पात्र के प्रत्यक्षीकरण की समस्या आ खड़ी होती है। विश्व-साहित्य में अत्युच्च स्थान पर प्रतिष्ठित उपन्यासों में प्रत्यक्षीकरण द्वारा ही पात्रों का परिचय दिया गया है।

प्रत्यक्षीकरण के दो मार्ग

२५१ *तृतीय अध्याय में दृश्य-उपस्थिति के जो दो मार्ग स्पष्ट किए गए हैं*[1] उनके द्वारा पात्रों को भी सजीव रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। उन दो मार्गों में पात्रों के सम्भाषण आदि के द्वारा दृश्य विधान करने की रीति को ही अधिकांश कलाकारों ने अपनाया है। केवल विवरण द्वारा पात्रों का मूर्तरूप उपस्थित करना और उनकी वैयक्तिक विशेषताओं को साकार प्रकट करना सुगम कार्य नहीं है। जैसे पहले कहा जा चुका है, इस प्रणाली का सफल प्रयोग करनेवाले श्रेष्ठ कलाकार मार्सेल प्रूस्त हैं। प्रूस्त का चरित्र चित्रण सबसे सफल उन्हीं स्थानों पर हुआ है जहां वे विवरण द्वारा पात्रों का प्रत्यक्षीकरण करते हैं। एक दिन सोने के पहले माता के चुम्बन से वंचित एक बालक का जो चित्र प्रूस्त ने अंकित किया है वह अच्छा उदाहरण है। स्वान और ओडेट के प्रेम के विकास तथा विनाश की विविध दशाओं में उन दोनों के व्यवहारों का जो विवरण किया गया है वह भी इसी तरह का है। (*'रिमेम्ब्रेन्स ऑफ़ दि पास्ट'—भाग १ २*)। *प्रूस्त व्यक्तियों की उन छोटी-छोटी बातों* पर भी ध्यान देते हैं जो उनके सूक्ष्म मनोभावों को प्रकट करते हैं। मदाम स्वान कुछ दिन अपनी पार्टियों के निमंत्रण पत्रों में अपने पति के नाम के पहले प्रचलित 'मोंशे' के बदले अंग्रेजी में 'मिस्टर' लगाती है, कुछ लोगों के निमंत्रण पत्रों में से मिलन के लिए' लगाती है। इस तरह का एक कार्ड पाकर कथा-नायक अपने-आपको भूल जाता

---

1 देखें अनुच्छेद १६७।

है और अपने पास जो पैसा है वह सब इकट्ठा करके कुछ फूल मँगवाकर मदाम स्वान को भेजता है। वह खुद अपने घर की पार्टियों के निमंत्रण में भी अपने पिता के नाम के पहले 'मिस्टर' छपवाना चाहता है।[१] इस तरह की छोटी-छोटी और साधारणतया उपेक्षित बातों के वर्णन द्वारा प्रूस्ट ने पात्रों को पूर्णत्व दिया है। अन्य किसी उपन्यासकार में इतना व्यंजनात्मक विवरण नहीं मिलता। इससे डोरोथी रिचर्डसन आदि अंग्रेजी लेखकों के उपन्यासों म भी यत्र-तत्र कुछ प्रभावशाली विवरण मिलते हैं। एक उदाहरण देखिए

"फैनी लोगन को लगा कि अपनी आँखों में आँसू भर आ रहे हैं। वह जल्दी पिघल जाती थी विशेषकर जब वह संगीत सुनती थी। जब उसमें कोई विकार होता था वह उसे दबाना नहीं जानती थी उसमें अपने-आपको खो देती थी। कितना सुन्दर था यह संगीत कितना शोकात्मक फिर भी दिल को सांत्वना देनेवाला! वह अपने हृदय में एक तीव्र अनुभूति के प्रवाह का अनुभव करती थी जो उसके अस्तित्व की जटिल उलझनों से होकर अविराम बहता जाता था। संगीत की मार्मिक तान के अनुसार उसका शरीर भी विचलित होता था उसने अपने पति की याद की। संगीत की धारा से होकर उसकी याद उसे आई—प्यारे-प्यारे एरिक की जो दो साल पहले मर चुका था मर चुका था फिर भी अब भी जवान था। आँसू बहने लगे उसने उन्हें पोंछ डाला।[२]

हिन्दी में प्रूस्ट के विवरणों के समान व्यंजना-शक्ति से पात्रों को स्पष्ट करनेवाले लेखक शायद ही हुए हैं। लेकिन प्रेमचन्द चतुरसेन रांगेय राघव जैनेन्द्र आदि के उपन्यासों में कहीं-कहीं विवरणात्मक भाग मिलते हैं, जो व्यक्तित्व का मूर्त चित्रण प्रस्तुत करते हैं।

हिन्दी के और यूरोपीय भाषाओं के अधिकांश उपन्यासकारों ने विवरण और सम्भाषण के मिश्रण द्वारा ही पात्रों का प्रत्यक्षीकरण किया है। जेन आस्टिन से आज तक के अंग्रेजी के सामाजिक उपन्यासकारों ने और आधुनिक रूसी उपन्यासकारों ने ऐसे दृश्यों का निर्माण करने का प्रयत्न किया है। टाल्सटाय के कुछ दृश्य इतने मार्मिक बने हैं कि वे आँखों के सामने से ही नहीं हटते। 'युद्ध और शान्ति' में नताशा और सोफिया को पूर्णतया जानने के लिए उनका प्रथम परिचय ही पर्याप्त है। जब नताशा प्रथम-प्रथम हमारे सामने आती है तब उसका रूप देखिए

'काली-काली आँखों और बड़े मुँहवाली वह सीधी-सादी जिन्दादिल लड़की जो जल्दी-जल्दी दौड़ते समय बोडिस के नीचे हिलते हुए कंधों पीछे की ओर संवारे हुए बालों और गोटोंवाला लम्बा जाँघिया और खुली स्लीपरें पहने हुए पैरों के साथ सुन्दर लग रही थी उस मार्मिक दशा में थी जब लड़की बच्ची नहीं रहती और बच्ची लड़की

---

१ Remembrances of the Past, Vol 3 P 168
—(Chatto & Windus Edition)

२ Point Counter Point, P 30-31

नहीं बन पाती। पिता से झपट भाग निकलकर वह माँ के पास दौड़ गई और उसकी डाँट की परवाह किए बिना उसकी गोदी में अपना लाल-लाल मुख छिपाकर ज़ोर से हँस पड़ी। हँसते-हँसते ही वह अपनी गुड़िया के बारे में कुछ कह रही थी जो उसकी पेटीकोट के अन्दर उभरी दिखाई पड़ रही थी पर कुछ भी साफ़-साफ़ नहीं सुनाई पड़ रहा था।

देखो' मिमी" देखो मेरी गुड़िया' नताशा और कुछ नहीं बोल सकी। सब कुछ उसे अजब-सा तमाशा लग रहा था। वह माँ की गोदी में छिप गई और इतनी ज़ोर से हँसती रही कि वहाँ बैठे हुए सभी यहाँ तक कि उनके शिष्ट अतिथि तक हँस पड़े।

'चलो भाग चलो अपनी शरारतें लिए' माँ ने क्रोध का बहाना करते हुए उसे हटाने की कोशिश की। 'यह मेरी छोटी लड़की है' उसने अतिथि से कहा। नताशा ने माँ की गोदी से मुँह निकालकर हँसी के आँसुओं से भीगे नयनों से उसकी ओर देखा और फिर मुँह छिपा लिया।"[1]

नताशा की सारी कोमलता और चंचलता इन शब्दों में स्पष्ट प्रकट होती है। इस तरह के मार्मिक और प्रभावशाली दृश्यों से चरित्र-चित्रण करनेवाले उपन्यासकार हिन्दी में अधिक नहीं हुए हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों में ऐसे दृश्यों की कमी नहीं है। निर्मला में उदयभानुलाल और कल्याणी के कलह का प्रसंग गबन और गोदान के आरम्भिक दृश्य आदि उत्कृष्ट उदाहरण हैं। गोदान की सफलता का एक मुख्य कारण सजीव दृश्यों द्वारा पात्रों को सच्चे मानवों के रूप में उपस्थित करना है। गोबर के भाग जाने के बाद फिर लौट आने पर घर का जो वातावरण है उसे प्रेमचन्द ने बड़े मार्मिक ढंग से उतारा है

'इधर सोना चुन्नू को उसका फ्रॉक टोप और जूता पहनाकर राजा बना रही थी। बालक इन चीज़ों को पहनने से ज़्यादा हाथ में लेकर खेलना पसन्द करता था। अन्दर गोबर और झुनिया में मान-मनौवल का अभिनय हो रहा था।

झुनिया ने तिरस्कार-भरी आँखों से देखकर कहा 'मुझे लाकर यहाँ बैठा दिया आप परदेस की राह ली फिर न खोज न खबर कि मरती है या जीती है। साल भर के बाद अब जाकर तुम्हारी नींद टूटी है। मैं तो सोचती हूँ कि तुम मेरे पीछे-पीछे आ रहे हो और आप उड़े तो साल भर के बाद लौटे। मरदों का विश्वास ही क्या कहीं कोई और ताक ली होगी। सोचा होगा एक बाहर के लिए भी हो जाय।

गोबर ने सफ़ाई दी 'झुनिया मैं भगवान को साखी देकर कहता हूँ जो मैंने कभी किसीकी ओर ताका भी। लाज और डर के मारे घर से भागा ज़रूर, मगर तेरी याद एक छन के लिए भी मन से न उतरती थी ।"[2]

---

१ War and Peace, Tr by Constance Garnet.

—Modern Library Edition, P 32.

२. गोदान १ १ ।

हेनरी बर्गसां ने जीवन-सत्ता को समय का सापेक्षित और निरन्तर परिवर्तनशील माना है। उनके मत में जीवन-सत्ता एक तरल माध्यम है, जिसका प्रत्येक अंश भूत में असम्बित और भविष्य में प्रक्षेपित है।[1] इसका तात्पर्य यही है कि यद्यपि जीवन परिवर्तनशील है तथापि भूत वर्तमान और भविष्य में एक अविराम नैरन्तर्य है। अतः मनुष्य की परिवर्तनशील प्रकृति बिलकुल यांत्रिक नहीं है पर सृजनशील स्वतःस्फूर्त जीवनोत्सव (Elan vital) है। मनुष्य के परिपूर्ण ज्ञान के लिए इस परिवर्तन पर ध्यान केन्द्रित करते हुए, उसके बाह्य और आन्तरिक तत्त्वों का सापेक्ष अध्ययन करना आवश्यक है और मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में यही किया जाता है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की सामान्य विशेषताएं

सब प्रकारों के उपन्यासों में पात्रों का थोड़ा बहुत मनोवैज्ञानिक अध्ययन होता है। किन्तु प्रस्तुत अध्याय में हम उन्हीं उपन्यासों का विशेष अध्ययन करेंगे जिनमें लेखकों ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि अपनायी है। 'चरित्र-चित्रण' से सम्बन्धित अध्याय में अन्य उपन्यासों के पात्रों के व्यक्तित्व की चर्चा की जा चुकी है। अतः उनके मनोवैज्ञानिक अध्ययन से बहुत कुछ पुनरावृत्ति की ही सम्भावना है। हिन्दी तथा यूरोपीय भाषाओं के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मनोविज्ञान उपन्यास के विषय और शिल्प विधान में कई मौलिक परिवर्तन लाया है। सामान्य रूप में देखा जाय तो उपन्यास में मनोविज्ञान की मौलिक प्रवृत्तियां निम्नलिखित हैं

२६१ विषय का सीमा-निर्धारण—उपन्यास में मनोविज्ञान के समावेश का प्रथम परिणाम उपन्यास के विषय की सीमा बांधना। पात्रों की संख्या कम करने के कारण और उनकी कुछ विशिष्ट मनोवृत्तियों पर ध्यान केन्द्रित करने के कारण मनोवैज्ञानिक उपन्यास का विषय अत्यन्त सीमित रहता है उसमें न वैयक्तिक जीवन के विविध पहलुओं का दिग्दर्शन होता है न सामाजिक जीवन की विभिन्न समस्याओं का विवेचन। सुनीता' की उसके पूर्व के किसी उपन्यास से तुलना करने पर यह बात स्पष्ट होगी। बिलकुल सीमित एक विषय को ही जैनेन्द्र ने इस काफी बड़े उपन्यास में विस्तार दिया है। प्रायः सभी मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में इसी तरह विषय सीमित रहते हैं।[2] चरितोपम उपन्यासों में विषय का आधिक्य तो होता है पर उसके कलेवर की तुलना में विषय की सीमा स्पष्ट होगी। उसके प्रत्येक भाग में जो विषय होता है, वह एकरस एवं सीमित ही होता है।

२६२ एकाग्रता—मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में विषय के सीमित होने के कारण

---

१ .. the invisible progress of the past, which grows into the future

—Henri Bergson, Quoted by Edel : 'The Psychological Novel, P 28.

२ इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में विषयाधिक्य और घटना-बाहुल्य है, और इस कारण मनोभावों के क्रमिक विकास में शैथिल्य भी आया है।

उसके अगाध अध्ययन के लिए अवसर मिलता है। पात्र के व्यक्तित्व पर ही ध्यान केन्द्रित करने के कारण उसका अगाध अध्ययन सम्भव हो जाता है। इससे भी आगे बढ़कर जहाँ व्यक्तित्व के एक अंश-मात्र का अथवा किसी मनोभाव-मात्र का चित्रण किया जाता है वहाँ अगाधता और भी बढ़ जाती है। 'सुनीता' 'नदी के द्वीप' 'बन्द दरवाज़ा' (मान बीर) 'जो बो गया' आदि ऐसे ही उपन्यास हैं।

२६३ वैयक्तिकता—मनोवैज्ञानिक उपन्यास प्रायः अत्यधिक वैयक्तिक होते हैं। व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्वों का विश्लेषण उसका प्रिय विषय है। समाज में द्वन्द्व अथवा विक्षिप्ति उत्पन्न करनेवाली प्रवृत्तियों का भी उसमें व्यक्तिगत स्तर पर ही अध्ययन किया जाता है। सामाजिक जीवन की मूल प्रवृत्तियों को भी व्यक्ति पर आरोपित करने से ही वे पूर्ण रूप में सामने आ सकती हैं और तभी उनका सूक्ष्म विश्लेषण संभव है। यही इस व्यक्तिवाद का मूल सिद्धान्त है। किन्तु जहाँ व्यक्तित्व इतना तीव्र होता है कि व्यक्ति पर आरोपित प्रवृत्तियों का सामाजिक महत्त्व विलुप्त-सा हो जाता है वहाँ यह वैयक्तिकता हानिकारक सिद्ध होती है। वात्स्यायनजी के पात्र अति वैयक्तिकता के कारण सामान्य सहानुभूति के पात्र नहीं बन सकते। 'नदी के द्वीप' 'मुक्तिपथ' 'सुबह के भूले' आदि के पात्रों में भी वैयक्तिकता पात्रों को असाधारण बना देती है।

२६४ अन्तर्मुखी पात्र—आज के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के पात्र अधिकांश अन्तर्मुखी होते हैं। उनका अस्तित्व ही आन्तरिक होता है। उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति आन्तरिक सत्ता की विशेष प्रवृत्ति का बहिस्फुरण ही होती है। लेखक उनकी विविध क्रियाओं का वर्णन करते समय उनकी अन्तवृ त्तियों की व्याख्या पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखता है। कहीं-कहीं अन्तवृ त्तियों की व्याख्या पात्रों के आत्मविश्लेषण तक पहुँच जाता है।

२६५ नये मूल्यों की स्थापना—उपन्यास में सामाजिक जीवन की वस्तु निष्ठ व्याख्या की जो परिपाटी चलती आई उसे मनोविज्ञान ने पूर्णतया बदल दिया है। यह नहीं कहा जा सकता कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास में सामाजिक समस्याओं की उपेक्षा की गयी है। किन्तु उन समस्याओं का विकास सामाजिक पृष्ठभूमि से निकाल कर व्यक्तिगत मानसिक पृष्ठभूमि पर अध्ययन किया जाने लगा है। अन्य उपन्यासकार सामाजिक जीवन की विडम्बनाओं के कारणों को समाज में ही ढूँढते थे। पर मनो वैज्ञानिक उपन्यासकार प्रत्येक सामाजिक विडम्बना के मूल में कुछ व्यक्तिगत विशेष बातों के दर्शन करते हैं। उनके अनुसार जीवन का अध्ययन तभी पूर्ण होगा जब व्यक्ति की भिन्न-भिन्न अनुभूतियों विकारों भावनाओं और अन्तर्द्वन्द्वों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जाय। इस तरह व्यक्ति और समाज की नयी व्याख्या और नये मूल्यों की स्थापना मनोवैज्ञानिक उपन्यास की मौलिक प्रवृत्ति है।

२६६ पलायनवाद—मनोवैज्ञानिक उपन्यासों पर जितने दोष लगाये जाते हैं उनमें सबसे बड़ा विषय की सीमा तथा अपार वैयक्तिकता के कारण उत्पन्न पलायन-वृत्ति है। विस्तृत सामाजिक वातावरण को छोड़कर किसी व्यक्ति की मनोभूमि को अपने कार्य-क्षेत्र के रूप में स्वीकृत करनेवाले उपन्यासों में जीवन के विशाल रूप

का प्रदर्शन असम्भव है। विशेषकर जब लेखक विज्ञान के माध्यम से कुछ मनोवृत्तियों के सांकेतिक अध्ययन में लग जाता है तब नित्य-जीवन की समस्याएं उपेक्षित हो जाती हैं। गहन वैयक्तिक अनुभूतियों कुण्ठाओं और विक्षिप्तियों के विश्लेषण में लगा हुआ लेखक सामान्य जीवन को प्रतिबिम्बित नहीं करता। वस्तुतः मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के विषय भी जीवन से ही लिए जाते हैं। लेकिन उन विषयों के जो रूप प्रस्तुत किये जाते हैं वे अपार वैयक्तिकता के कारण तीव्र अनुभूतियां उत्पन्न करने पर भी उन अनुभूतियों को समष्टिगत रूप में उद्बुद्ध नहीं कर सकते। इस तरह पलायन-वृत्ति के दो रूप दिखाई पड़ते हैं। प्रथमतः मनोवैज्ञानिक उपन्यास वैयक्तिक समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करके सामाजिक समस्याओं की उपेक्षा करते हैं। दूसरी बात यह है कि अगर सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण किया जाय तो भी उन्हें वैयक्तिक बनाकर किया जाता है। इसके फलस्वरूप ऐसा लगता है कि ये मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार समस्याओं से पलायन करके अपने एक अलग संसार में रम जाते हैं।

आधुनिक जीवन का एक विषादात्मक दर्शन ही इस प्रवृत्ति का कारण है। यह सचमुच एक विरोधाभास है कि इतने सामाजिक विकास और संगठन के होने पर भी मनुष्य जीवन में एक प्रकार के विघटन का अनुभव कर रहा है। कितनी ही विच्छित्ति-कारक शक्तियां जीवन को विच्छिन्न और मानव-हृदय को क्षत-विक्षत कर रही हैं। इस विघटन और विच्छिन्नता का अनुभव व्यक्ति को ही अधिक होता है। अतः आज का वैयक्तिक जीवन अत्यन्त संघर्षमय और बहुत कुछ विषादात्मक हो गया है। इसे समझने के प्रयत्न में ही मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार ने सामाजिक समस्याओं की उपेक्षा कर दी है और सामाजिक उत्तरदायित्वों से मुँह मोड़ लिया है।

२६७ **शिल्प-विधान और शैली**—मनोविश्लेषण के कारण उपन्यास के भाव-क्षेत्र में जो नयी प्रवृत्तियाँ हुई हैं उनके अनुरूप शिल्प-विधान की नयी प्रणालियों का भी उपयोग होने लगा है। सूक्ष्म अनुभूतियों अस्पष्ट भावनाओं और अमूर्त भाव द्वन्द्वों को साकार बनाने के लिए अभिव्यंजना की चरम शक्तियों से काम लेना पड़ता है। जब उपन्यास में मनोविज्ञान का समावेश होने लगा तब लेखकों की अभिव्यंजना की शक्ति को विशेष चिन्ता करनी पड़ी। फलस्वरूप शिल्प और शैली के कई नये रूपों का आविष्कार हुआ। सामान्य रूप में कहा जाय तो मनोवैज्ञानिक उपन्यास की शिल्प-सम्बन्धी मुख्य प्रवृत्ति काव्यात्मकता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने विषयगत प्ररचन (डिजाइन) भावान्विति समानुविधान (कम्पोजीशन) आदि पर ध्यान केन्द्रित करके उपन्यास को एक प्रकार का काव्य ही बना दिया। विषय और अभिव्यंजना की पारस्परिक अनुयोज्यता पर मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने जितना ध्यान दिया है और किसीने नहीं दिया है। अतः उनके उपन्यासों में इतनी कलात्मक चारुता आ गयी है कि विषय और पात्रों के असाधारण होने पर भी पाठक कुछ समय के लिए अपने आपको भूलकर उनसे तादात्म्य प्राप्त कर लेता है।

२
मूल वृत्तियाँ

परिभाषा

२६८ फ्रायड के मतानुसार मनुष्य ने शिक्षा या अनुभव के बिना ही वंश परम्परा या पैत्रागतिकी (Heredity) से कुछ आन्तरिक मूल वृत्तियां प्रक्रिया अथवा वासनाएं प्राप्त कर ली हैं। व्यक्तित्व के निर्माण में इन मूल वृत्तियों का विशेष महत्त्व होता है। किसी विशेष समय व्यक्ति जो करता है वह उसके व्यक्तित्व से होकर प्रवृत्त होनेवाली इन मूल वृत्तियों से ही प्रेरित होकर करता है। उसके सभी व्यवहार और आचरण इन मूल वृत्तियों से प्रेरित हैं। लेकिन आचरण का स्वरूप अनुभव से निर्णीत होता है। अथवा यों कहा जा सकता है कि प्रवृत्ति को मूल वृत्तियां शक्ति देती हैं, और अनुभव दिशा। इन मूल वृत्तियों के अन्तर्गत प्रेम काम अहंभाव लोभ आदि सभी मानसिक वृत्तियां आ सकती हैं। लेकिन इन सबका विशेष अध्ययन करके फ्रायड ने माना है कि ये मूल वृत्तियां दो ही प्रकार की होती हैं।

मूल वृत्तियों का ध्रुवत्व

२६९ प्रारम्भ में फ्रायड ने मनुष्य की सभी प्रवृत्तियों के आधार के रूप में एक जीवन-वृत्ति या प्रेम-वृत्ति (Eros, or Life Instinct or Love-Instinct) को ही माना। इसीकी प्रेरणा से मनुष्य की सभी प्रवृत्तियां सम्पन्न होती हैं। जीवन-वृत्ति का प्रथम और प्रधान प्रकट रूप लैंगिक आचरण है। बाद में फ्रायड ने 'काम-वृत्ति' (Libido) को सब तरह के शारीरिक सम्बन्धों का कारण माना[1] और उसे 'जीवन वृत्ति' का ही एक रूप बताया। जीवन-वृत्ति काम-वृत्ति के अतिरिक्त अन्य रूपों में भी प्रकट हो सकती है।

सन् १९११ में फ्रायड ने 'मरण-वृत्ति' या 'घृणा-वृत्ति' (Thanatos or Death-Instinct or Hate-instinct) का आविष्कार किया। अब उन्होंने मनुष्य के सभी प्रवृत्तियों के आधार के रूप में 'जीवन-वृत्ति' और 'मरण-वृत्ति' को मान लिया। ये दोनों सदा मनुष्य में क्रियाशील रहती हैं और मनुष्य को विभिन्न दिशाओं की ओर खींचती रहती हैं। उनकी सभी रचनात्मक प्रवृत्तियां जीवन-वृत्ति या प्रेम-वृत्ति से प्रेरित हैं और सभी विनाशात्मक प्रवृत्तियां मरण-वृत्ति या घृणा-वृत्ति से। ये दोनों वृत्तियां प्रत्येक मनुष्य में एक साथ ही रहती हैं और उसके व्यक्तित्व में संघर्ष उत्पन्न करती

१ "The energy of life instinct which finds its outlet in bringing people into close physical contact is called libido.

—Brown Psychodynamics of Abnormal Behaviour P 158

है। अतः मनुष्य का तीव्र से तीव्र प्रेम भी घृणा से रहित नहीं होता।[१] उसी तरह मनुष्य जब आत्मसंरक्षक रहता है तब साथ ही साथ आत्मसंघातक भी रहता है। अति तीव्र लैंगिक प्रेम में प्रेमी या प्रेमिका से क्रूर व्यवहार पाकर तृप्त होने की प्रवृत्ति (Masochism) और प्रेमी या प्रेमिका के प्रति क्रूर व्यवहार करने की प्रवृत्ति (Sadism), प्रेम के साथ ही विद्यमान रहनेवाली घृणा-वृत्ति की द्योतक है।

प्रेम-वृत्ति और घृणा-वृत्ति अन्तर्मुखी या बहिर्मुखी हो सकती है। जिस व्यापार के द्वारा वे बाह्य वस्तु से अथवा अपने-आपसे आबद्ध होती हैं, उसे आसक्ति या अनुरक्ति (Cathexis) कहते हैं। अन्तर्मुखी मूल वृत्ति का परिणाम 'आत्मासक्ति' (Narcissistic cathexis) होता है और बहिर्मुखी का परासक्ति' (Objective cathexis)।

मूल वृत्तियों की मात्राओं का अनुपात

विविध व्यक्तियों में मूल वृत्तियों की मात्राएं भिन्न होती हैं पर उनके अनुपात के सम्बन्ध में कुछ निश्चित नियम होते हैं। ब्राउन ने निम्नलिखित समीकरणों (Equations) में इस बात को स्पष्ट किया है।

२७० समीकरण १ आ = रा (जी म)

जहां आ = आचरण जी = जीवन-वृत्ति म = मरण-वृत्ति।

इस समीकरण के अनुसार 'आ' 'जी' और 'म' की आश्रित राशि (Function) है। इसका तात्पर्य यही है कि 'आ' अथवा आचरण जी' अथवा जीवन-वृत्ति तथा 'म' अथवा मरण-वृत्ति के अनुपात में होता है।

अत जब 'जी' > 'म' होता है तब 'आ' रचनात्मक है और जब 'जी' < 'म' होता है तब 'आ' विनाशात्मक है। अर्थात् जब जीवन-वृत्ति मरण-वृत्ति से बड़ी होती है तब आचरण रचनात्मक होता है और जब छोटी होती है तब आचरण विनाशात्मक होता है। अगर 'आ' का मूल्य निश्चित हो तो 'जी' और 'म' के मूल्य विपरीत अनुपातों में होंगे अर्थात् निश्चित मापन की प्रवृत्ति करनेवाले व्यक्ति की जीवन-वृत्ति (या प्रेम-वृत्ति) के बढ़ते मरण-वृत्ति (या घृणा-वृत्ति) का माप घटता है और मरण-वृत्ति के बढ़ते जीवन-वृत्ति का माप घटता है।[२]

---

१ "Not even the most passionate love of a man for a woman is free from certain amount of hate or aggressivity"

—Brown Psychodynamics of Abnormal Behaviour P 159

२ Equation 1 B is a function of L and D $B = f(L, D)$

where B = Behaviour L = Life urge D = Death urge.

B is constructive when $L > D$ B is destructive when $L < D$

—Brown Psychodynamics of Abnormal Behaviour P 160.

२७१ समीकरण २ स्वा जी + प जी = नि और स्वा म + प.म = नि ।
जहाँ स्वा जी = स्वासक्त जीवन-वृत्ति
प.जी = परासक्त जीवन-वृत्ति
स्वा म = स्वासक्त मरण-वृत्ति
प म = परासक्त मरण-वृत्ति ।
नि = निश्चित राशि (Constant)[1]

इन समीकरणों से तात्पर्य यह निकलता है कि स्वासक्त तथा परासक्त जीवन वृत्तियों के जोड़ के निश्चित या स्थायी होने से स्वासक्त जीवन-वृत्ति के बढ़ते परासक्त जीवन-वृत्ति घटती है और स्वासक्त जीवन-वृत्ति के घटते परासक्त जीवन-वृत्ति बढ़ती है। मरण-वृत्तियों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझना चाहिए।

ऊपर मूल वृत्तियों का जो विवेचन किया गया है और जो समीकरण दिये गये हैं उनके आधार पर अब हम हिन्दी उपन्यासों के पात्रों की मूल वृत्तियों का अध्ययन करें तो बहुत-सी बातें स्पष्ट होंगी। यहाँ हमें अपने विषय की सीमा बाँधकर केवल मनोवैज्ञानिक उपन्यासों को लेना पड़ रहा है क्योंकि प्रथम तो अन्य उपन्यासों में लेखकों का ध्येय मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का नहीं रहा है अतः लेखक के दृष्टिकोण को समझने के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन की आवश्यकता नहीं है। दूसरे ऐसे उपन्यासों में थोड़ा-बहुत मनोविश्लेषण हो (क्योंकि जीवन का प्रतिबिम्ब होने से कोई उपन्यास पूर्णतया मनोविज्ञान से मुक्त न रहेगा) तो भी पात्रों का वैज्ञानिक रूप में विश्लेषण नहीं हुआ है। इन कारणों से हम इस अध्याय के अध्ययन को बहुत कुछ मनोवैज्ञानिक उपन्यासों तक ही सीमित रखेंगे।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में मूल वृत्तियाँ

२७२ वस्तुतः उपन्यास का कोई पात्र मूल वृत्तियों से पूर्णतया रहित नहीं हो सकता। लेकिन हिन्दी के उपन्यासों में मूल वृत्तियों के क्रमिक विकास की ओर बहुत कम संकेत किया गया है। जिन उपन्यासों में मूल वृत्तियों की थोड़ी-बहुत चर्चा हुई है उनमें भी केवल सैक्स-सम्बन्धी प्रवृत्तियों का ही विवेचन किया गया है। हिन्दी में 'शेखर' ही एकमात्र उपन्यास है जिसमें मूल वृत्तियों के क्रमिक विकास का वैज्ञानिक

---

१ Equation 2. O.L+N.L = C. and O D+N .D = C.
where O.L = Objective love-instinct
N.L = Narcissistic love instinct
O.D = Objective death-instinct
N D = Narcissistic death instinct
C = Constant
—Brown Psychodynamics of Abnormal Behaviour P 160.

अध्ययन किया गया है। जैसे पहले ही कहा जा चुका है 'शेखर' विषय और शिल्प-विधान में 'ज्यां क्रिस्ताफ़' से बहुत प्रभावित है। इन दोनों में मूल वृत्तियों का जो विकास दिखाया गया है उसके अध्ययन से यह प्रभाव स्पष्ट होगा।

शेखर और ज्यां क्रिस्ताफ़ें तुलनात्मक अध्ययन—इन दोनों उपन्यासों की मूल वृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन के प्रसंग में मूल वृत्तियों के अतिरिक्त कुछ अन्य मनोवैज्ञानिक तत्त्वों की भी तुलना करना उपयुक्त होगा क्योंकि ऐसी तुलना से 'शेखर' पर 'ज्यां क्रिस्ताफ़ें' के प्रभाव के अधिक स्पष्ट होने की सम्भावना है।

२७३ सामान्यतः कहा जाय तो 'शेखर' और 'ज्यां क्रिस्ताफ़' एक ही मनोवैज्ञानिक तत्त्व के आधार पर लिखे गए हैं। दोनों उपन्यासों के नायक जिज्ञासु हैं और समाज का अच्छा ज्ञान प्राप्त करके जीवन का नये ढंग से मूल्यांकन करनेवाले हैं। दोनों में नायकों की दृष्टि में जीवन का जो मूल्य है उसका तथा परम्परागत रूढ़ियों और सामाजिक बन्धनों से जकड़े हुए साधारण लोगों की दृष्टि में जीवन का जो मूल्य है उसका विवेचन है। शेखर और क्रिस्ताफ़ें की मान्यताएं सामान्य सामाजिक मान्यताओं से भिन्न हैं और यही उनके संघर्षमय जीवन का कारण है।

शेखर और ज्यां क्रिस्ताफ़ें में अहं, भय, सेक्स इन तीन मूल वृत्तियों का क्रमगत विकास समान रूप में दिखाया गया है। समानता इतनी है कि कहीं-कहीं 'शेखर' के वाक्य के वाक्य अनुवाद-से लगते हैं और यह सन्देह होने लगता है कि 'शेखर' कहीं 'ज्यां क्रिस्ताफ़' का अनुकरण तो नहीं है? कुछ उदाहरण देखें

२७४ अहम्—बाल्यकाल में शेखर में 'अहम्' के विकास का आभास मिलता है। जब कभी उसे कोई काम दिया जाता है तब वह उसे अभिमान-भरी प्रसन्नता से करता है। माई के बीमार होने पर डाक्टर बुलाने का भार स्वीकृत कर वह बड़ी प्रसन्नता से जाता है।[1] क्रिस्ताफ़ को भाई की देखभाल करने का काम दिया जाता है तो वह बड़े आदमी के समान माने जाने के कारण अभिमान करता है।[2]

शेखर को खोजने से रोके जाने पर वह बड़ा होना चाहता है।[3] क्रिस्ताफ़ें को शरारत करने से रोके जाने पर वह भी बड़ा होकर सब कुछ अपनी इच्छानुसार करना चाहता है।[4]

शेखर कान्वेंट में शरारत करता है। जब इसके बारे में उसके पिता को रिपोर्ट भेजी जाती है तब उसका आहत अहम् उसे कान्वेंट छोड़ने की प्रेरणा देता है।[5] क्रिस्ताफ़ें

---

१ शेखर, भाग १ पृ० ५ ।

२. He was proud of being treated as a man."

—Jean Christophe, Part I P 41

३ शेखर भाग १ पृ ५९ ।

४ "His one idea was to grow up and be able to do as he liked"

—Jean Christophe, Part I P 42.

५ शेखर, भाग १ पृ० ५४-५५ ।

भी स्कूल में शरारत करता है और जब उसे दण्ड दिया जाता है तब वह अहंकार से स्कूल छोड़ देता है।[1]

शेखर भाई के पढ़ते समय कविता सुनकर कण्ठस्थ कर लेता है और सुनाता है। लेकिन जब उसे पढ़ने को कहा जाता है तब विद्रोह करता है और पढ़ने को तैयार नहीं होता।[2] ज्याँ क्रिस्तॉफ़ स्वयं बाजा बजाकर गाता है। उसकी संगीत की प्रतिभा जान जब उसे संगीत की शिक्षा दी जाती है तब वह भी विद्रोह कर बैठता है और गाने-बजाने से इन्कार करता है।[3]

ऊपर के प्रसंगों से स्पष्ट है कि शेखर और ज्याँ क्रिस्तॉफ़ के व्यक्तित्वों के विकास में कितनी समानता है। अन्य कई प्रसंगों में भी समानता द्रष्टव्य है।

२७५ भय—'अहम्' के बाद 'भय' का स्थान आता है। अज्ञेय और रोम्याँ रोलाँ ने इसका भी क्रमिक विकास दिखाया है और दोनों के कुछ प्रसंग बिलकुल मिलते हैं। दोनों उपन्यासों में मन में उत्पन्न होनेवाले भय को स्वप्न का रूप दिया गया है। अन्तर इतना ही है कि अज्ञेय ने शेखर के भय के विकास का प्रारम्भ उस समय से माना है जब वह अजायबघर में मृत जानवरों को देखकर डर जाता है। "उस दिन के बाद उसे भयकर स्वप्न आने लगे रात को वह चीख-चाख उठता और कभी जाग कर यदि पाता कि कमरे में अँधेरा है तब तो वह भयकार एक नहीं असंख्य बाघों से सजीव हो उठता एक से एक खूँखार"[4] रोम्याँ रोलाँ ने क्रिस्तॉफ़ के भय को इस तरह की घटना से अचानक उत्पन्न नहीं माना है। क्रिस्तॉफ़ का भय अज्ञात रूप में धीरे धीरे विकसित होता है। चूहों को देखकर ही वह डर जाता है। फिर यह भय उसके अन्दर ही क्रमशः विकसित होकर स्वप्नों का रूप धारण करता है। उस स्वप्न में दिखायी पड़नेवाले जानवर भ्रान्ति वास्तविक जीवन में देखे हुए नहीं हैं। जीवन की छोटी-छोटी बातों से जो भय होता है वह उसके मन में घर कर लेता है वे बातें विपर्यस्त बृहदाकार में स्वप्न में प्रकट होती हैं। जहाँ क्रिस्तॉफ़ के स्वप्नों का बाह्य आधार अधिक मुख्य नहीं है वहाँ उसका मानसिक आधार ठोस है। इसके बाद स्वप्नों का जो रूप रोलाँ ने दिखाया है वह शेखर के स्वप्नों से मिलता-जुलता है। भयंकर खूँखार जानवर क्रिस्तॉफ़ के स्वप्नों में भी प्रकट होते हैं "वह अँधेरे में रहस्यमय कुछ छिपा हुआ देखकर डर जाता—डरावनी आकृतियों को उसकी आँख की ताक में रहीं और गरजते हुए भयानक जानवर"।[5] कभी-कभी स्वप्न में मृत जानवर भी दीखते हैं।[6]

भय की चरम सीमा मरण का भय है। किन्तु बच्चों को मरण के प्रति भय के

---

१ Jean Christophe, Part I P 60.

२ शेखर, भाग १ पृ० ३३।

३ Jean Christophe, Part I, P 75-82.

४ शेखर, भाग १ पृ ३३।

५ Jean Christophe Part I, P 62.

६ Jean Christophe Part I, P 65

साथ-साथ जिज्ञासा का भाव भी रहता है। शेखर और क्लिस्ताफ़े में इन दोनों भावों के रूप कुछ भिन्न हैं। शेखर की मरण को जानने की इच्छा इतनी प्रबल है कि उसमें भय लुप्त-सा हो जाता है। एक बार नदी में कूदकर वह मरते-मरते बचता है इसके बाद भी उसे नहीं लगता कि डूबना कोई बड़ी बात है। यही नहीं वह स्वयं घोषणा करता है "अरे अभी हुआ क्या है अभी तो मैं फिर किसी दिन यह करूंगा। डूबकर देखूंगा मरना क्या होता है। मैं जरूर किसी दिन ऐसे ही मरूंगा।" इसके बाद जब कभी वह मरण के सम्बन्ध में सुनता है उसके मन में यह जानने की उत्कण्ठा होती है कि मरण क्या है और मरण के बाद क्या होता है। क्लिस्ताफ़े में भय अधिक है जिज्ञासा कम। माता से भाई की मृत्यु की बात सुनने पर उसके मन में उत्कण्ठा और भय दोनों उत्पन्न होते हैं। इसीका परिणाम है कि वह बैठे-बैठे सोचने लगता है 'यही मरना है, मैं बीमार हूँ मैं मरने जा रहा हूँ मैं मरने जा रहा हूँ'। यहां भी रोलाँ ने भय और उत्कण्ठा का निवास अवचेतन में माना है उनका बहिःस्फुरण प्रभाव रूप में ही होता है।

२७८ सेक्स—दोनों उपन्यासों में यौन-वृत्ति के क्रमिक विकास का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। पुरुष के मन में बाल्यकाल में ही स्त्री के प्रति जो अज्ञात आकर्षण होता है उससे लेकर जीवन की विभिन्न दशाओं में स्त्री के सान्निध्य अथवा सम्पर्क से होनेवाली प्रतिक्रियाओं के कई उदाहरण अज्ञेय और रोलाँ ने दिखाये हैं। इनमें कई स्थानों में थोड़ा-बहुत अन्तर है, परन्तु मौलिक रूप में शेखर तथा क्लिस्ताफ़े के लैंगिक विकारों के विकास में समानता है। यहां दो एक उदाहरण दिखाना पर्याप्त होगा।

फ्रायड के मतानुसार बाल्यकालीन यौन-वृत्ति बालक की मां के प्रति (इडिपस ग्रन्थि) और बालिका की पिता के प्रति (इलेक्ट्रा ग्रन्थि) आकर्षण के रूप में प्रकट होती है।[२] जैसे पहले कहा जा चुका है व्यक्ति की आसक्ति (कैथक्सिस) या तो स्वासक्ति के रूप में प्रकट होगी या किसी बाह्य वस्तु या व्यक्ति के प्रति उन्मुख परासक्ति के रूप में।[३] बाल्यकाल में क्लिस्ताफ़े की यौन-चेतना साधारण बालकों के समान इडिपस ग्रन्थि के रूप में प्रकट होती है। वह पिता से घृणा करता है माता से प्रेम। किन्तु शेखर असाधारण व्यक्ति है। वह मां से घृणा करता है और पिता से आकृष्ट है।

यहां एक प्रश्न उठता है। अज्ञेय ने स्वयं माना है कि "शेखर साधारण नहीं

१ शेखर, भाग १ पृ ८२।

२. लेकिन युंग इस आकर्षण को यौन-वृत्ति से प्रेरित नहीं मानते। उनके अनुसार, इसका कारण बालक या बालिका का दुर्बल शक्ति और रक्षा का भाव है।

—See, Jastrow Freud His dream and Sex Theories, P 40-41 and 97

३ देखें अनुच्छेद २७१ का समीकरण।

था वह अपने पिता का उपासक था। किन्तु क्या इस उपासना के भाव की दिशा बदली हुई यौन-वृत्ति मान सकते हैं? अगर लेखक ने ऐसा ही माना है तो उसके निष्कर्ष में लेखक को प्राप्त सफलता पर सन्देह होने लगता है। प्राय: जो बालक माता से घृणा करता है और पिता पर आसक्त रहता है उसमें एक 'स्त्रैणता ग्रन्थि' (फ़ेमिनीनिटी कॉम्प्लेक्स) दिखाई पड़ती है।[१] लेकिन शेखर में कहीं भी यह ग्रन्थि प्रकट नहीं हुई है। शेखर का पिता के प्रति उपासना का भाव भी 'आसक्ति' की सीमा तक नहीं पहुँचता। अत: उसे सैक्सिक रूप में मानना ही ठीक नहीं लगता। शेखर का यह 'उपासना' का भाव आदर से उत्पन्न है। पिता के पद और कुटुम्ब में उसके स्थान को देखकर बालक में उसके प्रति उपासना का भाव उत्पन्न होता ही है। पिता के प्रति इस तरह झुकने की प्रवृत्ति को मनोविज्ञान में 'अमम ग्रन्थि' या 'पुंसत्व-हरण-ग्रन्थि' (Castration Complex) कहा जाता है।[२] ज्ञात होता है कि शेखर में यही ग्रन्थि काम कर रही है। उसकी यौनासक्ति माता के प्रति न होकर बहन सरस्वती के प्रति उन्मुख होती है। यहाँ यह समझना चाहिए कि माता या बहन के प्रति इस तरह की आसक्ति किसी तरह के पापमय कर्म में परिणत हो यह जरूरी नहीं है। व्यक्ति स्वयं इस आकर्षण को नहीं जानता फिर भी वह आकर्षण में पड़ जाता है। बहन के प्रति उसकी यह भावना इस बात से प्रकट है कि वह उसे 'सरस' नाम देकर उसे प्यार से अपने मन में छुपाने लगता है।[३] यह प्रवृत्ति कुछ असाधारण नहीं है। वस्तुत: शेखर की असाधारणता यौन-प्रवृत्तियों से अधिक सम्बन्धित नहीं है। वह साधारण पुरुष के समान स्त्रियों से आकृष्ट होता ही है पर उसका अहम् इतना विकसित है कि वह अपने मन को दबा रखता है। क्रिस्तॉफ़ और शेखर में अन्तर यही है कि क्रिस्तॉफ़ माता के प्रति उन्मुख होता है तो शेखर बहन के प्रति। पिताओं के प्रति उनके भाव पिताओं के व्यक्तित्व से प्रभावित हैं।

बाल्यकाल के पश्चात् शेखर और क्रिस्तॉफ़ कई लड़कियों से आकृष्ट होते हैं और साधारण पुरुष के समान ही व्यवहार करते हैं। वयःसन्धि की दशा में युवतियों के सामने उनको आकृष्ट करनेवाली करामातें करना बालकों की सहज प्रवृत्ति है। जब जाँ क्रिस्तॉफ़ को पड़ोस की एक लड़की कायर कहती है,तब वह अपना साहस दिखाने के लिए बड़ी-बड़ी चीजों के ऊपर से कूदकर घायल हो जाता है। इसपर वह लड़की हँसती है तो उसका 'अहं' आमर्षित होता है और वह उसे पीटकर भाग जाता है।[४] लगभग इसी तरह का एक दृश्य 'शेखर' में भी है। शेखर शारदा के सामने अपना साहस दिखाने के लिए एक पेड़ पर चढ़ता है और नीचे गिरकर घायल हो जाता है।

---

१ शेखर भाग १ पृ० १२७।

२ Jastrow Freud, His Dream and Sex Theories P 201

३ Jastrow Freud His Dream and Sex Theories, P 201

४ शेखर, भाग १ पृ ८२।

५ Jean Christophe Part I P 48-49

जब शारदा इसपर हँसती है तब वह रूठकर यह प्रण करके चला जाता है कि वह फिर कभी शारदा के पास नहीं जायगा।[1] क्रिस्ताफ़े और शेखर की इस प्रवृत्ति को एक प्रकार की 'प्रदर्शन-वृत्ति' (Exhibitionism) कहा जा सकता है।

लड़कियों के प्रति आकर्षण का एक-एक प्रसंग और देखिए जिसमें शेखर और क्रिस्ताफ़े प्रायः समान व्यवहार करते हैं। शान्ति से शेखर के तथा मिना से क्रिस्ताफ़े के मिलन के सन्दर्भों की तुलना की जाय। शेखर "अवसर उसकी आँख बचाकर अपने घर के एक ओर खड़ा होकर शान्ति की ओर देखा करता। 'शान्ति कभी आँख उठाकर उसकी ओर देख लेती तो वह तत्काल वहाँ से हट जाता।'[2] क्रिस्ताफ़े भी अपने घर के एक खंभे पर चढ़कर पड़ोस की मिना को देखता है और जल्दी ही उतर जाता है।[3] इसके बाद शान्ति के बुलाने पर शेखर उसके पास जाता है तो मिना के बुलाने पर क्रिस्ताफ़े उसके घर जाता है। अंतर इतना ही है कि मिना शान्ति के समान बीमार नहीं है और उसके साथ उसकी माता भी क्रिस्ताफ़े से परिचित होती है। इसके बाद शेखर के शान्ति को कविता सुनाने और क्रिस्ताफ़े के मिना को संगीत सिखाने में तथा शान्ति के शेखर की अंगुलियाँ पकड़कर अपनी ठोड़ी पर दबाने और मिना के अपना हाथ क्रिस्ताफ़े के होंठों पर दबाने में भी समानता है।[4]

और एक प्रसंग का भी उल्लेख करके इस तुलना को समाप्त करना उचित होगा। शेखर का कुमार से तथा क्रिस्ताफ़े का ओटो से समलिंगिक प्रेम भी तुलनीय है। शेखर कुमार को मित्र बना लेता है और उसकी बड़ी सहायता करता है। विपर्यस्त यौन-आसक्ति से विकसित यह प्रेम चूमा चूमी तक पहुँचता है। शेखर कुमार पर अधिकार रखना चाहता है और उससे कहता है 'कुमार, यदि मेरे अतिरिक्त तुम और किसीके हुए तो मैं तुम्हारा गला घोंट दूँगा।'[5] क्रिस्ताफ़े की बात भी इससे भिन्न नहीं है। उनका चुम्बन का आदान प्रदान साधारण सीमा पार कर पत्रों द्वारा भी होता है। शेखर के समान ही क्रिस्ताफ़े ओटो से कहता है "सुना तुम मुझे भूलोगे मुझे धोखा दोगे तो मैं तुम्हें कुत्ते की भाँति मार डालूँगा" तुम्हें मेरे अतिरिक्त और किसीसे भी प्रेम करने नहीं दूँगा।[6]

ऊपर के प्रसंगों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि मूल मानसिक वृत्तियों के विकास में 'शेखर' और 'ज्याँ क्रिस्ताफ़े' में कितनी समानता है। उद्धृत सभी प्रसंग उक्त उपन्यासों के प्रथम भाग से हैं। अन्य भागों में शेखर और क्रिस्ताफ़े सामाजिक जीवन में प्रविष्ट होते हैं और सामाजिक वातावरण को अधिक स्थान मिलता है। माध्य

१ शेखर भाग १ पृ० १७२।

२ शेखर भाग १ पृ १११।

३ Jean Christophe, Part I, P 246.

४ शेखर, भाग १ पृ ११४ और ज्याँ क्रिस्ताफ़े भाग १ पृ २२०-२२१।

५. शेखर, भाग १ पृ १०६।

६. Jean Christophe, Part I P 209 and 211

और यूरोप के वातावरण बहुत भिन्न हैं अतः उपन्यासों में भी काफी अन्तर आ गया है। फिर भी दोनों नायकों की मौलिक प्रवृत्तियाँ बहुत कुछ समान ही रहती हैं। दोनों विद्रोहियों के रूप में प्रकट होते हैं। दोनों के चिन्तन का आधार वैयक्तिक दृष्टि से समाज का निरीक्षण है। साधारण लोग समाज की प्रवृत्तियों का जो मुख्य निर्धारित करते हैं उन सबका निषेध करके शेखर और क्रिस्ताफ़े नये ढंग से और बौद्धिक दृष्टिकोण से पुनर्मूल्यांकन करते हैं।

हिन्दी के कुछ उपन्यासों में मूल वृत्तियों का भुवत्व

व्यक्ति में परस्पर-विरोधी शक्तियों का जो अस्तित्व है उसका उल्लेख किया जा चुका है। (अनु २९१)। अब हम देखें हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में इनका समावेश कहाँ तक हुआ है।

२७७ प्रथम प्रथम जैनेन्द्र के कुछ उपन्यासों को लें। 'सुखदा' में सुखदा और कान्त के पारस्परिक सम्बन्ध को लीजिए। दोनों के प्रेम में कोई भी कमी नहीं है। विशेषकर कान्त के व्यवहार ऐसे हैं कि लगता है वह पत्नी से बहुत प्रेम करता है उसे हर तरह की स्वतंत्रता देने को तैयार है और उसकी हर बात मानता है। वह सुखदा से दबता-सा ही ऐसा ज्ञात होता है। पर क्या दमित होने के इस भाव में उसके प्रेम के अतिरिक्त कुछ नहीं है? सुखदा इस प्रश्न का उत्तर देती है 'मेरे स्वामी जब कभी मुझसे बात कहते बहुत धीमे कहते और इस प्रकार कहते मानो अपनी इच्छा का आरोप मुझपर बिलकुल न करना चाहते हों इसी मिठास में तो उनका अधिकार-गर्व छिपा है। यह मिठास लेप है भीतर कठिन परपरता है।' यह नहीं कहा जा सकता कि कान्त सुखदा से प्रेम नहीं करता या उसे दबाना चाहता है। फिर भी यह स्पष्ट है उसे पूर्ण स्वतंत्रता देते हुए भी उसके मन के अन्दर के स्तर में उसे दबाने की प्रवृत्ति निहित है। इसी तरह 'विवर्त' में जब जितेन भुवनमोहिनी का हरण कर लेता है और उसे कष्ट देता है तब भी उसका हृदय भुवनमोहिनी के प्रति प्रेम से वंचित नहीं है। इन दोनों प्रसंगों में मूल वृत्तियों का भ्रुवत्व देख सकते हैं।

२७८ इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में भ्रुवत्व के अधिक स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं। 'प्रेत और छाया' में बैजनाथ अपने पुत्र पारसनाथ से अपार घृणा करने वाले व्यक्ति के रूप में ही प्रकट होता है और प्रायः सम्पूर्ण उपन्यास में उसका यही रूप दिखायी देता है। पारस भी यह अच्छी तरह जानता है कि उसका पिता उससे घृणा करता है।[२] लेकिन इस घृणा के अन्दर भी अपार प्रेम छिपा हुआ है जैसेकि उपन्यास के अन्त में स्पष्ट होता है। बैजनाथ स्वयं मानता है, 'चूँकि मैं भीतर ही भीतर इतना अधिक चाहता था इसलिए तुमसे बेहद

१ सुखदा पृ ९१।
२. प्रेत और छाया पृ ११।

करता'[1] यहां प्रबल घृणा और प्रेम का है। 'परदे की रानी' भी निरंजना का व्यक्तित्व ही उसकी अन्तर्निहित 'जीवन-वृत्ति' एवं 'मरण-वृत्ति' के संघर्ष का प्रतीक है। उसका प्रेम इतना तीव्र है कि वह अपना सब कुछ पुरुष के सामने रखने को तैयार रहती है। साथ-साथ उसमें जो विध्वंसकारी शक्ति है वह पुरुष को मोहित कर उसका सर्वनाश करने को प्रयत्नशील रहती है। वह इन्द्रमोहन को अपने शब्दों से अपमानित कर डाकखाने के नीचे प्राण विसर्जन करने को विवश करती है, पर उसी समय उसके प्रति निरंजना का प्रेम भी अपनी चरम सीमा पर है।

'जीवन-वृत्ति' और 'मरण-वृत्ति' (Eros and Thanatos) के प्राबल्य का अधिक सुन्दर उदाहरण 'निर्वासित' के धीराज में मिलता है। उसकी आशा में भी निराशा है जीने में भी मरने की छाया है। वह स्वयं कहता है 'प्रेम की अनुभूति मेरे भीतर जितनी अधिक प्रबल होती जाती है विषाद और मृत्यु की छाया भी उसी हद तक घनी और अंधेरी होती जाती है।'[2] इन रचनात्मक तथा विनाशात्मक शक्तियों का अस्तित्व अन्य जीवियों में भी है। सृष्टि और विनाश प्रकृति की अनिवार्य आवश्यकतायें हैं। अतः प्रकृति ने 'प्रेम' (रचनात्मक शक्ति) तथा मरण (विनाशात्मक शक्ति) के बीच में अटूट सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। जोशीजी ने विच्छू आदि जीवियों के सम्बन्ध में कहा है 'इन सब जीवों की अज्ञात चेतना निश्चय ही जानती होगी कि उनके प्रेम का परिणाम विनाश है पर इस पूर्व अनुभूति के बावजूद वे प्रेम से नहीं कतराते और इच्छापूर्वक उस निश्चित विनाश को स्वीकार करते हैं क्योंकि प्रजा-विस्तार के लिए वह आवश्यक है। प्रेम एक रोग है, पर वह सहज रोग है, जिसे प्रकृति ने जीवों के विनाश के लिए आकर्षक बनाया है।[3]

'निर्वासित' के महीप में तथा 'संन्यासी' के नन्दकिशोर में हिंसा-अहिंसा और राग-विराग की जो वृत्तियां हैं उनमें भी मूल वृत्तियों का प्राबल्य देख सकते हैं। विशेषकर 'निर्वासित' में यही प्रबल्य महीप के मानसिक द्वन्द्व का कारण है। कभी हिंसा-वृत्ति प्रबल रहती है और कभी अहिंसा-वृत्ति। ऐसे समयों में उसके आचरण भी क्रमशः विनाशकारी या रचनाकारी हो जाते हैं। यह अनुच्छेद २७ में दिये गये समीकरण का एक उदाहरण है।

अब 'मुक्तिपथ' के राजीव के व्यक्तित्व को लें। सुनीता के प्रति उसके मनोभाव और आचरण में दो विरोधी प्रवृत्तियां काम कर रही हैं बचने की और दबाने की। अत्यन्त सशक्त व्यक्तित्व से युक्त वह युवक सुनन्दा के सामने बिलकुल अशक्त और क्षुद्र हो जाता है। दूसरे व्यक्तियों के आगे वह अपने अन्तस्तल की समस्त विद्रोही शक्तियों को एकत्रित करके उनके हृदय में एक अज्ञात भय और सम्भ्रम का भाव

---

१ प्रेत और छाया पृ० १८८।
२. निर्वासित पृ० ८२।
३ निर्वासित, पृ० १४१।

संचालित करने में समर्थ होता था। पर इस तेजस्विनी के आगे उसकी सारी शक्तियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती थी और वह अपने को अत्यन्त क्षुद्र और घृणित समझने लगता था।[1] लेकिन इसी दम्यता-वृत्ति के साथ-साथ उसमें दमन-वृत्ति भी काम कर रही है और जो धीरे धीरे विकसित होती है। इसीका परिणाम है कि वह सुनन्दा से कोई सम्बन्ध न रखकर भी उसके व्यक्तित्व अपनी इच्छानुसार गढ़ना चाहता है। इसी कारण सुनन्दा उस समय तक उसे छोड़ जाती है जब उसका अपना व्यक्तित्व काफी सबल हो जाता है। राजीव के व्यक्तित्व की विशेषता यह है कि उसमें अपार शक्ति है। प्रारम्भिक दशा में उसकी सारी शक्ति अन्तर्मुखी रहती है अत उसकी स्वातशक्ति भी प्रबल है। उसकी मानसिक शक्तियों में सघर्ष-सा चलता रहता है। उसकी प्रबल वैयक्तिकता स्पष्ट दिखायी पड़ती है। लेकिन जब वह इस शक्ति को बहिर्मुखी बनाकर सामाजिक कार्यों में लग जाता है तब उसका वयक्तिक व्यक्तित्व (Individual Personality) उतना सबल नहीं ज्ञात होता। अनुच्छेद २७१ का समीकरण इसे स्पष्ट करता है।

३

मानसिक कार्य-पद्धतियाँ (Mental Mechanisms)

२७२ मनुष्य की सभी क्रियाएं कुछ मानसिक शक्तियों के द्वारा नियंत्रित होकर चलती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मनुष्य हर एक काम जान-बूझकर करता है। वस्तुत जो क्रियायें अनजान में ही की जाती है वे भी कुछ मानसिक क्रियाओं से प्रेरित ही रहती है। विशेषता केवल यही है कि प्रेरणा मन के चेतन स्तर से नहीं आती एक अज्ञात अचेतन मन से आती है। अत बाह्य क्रियाओं को नियमित करनेवाली शक्तियो के रूप में चेतन और अचेतन मानसिक क्रियाओं का विशेष महत्व है। इन मानसिक शक्तियों के क्रियाशील रूपों को 'मानसिक कार्य-पद्धतियाँ' (Mental Mechanisms) या 'मनोव्यापार' कहा जाता है। 'मनोव्यापार' अर्द्ध स्वसचालित होते है और दमित मानसिक ग्रन्थियों से उत्पन्न होकर अचेतन द्वारा निर्णीत लक्ष्यों के प्रति उन्मुख होते है।[2]

मुख्य मनोव्यापारो में आरोपण (Projection) तादात्मीकरण (Identification) स्थानान्तरीकरण (Transference) निदर्शन (Suggestion) दमन (Repression) उदात्तीकरण (Sublimation) युक्ति (Rationalisation) बद्धता (Fixation) प्रत्यावर्तन (Regression) स्वप्न (Dream) आदि मुख्य है। हिन्दी उपन्यासों में यत्र-तत्र मनोव्यापारों से सम्बन्धित जो बातें आयी है, उनका अध्ययन करते समय यह बात याद रखनी चाहिए कि अधिकांश स्थानों पर लेखकों ने मनोविश्लेषण के ध्येय से ऐसे प्रसंगों का निर्माण नहीं किया है बल्कि वे जीवन के चित्रण

---

१ मुक्तिपथ पृ २१२२।

२ Drever A Dictionary of Psychology P 163.

में अनायास हो आ गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि केवल इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय ने कहीं-कहीं जान-बूझकर मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया है। अन्य लेखक विशेष रूप से मनोविज्ञान को महत्व देते दिखाई नहीं देते अतः उनके उपन्यासों में प्राप्य मनोवैज्ञानिक तत्वों में वैज्ञानिक दृष्टि का अभाव हो तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

हिन्दी उपन्यास में मनोव्यापार

१ मानसिक उदात्तीकरण (Psycho Sublimation)

२८० जब मनुष्य अपनी समाज विरोधी नैसर्गिक प्रवृत्तियों को दमित रखकर अपने सामाजिक उत्तरदायित्व का पालन करने का प्रयत्न करता है तब दमित वासनायें किसी न किसी समाजानुमोदित नैतिक रूप में प्रकट होती हैं। इस प्रवृत्ति को उदात्तीकरण कहते हैं। इस प्रकार विकसित होनेवाली प्रवृत्तियाँ समाजानुमोदित ही नहीं होती समाज-कल्याणकारी भी होती हैं। मानव-सभ्यता का आधार मुख्यतया उदात्तीकरण है। मौलिक नैसर्गिक वासनाओं की दिशा बदलकर सामाजिक विकास को प्रेरणा देनेवाली बात यही है। किसी व्यक्ति का दमित प्रेम काव्य निर्माण की प्रेरणा बन सकता है। परपीड़न की प्रवृत्ति दमन से उदात्तीकृत होकर आत्मपीड़न का रूप ले सकती है।[१] गांधीजी के ब्रह्मचर्यादि सत्य अहिंसा आदि कारण बाल्यकालीन मांस असत्य आदि का दमित होकर उदात्तीकृत होना है।

२८१ जैनेन्द्र के उपन्यासों में—पहले हम कह आये हैं कि 'त्यागपत्र' 'परख' आदि के पात्रों के आदर्शों को उदात्तीकरण के उदाहरण नहीं समझना चाहिए।[२] ऐसा मानने का कारण यही था कि उपन्यास को पढ़ने पर ऐसा नहीं लगता कि जैनेन्द्र ने इस मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति का विश्लेषण करने के लिए मृणाल कट्टो सत्यधन आदि पात्रों का निर्माण किया है। कुछ आदर्शों की स्थापना के लिए ही उन्होंने उन पात्रों की सृष्टि की है। यहां उस पूर्व मत को दूर रखकर 'त्यागपत्र' और 'परख' में जो उदात्तीकरण है उनको देख क्योंकि जीवन के प्रत्येक आदर्श की प्रेरणा किसी न किसी तरह का उदात्तीकरण ही होती है। अतः यहां हम यह मानते हुए भी कि जैनेन्द्र ने जान-बूझकर उदात्तीकरण के उदाहरण प्रस्तुत नहीं किये हैं उनके पात्रों के उदात्तीकरण का विश्लेषण करेंगे। 'परख' में कट्टो की स्वाभाविक प्रवृत्ति ही दमित होकर उदात्तीकृत होती है। जैनेन्द्र ने उसकी मानसिक प्रक्रियाओं की विविध दशाओं को स्पष्ट किया है। वह सत्यधन से विवाह नहीं कर सकती तो विवाह का ही विरोध करने लगती है। यह मानसिक प्रतिक्रिया की प्रथम दशा है। इस निष्क्रिय दशा के बाद दूसरी सक्रिय दशा आती है। यौन-जीवन में विफल होकर वह अपनी 'जीवन-शक्ति'

१ Based on—Brown The Psychodynamics of Abnormal Behaviour P 172 173

२ देखें अनुच्छेद गयम की पाद-टिप्पणी।

(Eros) को दूसरी ओर लगाती है—ग्रामीण बालक-बालिकाओं को पढ़ाने में। सामान्य दृष्टि से ऐसा काम तो यह अत्यन्त अस्वाभाविक और असाधारण है, पर बिलकुल असंभव नहीं है।

'त्यागपत्र' की मृणाल पतित होने पर भी एक आदर्श पात्र है। पति से अनादर पाती हुई वह अपने विद्रोह-भाव को दबाती है। उसका विद्रोही एवं अहंकारी व्यक्तित्व इसस स्पष्ट है कि वह अपने पति से अनादर पाकर भी भाई के घर जाने से इनकार कर देती है। यही स्वयं मूक होनेवाला उसका आत्मपीड़न उदात्तीकरण का उदाहरण माना जा सकता है। समाज के बन्धनों को तोड़ने का प्रयत्न किए बिना किंचित प्रति विरोध दिखाये बिना वह अपने-आपको पीड़ा देने लगती है। उसका पतन विलासिता के कारण नहीं होता। "वेश्यावृत्ति नहीं करने लगूँगी इसका विश्वास है। जिसको तन दिया उससे पैसा कैसे लिया जा सकता है?" उसके इन शब्दों से प्रकट है कि पतन में भी आन्तरिक उदात्तता है।

२८२ इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में—जोशीजी के उपन्यास 'मुक्तिपथ' में उदात्तीकरण का उत्तम उदाहरण है। उसके कथानक का आधार ही राजीव की मानसिक प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण है। राजीव के बाल्यकाल की परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि उसे मैथुनिक वासनाओं और विचारों को दबाना पड़ता है। इसके परिणामस्वरूप वह सुनन्दा से आकृष्ट होने पर भी उसे अपनी वासना की तृप्ति का उपकरण बनाना नहीं चाहता। इस आत्मदमन के दो परिणाम होते हैं। वह अपने लिए कोई सुख नहीं चाहता सब तरह के कष्ट सहकर भी अपना जीवन अन्यों के लिए अर्पित करना चाहता है। समाज-विरोधी वासना ही दमित होकर उदात्तीकृत हो जाती है। दूसरी ओर उसका अवचेतन भी उसकी प्रवृत्तियों को नियमित करता है। उसकी कुण्ठित मनोवृत्ति की प्रतिक्रिया सुनन्दा के प्रति होती है। वह स्वयं भौतिक सुखों से विरक्त है तो सुनन्दा क्यों उन सुखों का अनुभव करे? राजीव अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से सुनन्दा के व्यक्तित्व को अपना-सा बनाना चाहता है। वस्तुतः यह उसके अवचेतन की प्रवृत्ति है जिसे वह स्वयं नहीं जानता। ऊपर से तो ऐसा लगता है कि वह सुनन्दा को रूढ़ियों के बन्धन से निकालकर समाज के विशाल क्षेत्र में लाना चाहता है। सुनन्दा के प्रति राजीव के इस भाव को छोड़कर उसके व्यक्तित्व के अन्य पक्षों को लें तो हमें उदात्तीकरण का उदाहरण मिलेगा।

'संन्यासी' के नन्दकिशोर और 'निर्वासित' के महीप के चरित्र भी अन्त में उदात्तीकृत हो गये हैं। दोनों का अपने-अपने बाल्यकाल में ही अन्तस् मुखापेक्षी चेतना की तृप्ति का मार्ग सरल नहीं दीखता। शान्ति से प्रणय सम्बन्ध जोड़कर और जयन्ती से विवाह करके भी नन्दकिशोर तृप्ति नहीं पाता। अतः उसकी अतृप्त वासना आत्मतुष्टि के लिए अन्य मार्गों का अवलम्बन करती है। नन्द संन्यासी बनता है फिर देश-सेवा करके जेल जाता है। कई लड़कियों से आकृष्ट महीप विशेष किसी से प्रेम न कर सकने से पहले आतंकवादी क्रान्तिकारी और फिर अहिंसावादी बन जाता

२८३ 'शेखर' में—अज्ञेय के शेखर का चरित्र भी

उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। शेखर के बाल्यकाल के विद्रोही व्यक्तित्व के समाज विरोधी रूप को लेखक ने बिलकुल स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। वह अपनी अपार बुद्धि और प्रतिभा से जो कुछ करता है यथार्थ ही करता है। इस तरह निरन्तर यथार्थ करनेवाला यही बालक अन्त में समाज की भलाई के सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन करने लगता है और सक्रिय रूप में भी बहुत कुछ करता है। मानव-सहज काम-वृत्ति को भी वह दबा रखता है जिससे उसे और अधिक शक्ति प्राप्त होती है। इस तरह शेखर का चरित्र भी सामान्य रूप में उदात्तीकृत हो गया है।

उपर्युक्त उदाहरणों से एक बात यह स्पष्ट होगी कि हिन्दी के अधिकांश मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में जो उदात्तीकृत आदर्श मिलता है उसकी मूल प्रेरणा नैतिक जीवन में परिस्थिति के कारण आनेवाली असंतृप्ति ही है। सेक्स-सम्बन्धी कुण्ठा के अतिरिक्त जीवन के अन्य मैराश्यमय पक्षों का बहुत कम अध्ययन किया गया है।

२ आरोपण (Projection)

२८४ सामान्यतः मनुष्य में अपने दुर्गुणों को तथा अपने जीवन के घृणित पक्षों को अन्यों की दृष्टि से छिपा रखने की प्रवृत्ति होती है। इसके साथ-साथ उसमें और एक विचित्र प्रवृत्ति भी दिखायी पड़ती है वह यह है कि समय-समय पर वह दूसरों में उन दुर्गुणों के होने की कल्पना करता है। स्वत्व (Ego) को जो-जो गुण (या दोष) अस्वीकार्य हैं उन सबको परिवेशीय वस्तुओं अथवा व्यक्तियों पर आरोपित करने की इस प्रवृत्ति को 'आरोपण' अथवा 'प्रोजेक्शन' (Projection) कहा जाता है।[1] प्रत्येक मनुष्य में आरोपण-मनोभाव थोड़ा-बहुत होता ही है। 'तुम भी ऐसे ही हो' 'तुमने भी ऐसा किया था' ऐसे कथन जो प्रायः सुनने में आते हैं इसीके उदाहरण हैं। 'आरोपण' में यह आवश्यक नहीं है कि आरोपण करनेवाला व्यक्ति अपने मनोव्यापारों को जाने। प्रायः नहीं होता है कि वह स्वयं अपने दोषों को स्वीकार नहीं करता इसीलिए उसके अनजाने ही उसका अवचेतन दूसरों पर दोषारोपण करके सन्तुष्ट हो लेता है।

२८५ प्रेत और छाया में—यहां हम उन उपन्यासों को छोड़ देते हैं जिनमें पति स्वयं लम्पट होकर पत्नी के चरित्र को सदा सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। वैसे जीवन में यह प्रवृत्ति आरोपण ही है किन्तु हमारे उपन्यासों में इसे मनोवैज्ञानिक रूप नहीं दिया गया है। प्रायः ऐसे प्रसंगों में लेखक का उद्देश्य केवल सामाजिक अत्याचारों को प्रकाश में लाना ही होता है। यहां केवल 'प्रेत और छाया' को लेंगे जिसमें आरोपण स्पष्टतः आया है।

प्रस्तुत उपन्यास में पारसनाथ का पिता बैजनाथ अपनी पत्नी पर यह लांछन लगाता है कि वह कुलटा है और उसका तथाकथित पुत्र पारसनाथ वस्तुतः किसीकर

1 Based on—Brown the *Psychodynamics of Abnormal Behaviour* P 175

नैना का पुत्र है। इस दोषारोपण का मनोवैज्ञानिक कारण ढूँढें तो ज्ञात होगा कि बैजनाथ स्वयं लम्पट है। पत्नी वस्तुतः सती है बैजनाथ उसके योग्य नहीं है। बैजनाथ में अबोधावस्था में यह हीनता-ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है। पर उसका स्वत्व (ईगो) यह मानने को तैयार नहीं है कि वह स्वयं दुष्ट है और पत्नी साध्वी है। इसीके परिणाम में वह पत्नी पर कलंक लगाता है। इस बहाने से शराब पीते हुए और भूतनी स्त्रियों के पीछे पड़े हुए उसके आचरण नहीं प्रकट करते हैं कि लम्पटता उसमें पहले ही थी। ये सब बातें उसके अपने ही शब्दों से स्पष्ट हो जाती हैं "मैं भली भांति जानता था कि तुम्हारी माँ के रक्त की एक-एक बूंद में सतीत्व की भावना कूट-कूटकर भरी हुई है। शायद इसीकी प्रतिक्रिया के फल से मेरे विकृत मन को यह विश्वास करने की इच्छा हुई कि वह चोर असती है।"[1] बैजनाथ के चेतन और अचेतन मन की यह द्वन्द्वात्मक कथा अन्त तक बनी रहती है और वही उसे अनैतिक जीवन के प्रति उन्मुख करती है। अन्त में यह रहस्य खुल जाता है और वह अपने आचरणों का वास्तविक कारण समझ सकता है।

३ निर्देशन

२८६ कोई व्यक्ति परिस्थिति या किसीके विचार, वचन क्रिया आदि के कारण अपने मन में संजात किसी धारणा के आधार पर व्यवहार करे तो उस प्रवृत्ति को निर्देशन (Suggestion) कहते हैं। जिस व्यक्ति में निर्देशन की प्रतिक्रिया होती है वह अपनी विवेचना-शक्ति का उपयोग नहीं करता।[2] प्रेरक शक्ति अज्ञानावस्था में ही उसके अवचेतन में सक्रिय होती है और व्यक्ति की प्रवृत्तियों को संचालित करती है। यह प्रेरक शक्ति व्यक्ति में किसी तरह की निश्चित प्रक्रिया-प्रवृत्ति (Previous positive response tendency) निर्मित करती है और उसीके अनुसार वह किसी परिस्थिति में प्रवृत्त होता है।[3] निर्देशन शक्ति भी विभिन्न प्रकारों की हो सकती है जैसे पूर्वग्रह सहानुभूति अन्धविश्वास आदि। प्रायः त्रुटिपूर्ण विश्वास या धारणाएं (Erroneous belief) भी प्रवृत्ति-निर्देशन करती हैं।[4]

२८७ 'प्रेत और छाया' में—जैसे ऊपर कहा गया है, 'प्रेत और छाया' का नायक पारसनाथ बाल्यकाल में ही पिता से यह जान लेता है कि उसकी माता सती नहीं है और जिसे वह पिता कहता था वह वस्तुतः उसका पिता नहीं है।

---

१ प्रेत और छाया पृ ३८४।

२. "Suggestion means the influencing or another's thought or action by certain stimuli in situation where the recipient does not use his critical judgment."

—Young Personaliy and Problems of Adjustment, P 90.

३ McKinney Psychology of Personal Adjustment, P 89

४ McKinney Psychology of Personal Adjustment, P 92.

पिता की इस बात के सच न होने पर भी पारस उसपर विश्वास करता है और भ्रान्तिमूलक विश्वास उसके सम्पूर्ण चरित्र को प्रभावित करता है। वह सोचता है कि उसकी माता सती नहीं है अतः कोई स्त्री सती नहीं होती। उसका विवेक यहाँ काम नहीं करता। भ्रान्त विश्वास के नीचे विवेक दब जाता है। जब उसमें यह विश्वास आ जाता है कि स्त्रियाँ सब चरित्रहीन होती हैं तो वह अपने संपर्क में आनेवाली सभी स्त्रियों को पतित करने का प्रयत्न करता है। किसीसे न उसका पवित्र प्रेम है न सात्त्विक वासना। बात केवल यही है कि स्त्रियों का चरित्र भंग करने में उसे एक तरह का पाशविक उल्लास मिलता है। वह कहता है 'मेरा भ्रम व विश्वास है कि संसार में केवल वे ही स्त्रियाँ सती-साध्वी होने का ढोंग रच सकती हैं जिन्हें या तो समाज के कड़े बन्धनों ने स्वेच्छाचरण का मौका नहीं दिया है या जिन्हें वांछित पुरुष प्राप्त नहीं हो पाये हैं। मैं अभी यदि किसी साध्वी स्त्री के पीछे पड़ जाऊं तो देखूं कि वह अपने सतीत्व को किस हद तक कायम रख सकती है।'[1] वह कई उच्च एवं निम्न श्रेणी की स्त्रियों से सम्बन्ध स्थापित करता है। इन सम्बन्धों का विश्लेषण करते हुए जोशी-जी कहीं-कहीं अधिक जटिल मानसिक व्यापारों को भी स्पष्ट करते हैं। मुन्नीरिया की पत्नी नन्दिनी को जब तक सती-साध्वी समझता है उसे कलंकित करने की चेष्टा करता है और भगा ले जाता है। लेकिन जब उसे ज्ञात हो जाता कि उसकी बहन वेश्या है तब उसे विश्वास हो जाता है कि नन्दिनी भी जवानी में अपना चरित्र बेचती रही होगी। इस विश्वास के आ जाने पर नन्दिनी से उसकी दिलचस्पी नष्ट हो जाती है। स्पष्ट है कि पारस का आनन्द केवल सती-साध्वियों को पतित करने में है और इसका कारण उसकी अपनी माता के संबन्ध में हुई धारणा ही है जो चेतन में अव-स्थित रहकर अवचेतन में भ्रमपूर्ण अन्य धारणायें निर्मित करती है।

अन्त में जो परिवर्तन पारस में आता है उसका मनोवैज्ञानिक आधार अधिक दृढ़ ज्ञात नहीं होता। उसका पिता मरण के समय उसे बता देता है कि उसकी माता सती थी। इस समय उसके चरित्र में फिर परिवर्तन आ जाता है और वह अपनी पूर्व धारणाओं और तत्संचालित प्रवृत्तियों को छोड़कर एक वेश्या से विवाह कर लेता है, जिससे उसका सम्बन्ध था। प्रथम निर्देशन द्वारा वर्षों तक नियंत्रित उसका जीवन अब एकदम बदल जाता है यह कुछ अस्वाभाविक-सा लगता है। ऐसा लगता कि यहाँ जोशीजी का ध्यान किसी मनोवैज्ञानिक तत्त्व से अधिक इस बात पर रहा है कि उपन्यास का अन्त आदर्शवादी हो।

४ विस्थापन (Displacement)

२८८ किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति मन में उत्पन्न होनेवाला संवेग अपनी तृप्ति का उपाय न देखकर और किसी अनधिकारिक वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति उन्मुख

---

१ प्रेत और छाया पृ० ९१।

हो जाय तो उस प्रवृत्ति को 'विस्थापन' कहा जाता है ।[1] प्रायः देखा जाता है कि कोई व्यक्ति उच्च पद के किसी व्यक्ति के प्रति कुपित हो तो क्रोध को प्रकट करने में असमर्थ होकर उसे तत्काल पी जाता है किन्तु अपने से निम्न स्तर के लोगों (जैसे घर के लोग नौकर आदि) पर सारा क्रोध उतार देता है । यही प्रवृत्ति विस्थापन है । विस्थापन अच्छे या बुरे भावों का हो सकता है ।

१८६ जैनेन्द्र के 'विवर्त' में जितेन का क्रान्तिकारी बनना उसकी हिंसा-वृत्ति के विस्थापन का परिणाम है । आर्थिक असमता के कारण वह एक धनी की पुत्री भुवनमोहिनी से विवाह नहीं कर सकता । इसके परिणाम में उसके प्रति जितेन के मन में जो हिंसा-वृत्ति होती है वह अपनी स्वाभाविक दिशा में प्रवृत्त होने का अवसर न पाकर ट्रेन गिराना आदि हिंसक कार्यों का रूप धारण कर लेती है । भुवनमोहिनी को छुरा से मारना भी धमकी देना उसके प्रति जितेन की निराशाजनित हिंसा-वृत्ति का परिचायक है । यही हिंसा-वृत्ति दिशा बदलकर अन्य विनाशकारी कार्यों में परिणत होती है ।

मनोव्यापार के विस्थापन का एक उदाहरण 'गुनाहों का देवता' में मिलता है । चन्दर जो सुधा से प्रेम करता है सुधा के और किसी पुरुष से विवाह हो जाने पर [illegible] प्रवृत्ति का पात्र बनता है । सुधा के प्रति उसका जो आकर्षण था वह अब पम्मी के प्रति हो जाता है जो उसके प्रेम के लिए अनाम है । पम्मी की [illegible] उसे [illegible] । उसके मनोव्यापार अचेतन से ही सम्बन्धित हैं । अब उसे लगता है कि सुधा के प्रति उसका प्रेम केवल एक सनक थी ।[2]

४

अचेतन का अध्ययन

अचेतन मन का अध्ययन आज के मनोवैज्ञानिक उपन्यास की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रवृ[illegible] । मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन बहुत कुछ उसके अचेतन से ही संचा[illegible] है । जैसे 'सम्पूर्ण जीवन को अचेतन मन रूप देता है उसी प्रकार मन[illegible] प्रत्य[illegible]' प्रवृत्ति को भी वह नियमित करता है । व्यक्ति की कोई भी प्रवृत्ति [illegible] होती । हर एक प्रवृत्ति अपने प्रकटन के पहले ही नियत (Determ[illegible]) [illegible] रहती है । हमारे व्यक्तिगत बाह्य आचरण मानसिक संघर्ष अन्य व्य[illegible] के प्रति हमारी प्रतिक्रियायें आदि के पीछे अचेतन की कोई न [illegible] प्रेरणा रहती है । अतः जीवन के सूक्ष्म और ठीक-ठीक ज्ञान के लिए अचेतन की [illegible] और [illegible] प्रेरणाओं का अध्ययन आवश्यक हो जाता है ।

---

१ Drever A Dictionary of Psychology P 69

२ गु[illegible] पृ [illegible] ।

मन के तीन स्तर

२१० मन की चेतनावस्था और पूर्ण अचेतन अवस्था के बीच की दशाओं को मनोविज्ञान ने तीन स्तरों में विभक्त किया है (१) इद या केवल-स्वत्व या प्राकृत स्वत्व (२) ईगो या स्वत्व और (३) सुपर ईगो या उपरि-स्वत्व या नैतिक स्वत्व। साधारण वयःप्राप्त व्यक्ति में ये तीनों प्रवृत्त रहते हैं।

इद (Id) केवल-स्वत्व व्यक्ति की जीवन-वृत्ति और मरण-वृत्ति का केन्द्र होता है और उसकी समस्त रचनात्मक तथा विनाशात्मक प्रवृत्तियों को प्रेरणा देता है। यह अचेतन है विकारों वासनाओं और आचरण-वृत्तियों का आधार है और नैतिकता तथा तर्क से मुक्त है।[१]

ईगो (Ego) या स्वत्व बाह्य जीवन के अनुभव से मन में विकसित होनेवाला स्तर है और केवल-स्वत्व तथा बाह्य जीवन में समन्वय स्थापित करता है। यह केवल-स्वत्व के अनियंत्रित आग्रहों को परिस्थिति के अनुसार नियमित करके लक्ष्य की ओर उन्मुख करता है। यद्यपि यह परिवेश के अनुसार प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करता है तथापि उसे नैतिकता का मौलिक ज्ञान नहीं रहता। उसका परीक्षण (Censoring) केवल परिस्थिति से समझौता करने के लिए है। केवल-स्वत्व वासना प्रेरित है तो स्वत्व अनुभव-प्रेरित।[२]

सुपर ईगो या उपरि-स्वत्व व्यक्ति का सामाजीकरण करनेवाली शक्ति है, और है नैतिकता की मूल प्रेरणा। उसकी मुख्य प्रवृत्ति नैतिक एवं अनैतिक प्रवृत्तियों का अन्तर निर्धारित करना है। व्यक्ति में यह केवल-स्वत्व और स्वत्व के बाद ही विकसित होता है। मनुष्य के सभी प्रकार के आदर्शों को यही जन्म देता है और उसे सामाजिक जीवन के लिए उपयुक्त बनाता है।[३]

हिन्दी उपन्यासों में यद्यपि चेतन और अचेतन की प्रवृत्तियों का काफी अध्ययन किया गया है तथापि इस तरह वैज्ञानिक आधार पर मनोवृत्तियों को तीन श्रेणियों में विभाजित कर उनका विश्लेषण बहुत कम किया गया है। हमारे उपन्यासकारों की दृष्टि सूक्ष्म विश्लेषण की नहीं रही सामान्य रूप में अचेतन की प्रवृत्तियों का परिचय देने की ही रही। अतः हमें भी यहाँ प्रायः उसी दृष्टिकोण को अपनाकर सामान्य रूप में विवेचन करना पड़ रहा है।

जैनेन्द्र में

२११ जैनेन्द्र के 'सुनीता' में अचेतन की प्रवृत्तियों का आभास मिलता है। हरिप्रसन्न अपने विद्यार्थी-जीवन में तथा उसके बाद क्रान्तिकारी बनने पर अत्यन्त

---

१ Based on—Brown. Psychodynamics of Abnormal Behaviour P 163 and Jastrow Freud His Dream and Sex Theories, P 88.

२ Based on—Ibid

३ Based on—Ibid.

संयत आदर्श जीवन व्यतीत करता है। किन्तु यह सब उसके स्वत्व एवं उपरि-स्वत्व की प्रवृत्तियां हैं। काम-शक्ति या लिबिडो इतनी सरलता से दबनेवाली नहीं है। केवल स्वत्व में अपार शक्ति से काम करनेवाली काम-चेतना प्रस्फुटित होने के लिए अवसर की प्रतीक्षा में रहती है और उसे यह अवसर तब मिलता है जब वह सुनीता के सम्पर्क में आता है। दोनों के परिचय से लेकर हरिप्रसन्न का मानसिक जीवन प्राकृत-स्वत्व तथा उपरि-स्वत्व के बीच के संघर्ष से अभिभूत रहता है। साधारण युवतियों से आकृष्ट न होनेवाला और विवाह की इच्छा न करनेवाला वह युवक सुनीता के प्रति आकृष्ट हो जाता है और उसके अपनाने ही यह आकर्षण बढ़ता जाता है। धीरे-धीरे प्रकृत-स्वत्व प्रबल होता जाता है और चरम-सीमा में उपरि-स्वत्व का सामना करने खड़ा हो जाता है। सुनीता को वन में ले जाने और उसके नग्न होने का प्रसंग वस्तुतः प्राकृत-स्वत्व एवं उपरि-स्वत्व के संघर्ष का अवसर है। अब तक जो उपरि-स्वत्व उसको आदर्श पर चला रहा था वह कुछ बलहीन हो जाता है और लिबिडो की उत्तेजना से जाग रित प्राकृत-स्वत्व अपना बल दिखाता है। इसीका परिणाम है वह सुनीता को बाहों में कस लेता है और उसे पूर्णतया अपनाना चाहता है। लेकिन शीघ्र ही सुनीता में आत्म समर्पण से उत्पन्न आघात से जागरित उपरि-स्वत्व पुनः प्रबल हो उठता है और हरि-प्रसन्न को मर्यादा की सीमा के अन्दर नियंत्रित रखता है। यद्यपि जैनेन्द्र ने अचेतन प्रवृत्तियों का उल्लेख नहीं किया है तथापि हरिप्रसन्न की प्रवृत्तियों से ज्ञात होता है कि उसका जीवन 'इद' और 'सुपर ईगो' का संघर्ष ही है। हरिप्रसन्न को नियमित करनेवाली शक्ति तर्क-बुद्धि या चेतन मन नहीं है। किसी अज्ञात शक्ति से ही उसका मन बदल जाता है, अतः उस शक्ति को उपरि-स्वत्व अथवा सुपर ईगो मानना ही उचित होगा।

जैनेन्द्र के 'कल्याणी' और 'व्यतीत' में भी अचेतन की प्रवृत्तियों का अध्ययन मिलता है। पर उनमें अचेतन के विविध स्तरों का स्पष्ट प्रकटन नहीं हुआ है। 'कल्याणी' में कल्याणी का संघर्ष चेतन और अचेतन के बीच का द्वन्द्व है। वह अपनी सम्पूर्ण चेतना से अपने पति डा० असरानी के प्रति समर्पण भाव से रहना चाहती है। पर उसके अचेतन में इतनी अशान्ति और अतृप्ति है कि वह बार-बार प्रकट हो उठती है। उसके मन का ऊपरी स्तर परिस्थिति को देखकर उसके अनुकूल रहने को उसे प्रेरित करता है। जब कल्याणी को उसका पति पीटता है, तब भी वह समझती है कि "मैं निष्पाप नहीं हूं जो कुछ भी हो पति मुझे चाहते हैं।"[1] लेकिन कभी कभी उसके मन के अन्दर रहनेवाले विद्रोह और आत्माभिमान के भाव ऊपरी स्तर पर आकर बाह्य-प्रकटन का अवसर पाते हैं। प्रैक्टिस शुरू करने के पहले पति के सामने अपनी शर्तें बताने तथा कवमित्री को मानपत्र देने के अवसर पर श्रीमती भटनागर को देखने जाते समय कल्याणी का यही रूप प्रकट होता है। उसका सम्पूर्ण जीवन इसी प्रकार के संघर्ष में बीतता है।

'व्यतीत' के जयन्त के जीवन-व्यापारों को समझने के लिए उसके अचेतन की प्रवृत्तियों की ओर ध्यान देना पड़ेगा। उसकी अपनी दूर की बहन अनिता पर जो अतृप्त आसक्ति है वही अज्ञात रूप में उसके जीवन को रूप देती है। साधारण पुरुष के समान उसकी काम-वृत्ति (लिबिडो) किसी अन्य युवती के प्रति न उन्मुख होती और न कहीं तृप्ति ही पाती है। एक सम्पादक की पुत्री सुमिता उससे प्रेम करती है पर जयन्त में उसकी विशेष प्रतिक्रिया नहीं होती। वह कह देता है 'मैं अपात्र हूँ सुमिता'[1] चन्द्री से विवाह करने पर भी वह पूर्णतया उससे अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ सकता। इसका कारण वह स्वयं नहीं बता सकता। चन्द्री से प्यार करते हुए भी उसे प्रसन्न करने के प्रयत्न में विफल होता है। यद्यपि वह सुहागरात मनाने के लिए चन्द्री को कश्मीर ले जाता है तथापि उसके अचेतन में काम करनेवाली अज्ञात शक्ति के कारण दोनों के बीच का व्यवधान बढ़ता ही जाता है। अनिता के प्रति उसकी दृढ़ आसक्ति ही इसका कारण है, और उसीकी प्रबल प्रवृत्ति के कारण उसका जीवन अशान्त और अव्यवस्थित हो जाता है। लेकिन यह सब अचेतन दशा में होता है, इसीलिए जयन्त प्रयत्न करने पर भी अपने और चन्द्री के बीच के मानसिक व्यवधान को दूर करने में असमर्थ होता है।

जोशी में

२९२ अचेतन की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करनेवाले हिन्दी उपन्यासकारों में इलाचन्द्र जोशी का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध हुआ है। उनके प्रायः सभी उपन्यासों में मन के अगाध तल में अवस्थित सूक्ष्म वृत्तियों की व्याख्या की गयी है। उनकी अपेक्षाकृत प्रारम्भिक रचनाओं में भी यह स्पष्ट है। 'पर्दे की रानी' की निरंजना की मनोवृत्तियों को लीजिए। यद्यपि वह वेश्या-पुत्री है तथापि जिस वातावरण में वह पलती है उसके कारण उसकी प्रवृत्तियाँ संयत रहती हैं। इस संयम को स्वत्व या ईगो का काम मानना होगा। उसकी नैतिकता उपरि-स्वत्व या सुपर ईगो की प्रेरणा से विकसित नहीं लगती क्योंकि उसमें परिस्थिति का अधिक महत्त्व रहता है। उसके नैतिक आचरणों की प्रेरणा के रूप में कोई उदात्त मानसिक नैष्ठिकता नहीं है। आन्द्रे जीद के 'तंग दरवाजा' की एलीसा से उसकी तुलना करने पर यह बात स्पष्ट होगी। एलीसा की नैतिकता का कारण परिस्थिति नहीं है, यह केवल एक समन्वय वृत्ति (Adjustment) नहीं है जो ईगो से प्रेरित है। वैयक्तिक उपरि-स्वत्व या सुपर ईगो की पुकार ही उसे जेरोम से दूर करती है। इसके विरुद्ध निरंजना के प्राकृत-स्वत्व (इड) को कुछ समय तक स्वत्व (ईगो) नियंत्रित रखता है। पर अन्त में अत्यन्त प्रबल काम-वृत्ति से समन्वित प्राकृत-स्वत्व की विजय होती है और वह पैशाचिकी से निर्दिष्ट पथ से प्रयाण करने लगती है।

'सन्यासी' और 'निर्वासित' में अचेतन का स्वरूप अधिक व्यक्त नहीं हुआ है,

---

१ व्यतीत पृ॰ ९६।

यद्यपि इधर-उधर उसके सम्बन्ध में कुछ संकेत मिलते हैं। 'संन्यासी' में नन्दकिशोर की प्रवृत्तियों को अधिक मात्रा में विकसित 'अहं' संचालित करता है किन्तु यह बिलकुल स्पष्ट है और इस मूल प्रेरणा को अचेतन की प्रवृत्ति के रूप में दिखाने में जोशीजी असमर्थ हुए हैं। 'निर्वासित' में नायक महीप से बढ़कर नीलिमा की मनोवृत्तियों का विश्लेषण अधिक गहरा हुआ है। महीप और ठाकुर साहब के प्रति उसका आकर्षण जो समय-समय पर विविध दशाओं में है वो तरह की मनोवृत्तियों से प्रेरित है जो अचेतन के विविध स्तरों में उठती-गिरती रहती हैं। महीप के प्रति वह आकृष्ट है पर उसे धन और ऐश्वर्य का मोह भी है। अतः वह कभी महीप की ओर अधिक झुकी हुई है तो कभी ठाकुर साहब की ओर। परन्तु महीप की ओर आकृष्ट होते समय उसके मन के एक अज्ञात भाग में ऐश्वर्य-मोह भी काम करता रहता है। उसी तरह महीप से सम्बन्ध तोड़ने का निश्चय करने पर भी उसके प्रति आकर्षण अचेतन में बना रहता है। नीलिमा का यह अन्तर्द्वन्द्व एक प्रसंग में विशेष रूप से स्पष्ट हुआ है। सामान्य दृष्टि से देखा जाय तो चाय में चीनी के अधिक होने के कारण नीलिमा का माता से बिगड़कर महीप के साथ भाग जाना बिलकुल अस्वाभाविक लगेगा। लेकिन वस्तुतः यहाँ मूल प्रेरणा यह छोटी-सी घटना नहीं है महीप के प्रति नीलिमा का आकर्षण है जो उसके अचेतन में जमा हुआ है। इसी तरह वह महीप के साथ स्टेशन जाकर, फिर घर लौटने का आग्रह प्रकट करती है तो वह भी अचेतन की प्रेरणा से ही करती है। इस तरह भाग जाने से इनकार करनेवाली नीलिमा जब पुलिस की तलाशी के अवसर पर महीप को अपना हृदयेश कहती है, तो उसकी चंचलता अधिक आश्चर्य का विषय बन जाती है। पर यहाँ भी अचेतन की प्रवृत्ति के आधार पर उसकी व्याख्या सरल हो जाती है। जोशी के उपन्यासों के अवचेतन की प्रवृत्तियों के विश्लेषण के प्रसंगों में शायद यही सर्वोत्कृष्ट है क्योंकि यहाँ लेखक ने सीधे मनोवृत्तियों की व्याख्या न करके आचरणों के संकेत से अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट कर दिया है।

'मुक्तिपथ' में व्यक्तित्व की सबलता की दृष्टि से राजीव का चरित्र प्रमुख है तो व्यक्तित्व के अध्ययन की दृष्टि से सुनन्दा का चरित्र अधिक महत्त्वपूर्ण है। लेखक ने इस बात के प्रति संकेत किया है कि राजीव की कुण्ठित भावनाएं ही उसके आदर्शोन्मुख विकास का कारण हैं। इसके क्रमिक विकास का लेखा भी लेखक ने प्रस्तुत किया है। लेकिन राजीव की मानसिक प्रतिक्रियाओं से बढ़कर सुनन्दा पर उसका प्रभाव और सुनन्दा की तज्जन्य मानसिक प्रतिक्रियाएं अधिक महत्त्व की हो जाती हैं। विशेषकर अचेतन की क्रियाओं की दृष्टि से सुनन्दा का चारित्रिक विकास सूक्ष्म रेखाओं द्वारा किया गया है।

सुनन्दा प्रथम-प्रथम समाज के बन्धनों में जकड़ी हुई, उसके नियमों का पूर्णतया पालन करती हुई एक शान्त भद्र युवती के रूप में सामने आती है। लेकिन उसके प्रच्छन्न मानस में छिपी हुई चिनगारी राजीव की प्रेरणा से प्रज्वलित हो उठती है। उसके भीतर एक अपार शक्ति है जो उस समय प्रकट हो जाती है जब उसके सामने राजीव अपने-आपको बिलकुल तुच्छ समझने लगता है (पृ २२)। इसके साथ का

उसका विकास अचेतन में छिपी हुई एक अद्भुत शक्ति के क्रमिक विकास का वैज्ञानिक अध्ययन है। यद्यपि वह सामाजिक बन्धनों को मानती है तो भी यह स्पष्ट है कि उसके अचेतन में उन बन्धनों को तोड़कर एक विशाल क्षेत्र के स्वच्छन्द वातावरण में विचरण करने का विद्रोह-भरा आग्रह छिपा हुआ है। इस आग्रह को वह स्वयं नहीं जानती जैसे ही अपनी अन्तर्निहित शक्ति को किसी समय जानती थी। इसीलिए वह कहती है 'आज जिन सैकड़ों मोह-बन्धनों में मैं बंध चुकी हूँ वे अत्यन्त मृदु होने पर भी मेरे लिए वज्र से भी अधिक दृढ़ और अटूट हैं। मैं लाख छटपटाऊं लाख सिर पटकूं वे अब टूट नहीं सकते।" सुनन्दा के अन्दर छिपी हुई शक्ति को राजीव पहचानता है और सुनन्दा को भी उससे अवगत कराता है 'तुमने कुछ कृत्रिम उपायों से अपने अनजान ही में अपने भीतर की उस आदिम अग्नि को मिट्टी से दबा रखा है, जिसकी धधक बृहत्तर संसार को जीवनोपयोगी आंच पहुंचा सकती है। संकीर्ण पारिवारिक घेरे को वह प्रचण्ड आंच अन्त में झुलसाकर ही छोड़ेगी और जितना ही अधिक उस परिवार का घेरा बढ़ता जायगा वह आंच भी एक जगह सिमटी न रहकर फैलती चली जायगी।[१] सुनन्दा के बिना जाने उसके अचेतन मे निहित इस अतुल शक्ति का विकसित होना ही 'मुक्तिपथ' का विषय है।

जोशी के 'प्रेत और छाया' के प्रेत और छायाएं स्वयं अचेतन की वे प्रवृत्तियां हैं, जो पारसनाथ के विभिन्न व्यवहारों को प्रेरणा देती हैं। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि एक निर्देशन (Suggestion) के कारण पारस के अचेतन में बद्ध-मूल होनेवाला भ्रान्त विश्वास ही उसके जीवन की दिशा निर्णीत करता है।[३] यही नहीं उसके तथा अन्य पात्रों की प्रायः सभी प्रवृत्तियां अचेतन से ही प्रेरित हैं। यहां तक कि नन्दिनी जो चित्र बनाती है उनमें भी उसके अचेतन की अनुभूतियां ही रेखाओं का रूप धारण करती हैं।[४] नन्दिनी और पारस के बीच प्रेम-सम्बन्ध के होने पर भी दोनों में एक अज्ञात व्यथा और उदासी छायी रहती है जिसके वास्तविक रूप का ज्ञान उन दोनों के सचेत मन को नहीं है।[५] यही उदासी दोनों के अचेतन में रहनेवाली इस प्रेमहीनता की सूचक है जो बाद में स्पष्ट रूप में प्रकट होकर दोनों को अलग करती है। इस तरह कई प्रसंगों में लेखक ने अचेतन की प्रवृत्तियों का उद्घाटन किया है।

२६६ जोशी के अचेतन-विश्लेषण की अस्पष्टता—यद्यपि इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में अचेतन की प्रवृत्तियों का विस्तृत अध्ययन है तो भी उनका विश्लेषण पूर्णतया वैज्ञानिक नहीं हुआ है। जहां तक अचेतन का प्रश्न है, जोशी ने उसे प्रकट करने के ढंग में एक बड़ी गलती की है। यह त्रुटि दो प्रकार से हुई है।

---

१ मुक्तिपथ पृ० १२।
२. मुक्तिपथ पृ० ११०।
३ देखें अनुच्छेद पृ० २५८, २५७।
४ प्रेत और छाया पृ० २११२।
५. प्रेत और छाया पृ० ११४।

पहली बात यह है कि जोशी ने सभी उपन्यासों में अपने ही शब्दों में सभी मनोवृत्तियों की व्याख्या कर दी है जो उपन्यासों में निषिद्ध नहीं है तो भी कला की दृष्टि से देखने से अवश्य एक न्यूनता है। उपन्यासकार की कुशलता अमूर्त मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को मूर्त रूप में उपस्थित करने में है इसके बदले वह सिद्धान्तों की व्याख्या करने बैठ जाय तो उपन्यास की वास्तविकता नष्ट हो जाती है। जोशी ने इस बात पर अधिक ध्यान नहीं दिया है। विशेषकर 'प्रेत और छाया' में ऐसी व्याख्याएं औपन्यासिक शिल्प के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हुई हैं। पारसनाथ की मनोवृत्तियों की विस्तृत विवेचना[1] अनावश्यक रूप में विस्तृत हो जाती है। अन्य कई प्रसंगों में भी[2] सीधी व्याख्या करने के बदले सिद्धान्तों को जीवन का रूप दिया जाता तो अधिक सुन्दर होता। उदाहरण के लिए एक व्याख्यात्मक प्रसंग देखिए यदि वह अपने अवचेतन मन से उस जड़ता का कारण खोजता तो चौंक उठता। उसका सचेत मन अपने-आपको ठगने के लिए जैसे पहले ही से तैयार बैठा था।"[3] चेतन और अचेतन की इतनी सीधी व्याख्या अनावश्यक थी। 'मुक्तिपथ' में राजीव द्वारा सुनन्दा के अचेतन की व्याख्या[4] और 'जिप्सी' में ईसा मसीह के मरण से सम्बन्धित व्याख्याएं[5] आदि भी ऐसे ही उदाहरण हैं।

दूसरी प्रकार की व्याख्या कला की दृष्टि से ही नहीं विज्ञान की दृष्टि से भी हानिकारक सिद्ध होती है। कई स्थानों पर जोशी के पात्र स्वयं अपने अचेतन की व्याख्या करते हैं। 'प्रेत और छाया' का विधान ऐसा है कि उसके प्रारम्भ से अन्त तक के निकट तक पारस की प्रवृत्तियां अचेतन की प्रेरणा से ही चलती हैं। किन्तु बीच-बीच में वह स्वयं उस अचेतन की व्याख्या करता रहता है। एक प्रसंग में वह सोचता है "क्या वास्तव में कोई बाहरी शक्ति मेरे विरुद्ध षड्यन्त्र रचती चली जाती है या मेरी नारकीय आत्मा के ही भीतर ऐसी कोई अज्ञात विकृति छिपी है, जो मकड़े की तरह अनोखे भ्रमों और भ्रान्तियों के जाल बुनती रहती है ?"[6] अपने इस सन्देह के समाधान के रूप में वह अचेतन प्रवृत्तियों को ही अपनी प्रेरणा समझकर सोचता है "उन जालों में बहुत-सी मक्खियां फंसकर रह गयी हैं जिनका तत्त्व चूसकर उन्हें सूखे हुए छिलकों की तरह मृत अवस्था में जाले में लटके रहने के लिए मैंने छोड़ दिया है।"[7] क्या किसी व्यक्ति द्वारा अपने अचेतन का ऐसा ज्ञान सम्भव है ? इसी तरह मंजरी भी अपनी प्रवृत्तियों की मूल प्रेरणा के सम्बन्ध में कहती है, "अब हमारी

---

१. प्रेत और छाया अध्याय ६, ७, ८।
२. प्रेत और छाया पृ० १६१, १७०, १२४, १७५, २२६।
३. प्रेत और छाया पृ० २११।
४. मुक्तिपथ पृ० ११७।
५. जिप्सी अध्याय २८, २९।
६. प्रेत और छाया पृ० १८८।
७. प्रेत और छाया पृ० १८८।

आर्थिक दुर्गति चरम सीमा को पहुँच गयी और मुझे होटल के जीवन को जबरी तौर से अपनाने को बाध्य होना पड़ा तो मेरे भीतर मेरे अन्तराल में नरक ने अपना जाल फैलाना शुरू कर दिया।"[1] यहाँ यह प्रश्न उठता है कि व्यक्ति अपनी जिन प्रवृत्तियों तथा प्रेरणाओं को जानता है वे अचेतन की कैसे हो सकती हैं? फ्रायड ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अचेतन की प्रेरणा से उत्पन्न बाह्य लक्षण—याने अचेतन से प्रेरित बाह्य प्रवृत्तियाँ—व्यक्ति के लिए अज्ञात रहती हैं। हाँ फ्रायड ने माना है कि परिस्थिति की अनुकूलता से अचेतन प्रवृत्तियाँ सचेतन हो सकती हैं[2] लेकिन ऐसी दशा में ज्यों ही अचेतन-व्यापार सचेतन के स्तर पर आ जाता है तब अचेतन प्रेरित प्रवृत्तियाँ भी समाप्त हो जाती हैं।[3] किन्तु जोशीजी के उपन्यासों में बात बिलकुल उलटी है। पारस की अचेतन प्रेरित प्रवृत्तियाँ चलती ही रहती हैं और बीच-बीच में वह उनकी व्याख्या भी करता जाता है। मजरी के प्रसंग में यद्यपि वह कहती है कि 'तब इस बात का पता मुझे नहीं था पर आज यह बात मेरे आगे स्पष्ट हो रही है ...'[4] तो भी वह कहने के बाद भी उसकी प्रवृत्तियाँ प्रायः अचेतन की प्रेरणा से ही चलती हैं। 'पर्दे की रानी' में निरंजना की दशा भी ऐसी ही है वह कहती है 'मुझे ऐसा लगता है, कभी-कभी मुझे यह अनुभव होने लगता है कि मेरे मन के मूल केन्द्र के ऊपर बहुत-से विचित्र-विचित्र संस्कारों के स्तर एक के ऊपर एक इस सिलसिले से जमे हुए हैं और उनमें से प्रत्येक स्तर के तत्त्व किसी दूसरे तत्त्वों से मेल नहीं खाते। इन सब स्तरों के नीचे मेरा मूल भाव भयंकर रूप से दबा पड़ा है ...।"[5] इस तरह मन के अगाधतम स्तर का विश्लेषण करनेवाली निरंजना की प्रवृत्तियाँ भी अचेतन से संचालित हैं। वस्तुतः पात्र स्वयं अपना मनोविश्लेषण नहीं कर सकते मनोवैज्ञानिक ही कर सकता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार व्याख्या कर सकता है पर केवल सजीव मूर्त चित्रों द्वारा। किन्तु जोशी के पात्र अपने ही अचेतन की व्याख्या कर बैठते हैं। ऐसी प्रतीति होती है कि कोई रोगी डाक्टर की अपेक्षा न करके स्वयं

---

१ प्रेत और छाया पृ० १४७-१४८।

२. "... always and everywhere the meaning of the symptoms is unknown to the sufferer... ...these symptoms are derived from unconscious mental processes which can however under various favourable conditions become conscious."

—Freud Introdutcory Lectures on Psycho-analysis, P 235

३ "Symptoms are not produced by conscious processes as soon as the unconscious processes involved are made conscious the symptoms must vanish."

—Freud Introductory Lectures on Psycho-analysis, P 236.

४ प्रेत और छाया पृ० १४८।

५. पर्दे की रानी, पृ० ६८।

अपने हृदय की भस्म-क्रिया कर रहा हो।

२६४ जैनेन्द्र के उपन्यास इस तरह की स्व-भस्म-क्रिया से बहुत कुछ मुक्त हैं। हरिप्रसन्न कल्याणी विहेन आदि भी प्रवृत्तियों को ही जैनेन्द्र ने दिखाया है। उन्होंने न स्वयं अचेतन की व्याख्या की है और न पात्रों से कराई है। वे उसी प्रकार पात्रों को हमारे सामने लाकर खड़ा कर देते हैं जैसे फ्रेंच उपन्यासकार मारिया ने 'थो को थमा' में प्रूस्ट ने 'मूतकाल पर्यवेक्षण' के कई भागों में किया गया है अथवा लारेन्स डोरोथी जैसे अंग्रेजी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में किया है। विशेष उदाहरण के रूप में प्रूस्ट के उपन्यास में स्वान और ओडेट के प्रेम के विकास और ह्रास के प्रसंग तथा मारिया के उपन्यास में इरीन के मरण के समय हेर्वे की उपेक्षा के प्रसंग का उल्लेख किया जा सकता है। प्रथम प्रसंग में स्वान और ओडेट एक-दूसरे के निकट आने का निरन्तर प्रयत्न करते हुए भी अचेतन की किसी प्रेरणा से दूर होते जाते हैं। प्रूस्ट ने केवल उनके बाह्य व्यापारों को और चेतन मन की प्रवृत्तियों को प्रकट किया है। हेर्वे अपनी पत्नी के मरण के समय उसके पास रहने की प्रतिज्ञा करके भी उस प्रतिज्ञा के पालन का प्रयत्न करते हुए भी उसे छोड़कर चला जाता है। यहाँ मारिया ने उसके अचेतन का विश्लेषण नहीं किया है बल्कि उससे प्रेरित बाह्य प्रवृत्तियों को तथा उन प्रवृत्तियों का समर्थन करनेवाले चेतन तार्किक विचारों को प्रकट किया है। उसकी तर्क-बुद्धि बाहर जाने के जितने बहाने उपस्थित करती है उनसे लगता है कि वह जाना नहीं चाहता पर यह भी व्यंजित होता है कि उसका अचेतन ही उसे बाहर खींच लिए जाता है। लारेन्स के 'बेटे और प्रेमी' के पाल मौरल के कई लड़कियों से प्रेम करने का प्रयत्न करने पर भी विफल हो जाने में भी अचेतन की ही प्रवृत्ति है जो बड़ी सूक्ष्मता से व्यंजित की गयी है। अचेतन का ऐसा वैज्ञानिक अध्ययन जोशी के उपन्यासों में नहीं मिलता।

अज्ञेय में

२६५ 'शेखर' और 'नदी के द्वीप' में अचेतन का विशेष अध्ययन नहीं किया गया है किन्तु अज्ञेय ने यत्र-तत्र बाह्य चेष्टाओं और संभाषणों में अन्तर्वृत्तियों की जो व्यंजना की है वह कला की दृष्टि से उत्कृष्ट बनी है। विशेषकर 'शेखर' में यह बात उल्लेखनीय है। शशि सरस्वती शारदा आदि के प्रति शेखर के आकर्षण का स्वरूप दिखाते हुए लेखक ने सूक्ष्म अचेतन भावों को भी प्रकट किया है। शेखर शशि के माथे पर लोटे से मारकर, फिर उसके जाते समय उसी लोटे में उसके लिए पानी रख देता है। यह छोटी-सी घटना स्पष्ट प्रकट करती है कि उसके अचेतन में शशि के प्रति कैसा भाव है। शेखर के जीवन में ऐसी एक दशा आ जाती है जब उसकी बहन उसके लिए 'सरस्वती' न रहकर 'बहन' बन जाती है और फिर 'सरस' बन जाती है। यह परिवर्तन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और शेखर के अनजाने ही उसके अचेतन में

---

१ शेखर, प्रथम भाग पृ ८१।

उसके सभी आचरण वासना-प्रेरित हैं। अन्य दो बहनें विकृत-चित्त नहीं हैं, क्योंकि उनमें स्वेच्छा अपने सचेत नैतिक स्वत्व या सुपर ईगो की प्रेरणा से वासना को दबा लेती है और एलिस अचेतन में अवस्थित वासना को पहचान कर वैवाहिक जीवन में प्रविष्ट हो जाती है। अंग्रेजी के अन्य मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों के उपन्यासों में भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं पर यहां चित्त-विकृति के अध्ययन का स्वरूप दिखाने के लिए यही एक पर्याप्त है।

हिन्दी उपन्यासों के जिन पात्रों का उल्लेख ऊपर किया गया है उनमें भी ऐसे दुहरे व्यक्तित्व हैं। सुनयना वैवाहिक जीवन से अतृप्त होकर ही राजनीति के क्षेत्र में आती है। वस्तुतः उसका अचेतन मन अतृप्त वासना की पूर्ति के लिए ही व्याकुल है। किन्तु चेतन मन से वह इसे स्वीकार नहीं करती। राजनीति में प्रविष्ट होकर भी वह जब काम के प्रति आकृष्ट होती है तब यह स्पष्ट होता है कि उसकी वासना जो अचेतन में रहती है, पति से संतुप्ति का मार्ग न पाकर और दूसरी ओर तृप्ति का मार्ग ढूंढती है। लेकिन उसका चेतन मन उसे सामाजिक नियमों तथा कर्त्तव्यों के पालन की प्रेरणा देता है। इसीलिए काम के प्रति आकृष्ट होकर भी वह अनैतिक पथ से प्रयाण नहीं करती। 'व्यतीत' का जयन्त अचेतन से अनिता के प्रति आसक्त रहता है पर इस अनैतिक प्रवृत्ति को उसका चेतन मन स्वीकार नहीं करता। परिणाम यह होता है कि वैवाहिक जीवन को सफल बनाने के उसके सारे सचेत प्रयत्न विफल हो जाते हैं। 'निर्वासित' के महीप में भी अचेतन की अनैतिकता और चेतन मन की आदर्शोन्मुखता दिखाई देती है लेकिन यहां विजय आदर्श की ही होती है। वासना दब जाती है और महीप अहिंसात्मक क्रान्ति की ओर उन्मुख होता है। 'मुक्तिपथ' का राजीव व्यक्तित्व-विभाजन (Division of personality) का अच्छा उदाहरण है। सुनन्दा के प्रति उसका आकर्षण वस्तुतः दमित वासना से ही प्रेरित है किन्तु यह वासना अचेतन के स्तर से ऊपर नहीं उठती। उसका चेतन मन उसे आदर्शवादी बना देता है। राजीव के आदर्शों के अन्दर छिपा हुआ वासनात्मक आकर्षण इस बात से प्रकट है कि वह सुनन्दा को अपने अधिकार में रखना और उसपर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डालना चाहता है। शेखर में भी अचेतन में अवस्थित काम-वासना और उसके बाह्य आदर्श बार बार प्रकट होते हैं। उपर्युक्त सभी पात्रों को असाधारण बनानेवाली चीज यही दुहरा व्यक्तित्व है और इसी-के कारण वे विकृत-चित्त बने हुए हैं।

२६८ विक्षिप्त-चित्त—(साइकोटिक) पात्रों के उदाहरण हिन्दी के मनो-वैज्ञानिक उपन्यासों में बहुत कम मिलते हैं। 'गुनाहों का देवता' का बर्टी ही शायद एकमात्र प्राप्य उदाहरण है। बर्टी की चित्त-विक्षिप्ति का कारण काम असुप्ति ही है। वैवाहिक जीवन से सुख न पाकर वह पागल-सा हो जाता है।

२६६ मन्द चित्त (Mentally defective)—पात्रों के दो अच्छे उदाहरण 'गिरती दीवारें' का चेतन और 'पथ की खोज' का चन्द्रनाथ है। दोनों की मानसिक बलहीनता का मूल कारण अतृप्त वासना है। वैसे पहले दोनों में अच्छी प्रतिभा है। चेतन संगीत और अभिनय में कुशल है, तो चन्द्रनाथ प्रतिभाशाली कवि है। अपनी

रुचि के अनुसार पत्निमां न पाने से और अन्य युवतियों पर प्रमुक्त-मासक्ति के कारण दोनों के मन में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है, जो उन्हें अत्यन्त निर्बल बनाकर ही छोड़ता है। चेतन की संगीत और नाटक की प्रतिमा नष्ट हो जाती है किसी भी काम में उसका मन नहीं लगता। जगन्नाथ का चित्त-दौर्बल्य दूसरे प्रकार का है उसको पत्नी सुशीला उसकी प्रतिमा को नहीं समझती यही जग की मानसिक अस्वस्थता का कारण है। साथ-साथ वह साधना को जिसपर वह मासक्त है नहीं पाता। इन दो प्रकार की प्रवृत्तियों के कारण वह सेक्स-जीवन में पराजित हो जाता है। वेश्यालय जाने पर भी उसे तृप्ति नहीं मिलती। इसके बाद उसका मानसिक दौर्बल्य इतना बढ़ जाता है कि वह साधना के कहे अनुसार माधा से विवाह कर लेता है और साधना के उसके प्रति और उसके साधना के प्रति आकृष्ट होने पर भी प्रेम-निवेदन नहीं कर सकता।

१०० असामाजिक चित्तवृत्ति (Anti-social mentality)—के पात्रों के रूप में हरिप्रसन्न जितेन और पारसनाथ के नाम लिए जा सकते हैं। हरिप्रसन्न और जितेन दोनों काम-अतृप्ति के कारण विनाशकारी प्रवृत्तियों में लगे क्रान्तिकारी बन जाते हैं। पारसनाथ अपनी माता के चरित्र के सम्बन्ध में भ्रमित विश्वास के कारण स्त्रियों का सतीत्व भंग करने की समाज-विरोधी प्रवृत्ति में लग जाता है। इन तीन पात्रों के साथ सुखदा महीप और बसन्त के नाम भी लिये जा सकते हैं, जो प्रथमतः विकृत-चित्त के होने पर भी अन्त में विनाशकारी या हिंसात्मक प्रवृत्तियां अपनाकर असामाजिक हो जाते हैं।

हिन्दी उपन्यासों में अहम् और आत्मोत्सर्ग

§ १ हमारे मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के पात्रों के व्यक्तित्वों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि अधिकांश पुरुष पात्रों में 'अहं' असाधारण रूप में प्रबुद्ध रहता है जबकि अधिकांश स्त्रियां आत्मोत्सर्ग के लिए तयार रहती हैं। हरिप्रसन्न जितेन साथ बसन्त नन्दकिशोर, राजीव शेखर भुवन आदि ऐसे पात्र हैं जिनके व्यक्तित्वों का सबसे बड़ा अंश 'अहं' है। हरिप्रसन्न जितेन लाल शेखर आदि को क्रान्तिकारी अथवा विद्रोही बनानेवाली वस्तु उनके 'अहं' ही हैं। और यही 'अहं' है जो हरिप्रसन्न जितेन लाल बसन्त नन्दकिशोर, राजीव शेखर और भुवन में विद्यमान रहकर उनके सामने यथाक्रम सुनीता सुबनमोहिनी सुखदा अनिता शान्ति सुनन्दा शशि तथा रेखा-गौराओं को झुका देता है। इनमें प्रायः सभी स्त्रियां इन पुरुषों के किसी आग्रह या आदर्श के सामने आत्मसमर्पण करने को तैयार दिखाती पड़ती हैं। हरिप्रसन्न के सामने सुनीता विवस्त्रा होकर अपने-आपको समर्पण करती है तो जितेन के पैर चूमकर और 'कटे वृक्ष की नाई उसकी छाती पर सिर टेककर' भुवनमोहिनी निवेदन करती है 'मुझे सचमुच मार क्यों नहीं देते हो जितेन? कहती तो हूं जितेन ओोचे मुझे मार दो। टेढ़ से अपने को न मारो।'[१] सुखदा

---

१ विवर्त पृ० १६७।

आत्मसमर्पण न करने पर भी कुछ दिन क्रान्तिकारी लाल के कमरे में रहती है और उसके चले जाने पर अपने पति को भी छोड़कर मायके चली जाती है। जयन्त का 'अहं' पत्नी के समस्त गुणों के विरुद्ध विद्रोह करता है। वह कहता है कि "पत्नी अतिशय रमणीया थी इससे मेरे लिए जैसे तिरस्करणीया बन बैठी मानिनी थी इसलिए अपमाननीया हो गयी अनुरागिनी थी इससे दमनीया बन गयी ऊँची थी इसलिए नीची बनाना शायद मेरे लिए आवश्यक हो गया।[1] जयन्त के सामने अनिता जिसपर वह आसक्त है आत्मसमर्पण करती है उसी तरह जैसे सुनीता और भुवनमोहिनी करती हैं। लेकिन हरिप्रसन्न के समान ही वह अनिता को स्वीकृत नहीं करता क्योंकि उसका समर्पण नैसर्गिक नहीं है इच्छित (Willed) है। 'सन्यासी' के नन्दकिशोर के अहंभाव का परिचय जयन्ती के शब्दों से ही मिलता है आप बड़े अहंकारी हैं' 'इस अहंभाव से चाहते हैं कि जिस स्त्री से आपका सम्बन्ध हो वह पूर्ण रूप से आपकी होकर रहे वह सब कुछ बिना किसी असमंजस के आपके पैरों तले समर्पित कर दे।[2] इस अहंकार के सामने शान्ति आत्मसमर्पण कर यातनायें सहती है पर जयन्ती विद्रोह करके आत्महत्या कर लेती है। शेखर के सामने शशि सब कुछ अर्पित कर देती है पर शेखर अपने उदात्त आदर्श में उससे अनैतिक सम्बन्ध नहीं रखता दोनों मित्रवत् या भाई-बहनों के समान हो जाते हैं। 'मुक्तिपथ' का राजीव अपने सबल व्यक्तित्व का प्रभाव सुनन्दा पर डालना चाहता है, पर सुनन्दा स्वयं अपने व्यक्तित्व को विकसित करके और राजीव से अपने प्रेम का प्रतिदान न पाकर उससे दूर हो जाती है। 'पथ की खोज' के चन्द्रनाथ और साधना की कथा इससे कुछ भिन्न है। यहाँ साधना चन्द्रनाथ से प्रेम-याचना करती है पर जब वह उसके पास आता है तब उस अनैतिक प्रवृत्ति से हटकर उसे भाई बना लेती है। 'नदी के द्वीप' में भुवन के प्रति रेखा और गौरा आकृष्ट होती हैं। रेखा का समर्पण वस्तुतः समर्पण नहीं है क्योंकि भुवन से अपनी काम-लिप्सा की पूर्ति कराके वह अपने जीवन को सार्थक समझती है और फिर भुवन से ही दूर हो जाती है।

इन उपन्यासों के पुरुष-पात्रों में दूसरी एक श्रेणी के कुछ व्यक्ति भी मिलते हैं, जो स्वत्वरहित और कुछ भावुक हैं। 'सुनीता' का श्रीकान्त 'सुखदा' का कान्त 'विवर्त' का नरेश आदि इसी प्रकार के पात्र हैं। ये अपनी पत्नियों पर अपने स्वत्व का आरोपण नहीं करते अपनी इच्छाओं और सुविधाओं के अनुसार जीवन व्यतीत करने को उन्हें विवश नहीं करते। ये पात्र शायद तत्कालीन समाज के स्त्री-स्वातंत्र्य-सम्बन्धी विचारों से प्रभावित हैं। श्रीकान्त अपनी पत्नी को अपने मित्र हरिप्रसन्न के निराशा-मय जीवन को बदलने के लिए, उसकी सब प्रकार की सेवा करने का आदेश देता है। यही नहीं दोनों को घर में छोड़कर कुछ दिनों दौरे पर चला जाता है। इस तरह

---

१ व्यतीत पृ ११७।
२ संन्यासी पृ १८१।

सुनीता और हरिप्रसन्न को स्वच्छन्द मिलन के अवसर बहुत मिलते हैं। 'सुखदा' का कान्त इससे आगे बढ़ा हुआ है और वह अपनी पत्नी को कई दिनों तक लाल के कमरे में रखता है। 'विवर्त' का नरेश भी अपनी पत्नी को जितेन से मिलने-जुलने के लिए काफ़ी अवसर देता है। इन उपन्यासों के कथानक ही स्त्रियों को पतियों द्वारा इस प्रकार दिया गया स्वातंत्र्य है जिसके कारण व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध में संघर्ष उत्पन्न होता है। तत्कालीन समाज में स्त्री-स्वातंत्र्य की समस्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, किन्तु जैनेन्द्र के उपन्यासों में इसके यथार्थ रूप को दिखाने के बदले भावुकता से काम लिया गया है। श्रीकान्त कान्त और नरेश जैसे पति शायद ही हमारे समाज में मिलेंगे।

हिन्दी उपन्यासों में क्रान्तिकारी और विद्रोही व्यक्तित्व

§ २ हमारे कई मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में क्रान्तिकारी अथवा विद्रोही व्यक्तियों का अध्ययन किया गया है। जैनेन्द्र के पात्रों में हरिप्रसन्न लाल और जितेन जोशी के *'निर्वासित'* का महीप यशपाल के *'दादा कामरेड'*[१] का हरीश आदि को पूर्णतः या अंशतः क्रान्तिकारी या विद्रोही के रूप में चित्रित किया गया है। किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो यह कहना पड़ेगा कि इन सबमें क्रान्तिकारियों का संकल्प और चिन्तन नहीं है और न वे विराट देश-क्रान्ति का उन्मेष आदर्श ही दिखाते हैं। कुछ पात्रों को विद्रोही कहना ही अधिक उचित लगता है।

इन क्रान्तिकारियों के व्यक्तित्वों का विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि उनका क्रान्तिकारी रूप अत्यन्त दुर्बल है। इनमें हरीश को छोड़कर किसीमें समाज की धार्मिक नैतिक अथवा राजनीतिक परिस्थितियों के आघातों से प्रेरणा नहीं मिलती। प्रायः समोका *विद्रोह दैविक विकारों के दमन के कारण होनेवाली वैयक्तिक कुण्ठा* है। जितेन हरिप्रसन्न लाल हरीश आदि की सबसे बड़ी कमजोरी स्त्री है। क्रान्तिकारियों के इस रूप को दिखाना भले ही उपन्यास साहित्य में एक क्रान्ति हो पर ये क्रान्तिकारी कहाँ तक क्रान्तिकारी हुए हैं यह बात निर्विवाद नहीं है। संसार के सभी क्रान्तिकारी चिन्तक हुए हैं, पर इनमें किसी पात्र में चिन्तन नहीं है। अगर दो-चार मकानों को आग लगाना और कुछ ट्रेनें गिराना ही क्रान्ति है तो बात ही भिन्न है। पर सच्चे अर्थ में जो क्रान्तिकारी होता है, उसमें चिन्तन होता है संकल्प होता है कर्मण्यता होती है। पर जैनेन्द्र जोशी और यशपाल के क्रान्तिकारियों का संकल्प उच्छृङ्खलता तक ही सीमित रह जाता है। उनकी कर्मण्यता की चरम सीमा मारामारी द्वारा युवतियों की सहानुभूति प्राप्त करने में है। हरिप्रसन्न क्रान्तिकारी होने के बदले इधर-उधर भटकनेवाला कोई पागल हो जाता जितेन ट्रेन गिराने के बदले गया में डूबने का प्रयत्न करके किसी तरह बच जाता अमृत युद्ध में जाने के बदले लूटमारों के

---

१ 'दादा कामरेड' मनोवैज्ञानिक नहीं है। फिर भी हम यहाँ उसकी चर्चा करेंगे क्योंकि वह क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का अध्ययन करनेवाला उपन्यास माना जाता है।

किसी दल में भर्ती होकर चार-पांच औरतों और बच्चों को मार डालता तो भी न उपन्यासों में विशेष कोई कमी आती और न लेखक के मनोविज्ञान या पात्रों के व्यक्तित्व में कोई अन्तर आता। महीप की बात भी भिन्न नहीं है। हरीश का जीवन क्रान्ति से अधिक सम्बन्ध रखता है। फिर भी उसमें क्रान्तिकारियों की मानसिक विशेषताएं कम मिलती हैं। क्रान्तिकारिता के रंगीन लेखकों के विरुद्ध हृदयिसन्न श्राम विशेष हरीश और महीप रोमाण्टिक विद्रोही ही रह जाते हैं।

इन पुरुषों के सम्पर्क में आनेवाली स्त्रियों में कुछ करुणा से ओतप्रोत हैं। वे एक-एक पुरुष को क्रान्तिकारी होने या आत्मपीड़न करते देख साड़ी-ब्लाउज उतारने को तैयार हो जाती हैं (जैसे 'सुनीता' में सुनीता और 'दादा कामरेड' में शैल) या आत्म समर्पण कर देती हैं (जैसे 'व्यतीत' में अनिता)। 'मुक्तिपथ' के अहिंसात्मक क्रान्ति के समर्थक राजीव के सामने सुनन्दा भी आत्मसमर्पण करती है किन्तु राजीव उसे स्वीकृत नहीं करता। इनमें किसी भी स्त्री में ऐसी शक्ति नहीं है, जिससे इन पुरुषों को उनकी पथ विगमित गति की सूचना देकर उनको ठीक रास्ते पर ला सके।

हरीश के अतिरिक्त अन्य क्रान्तिकारियों के जीवन सार्वजनिक जीवन से सम्बन्ध न रखने के तथा अत्यधिक वैयक्तिक होने के कारण भी अपने क्रान्तिकारी स्वरूप को बैठते हैं।

इन सबकी तुलना में अज्ञेय द्वारा विकसित शेखर का विद्रोही व्यक्तित्व बहुत सफल हुआ है। शेखर के बाल्यकाल में ही उसमें विद्रोही के लक्षण दिखाई पड़ते हैं। परिस्थितियों से तथा परम्परागत आचार-विचारों से विद्रोह करते हुए उसकी बाल्यकालीन प्रवृत्तियां वस्तुतः इच्छित (Willed) नहीं हैं, इसीलिए वे स्वाभाविक हैं। बाल्यकाल में ही शेखर के मन में नियम शासन और दमन के विरुद्ध जो भाव मन बाल में उत्पन्न होते हैं वे क्रमशः विकसित होकर उसके व्यक्तित्व को रूप देते हैं। शेखर का जीवन भी सार्वजनिक देशीय क्रान्ति से विशेष सम्बन्ध नहीं रखता परन्तु जहां तक क्रान्तिकारी व्यक्तित्व के विश्लेषण की समस्या है अज्ञेय बहुत सफल हुए हैं।

व्यक्तित्व का पूर्णत्व जैनेन्द्र में गेस्टाल्ट ?

डा. देवराज ने जैनेन्द्र के उपन्यासों के मनोवैज्ञानिक तत्वों की चर्चा करते हुए 'सुनीता' 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' में गेस्टाल्ट मनोविज्ञान का प्रभाव देखा है। उन्होंने यह बात तो मानी है कि जैनेन्द्र ने जान-बूझकर गेस्टाल्ट मनोविज्ञान को नहीं अपनाया है और वैज्ञानिक ढंग से उसका उपयोग नहीं किया है।[1] फिर भी उनका मत है कि जैनेन्द्र में गेस्टाल्ट मनोविज्ञान के सार-तत्व विद्यमान हैं। डा. देवराज के इस मत से सहमत होना कठिन है क्योंकि उनकी व्याख्याओं में कुछ मौलिक त्रुटियां आ गई हैं। इस विषय की विवेचना करने के पहले हमें समझना होगा कि

१ डा. देवराज आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान पृ. १११,११६।

गेस्टाल्ट क्या है ?

१०३ आधुनिक मनोविज्ञान व्यक्ति के अध्ययन के लिए उसकी विशेष तायों के आकार या ढांचे को एकसाथ लेना आवश्यक समझता है। व्यक्तित्व स्वयं वैयक्तिक विशेषताओं का संयुक्त ढांचा या आकार (गेस्टाल्ट) है।[1] ये विशेषताएं व्यक्ति की परिवेश से निर्धारित जीव-शास्त्रीय गठन के अनुसार विकसित होती हैं। अतः व्यक्तित्व को समझने के लिए 'परिवेश और व्यक्ति' का नहीं 'परिवेश के विरुद्ध व्यक्ति' का भी नहीं 'परिवेश में व्यक्ति' का अध्ययन करना चाहिए।[2] प्रसिद्ध गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिक कोहलर ने सम्पूर्ण परिस्थितियों के प्रभाव से वस्तु (या व्यक्ति) में आनेवाली गतिशील प्रवृत्तियों के अध्ययन को ही गेस्टाल्ट मनोविज्ञान कहा है।[3] इस तरह व्यक्ति की प्रत्येक विशेषता और इसलिए उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व सामाजिक-मनोवैज्ञानिक-जीव शास्त्रीय हो जाता है। क्या जैनेन्द्र ने अपने किसी उपन्यास में जान-बूझकर या अनजान में व्यक्तित्व का ऐसा चित्रण किया है जिससे हमें ज्ञात हो कि व्यक्तित्व परिवेश में विकसित होता है और परिवेश से प्रभावित है ? वैसे प्रत्येक सामाजिक उपन्यास में परिवेश में ही व्यक्ति-जीवन का विकास होता है। पर क्या जैनेन्द्र ने पारिवेशिक प्रभाव का विशेष रूप से अथवा वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया है ? हमें लगता है कि जैनेन्द्र ने परिवेश पर विशेष ध्यान नहीं दिया है। इसी लिए उनके प्रायः सभी पात्र कुछ अस्वाभाविक-से लगते हैं। और साधारण समझ के परे हैं। क्या कट्टो सुनीता कल्याणी सुखदा जयन्त जितेन आदि के जीवन का विकास परिवेश के अनुसार स्वाभाविक रूप में होता है ? वस्तुतः इन सब पात्रों के व्यक्तित्व इतने प्रबल हो गए हैं कि वे परिवेश के अतीत लगते हैं। जैनेन्द्र के पात्र न परिवेश से संघर्ष करते हैं न परिवेश के अनुकूल होकर चलते हैं। उनमें परिवेश

---

१ "Personality is to be understood as a pattern or Gestalt of personality traits."

—Brown Psychodynamics of Abnormal Behaviour P 145

२. "We must consider not an organism versus an environment, nor the organism and the environment but rather an organism in an environment."

—Ibid P 145

Koffka also remarks that "the field in which the organism works is to be studied completely"

—See, Koffka Principles of Gestalt Psychology P 67

३ "Whenever a process becomes dynamically distributed and arranges itself in accordance with the constellation of determining circumstances in its entire field, that process belongs in the realm of Gestalt Psychology "

—Kohler Quoted by Katz Gestalt Psychology P 9

की विवशताओं से मुक्त होकर जीने की असाधारण विशेषता है। जैनेन्द्र के अज्ञातु उपासक भी सुनीता के नग्नता-प्रदर्शन को स्वाभाविक मानेंगे इसमें संदेह है। मनुष्य की असाधारण (Abnormal) प्रवृत्तियों को मनोविज्ञान स्पष्ट कर सकता है किन्तु अस्वाभाविक (Unnatural) प्रवृत्तियों की व्याख्या किसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के द्वारा नहीं की जा सकती है। सुनीता का नग्नता प्रदर्शन कान्ता का अपनी पत्नी सुखदा को कई दिनों तक लाश के कमरे में रखना कुमार का अपनी कथित पत्नी को बिना तनिक भी सोच-विचार किए वयस्क के साथ छोड़ जाना आदि बातें असाधारण नहीं अस्वाभाविक हैं। इन प्रवृत्तियों के सामने मनोविज्ञान के समस्त सिद्धान्तों को मौन रहना पड़ेगा। जैनेन्द्र ने परिवार में विकसित होनेवाले स्वाभाविक व्यक्तित्व का विषय वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया है अतः उनके पात्रों में गेस्टाल्ट का अन्वेषण करना व्यर्थ है।

१०४ गेस्टाल्ट मनोविज्ञान का दूसरा सिद्धान्त यह है कि व्यक्तित्व को योगातीत पूर्णता के रूप में ही देखा जा सकता है। वह उसके विभिन्न अंशों का योग-मात्र नहीं है उससे बढ़कर एक पूर्णता उसमें रहती है। इसी योगातीत पूर्ण आकलन को गेस्टाल्टन (Gestalten) कहते हैं और इसके कारण अंशों में एक एकता स्थापित हो जाती है। इस एकता के कारण पूर्ण आकार के किसी अंग में होनेवाले परिवर्तन का प्रभाव दूसरे अंशों पर भी पड़ता है। इसका तात्पर्य यही है कि व्यक्तित्व एक पूर्ण इकाई है और उसके अंगो पर पड़नेवाला प्रभाव सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रभावित करता है।

इस सिद्धान्त के आधार पर जैनेन्द्र के पात्रों का विश्लेषण करते समय हमें पहले-पहल देखना पड़ेगा कि जैनेन्द्र ने अपने पात्रों के पूर्ण व्यक्तित्व को प्रकट किया है या नहीं। पूर्ण व्यक्तित्व में अंशों के स्थान का तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध का रूप निश्चित करना गेस्टाल्ट के अध्ययन के लिए आवश्यक है।[२] किन्तु जैनेन्द्र के उपन्यासों में हम प्राय देखते हैं कि व्यक्तित्व कभी अपनी पूर्णता में प्रकट नहीं किया

---

१ "All modern theories are inclined to look on the organism as a super-summative whole, or as a whole which is something more than the sum of its parts. By a super-summative whole we mean an organized totality in which change in any of the parts effects changes in all parts. Such totalities are technically known as Gestalten." —Brown Psychodynamics of Abnormal Behavior P 146.
Also—Katz Gestalt Psychology P 5 6 and 49

२. 'To apply Gestalt category means to find out which parts of nature belong as parts to functional wholes, to discover their positions in their wholes, their degree of relative independence.
—Koffka : Gestalt Psychology P 22.

गया है। उसमें व्यक्तित्व की एक-एक विशेषता (Trait) की ही विवेचना की गई है। अतः उसके पात्रों में गेस्टाल्ट ढूंढने की आवश्यकता नहीं है। उसी उपन्यास में गेस्टाल्ट ढूंढना सार्थक होगा जिसमें व्यक्तित्व पूर्ण रूप में न हो तो कम से कम विस्तृत रूप में आवे और विचार धरातल पर उसका अध्ययन किया गया हो।

१०४ अब हम डा० देवराज द्वारा प्रस्तुत उद्धरणों पर भी कुछ विचार करें। 'कल्याणी' से उन्होंने जो लम्बा उद्धरण दिया है उसके आवश्यक भागों को ही हम लें

" "इस जगत् का कोई कुछ परस्पर सर्वथा असम्बद्ध नहीं है।" "व्यक्ति और परिस्थिति ये दो भिन्न सत्ताएं नहीं हैं।" "व्यक्ति परिस्थिति का फल है और परिस्थितियों का निर्माण भी व्यक्ति ही करता है।" "भीतर का बाहर के साथ नाता अवश्य है। कर्म-सम्भावना अन्तःप्रेरणा के साथ बाह्य साधन के संयोग से बनती है। 'इस भांति कोई भी एकांगी नहीं है और किसीका कोई अलग स्वत्व नहीं है।[१] इन उद्धरणों में मनुष्य के अन्दर-बाहर के पारस्परिक सम्बन्ध का उल्लेख अवश्य है। पर प्रश्न यह है कि क्या कल्याणी का व्यक्तित्व—मानसिक व्यक्तित्व—एक गेस्टाल्ट या पैटर्न (Pattern) के रूप में सामने आता है? सम्पूर्ण उपन्यास में विकसित कल्याणी का चरित्र ही पूर्णत्व तक नहीं पहुंचा है। 'जगत् का कोई कुछ परस्पर सर्वथा असम्बद्ध नहीं है' कहना गेस्टाल्ट मनोविज्ञान नहीं है। अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध का विश्लेषण करना ही गेस्टाल्ट मनोविज्ञान है। उसी तरह 'व्यक्ति और परिस्थितियां दो भिन्न सत्ताएं नहीं हैं' अथवा 'व्यक्ति परिस्थिति का फल है' या फिर 'भीतर बाहर के साथ नाता अवश्य है' कहने से व्यक्तित्व का कोई आकार या गेस्टाल्ट नहीं उपस्थित होता। कल्याणी अपनी मानसिक एवं बौद्धिक शक्तियों के सहारे परिस्थिति की जटिलताओं को सुलझाने का प्रयत्न करती हुई अपने सम्पूर्ण अस्तित्व का परिचय न देती। जब उसका व्यक्तित्व ही एकांगी और अपूर्ण है तब योगातीत पूर्णता का प्रश्न ही कहां उठता है?

'त्यागपत्र' में से भी डा० देवराज ने 'एक उदाहरण' दिया है। उदाहरण की चर्चा करने से पहले यह कहना असंगत नहीं होगा कि इस तरह 'एक उदाहरण' से गेस्टाल्ट का अध्ययन नहीं हो सकता। सम्पूर्ण व्यक्तित्व को ही एक पैटर्न के रूप में लेना पड़ेगा और उसके विविध अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध का आधार दिखाना पड़ेगा। यही नहीं व्यक्तित्व का क्रमिक विकास परिवेश में ही होना चाहिए। क्या जैनेन्द्र ने मृणाल के व्यक्तित्व को सम्पूर्णता दी है? क्या परिवेश में स्वाभाविक रूप में विकसित होते हुए उसके जीवन का स्वरूप दिखाया है? *वास्तविक बात तो यह है कि* 'त्यागपत्र' में जैनेन्द्र का ध्येय मृणाल के व्यक्तित्व का अध्ययन ही नहीं है भारतीय समाज में स्त्री की पराधीनता और विवशता को प्रकट करना है। इस सामाजिक

---

१ कल्याणी पृ० ८८-८९।

आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान पृ० ११।

समस्या के विश्लेषण के लिए जैनेन्द्र ने मृणाल के चरित्र की एक ही विशेषता को लिया है—उसकी असामान्य आत्महिंसा की प्रवृत्ति को जिसके सामने उसकी वासनाएं मर जाती हैं (मृणाल का पतन वासना के कारण नहीं होता) उसका विवेक मर जाता है। मृणाल के जीवन को रूप देनेवाली चीज यह आत्महिंसा-वृत्ति है जिसके विकास की परिस्थिति को नहीं दिखाया गया है। जैनेन्द्र ने यह आत्महिंसा-वृत्ति भारतीय साध्वी रमणी की उदात्तता तथा उसके जीवन की विवशता को दिखाने के लिए मृणाल पर आरोपित की है। किसी पात्र पर कोई गुण या दोष आरोपित करने का अधिकार लेखक को है। पर गेस्टाल्ट मनोविज्ञान में उसका पारिवेशिक (Environmental) आधार होना चाहिए। मृणाल की आत्महिंसा वृत्ति परिवेश पर आधारित नहीं है, उसकी आन्तरिक मनोवृत्ति से प्रेरित है।

अब डा देवराज द्वारा उद्धृत प्रसंग को लें।[१] इस प्रसंग में मृणाल गंदी गलियों का जीवन छोड़ देने से इनकार करती है सबके अन्दर परमात्मा के दर्शन करती है। सब जगह परमात्मा है अत: कहीं भी हो उसका जीवन ठीक है। यहां भी हमें कहना पड़ेगा कि सब जगह ईश्वर को देखना या सब कुछ को समान देखना गेस्टाल्ट मनोविज्ञान नहीं है। प्रश्न यह है कि इससे क्या पात्र की मनोवृत्तियों का एक पैटर्न मिलता है? वस्तुत: यह जैनेन्द्र का एक दार्शनिक आदर्श ही है।

सुनीता में भी मृणाल की सी आत्महिंसा-वृत्ति है। जैनेन्द्र ने सुनीता के न ग्नता प्रदर्शन के प्रसंग में जीवन की किसी वास्तविक दशा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नहीं किया है बल्कि एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (मन को धक्का देनेवाली घटना से मन-परिवर्तन होना) को स्पष्ट करने के लिए ही जीवन के इस सन्दर्भ की सृष्टि की है। यहां भी जैनेन्द्र ने न जीवन के विविध पक्षों को या जीवन की बोधातीत पूर्णता को दिखाया है न जीवन के पारिवेशिक प्रभाव से विकसित होनेवाले रूप को। ऊपर उल्लिखित किसी प्रसंग में—या किसी पात्र में—गेस्टाल्ट मनोविज्ञान के अनुसार अपेक्षित सूक्ष्म दृष्टि नहीं है जिसके द्वारा पात्र परिवेश का निरीक्षण कर समस्याओं को सुलझाने के मार्गों का आविष्कार करें। कोहलर के प्रयोग के चिम्पांजी ने जैसे आसपास उपस्थित वस्तुओं के उपयोग से अपनी समस्या हल करने के मार्ग का आविष्कार किया[२] उस प्रकार जैनेन्द्र का कोई पात्र नहीं करता। सबको अपने-अपने अन्दर से ही कुछ विचित्र प्रेरणाएं मिलती हैं जैसे सुनीता को नग्नता-प्रदर्शन का।

डा देवराज ने जो उदाहरण दिए हैं वे केवल उनके प्रसंगों तक ही सीमित हैं व्यक्तित्व के आकार (पैटर्न या गेस्टाल्ट) बनाने में वे उपयोगी नहीं दिखते। प्राय: वे उदाहरण दो विरोधी सत्ताओं के मिलन को ही सूचित करते हैं। 'सुनीता' में घर और

---

१ डा देवराज आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान पृ १४७-१५२।

२. See, Contemporary Schools of Psychology by Woo dworth.

डा देवराज ने भी इस प्रयोग का विस्तृत वर्णन किया है—आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान पृ २८ २६।

बाहर में समन्वय 'त्यागपत्र' में भलाई-बुराई की एकता तथा 'कल्याणी' में भीतर और बाहर के मिलन का भावना दिखाया गया है। पर इन सब प्रसंगों के सम्बन्ध में कहना होगा कि बर और बाहर को या भीतर और बाहर को या भलाई और बुराई को एक कहने से जीवन या व्यक्तित्व के किसी अंश का कोई आकार (गेस्टाल्ट) नहीं मिलता। गेस्टाल्ट तो नहीं अनेक धर्मों के सम्मिलन से बनता है। यही नहीं अंगों के योग से अतीत एक पूर्णता भी उसमें रहती है। दो विरोधी सत्ताओं का सामंजस्य नहीं सम्पूर्ण व्यक्तित्व-विशेषताओं (Personality traits) की योगातीत पूर्णता को (Super-summative whole) ही गेस्टाल्ट मनोविज्ञान सिद्ध करता है। जैनेन्द्र के उपन्यास में ऐसे गेस्टाल्ट का अध्ययन नहीं मिलता।

जैनेन्द्र का *सम्पूर्णतावाद क्या है ?*

३०६ जैनेन्द्र के उपन्यासों में जिस सम्पूर्णतावाद का आभास मिलता है वह वस्तुतः क्या है ? जैनेन्द्र ने सम्पूर्णता की चर्चा की है तो वह जीवन की सम्पूर्णता की है व्यक्तित्व की योगातीत पूर्णता की नहीं। पात्र प्राय जैनेन्द्र के विचारों को ही प्रकट करते हैं। जैनेन्द्र तथा उनके पात्रों का विचार यह है कि जीवन को उसकी सम्पूर्णता में देखना चाहिए, उसकी भलाई-बुराई, पाप-पुण्य सत्-असत् सबको समन्वित रूप में देखना चाहिए। यहां कोई मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं है बल्कि जैनेन्द्र का जीवन दर्शन है। डा देवराज ने भिन्न-भिन्न प्रसंगों की चर्चा की है उन सबम मनोवैज्ञानिक से बढ़कर दार्शनिक विचार अधिक मिलते हैं। जनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में दर्शन और मनोविज्ञान का अपूर्व मिश्रण किया है जो कहीं स्वाभाविक और प्रभविष्णु है तो कहीं अस्वाभाविक और असम्भाव्य। कहीं मनोविज्ञान पुष्ट दीखता है तो कहीं दर्शन। उपर्युक्त सभी प्रसंगों में जैनेन्द्र का दार्शनिक दृष्टिकोण ही प्रकट है। पाप और पुण्य सत् और असत् मनोविज्ञान के नहीं दर्शन के विषय हैं। इन परस्पर-विरोधी सत्ताओं के समन्वित रूप को स्वीकृत करने की चर्चा करते समय जैनेन्द्र का ध्यान आत्मा पर ही रहता है, मन पर नहीं। जैनेन्द्र का यह दार्शनिक समन्वयवाद ही उनका सम्पूर्णतावाद है। 'सुखदा' के एक प्रसंग से जिसमें वे जीवन को उसके पूरत्व में देखना चाहते हैं यह दार्शनिक सम्पूर्णतावाद अधिक स्पष्ट होगा। अधिक सही शब्दों में कहें तो वे यथार्थ जीवन के पूर्णत्व को भी स्वीकृत नहीं करते उसे पूर्णता से कुछ निम्न श्रेणी का ही मानते हैं। पूर्णता केवल मनुष्य का देवत्व है। उसे प्राप्त करने की चर्चा करते हुए लाल कहता है "आदमी में जो है उस सबको आप स्वीकार नहीं करेंगे तो उसे ह्रस्व ही करेंगे महान न बनाएंगे। आदमी में से कुछ अलग-अलग काटकर उसको पूरा नहीं किया जा सकता। काटना न होगा बल्कि कुछ जोड़ना होगा।[२] स्पष्ट है कि यहां

---

१ डा० देवराज ने 'गेस्टाल्ट मनोविज्ञान' का अनुवाद 'सम्पूर्णतावादी मनोविज्ञान' किया है जो भ्रामक है। 'आकार मनोविज्ञान' अधिक उचित लगता है।

२. सुखदा १ १२४।

व्यक्तित्व के पूर्णत्व की चर्चा और उसे काटकर छिन्न-भिन्न करने का निषेध नहीं है जैसे गेस्टाल्ट मनोविज्ञान में होता है। यहां भी जैनेन्द्र का जीवन-दर्शन है। वे जीवन से कुछ जोड़कर मनुष्य को देवता बनाने का उपाय बताते हैं और देवता बनाना मनोविज्ञान का कार्य नहीं दर्शन का कार्य है। उनके अन्य उपन्यासों में भी व्यक्तित्व की सम्पूर्णता की नहीं जीवन की सम्पूर्णता की ही व्याख्या हुई है और वह दार्शनिक दृष्टि से हुई है।

६

उपन्यास में यौन-मनोविज्ञान

(Sex Psychology in the Novel)

१०७ सेक्स जीवन का सबसे अगम्य किन्तु सबसे पवित्र सत्य है। अनादि काम से मनुष्य की आन्तरिक तथा बाह्य प्रवृत्तियों को रूप देनेवाली कामवासना सृजन की मूल प्रेरणा है, तो मनुष्य को पशुता से ऊपर उठने में बाधा देनेवाली सबसे बड़ी शक्ति भी है। संसार भर के धर्म दर्शन और मानव-शास्त्र में उसका एक विशेष स्थान है। सेक्स सब देशों और भाषाओं में साहित्य की अनन्त और चिरन्तन प्रेरणा रही है।

किसी भी भाषा के साहित्य का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि उसके रचनात्मक साहित्य का अधिकांश स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण एवं सम्बन्ध पर आधारित है। विशेषकर कथा-साहित्य में तो यही एक विषय है जिसकी किसी भाषा के किसी भी लेखक ने उपेक्षा नहीं की है। इतना सर्वकालीन सर्वदेशीय और सर्वव्यापी होने पर भी उपन्यास साहित्य में सेक्स का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अभी हाल का विषय है। इसमें सन्देह नहीं सदियों पहले बुकाचियो ने 'डेकामेरों' में और मारग्रेट नेवाएर ने 'हैप्टामेरों' में सेक्स-सम्बन्धी कई साधारण और असाधारण बातों का विश्लेषण किया। इन दोनों कथा-ग्रन्थों में यौन-मनोवृत्तियों से सम्बन्धित कई सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों की चर्चा आई है जिससे ज्ञात होता है कि इन लेखकों ने मनुष्य का कितना अगाध ज्ञान प्राप्त किया था। हमारे 'महाभारत' जैसे ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं सेक्स-सम्बन्धी मनोभावों का अच्छा अध्ययन मिलता है। लेकिन कथा-साहित्य में वैज्ञानिक प्रणालियों के आधार पर यौन-वृत्तियों का अध्ययन हाल ही का विषय है। विशेषकर हिन्दी के उपन्यास साहित्य में यौन-वृत्तियों का वैज्ञानिक अध्ययन अभी पिछले दो दशकों में ही हुआ है क्योंकि हमारे उपन्यास-साहित्य में मनोविज्ञान का प्रतिष्ठापन हुए बीस वर्ष से अधिक नहीं हुआ है। हमें इस परिच्छेद में यही देखना है कि गत बीस वर्षों में हमारे उपन्यास साहित्य में सेक्स के वैज्ञानिक अध्ययन का रूप क्या रहा है। इसके पहले के कई अनुच्छेदों में प्रसंगतः सेक्स-सम्बन्धी कई प्रवृत्तियों का उल्लेख हो चुका है। अतः यहां सामान्य रूप से एक सर्वेक्षण (सर्वे) करना पर्याप्त होगा।

जहां तक हिन्दी के यौन-मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का सम्बन्ध है, उनमें

काम-अमुक्ति या कुण्ठा ही ऐसा एक विषय है जिसके अध्ययन में हमारे लेखकों ने अपनी सारी प्रतिभा का उपयोग किया है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अगर हम हिन्दी मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की यौन-सम्बन्धी कुण्ठा-भाव का अध्ययन करें तो हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास साहित्य का अध्ययन करीब-करीब पूर्ण हो जायगा।

काम-अमुक्ति या कुण्ठा (Sexual Frustration)

३०८ कुण्ठा कई प्रकार से हो सकती है। उच्च लक्ष्य की अप्राप्ति सामाजिक बन्धनों के कारण अपनी इच्छाओं की अपूर्ति दाम्पत्य जीवन में अनुकूल सहयोगी पति या पत्नी की अप्राप्ति आदि कुण्ठा के साधारण कारण होते हैं। इनमें दाम्पत्य जीवन की पराजय से उत्पन्न कुण्ठा बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और हमारे उपन्यासों में उसीका सबसे अधिक विश्लेषण हुआ है।

कुण्ठित दशा में व्यक्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि उसमें एक असन्तोषजनक एवं व्यग्रतापूर्ण वैकारिक तनातनी (Emotional tension) आ जाती है। उस अवस्था में व्यक्ति की प्रवृत्तियां ऐसा रूप धारण कर लेती हैं जिससे यह वैकारिक तनातनी कम हो सके।[1]

अमुक्ति या कुण्ठा की प्रतिक्रियाएं चार प्रकार की हो सकती हैं १ इच्छा पूर्ति का तीव्र प्रयत्न २ बलहीनता की स्वीकृति और निष्क्रियता ३ विनाशकारी या आक्रामक प्रवृत्तियां एवं ४ परिस्थिति से समझौता। हमारे मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में ये सब प्रवृत्तियां उपलब्ध हैं।

३०९ इच्छा-पूर्ति का तीव्र प्रयत्न साधारणतः देखा जाता है कि कुंठित व्यक्ति अगर निराश और निर्बल न हो तो अधिक उत्साह से अपनी इच्छा-पूर्ति का प्रयत्न करता है। संभव है इस तरह का प्रयत्न करते समय उसके मार्ग उपाय और उपकरण कुछ बदल जाएं।[2] फ्रेंच के प्रसिद्ध उपन्यासकार फ्लाबेयर का उपन्यास 'मदाम बोवारी' इसी मनोवृत्ति के आधार पर लिखा हुआ है। मदाम बोवारी के दाम्पत्य-जीवन में उसकी वासना पूर्ण नहीं होती। कुंठित वासना को मुक्ति देने के प्रयत्न में वह एक को छोड़कर दूसरे और दूसरे को छोड़कर तीसरे पुरुष का वरण करती है। एवी श्रीवास्तव के 'मानस लेस्का' की नायिका की वासना दैहिक नहीं है वह और तरह के सुख-भोग और ऐश्वर्य चाहती है। इस वासना के कुंठित होने पर वह सब कुछ के लिए तैयार हो जाती है। अपना तथा अपने प्रेमी का सर्वनाश करके भी विलासमय जीवन बिताना उसका ध्येय बन जाता है। शोलोखोव के 'डॉन' उपन्यासों में दरिया अपने पति के युद्ध में चले जाने पर अपनी वासना की पूर्ति के उपाय ढूंढती फिरती है कई पुरुषों से जो थोड़े दिन की छुट्टी में ग्राम में आवें सम्बन्ध जोड़ती है। यहां

---

१ Page Abnormal Psychology P 33

२ Page Abnormal Psychology P 33

Jung Two Essays in Analytical Psychology § 254

तक कि वह अपने ससुर तक को वश में करने का प्रयत्न करती है। इसी उपन्यास की मकसीनीया की अतृप्त वासना की प्रतिक्रिया कुछ भिन्न है। वह प्रेगर पर—केवल प्रेगर पर—आसक्त हो जाती है। उसकी प्राप्ति के निमित्त सब कुछ सहने के लिए वह तैयार है। सर्वस्व छोड़कर वह प्रेगर के साथ भाग जाती है। उसे केवल प्रेगर चाहिए। परिस्थिति की विवशता से उत्पन्न काम-अतृप्ति की संघर्षमय प्रतिक्रिया का सर्वोत्तम उदाहरण डी० एच० लारेन्स के 'लेडी चटर्ली' में मिलता है। युवती लेडी चटर्ली का पति शारीरिक रूप में पूर्णतया अशक्त और अयोग्य होकर युद्ध से लौटता है और अपनी इस दशा को जानकर पत्नी को और किसीसे प्रेम करने की अनुमति दे देता है। किन्तु उस कुलीन युवती का अहं इसके लिए तैयार नहीं होता। पर वासना भी बलहीन नहीं है। अहं और वासना के संघर्ष में वासना धीरे-धीरे विजित होती है और वह एक नौकर के प्रति आकृष्ट होती है। उसके मानसिक संघर्ष का चित्रण लारेन्स की रचनाओं के सर्वोत्कृष्ट भागों में एक है।

हिन्दी के उपन्यासों में 'नदी के द्वीप' और 'गिरती दीवारें' वासना-पूर्ति के प्रयत्न में तीन व्यक्तियों के चरित्र प्रस्तुत करते हैं। 'नदी के द्वीप' की रेखा को अपने पति से संतुष्टि नहीं पाती अत्यन्त विचलित हो जाती है। अतृप्त वासना से वलित यह विह्वलता तभी कुछ कम होती है जब वह भुवन के प्रति आकृष्ट होती है। अन्त में वह आत्मसमर्पण कर—एक निमिष की चरम अनुभूति प्राप्त कर—भुवन से अपना आभार मानती है। इस क्षणिक अनुभूति के कारण ही वह अपने जीवन को सार्थक मानने लगती है। 'गिरती दीवारें' में चेतन भी मनोनुकूल पत्नी न पाकर कई स्त्रियों के प्रति उन्मुख होता है। उसकी वासना इतनी प्रबल है कि उसे उन स्त्रियों की उम्र अथवा सामाजिक स्थिति तक की चिन्ता नहीं रहती। 'सुनीता' का हरिप्रसन्न भी अपनी अतृप्त वासना की उत्तेजना से सुनीता के प्रति आकृष्ट होता है किन्तु सुनीता का अप्रत्याशित आत्मसमर्पण उसे बदल देता है। इनके अतिरिक्त 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ 'पुजारी का देवता' की पत्नी और चन्द्र आदि भी प्रारम्भिक दशा में अपनी वासना-पूर्ति के उपकरण ढूंढते रहते हैं। पर सभी अन्त में संभलकर स्वाभाविक जीवन की ओर आ जाते हैं। यह बात भी स्मरणीय है पारसनाथ की प्रेरणा दमित वासना नहीं स्वाभाविक रूप में उसमें संचित अमित वासना है।

११० बलहीनता की स्वीकृति और निष्क्रियता—जब कुंठित व्यक्ति अपनी इच्छा-पूर्ति का सक्रिय प्रयत्न नहीं करता तब उसकी दशा बिलकुल उलटी हो सकती है। वह अपनी असमर्थता और बलहीनता को स्वीकृत कर निष्क्रिय हो जाता है और बिना प्रतिरोध के सब कुछ सह लेता है। यह एक प्रकार से व्यक्तित्व-दमन (Regressive Restoration of Persona) है।[1]

तालस्ताय के 'अन्ना करेनिना' की नायिका अन्ना करेनिना और ओब्लोंस्की के

1. Jung Two Essays in Analytical Psychology § 254
Also—Page Abnormal Psychol— P. 33-34

'डोल' उपन्यासों की नताल्या के जीवन इसके उदाहरण हैं। अन्ना को अपने पति के प्रति बिलकुल निष्क्रिय रहती है और पति के मुख्य व्यवहारों में वह चीज नहीं पाती जिसकी उसे आवश्यकता है, व्रान्स्की पर मुग्ध हो जाती है। व्रान्स्की उसपर जान देता है लेकिन जब प्रेम का प्रथम नशा टूट जाता है, अन्ना से विमुख हो जाता है। अब अन्ना के लिए कोई रास्ता नहीं रहता। वह अपनी पराजय स्वीकृत कर लेती है। निष्क्रिय जीवन से भी शान्ति न पाकर वह मालगाड़ी के नीचे अपना प्राण छोड़ देती है। नताल्या की कथा अधिक करुणाजनक है क्योंकि वह अन्ना के समान अन्य पुरुष में आश्रय नहीं खोजती। एक गरीब कुटुम्ब में जन्मी हुई यह छोटी लड़की अपने पति ग्रेगर को सर्वस्व मानकर पूजती है। अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के साथ वह अपने अधिकारों को भी सुरक्षित रखना चाहती है। ग्रेगर उससे प्रेम करता है और चाहता है कि उसके अतिरिक्त और किसीको न चाहूं। लेकिन जब कभी वह पड़ोस की अक्सीनिया को देख उसका 'सिर फिर जायगा। बार-बार चेतावनी देती हुई नताल्या अपार मानसिक वेदना का अनुभव करती है। अक्सीनिया के पास जाकर वह भीख मांगती है, पर अक्सीनिया तनिक भी दया दिखाने को तयार नहीं है 'जो दुख भी हो तुम मुझसे दया की आशा मत रखो। हम दोनों ऐसी ही हैं। जब मुझे दुख होगा तुम्हें खुशी होगी जब तुम्हें दुख होगा मुझे खुशी होगी। अब ग्रेगर मेरा हो गया है। इस बार खबरदार रहूंगी कि हाथ से फिसल न जाय। जरा देख तू तुम क्या करोगी?'[१] पराजित और निराश नताल्या भ्रूण-हत्या कर बीमार हो जाती है और शीघ्र ही मर जाती है। हो सकता है नताल्या की यह प्रवृत्ति दमित वासना के कारण न होकर, आत्मपीड़न के कारण होती हो अथवा मानसिक से बढ़कर आध्यात्मिक आग्रह की अपूर्ति के कारण होनेवाली हो। इसी तरह की पराजय-वृत्ति तुर्गनेव के बजारोव और मैजमोव में भी मिलती है, जो वासना को दबा-कर उस देश-निर्माण के काम में लगाते हैं पर अन्त में पराजित होकर मर जाते हैं। डी० एच० लारेन्स के 'बेटे और प्रेमी' के पाल मारल का जीवन पराजित है क्योंकि माता के प्रति उग्र आसक्ति के कारण वह किसी लड़की से प्रेम नहीं कर सकता। अपनी इस दुर्बलता को जानकर वह बीमार माता को अफीम देकर मार डालता है फिर भी उसकी यौन-वासना कामरित नहीं होती।

हिन्दी में जैनेन्द्र के उपन्यासों में यह पराजय-वृत्ति अधिक मिलती है। 'त्यागपत्र' की मृणाल काम-वासना को ही नहीं हृदय के सभी विकारों को दमित कर विधि की विडम्बनाओं को चुपचाप सहन को तैयार हो जाती है। उसका यह मनोभाव निश्चित ही परिस्थिति-प्रेरित नहीं है, व्यक्तिगत कुण्ठा से उत्पन्न है। 'सुनीता' की सुनंदा पति के प्रेम में मुक्त रहने पर भी मानसिक कुण्ठा से ग्रस्त होकर व्याकुल हो जाती है। हरि के मुक्त स्वच्छन्द उन्मादमय चरित्र से मुग्ध होने पर भी वह कर्तव्य-बोध के कारण उस ओर प्रवृत्त नहीं होती। परिणाम यह होता है कि वह पति को छोड़कर

---

१ Don Flows Home to the Sea, P 401

सामने में आ रहती है और मर जाती है। 'अतीत' के बसन्त की काम-अतृप्ति का कारण अपनी दूर की बहन अनिता पर उसकी रुग्ण आसक्ति है। प्रथम बार में ही वह पराजय स्वीकृत कर लेता है अच्छे नम्बर पाने पर भी बी ए के बाद पढ़ाई बन्द कर साधारण नौकरी करने लगता है। जीवन की उच्च आकांक्षाएं एकदम बह जाती हैं। अपने प्रति सुमिता का प्रेम देखकर वह पराजित मन से कहता है "मैं अपात्र हूं सुमिता।" इसके बाद भी उसकी प्रवृत्तियां इस अतृप्ति से प्रभावित रहती हैं। इसीलिए विवाह हो जाने पर वह प्रयत्न करके भी पत्नी को प्रसन्न नहीं कर सकता।

१११ विनाशकारी या आक्रामक प्रवृत्तियां—काम-अतृप्ति की तीसरी प्रतिक्रिया व्यक्ति का अपनी शक्तियों को किसी प्रकार की आक्रामक और विनाशकारी प्रवृत्तियों में लगाना है।[1] अपनी काम-अतृप्ति के कारण व्यक्ति में दूसरों को भी किसी तरह व्यथित करने की मनोदशा आ जाती है। दूसरों को भी काम-अतृप्ति से पीड़ित करने का आग्रह या उसकी सुविधा न हो तो और किसी प्रकार की व्यथा देने का आग्रह भी हो सकता है। मिस मई सिन्क्लेयर के 'तीन बहनें' में तीन बहनों का पिता अपने यौन-जीवन में पराजित होकर नहीं चाहता है कि बेटियों का भी विवाह न हो। उनकी यह आन्तरिक अभिलाषा जिसे बाह्य रूप में वह स्वीकृत नहीं करता व्यक्तिगत कुण्ठा से ही उत्पन्न है। लारेन्स के 'बेटे और प्रेमी' की मिसिज मोरल भी अपने पुत्र का विवाह नहीं चाहती। किन्तु बड़ा बेटा पाल मोरल भी माता के प्रति रुग्ण आसक्ति रखता है। माता की आक्रामक प्रवृत्ति इस बात से स्पष्ट है कि पाल जिन लड़कियों से प्रेम करने का प्रयत्न करता है उन सबको मिसिज मोरल अयोग्य बताकर पुत्र की दृष्टि से गिरा देती है।

शेखर शशि के प्रति और राजीव ('मुक्तिपथ' में) सुनन्दा के प्रति जो व्यवहार करते हैं उनको दमित वासनाजनित आक्रामक प्रवृत्तियों के उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। स्वयं अपनी वासना को दमित रखनेवाला शेखर शशि से प्यार करते हुए भी उसके प्रति दया या सहानुभूति नहीं दिखाता। जब उसकी यह बेचारी बहन शेखर पर अपनी आसक्ति के कारण पति द्वारा परित्यक्त होकर उसके पास आ जाती है तब वह उसे अपने 'अहं' की तृप्ति का साधन-मात्र बनाकर बिलकुल निर्मम व्यवहार करता है। शेखर का ही दूसरा रूप है 'मुक्तिपथ' का राजीव जो अपने पर आसक्त सुनन्दा के प्रति कोरी निर्ममता से व्यवहार करता है। इन दोनों उदाहरणों में यौन-वासना के दमन की प्रतिक्रिया के रूप में कुंठित व्यक्ति अन्यों की वासना को भी दमित देखना चाहते हैं। यह प्रतिक्रिया भी काम-सम्बन्धी है। इसके विरुद्ध 'सुनीता' के हरिप्रसन्न और विचर्ड के विलेन जैसे पात्रों में काम-अतृप्ति से जनित आक्रामक प्रवृत्ति क्रान्तिकारिता का रूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार का समाज-भ्रान्ति का प्रभाव तुर्गनेव के नेज़दानोव और बज़ारोव में तथा 'दादा कामरेड' एवं 'देशद्रोही' के नायकों में भी मिलता है। पर इनके सम्बन्ध में यह कहना कठिन है कि उनका

[1] Page Abnormal Psychology P 35-36.

अशान्ति मात्र काम-आसुक्ति से उत्पन्न है अथवा बीच-बीच में उभर आनेवाली वासना अशान्तिकारिता का विरोध करनेवाली शक्ति है।

११२ परिस्थिति से समझौता—काम-असुक्ति या कुण्ठा की चौथी प्रतिक्रिया यह है कि व्यक्ति अपनी सीमाओं तथा परिस्थिति की विवशताओं को पहचानकर उनसे समझौता कर लेता है और परिस्थिति से संघर्ष करने के बदले उसके अनुकूल होकर जीने लगता है।[1] वस्तुतः यह जीवन में सर्वसाधारण प्रवृत्ति है किन्तु उपन्यास में इसको अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है। इसका कारण शायद यह हो सकता है कि विवशताओं को बिना प्रतिरोध के स्वीकृत कर अपने-आपको उनके अनुकूल बदलने वाले व्यक्ति के जीवन में संघर्ष न होने के कारण अधिक रोचकता नहीं होगी जो उपन्यास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। उपन्यास में नाटकीयता लाने के प्रयास में लेखक की इस निष्क्रियता की प्रायः उपेक्षा की गई है। भले ही परिस्थिति से संघर्ष करना ही मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति हो और वही जीवन के विकास का कारण हो तथापि वह अपने-आपको परिस्थिति के अनुसार बहुत कुछ बदल भी लेता है और इस तरह जीवन से समझौता भी कर लेता है। विशेष रूप में स्त्री में यह गुण पाया जाता है। भारत की नारी तो अपने सम्पूर्ण जीवन को समझौते की नींव पर ही निर्मित करती है।

मोपासां के 'एक स्त्री का जीवन (अन वी) अथवा मारिया के जो खो गया' (Ce qui etait perdu) 'काले देवता' (Les Anges noirs) आदि उपन्यासों में स्त्री की इस मनोवृत्ति का मार्मिक विश्लेषण मिलता है। मोपासा के उपन्यास की नायिका अनुभवहीन होकर जिस युवक से विवाह करती है उसे विवाह के पश्चात् ठीक तरह समझ पाती है। उस घोर स्वार्थी व्यक्ति से प्रेम करना असम्भव हो जाता है। किन्तु उसकी मातृत्व की भूख उसे पति के निकट लाती है एक पुत्री को पाकर वह पति से खिंच जाती है एक बार पुत्री के बहुत बीमार होने पर उसे यह चिन्ता होती है कि वह मर जाय तो क्या होगा। फिर वह पति से सम्पर्क रखकर एक पुत्र को जन्म देती है और पति से हमेशा के लिए खिंच जाती है। यहां हम ऐसी एक नारी को देखते हैं जो परिस्थिति से संघर्ष नहीं करती विद्रोह नहीं करती बल्कि जीवन ने उसे जो कुछ दिया है उसीको स्वीकृत कर उससे तृप्त होने का प्रयत्न करती है। उसका समझौते का मनोभाव ग्रन्थ में दूसरे प्रसंग में भी प्रकट होता है। उसका पुत्र एक वेश्या के मोह में पड़कर अपना सर्वनाश करता रहता है। माता इसका विरोध करती है पर वेश्या के मरण के समय उससे पुत्र का विवाह कराकर उसकी सन्तान को वैध बना लेती है। मोपासां ने इन प्रसंगों में उसके मन में जो संघर्ष होता है उसका मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है। मारिया के 'जो खो गया' की नायिका इरीन और 'काले देवता' के मथील्ड के चरित्र भी इसी तरह समझौते के स्वभाव को स्पष्ट करते हैं। केवल धन के लिए विवाह करनेवाले पति की शिकायत इरीन कभी नहीं करती। उसकी काम असुक्ति उसे अपार अशान्ति तो देती है पर वह विद्रोह नहीं करती। एक कुलीन

[1] Page Abnormal Psychology P 37

युवती के समान जीवन व्यतीत करती है। मनीस्द विवशता के कारण अपने इच्छित पुरुष को छोड़कर एक प्रवेह से विवाह कर लेती है। एक पुरुष से प्रेम करते हुए भी वह पति के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करती है और अपने-आपको पति का ऋणी मानती है क्योंकि उसकी जीवन-नौका को पार लगानेवाला वही है।

हिन्दी के कई उपन्यासों में भी इस समझौते की प्रवृत्ति को स्थान मिला है। 'नदी के द्वीप' में रेखा पहले इच्छा-पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहती है। उसकी दमित वासना उत्तेजित होने पर तभी शान्त होती है जब भुवन से उसका सम्बन्ध होता है। किन्तु इसके पश्चात् ? रेखा जैसी प्रत्यक्षिक भावुक स्त्री के लिए उस पुरुष का विनाश के गर्त में ढकेल देना असाध्य कार्य है जिसने उसे एक सात्विक अनुभूति प्रदान कर उसके जीवन को सार्थक बनाया। अतः वह दूसरा विवाह करती है जहाँ से उसका जीवन भावुकता का झंझावात नहीं है आँधी के बाद ही प्रशान्त नवरचना है। यह नहीं कहा जा सकता कि नया दाम्पत्य-जीवन उसे आनन्द देता है। वह भुवन को लिखती है "यह क्या है भुवन ? बरसों मैं श्रीमती हेमेन्द्र कहलाई, उसके क्या अर्थ थे ? अब अगले महीने से श्रीमती रमेशचन्द्र कहलाऊँगी—उसके भी क्या अर्थ हैं ? मैं इतना ही समझ पाती हूँ कि मेरे लिए यह समूचा श्रीमतीत्व मिथ्या है कि मैं तुम्हारी हूँ केवल तुम्हारी तुम्हारी ही हुई हूँ और किसीकी कभी नहीं न कभी हो सकूँगी। तुम्हीं मेरे अर्थ हो तुम्हारे ही स्पर्श 'सकल मम देह-मन वीणा सम बाजे'[1] तो फिर उसके नये वैवाहिक जीवन के अनुमित रूप का क्या अर्थ है ? यह क्या केवल ढोंग है ? नहीं पर हम जीवन का समन्वयोन्मुख रूप देखते हैं। रेखा का यह विवाह जीवन से एक समझौता है।

डा देवराज के 'पथ की खोज' का चन्द्रनाथ साधना के प्रति अपने अनैतिक आकर्षण निमन्त्रण करते हुए परिस्थिति से समझौते का प्रयत्न करता है। हो सकता है साधना के अपने प्रति आकर्षण को जानते हुए भी उसका उसे प्राप्त करने का प्रयत्न न करना उसकी मानसिक दुर्बलता के ही कारण हो पर परिणाम यही होता है कि वह परिस्थिति के अनुकूल होकर जीवन बिताता है। इसके लिए उसे कम प्रयत्न नहीं करना पड़ता। असंतुष्ट-वासना से उत्पन्न मानसिक तनातनी (मेण्टल टेन्शन) को कम करने के लिए वेश्यालय की शरण लेने पर भी उसे शान्ति नहीं मिलती। आशा से विवाह करके जीवन को स्वाभाविक गति देने का प्रयास समझौते का पुनः प्रयत्न है।

'गिरती दीवारें' के चेतन का जीवन प्रायः अन्त तक काम-वासना या लिबिडो को संतृप्त करने के साधनों की खोज का इतिहास है। बीच-बीच में चेतन उच्छृङ्खल वासना को हठात् बाँधकर सामाजिक मर्यादा का पालन करता है। उसका न चाहने पर भी चन्दा से विवाह करना अपनी ही वासना से तथा घर के लोगों से समझौते का परिचायक है। विवाहोपरान्त भी वह चन्दा को अपनी रुचि के अनुकूल बनाकर उसीमें अपनी तृप्ति का साधन ढूँढता है। किन्तु प्रबल वासना उसके नियंत्रण के परे

---

१ नदी के द्वीप पृ १९।

है और वह कई स्त्रियों के प्रति आकृष्ट होता है। अन्त में उसे एक वैद्यराज के विचारों से यह विश्वास होता है कि समझौते के बिना जीवन का और कोई उपाय नहीं है और वह फिर एक बार चन्दा के प्रति आकृष्ट होता है।

'कल्याणी' और 'सुखदा' की नायिकाएं भी अपने जीवन को समझौते का आधार लेकर ही सह्य बना लेती हैं। अभिनव रूचियों से युक्त सुशिक्षित धनी कन्या कल्याणी डा. असरानी से विवाह करके भयंकर निराशा का अनुभव करती है फिर भी किसी तरह उसी जीवन को सह्य बना लेती है। पति उसपर पर पुरुष-सम्बन्ध का दोष लगाता है पीटता है कुछ दिनों तक अकेले बन्द कर रखता है आम रास्ते पर जूते से मारता है फिर भी वह सब सहन करती है और पति से विद्रोह करने की बात तक नहीं सोचती। यहाँ यह बात स्मरणीय है कि यह समझौता काम-अमुक्ति द्वारा उत्पन्न मानसिक तनातनी को कम करने के निमित्त नहीं है केवल सामाजिक दृष्टि से पारिवारिक जीवन को व्यवस्थित रूप देने के लिए है। सुखदा की मानसिक तनातनी अधिक सशक्त है। पारिवारिक जीवन की संकुचित सीमा के अन्दर ही समा रहने में असमर्थ उसकी मानसिक शक्तियाँ फूट निकलती हैं। वह क्रान्तिकारी दल तथा उसके प्रवर्तक लाल से सम्बन्ध रखने लगती है। लेकिन इससे भी उसके स्त्रैण मानस को सन्तोष नहीं मिलता। वह घर की दुर्दशा देख घर की ओर मुड़ती है। इस तरह स्वाभाविक जीवन से समन्वय करने का उसका प्रयत्न अधिक सफल नहीं माना जा सकता क्योंकि वह फिर पति को छोड़कर मायके चली जाती है। यहाँ सुखदा जीवन-समझौते का प्रयत्न तो करती है पर उसमें कई विघ्न उपस्थित होते हैं।

काम-अमुक्ति या कुण्ठा से सम्बन्धित कुछ सामान्य बातें

३११ मनोविज्ञान ने यह बात स्थापित कर दी है कि काम-अमुक्ति प्रायः चित्त-विकृति[१] का कारण बनती है।[२] ऊपर के प्रकरणों में हम देख चुके हैं कि हमारा मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के अधिकांश पात्र कुण्ठा से उत्पन्न चित्त-विकृति से पीड़ित और प्रायः असाधारण और कभी-कभी अस्वाभाविक हैं। विकृत चित्त व्यक्तियों में दिखाई पड़नेवाला दुहरा और संघर्षमय व्यक्तित्व भी उनमें प्राप्य है। कभी-कभी कुण्ठा के परिणामस्वरूप कुण्ठित व्यक्तियों के व्यक्तित्व उदात्तीकृत होकर कुछ उन्नत स्तरों के गुणों की प्राप्ति कर लेते हैं। शेखर नन्दकिशोर महीप राजीव आदि में इसके उदाहरण देख चुके हैं। अमुक्ति के कारण कुण्ठित काम-शक्ति का अन्य क्रियाओं में संयुक्त होना इन उपन्यासों के प्रायः सभी क्रान्तिकारी पात्रों की प्रवृत्ति है। कभी-कभी कुण्ठा व्यक्ति की मानसिक पीड़ा का कारण बनकर उसे पूर्णतया निराश और नाशक्त बना देती है। नैराश्य की चरम सीमा में परवश होकर मरण का वरण

---

१ यहाँ 'चित्त-विकृति' शब्द विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त किया जा रहा है और चित्त विक्षिप्ति चित्त-मन्दता असामाजिकता आदि को भी इसके अन्तर्गत मानना चाहिए।

२. Page Abnormal Psychology P 289

करना भी असम्भव नहीं है। ज्ञात होता है सुखदा कल्याणी आदि का दयनीय अन्त इसी तरह होता है।

यूरोपीय उपन्यास में सेक्स से सम्बन्धित कुछ बातें

ऊपर हिन्दी एवं पाश्चात्य उपन्यासों में प्राप्त सेक्स की कुछ प्रवृत्तियों की चर्चा हम कर आए हैं। इनके अतिरिक्त यूरोपीय मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में यौन-मनोविज्ञान से सम्बन्धित जो विशिष्ट बातें मिलती हैं उनका भी यहां संक्षेप में अध्ययन करना उचित होगा। विशेषकर कुछ विशेष लेखकों तथा कुछ विशेष प्रवृत्तियों का विवेचन हिन्दी उपन्यासों के मूल्यांकन में भी सहायक हो सकता है।

३१४ दो चरम स्थिति—विविध व्यक्तियों में वासना विविध मात्राओं में विकसित होती है। पैत्रागतिकी तथा परिवेश से प्रस्फुटित एवं परिचालित वासनात्मक मनोवृत्तियां अपनी चरम सीमा में अनियंत्रित उच्छृंखलता तक पहुंच सकती हैं या दूसरी ओर नैतिक मान्यों के बन्धनों को स्वीकृत कर एक प्रकार की भावुकता का रूप भी धारण कर सकती हैं। प्रथम के उदाहरण के रूप में मदाम बोवारी और नाना को तथा दूसरे के उदाहरण के रूप में 'उन वी' की नायिका तथा एलीज़ा को ले सकते हैं। फ्लाबेयर की मदाम बोवारी और ज़ोला की नाना में वासना इतनी प्रबल है कि उन्हें न अपनी भलाई की चिन्ता रहती है न दूसरों की न समाज की। वे स्वयं पतित होती जाती हैं और जो इनके सम्पर्क में आती हैं उन सबको भी विनाश की ओर ले जाती हैं। नाना को कुटुम्ब के कुटुम्ब नष्ट करने में अपार आनन्द मिलता है। मदाम बोवारी तथा नाना दोनों में वासना की तीव्रता के साथ दूसरी जो एक बात दिखाई देती है वह उनकी चंचलता है। दोनों अनुभूतियों की चरम दशा में अपने-आपको भूल जाती हैं तो अपनी वासना-पूर्ति में तनिक भी कमी रह जाय तो अधीर हो उठती हैं। यहां जो बात हमें याद रखनी है, वह यह है कि फ्लाबेयर और ज़ोला ने वासना को एक नीच वृत्ति या पाशविकता के रूप में नहीं देखा है किन्तु मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी के रूप में ही देखा है। अतः उन्होंने एम्मा बोवारी और नाना के प्रति अपार सहानुभूति भी दिखायी है। विश्व-साहित्य में इतने कुत्सित पात्र शायद और कहीं नहीं मिलेंगे पर और कहीं ऐसे दयनीय पात्र भी नहीं मिलेंगे जिनपर लेखकों ने इतनी सहानुभूति और ममता दिखाई हो।

इसके विरुद्ध मोपासां के 'उन वी' की नायिका तथा जीद के 'तंग दरवाजा' की एलीज़ा को लीजिए। ये दोनों वासना को दबाती हैं। 'उन वी' की नायिका उसी युवक से विवाह करती है, जिसे वह प्राणों से अधिक चाहती है पर शीघ्र ही उसके दुर्गुणों को देख उससे विरक्त हो जाती है। उसका नैतिक आदर्श उसे पति से दूर रखता है पर मातृत्व की कामना पति की ओर खींच ले जाता है। इस मानसिक संघर्ष का मार्मिक चित्र मोपासां ने उपस्थित किया है। एलीज़ा केवल इस कारण से जेरोम से विवाह नहीं करती कि वह अपनी अपार भावुकता के कारण बाइबिल के एक वाक्य से प्रभावित हो जाती है जो यह कहता है कि ——— ——— ———

सम्मुख करके ही स्वर्ग के तंग दरवाज से उस पार जा सकते हैं। यहाँ जन्मजात वासना तथा नैतिक आदर्श का संघर्ष मिलता है जो एलीजा को द्रवित करके मरण की ओर ले जाता है।

ऊपर की दोनों दशाओं के बीच की एक अवस्था वास्तायवस्की के 'महामूर्ख' की मस्तास्या फिलिपनोवना की है जो अपनी वासना में अपनी ही आहुति देती है किन्तु उससे अपने प्रिय प्रिंस मिशकिन को बचाने का सतत् प्रयत्न करती रहती है। इन उपन्यासों में मनुष्य की अनादि वासना और अनन्त आदर्श के बीच जो द्वन्द्वात्मक संघर्ष व्यक्त किया गया है वह सम्पूर्ण मानवता की चिरन्तन समस्या है और यही इन उपन्यासों का महत्त्व है।

३१५ प्रूस्ट सैक्स और समय—मार्से प्रूस्ट ने काम-वृत्ति के जो रूप दिखाए हैं उनपर समय का प्रभाव विचारणीय विषय है। पात्रों की प्रेम-सम्बन्धी भावना और व्यवहारों में अवस्था के अनुसार जो अन्तर आता है उसका प्रूस्ट के समान सूक्ष्म विश्लेषण करनेवाला उपन्यासकार और कोई नहीं हुआ है। 'भूतकाल पर्यवेक्षण' के नायक का बाल्यावस्था में गिलबेर्ट स्वन के प्रति प्रेम क्षणिक ही ज्ञात नहीं होता यद्यपि उसकी मूल प्रेरणा अचेतन में स्थित काम-वासना ही है। वह गिलबेर्ट से अत्यधिक आवेशपूर्ण प्रेम चाहता है। इस प्रेम में एक प्रकार का आवेग है उन्माद है पर वह चिरन्तन नहीं है। गिलबेर्ट जब उससे विलग हो जाती है तो वह पहले बहुत ही व्यथित होता है पर शीघ्र ही उसे भूल जाता है। समय हृदय की हर चोट पर पट्टी लगाकर उसे सुखा देता है। प्रेम की दूसरी दशा यौवनारम्भ के प्रेम की है। इस अवस्था में हर युवक को हर युवती परी-सी लगती है।—'यौवने कुक्कुरी रम्या'—हर युवती को हर युवक सुन्दर लगता है। यही दशा प्रूस्ट के नायक की है जो बालबेक शहर में कई लड़कियों से परिचित होकर एक अज्ञात आश्चर्यमय रहस्यपूर्ण आनन्द का अनुभव करता है। विशेषकर एल्बेर्टीन से उसका प्रेम ऐंद्रियिक तीव्रता की चरम सीमा तक पहुँचता है। इस आवेगमय प्रेम का ही रूप ओडेट के प्रति स्वन में देख सकते हैं।

प्रेम के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रूस्ट ने दो नियम निर्धारित किए हैं। विवाह के पूर्व जिन युवक-युवतियों में अत्यधिक भावमय प्रेम होता है उनका प्रेम विवाह के बाद कम होने लगता है और कभी-कभी पारस्परिक घृणा की सीमा तक पहुँच जाता है। स्वन ओडेट से अपार प्रेम करता है उसके लिए सब कुछ करने को तैयार रहता है पर विवाह हो जाने पर धीरे-धीरे वह अनुभव करने लगता है कि उसने गलत स्त्री से विवाह किया है और ओडेट उसके लिए योग्य पत्नी नहीं है। प्रूस्ट का दूसरा नियम यह है कि सन्देह अनिश्चितता और आकांक्षा प्रेम में आवेग का पोषण करती है। जब पुरुष या स्त्री में अपनी प्रेमिका या प्रेमी की प्राप्ति सन्दिग्ध रहती है अथवा एक को दूसरे की अविचलनिष्ठा का सन्देह रहता है तब प्रेम का आवेग चरमान्त होता है। ओडेट और स्वन के प्रेम की विविध दशाओं में प्रूस्ट ने इसे स्पष्ट किया है। जब तक ओडेट स्वन के वश में नहीं आती उसका प्रेम अत्यन्त तीव्र दशा में रहता है पर जब

वह उससे प्रेम करने लगती है तब स्वान के प्रेम की तीव्रता नष्ट हो जाती है। लेकिन शीघ्र ही ओडेट फोर्चेट के प्रति आकृष्ट होती है, तो स्वान का प्रेम पूर्वाधिक तीव्र हो उठता है। अपनी प्रेमिका को अन्य पुरुष के प्रति आकृष्ट देखकर उसमें जो ईर्ष्या होती है वह ओडेट को प्राप्त करने के लिए उसे अधिक प्रेरणा देती है। इसी तरह कथानायक भी एल्बेर्टीन के भूत और भविष्य की चिन्ता कर ईर्ष्या करता है जिससे उसके हृदय की भावनाएं अधिक तीव्रता पकड़ती हैं। प्रूस्ट ने इन बातों का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया है।

३१६ प्रेम और आवेग—प्रेम और आवेग का पारस्परिक सम्बन्ध कई यूरोपीय उपन्यासों में प्रकट किया गया है। पुरुष का आवेग सदा स्त्री के विकारों को उत्तेजित करता है। ई एम फार्स्टर के 'खिड़कीवाला कमरा' (ए रूम विद ए व्यू) नामक उपन्यास का विषय यही है। इसमें नायिका लूसी के प्रेम के दो रूप दिखाए गए हैं। सेसिल से उसके विवाह का निश्चय हो चुका है। दोनों कुलीन व्यक्तियों के समान संयमित और शिष्ट व्यवहार करते हैं। यह प्रेम विकाररहित और निर्जीव है। इसके विरुद्ध लूसी से जार्ज का प्रेम बहुत ही आवेगपूर्ण होने के कारण लूसी के विकारों को भी जागरित करनेवाला है। एक-एक चुम्बन के वर्णन में फार्स्टर ने दोनों का अन्तर दिखा दिया है।

नदी के किनारे घूमती हुई लूसी एक बगीचे में आ जाती है। वातावरण उत्तेजक है। असावधानी के कारण अचानक वह गिर पड़ती है और शीघ्र ही उठ खड़ी होकर चारों ओर के अनुपम सौन्दर्य के प्रति आंखें फेरती है।

"उसकी आहट सुनकर जार्ज ने घूमकर देखा। एक निमिष के लिए उसको लगा कि वह स्वर्ग से गिर पड़ी है। उसने देखा कि उसके मुख पर आनन्द की आभा फैली हुई है और फूलों के झकझोर से उसके वस्त्रों पर नीली लहरें उठ रही हैं। उसने जल्दी आगे बढ़कर उसे चूम लिया।"[1]

लूसी को न बोलने का अवसर मिलता है न समझने का। पर इस आवेगमय चुम्बन से वह प्रभावित हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इसकी तुलना में सेसिल के प्रथम चुम्बन का वर्णन देखिए। वातावरण उससे मिलता-जुलता ही है। सेसिल और लूसी घूम रहे हैं

" 'लूसी मैं तुमसे एक चीज मांगना चाहता हूं जो अब तक मैंने नहीं मांगी है।
उसके गंभीर शब्द सुनकर वह धीमे बढ़कर उसके पास गई।
'क्या है सेसिल ?
'जो आज तक नहीं मांगी उस दिन भी नहीं, जब तुमने मुझसे शादी करने को राजी हुई थीं ?
'हूं।
'अब तक मैंने तुम्हें नहीं चूमा है।'

---

१ A Room With A View P 86

वह यह सुनकर लाल-लाल हो गयी मानो उसके कहने का ढंग ठीक नहीं था। "

'नहीं नहीं किया था।

तब मैं तुम्हारा चुम्बन करूं ?'

'अच्छा कर लो सेसिल। तुम पहले ही कर सकते थे। मैं क्या तुमपर झपट पड़ती ?

उसने बड़े व्यावहारिक ढंग से अपना घूंघट हटा दिया।"[1]

इसके बाद वह चुम्बन करता है पर उसे ज्ञात होता है कि वह पराजय थी। इस निर्जीव प्रेम से स्त्री कितनी निराश होती यह फार्स्टर ने दिखा दिया है। यह एक ऐसा पुरुष है जो मित्र बनने योग्य है पति बनने नहीं। लुसी जार्ज से 'नहीं-नहीं' करके भी बारबार उसके वश में हो जाती है और उसके पुरुषत्व के लिए उसका आदर करती है।

इसी प्रकार का एक प्रसंग 'युद्ध और शान्ति' में भी आता है। जब नताशा बोरिस से और सोनिया निकोलाय से मिलती है तब प्रथम जोड़ी का मिलन शान्त और निर्जीव है अतः उसका पराजित होना निश्चित ज्ञात होता है। इसके विरुद्ध क्षोभ और आंसू की आंधी से भरा सोनिया और निकोलाय का चुम्बन उनको सदा के लिए बांध दें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसी प्रकार गोन्चारोव के 'ओब' उपन्यासों में नताल्या के प्रशान्त प्रेम और प्रक्सीनिया के आवेशमय प्रेम की भी तुलना की गयी है। यद्यपि ये उपन्यास मनोवैज्ञानिक नहीं हैं, तो भी उनका मनोवैज्ञानिक आधार कम सबल नहीं है। इन प्रसंगों की यहां चर्चा करने में हमारा ध्येय यूरोपीय उपन्यासों के सेक्स-सम्बन्धी विश्लेषण की अगाधता को दिखाना ही है। ऐसे प्रसंग अन्य कई उपन्यासों में भी मिलते हैं, सबका उल्लेख यहां असंभव है।

३१७ – विकृत यौन-आचार, प्रकृति-विरुद्ध काम और अगम्य-गमन—हिन्दी (और अन्य भारतीय भाषाओं) के उपन्यासों की तुलना में यूरोपीय उपन्यासों की एक विशेषता यह है कि उनमें सेक्स-सम्बन्धी बातों की अधिक खुली चर्चा की जाती है अप्राकृतिक और कुत्सित सम्बन्धों का भी विश्लेषण किया जाता है। आधुनिक यूरोपीय उपन्यास में लैंगिक जीवन के सभी पहलुओं का—वह चाहे प्राकृतिक हों या प्रकृति विरुद्ध—कलात्मक ढंग से और वैज्ञानिक सूक्ष्मता से विश्लेषण करने की प्रवृत्ति मिलती है। अधिकांश उपन्यासकारों ने पूर्ण नग्नता और अश्लीलता तक पहुंचाए बिना और फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तों का आधार लेकर यौन-जीवन को कला का विषय बना दिया है।

स्त्री-पुरुष के सामान्य स्वाभाविक गति के आकर्षण के अतिरिक्त काम-वासना के कई विकृत रूप भी होते हैं। समलैंगिक आकर्षण अनुचित और समाज-विरोधी रूप में प्रकट होनेवाले लैंगिक व्यवहार आदि इनमें मुख्य हैं। यूरोपीय उपन्यासों में इन सबकी सकुशलता का विश्लेषण किया गया है।

---

१ A Room With A View P 130.

सलैंगिक प्रेम की चर्चा फ्रेंच के कई उपन्यासों में की गई है। रोम्या रोलां के 'ज्याँ क्रिस्ताफ़' में क्रिस्ताफ़ और घोटो के बीच जो आकर्षण विकसित होता है, उसकी चर्चा हम कर आए हैं।[1] प्रूस्ट और जीद के उपन्यासों में सलैंगिक प्रेम का विस्तृत एवं सूक्ष्म अध्ययन है। प्रूस्ट के 'भूतकाल पर्यवेक्षण' के 'सादोम और गोमोरा' नामक भाग में स्वधर्म सम्भोग का बहुत कुछ नग्न चित्रण हुआ है। इस अप्राकृतिक प्रवृत्ति का वैज्ञानिक कारण प्रूस्ट ने दिखाया है। प्रत्येक पुरुष और स्त्री में पुरुषत्व और स्त्रीत्व विभिन्न मात्राओं में होते हैं यही सलैंगिक आसक्ति का कारण है। प्रूस्ट का एक प्रसंग देखिए

"मदाम अमुबर्ट सचमुच एक पुरुष थी। यह बात उतने महत्त्व की नहीं है कि वह सदा ही पुरुष थी या उस समय जब मैंने उसे देखा पुरुष के रूप में विकसित हो रही थी। क्योंकि सच्ची बात दोनों में कोई भी हो—विशेषकर दूसरी बात ही सच हो—तो हमें यहां प्रकृति के ऐसे एक हार्दिक आश्चर्य भरे सत्य की चर्चा करनी पड़ रही है जो मनुष्य वर्ग को पुष्प वर्ग से समता को प्रमाणित करता है। इस तरह के जीव विज्ञान पर आधारित अध्ययन प्रूस्ट में कई जगह मिलते हैं। आन्द्रे जीद के 'जिनीवियेव' की नायिका जिनीवियेव अपने क्लास में पढ़नेवाली एक यहूदी लड़की के प्रति प्रकृति विरुद्ध काम-वृत्ति का प्रकटन करती है। जब उसके मां-बाप इस बात को जानकर उसे डांटते हैं तो वह अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करने के लिए पारिवारिक डाक्टर के पास जाकर प्रार्थना करती है कि वह उसे गर्भिणी बना दे। जीद के 'खोटी टकसाली' नामक उपन्यास में जार्ज नामक एक बालक कुछ चोरी करता है। एडवर्ड नामक पुरुष जो उसे चोरी करते पकड़ लेता है उसपर आसक्त हो जाता है और उसका प्रेम क्रमशः विकसित होता जाता है। प्रसिद्ध जर्मन उपन्यासकार थामस मान के 'वेनिस में एक मरण' नामक छोटे-से उपन्यास में एक वृद्ध की कथा है जो एक बालक के प्रति अपने मन में उत्पन्न प्रेम का दमन करते हुए मरता है।

प्रकृति-विरुद्ध काम का दूसरा रूप अगम्य व्यक्तियों पर आसक्ति है। यद्यपि हमारे उपन्यास-साहित्य में कुत्सित से कुत्सित विषयों की निरावृत चर्चाएं मिलती हैं तथापि माता बहन आदि के प्रति पुरुष की लैंगिक आसक्ति का उल्लेख तक करने की धृष्टता हमारे किसी लेखक को नहीं हुई है। शायद हमारी मानसिक संस्कृति ही इसका कारण है। अगम्य-गमन से सम्बन्धित हिन्दी का एक ही उपन्यास जो हमारे देखने में आया द्वारकाप्रसाद का हाल में प्रकाशित 'घेरे के बाहर' है जो अल्पकाल में ही बहुत बदनाम हो चुका है और कई स्थानों पर सरकारी निरोध आज्ञा का पात्र बन चुका है। इसमें कुमार नामक युवक के अपनी चचेरी बहन नीरा के प्रति प्रेम की कथा है। लेखक ने इस प्रेम को आगे बढ़ाते हुए कहीं-कहीं अश्लीलता (?) की चरम सीमा तक पहुंचा दिया है। किन्तु इस उपन्यास के गुणों की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। लेखक ने इसमें हृदय के भावों का चित्र ईमानदारी से चित्रण किया है और मनोभावों

[1] देखें अनुच्छेद १७८।

को व्यंजित करनेवाली छोटी-छोटी क्रियाओं का जिस सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया है वे शायद ही हिन्दी के अन्य किसी उपन्यासकार में मिलेगा। लेखक सामाजिक औचित्य पर भी कुछ ध्यान रखता तो शायद हिन्दी में 'शीष या प्रूस्ट' का कोई लघु संस्करण उपस्थित कर सकता। इसके अतिरिक्त हिन्दी में अगम्य-गमन का विश्लेषण करनेवाले उपन्यास नहीं के बराबर हैं।

किन्तु यूरोपीय साहित्य में यह अत्यन्त प्रौढ़ उपन्यासों का विषय है। डी० एच० लारेन्स के 'बेटे और प्रेमी' में पाल मोरल और उसकी माता का पारस्परिक आकर्षण इडिपस ग्रन्थि का उदाहरण है। यद्यपि उनका सम्बन्ध शारीरिक दृष्टि से पति-पत्नी का नहीं है तो भी मानसिक दृष्टि से बहुत कुछ दाम्पत्य-भाव का ही है। एक बार पाल माता को घुमाने ले जाता है और चाय आदि में बहुत खर्च करता है। इस प्रसंग की उनकी बातचीत उनके पारस्परिक सम्बन्ध को प्रकट करती है।

"यह मत समझो कि मुझे यह पसन्द है" वह मांस का टुकड़ा खाते हुए बोली "मैं इसे पसन्द नहीं करती, मुझे वस्तुतः यह पसन्द नहीं। तुम समझ लो कि तुम्हारे पैसे बरबाद हो गए।"

"मेरे पैसों की तुम चिन्ता न करो" वह बोला 'और मूल जाओ मैं अपनी प्रेमिका के साथ घूमने निकला हूं।[१]

और एक प्रसंग में पाल माता से कहता है "एक आदमी की मां बूढ़ा क्यों नहीं हो सकती? वह किसलिए बूढ़ी होती है? तुम किसलिए बूढ़ी हो?"[२]

भले ही ये दोनों जान-बूझकर पाप की ओर नहीं जा रहे हों तो भी यह निश्चित है कि अचेतन में अवस्थित काम-शक्ति ही उनकी पारस्परिक आसक्ति का कारण है।

अगम्य-गमन से सम्बन्धित दो विश्वप्रसिद्ध जर्मन उपन्यासों का भी उल्लेख यहां असंगत नहीं है। प्रथम टामस मान का 'पवित्र पापी' (दि होली सिनर) है। इसकी नायिका की मां बूआ अपने पति से सन्तान न पाने से एक शाप विशेष से सम्मिश्र योग कर दो जुड़वें बच्चों को जन्म देती है—एक बालक विलिजिस दूसरी बालिका सिबिला। वय प्राप्त होने पर ये दोनों एक-दूसरे पर आसक्त हो जाते हैं। उनके एक पुत्र उत्पन्न होता है। इस पाप के बाद विलिजिस तीर्थ यात्रा के लिए चला जाता है पुत्र भी और कहीं भेजा जाता है। कुछ वर्षों के बाद पुत्र उस देश पर विजय प्राप्त कर अपनी ही माता से विवाह करता है। उनके दो बच्चे पैदा होते हैं। इसके बाद रहस्य को जानकर वह संन्यास के लिए चला जाता है बाद में पोप बनाया जाता है। टामस मान ने इस धर्म-मनोवैज्ञानिक कथा को कुछ दार्शनिक भी बना दिया है। यहां दो बातें उल्लेखनीय हैं। इस कथा में जो अनैतिक सम्बन्ध हुए हैं, वे प्रायः संयोग से और अनजान में हुए हैं, अतः उन्हें मनोवैज्ञानिक रूप नहीं मिलता। दूसरी बात यह

१. Sons and Lovers, P 294

२. Sons and Lovers, P 296.

है कि मानस मान यहाँ पाप और पुण्य की ही विवेचना करना चाहते हैं और पाप से पुण्य की ओर जानेवाले एक व्यक्ति का चरित्र उपस्थित करते हैं। और एक जर्मन उपन्यासकार मोहान रावेनर का 'जीने की विधि' अधिक मनोवैज्ञानिक है। इसकी विधवा नायिका जिसका पुत्र शिक्षा के लिए विदेश गया है, कई प्रेमियों से सम्बन्ध रखती है। जब पुत्र लौट आता है तब उसे भी वह अपना प्रेमी बना लेती है। कुछ वर्षों के इस रहस्य-सम्बन्ध के बाद वह युवक एक लड़की से विवाह कर लेता है। इसपर कुपित माता उसके जीवन को विनष्ट करने का प्रयत्न करती है। अन्त में जब वह धन का प्रलोभन देकर पुत्र से फिर सम्बन्ध स्थापित करना चाहती है पुत्र क्रोध से उसे मार डालता है।

इस प्रकार के यौगिक जीवन की विकृतियों का विश्लेषण आधुनिक यूरोपीय उपन्यास की विशेषता है। भले ही इनसे कुछ मानसिक ग्रन्थियों पर तथा कुछ मनोवैज्ञानिक एवं असुवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर प्रकाश पड़ता हो तो भी सामाजिक दृष्टि से इनका मूल्य संदिग्ध है। व्यक्तित्व का भी पूरा अध्ययन इनमें नहीं मिलता अतः इनसे मनुष्य को व्यष्टि रूप में समझना भी असम्भव है। हिन्दी में अब तक ऐसे उपन्यासों की रचना नहीं हुई है। हमारी मानसिक संस्कृति तथा सामाजिक आदर्श ही इसके कारण ज्ञात होते हैं।

७

हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की कुछ असहोनताए

प्रस्तुत अध्ययन में जो विवेचन किया गया है उससे स्पष्ट होगा कि हिन्दी में पर्याप्त मात्रा में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की रचना हुई है परन्तु उनमें कई कमियां भी रह गई हैं।

३१८ विषय की दृष्टि से देखा जाय तो हमारे मनोवैज्ञानिक उपन्यास का सबसे बड़ा दोष अस्वाभाविकता है। सुनीता से लेकर आज तक जितने उपन्यास प्रकाशित हुए हैं उन सबमें थोड़ी बहुत कल्पित अयथार्थ घटनाएं मिलती हैं। कहीं कहीं यह कल्पना रोमांस की सीमा तक पहुंच जाती है जो मनोवैज्ञानिक उपन्यास की वैज्ञानिकता के लिए हानिकारक है। हर प्रकार का विज्ञान सत्य का समर्थन सत्य का अन्वेषण और सत्य का परीक्षण करता है। जहाँ वैज्ञानिक सत्य की ओर से जरा भी मुंह मोड़ लेता है वहाँ वह अपने दायित्व का पालन नहीं कर सकता। हिन्दी के अधिकांश उपन्यासों में जीवन के यथार्थों के प्रति अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। प्रायः सब के कथानक कुछ विचित्र घटनाओं से भरे रहते हैं जिनका हम जगह-जगह पर उल्लेख कर चुके हैं। जैनेन्द्र जोशी भारती या देवराज कोई भी इस दोष से मुक्त नहीं है। जोशी की कल्पना तो इतनी ऊंची उड़ान भरती है कि उनके उपन्यासों को पढ़ते समय

कभी-कभी 'पत्नीबाबा और बालीस चोर' 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' की याद आती है। 'प्रेत और छाया' में मंजरी का होटल जीवन और उसमें पुरुषों का व्यवहार मुखौरिया और नन्दिनी के पारस्परिक व्यवहार, मुखौरिया के घर में न रहते समय नन्दिनी और पारसनाथ के व्यवहार आदि एक अच्छे रोमांस के लिए उपयुक्त विषय हैं। 'जहाज का पंछी' में घटनाएं मिलाना ही असम्भव है। वह असल में एक 'भानुमती की पिटारी' है जिसमें समाज की सभी कुत्सित वृत्तियों के नमूने प्रस्तुत किए गए हैं। जोशीजी के अन्य उपन्यास भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। जैनेन्द्र के उपन्यासों की भी सुनीता कट्टो मृणाल कल्याणी जयन्त विवेक आदि के व्यवहारों को स्वभाव की कसौटी पर कसने पर उनका मूल्य संदिग्ध हो जाता है। केवल अज्ञेय के उपन्यासों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि उनके पात्रों के व्यवहार असाधारण होने पर भी अस्वाभाविक नहीं हैं। अज्ञेय ने प्रायः किसी भाव पर पाठक का ध्यान केन्द्रित करने के लिए, और उसे तीव्रतम रूप में प्रकट करने के लिए अतिरंजन से काम लिया है। यह अतिरंजन अधिक हानिकारक नहीं हुआ है—बल्कि कहीं-कहीं उपयोगी ही हुआ है।

जीवन में विषमता असाधारणता तथा असामंजस्य कम नहीं होते। अतः उपन्यास में इन सबका विश्लेषण निषिद्ध नहीं है। किन्तु यह कहना भारी भूल होगी कि जीवन में विषमता असाधारणता और असामंजस्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। लेकिन हमारे मनोवैज्ञानिक उपन्यास में इन सबके अतिरिक्त विशेष कुछ नहीं मिलता। उनके अधिकांश सम्बन्ध और प्रसंग असाधारण और कभी-कभी अस्वाभाविक भी हैं। प्रश्न उठता है कि क्या मनोविज्ञान साधारणता का विश्लेषण नहीं कर सकता? क्या मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में साधारण परिस्थिति में साधारण व्यक्तियों के साधारण व्यवहारों और मनोभावों का अध्ययन नहीं किया जा सकता है? निश्चित ही किया जा सकता है, किन्तु हमारे कितने उपन्यासकारों ने इसका प्रयास किया है?

११६. जब लेखक को मनोभावों का विश्लेषण करना पड़ता है तब विषय को सीमित बनाकर किसी एक भाव पर आधारित रखना उपयोगी होगा। इससे मनोभाव का विकास अधिक सुगम हो जाता है जैसे 'सुनीता' 'मुक्तिपथ' आदि में। किन्तु हमारे कई उपन्यासकारों ने विषयैक्य के प्रति ध्यान नहीं दिया है। जैनेन्द्र के 'व्यतीत' और 'विवर्त' की घटनाओं को एक-एक सूत्र में बांधकर उनमें इस सम्बन्ध लाना कठिन है। इनके कथानक मुख्यतया एक-एक व्यक्ति से सम्बन्धित हैं फिर उनमें उसी तरह की एकता नहीं है जो 'सुनीता' और 'मुक्तिपथ' में है। जोशीजी के 'जहाज का पंछी' में यह दोष सबसे अधिक है।[१] इस तरह की विषयैक्य-विहीनता के कारण उपन्यास में पात्रों के भावों के क्रमिक विकास का अवसर नहीं मिलता और न उन मनोभावों के सूक्ष्म और प्रगाढ़ अध्ययन की सुविधा ही।

हमारे मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की दूसरी बलहीनता यह है कि उनमें मनोभावों

१ देखें तृतीय अध्याय में 'विषयैक्य' से सम्बन्धित परिच्छेद।

को मूर्त रूप में प्रकट करने के बदले लेखकों ने स्वयं उनका विश्लेषण किया है या पात्रों से ही कराया है। जोशीजी के उपन्यासों में यह दोष सबसे अधिक है जिसकी चर्चा हम कर आए हैं।[1]

३२ तीसरा उल्लेखनीय दोष लेखक के अपने विचारों का निरावृत प्रकटन है। साधारणतया सामाजिक उपन्यासों में दिखाई पड़नेवाले इस दोष से हमारे मनोवैज्ञानिक उपन्यास भी मुक्त नहीं हैं। यह कला ही अमूर्त रूप में सिद्धान्तों के प्रति पादन का विरोधी है। फिर विज्ञान का आधार भी लेकर चलनेवाले उपन्यास में यह अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होता है। पात्रों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का निरीक्षण परीक्षण और विश्लेषण करने के बदले लेखक उनपर अपने विचार लाद दे तो यह कार्य वैज्ञानिक प्रणाली के अन्तर्गत नहीं माना जायगा। हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में यह दोष दो रूपों में आया है। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में समाज नीति से सम्बन्धित है तथा उनमें नैतिक विचारों का आधिक्य है। इन विचारों को पात्रों के लम्बे-लम्बे भाषणों द्वारा प्रकट करके मनोविश्लेषण को बहुत ही दुर्बल बनाया गया है। अज्ञेय के 'शेखर' में शेखर के एण्टीगामस क्लब की स्थापना से लेकर राजनीतिक तथा समाज शास्त्रीय विचारों का प्रकटन है किन्तु अज्ञेय ने नीरस भाषणों से उपन्यास को अधिक बोझिल नहीं बनाया है। इस दोष का दूसरा रूप दार्शनिक विचारों के रूप में है जो जैनेन्द्र के उपन्यासों में प्रचुरता में है। जैनेन्द्र के सभी प्रमुख पात्र कोई न कोई दार्शनिक तत्त्व लिए जीवित रहते हैं। और यही दार्शनिक तत्त्व सुनीता कट्टो मृणाल आदि पात्रों के आदर्श रूप का कारण है। बीच-बीच में जीवन के सिद्धान्तों की गम्भीर विवेचना करना जैनेन्द्र की साधारण प्रवृत्ति है। किन्तु इस विवेचना से पात्रों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन कमजोर ही हुआ है, क्योंकि ये दार्शनिक सिद्धांत और विचार वस्तुतः जैनेन्द्र के ही मस्तिष्क की उपज हैं।

१२१ और एक दोष जो इन उपन्यासों में मिलता है वह अगाध वैज्ञानिक अध्ययन की कमी है। पात्र के सूक्ष्म से सूक्ष्म अध्ययन से ही मनोवैज्ञानिक उपन्यास सफल हो सकता है। व्यक्तियों के विविध संकुल भावों का तथा मानसिक ग्रन्थियों का विशेष निरीक्षण अज्ञेय के अतिरिक्त और किसी उपन्यासकार में नहीं है। अज्ञेय ने अपने उपन्यासों में विशेषकर 'नदी के द्वीप' में हृदय के निःशब्द मन्द स्पन्दनों को जो वाणी दी है वह अद्वितीय है। 'शेखर' में भी इस बात में वे काफी सफल हुए हैं। पर अन्य उपन्यासकारों ने इस विषय के प्रति अनास्था ही दिखाई है।

एक बात से यह स्पष्ट होगी। प्रूस्ट के उपन्यास को पढ़ते समय प्रतीत होता है कि प्रत्येक व्यक्ति में अनेक व्यक्ति रहते हैं। दो पात्रों में सम्भाषण हो तो उस अवसर में ऐसा प्रतीत होता है कि दो नहीं कई व्यक्ति बोल रहे हैं। उदाहरण के लिए मान लीजिए 'अ' और 'ब' के बीच बातचीत हो रही है। अब वस्तुतः 'अ' और 'ब' दो बोलते ही हैं। पर दोनों में कई व्यक्तित्व प्रकट होते हैं। जैसे

[1] देखो अनुच्छेद ११९।

'म' का वह रूप जो वस्तुतः उसका है।

'म' अपने-आपको जैसा देखता है वह रूप

'म' अपने को 'ब' के सामने जैसा प्रकट करना चाहता है वह रूप

'म' को 'ब' जिस रूप में देखता है वह रूप

'म' का वह रूप जिसे वह यह जानकर स्वीकृत करता है कि 'ब' मुझे क्या समझता है।

इसी तरह 'ब' के भी कई रूप प्रकट होते हैं। सम्भाषण के प्रसंग में इस प्रकार कई 'म' और कई 'ब' बोलते हैं। यह निश्चित है प्रूस्ट के सभी पात्रों में व्यक्तित्व के ऐसे सभी संकुल रूप नहीं मिलते। लेकिन साधारणतया उसके पात्रों में दुहरे तिहरे व्यक्तित्व मिलते हैं। स्वान और ओवेट के प्रेम के प्रसंग में यह बहुत स्पष्ट है। दोनों एक-दूसरे के सामने जो रूप प्रकट करते हैं दोनों एक-दूसरे को क्या समझते हैं और दोनों वस्तुतः क्या हैं ? इन सबका परिचय हमें मिल जाता है। विभिन्न व्यक्तियों की उपस्थिति में उनके पारस्परिक भावों में अन्तर आ जाता है। मारिया का 'जो खो गया' में हेर्ने का व्यक्तित्व भी इसी प्रकार संकुल है।

हिन्दी के किसी मनोवैज्ञानिक उपन्यास में व्यक्तित्व की ऐसी संकुलता की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया है। हमारे अधिकांश पात्र एक-एक व्यक्तित्व विशेषता (Personality trait) का प्रतिनिधित्व करते हैं, अतः संकुलता के अभाव में जीवन से कुछ दूर हो जाते हैं। इसी तरह प्रत्येक पुरुष और स्त्री में विभिन्न मात्राओं में जो पुरुषत्व और स्त्रीत्व निहित रहते हैं उनको भी हिन्दी उपन्यासकारों ने नहीं देखा है। हमारे उपन्यासों के व्यक्तित्व की संकुलता वस्तुतः व्यक्तित्व में नहीं है उनकी अगम्य कल्पनाओं तथा विचित्र घटनाओं में है।

सातवाँ अध्याय

यथार्थ, आदर्श और इनसे संबंधित वाद

१

यथार्थ और आदर्श

१२२ कथा और उपन्यास यद्यपि कल्पना की सृष्टि हैं तो भी उनमें असीम सत्य निहित रहता है। कभी-कभी इनमें प्रतिपादित सत्य हमारे इन्द्रियानुभूत सत्यों का भी अतिक्रमण कर जाता है। इस कारण से जीवन को समझने में कथा और उपन्यास अत्यन्त उपयोगी हैं।

"कथा (साहित्य) सत्य की बड़ी बहन है जब तक किसी एक व्यक्ति ने एक कथा नहीं कही तब तक संसार में किसीने न जाना कि सत्य क्या है।"[१]

किप्लिंग के ये शब्द उपन्यास के एक महान एवं अनिवार्य गुण की ओर संकेत करते हैं। उपन्यास संसार के (जीवन के) सत्य को स्पष्ट कर दिखाता है ऐसे सत्य को जो साधारण दृष्टि में अनदेखा रह जाता है। उपन्यासकार अपनी सजग दृष्टि से जीवन को देखता है, अपने चेतन हृदय से जीवन के सत्य की अनुभूति करता है उन अनुभूतियों को प्रभावशाली वाणी में व्यक्त करता है। वही कथा या उपन्यास प्रभावशाली और प्रसन्नतादायक हो सकता है जो सत्य के निकट हो यह सिद्धान्त बहुत पुराने काल में ही मान्य था।[२] और आज सत्य ही उपन्यास का आधार है चाहे वह सत्य किसी रूप में हो।

उपन्यास का सत्य

१२३ वैज्ञानिक सत्य और औपन्यासिक सत्य में बहुत बड़ा अन्तर होता है। यथार्थ और यथार्थवाद शब्दों का अर्थ प्राय दो अर्थों में किया जा सकता है। वस्तु-स्थिति के यथार्थ को उसी रूप में प्रकट करने को सामान्यतः यथार्थवाद कहा जाता है। दूसरे अर्थ में वस्तु या विषय के यथार्थ न होने पर भी उसे इस ढंग से प्रकट करना कि वह यथार्थ ज्ञात हो यथार्थवाद है।[३] सत्य नहीं सत्य का आभास

---

१ Fiction is truth s elder sister No one in the world knew what truth was till some one told a story

—Rudyard Kipling, Quoted in Art and Practice of Fiction P 29

२. "Ficta voluptatis causa sint proxima veris"—Horace.

३ "Depicting things as they are or as they appear is the commoner sense of realism. Realism in the other sense is the art of

उपन्यास में (और अन्य कलाओं में भी) सत्य है। उपन्यास में वर्णित विषय विचित्र हो भौतिक सत्य से दूर हो तो भी उससे सत्य का आभास हो और वह किसी प्रकार सत्य का ही प्रभाव उत्पन्न करे, तो वह असत्य भी सत्य है। इसके विरुद्ध जीवन का कोई सत्य अपने वास्तविक रूप में उपन्यास का विषय बनकर भी अपना पूरा प्रभाव न डाल सके तो वह सत्य भी असत्य माना जायगा। सत्य का विवेचन करते हुए कलाकार की दृष्टि वस्तु की सत्यता पर नहीं रहती वस्तु द्वारा उत्पन्न प्रभाव की सत्यता पर रहती है। इस प्रभाव की पूर्णता की रक्षा के लिए उपन्यासकार को प्राय सत्य के रूप को बदलना भी पड़ता है।

१२४ सत्य के विपर्यय के कारण—इस तरह सत्य के रूप को परिवर्तित करने के कई कारण होते हैं। प्रथम तो उपन्यासकार अपनी प्रतिबिम्बन-शक्ति की परिमिति के कारण सत्य को उसी रूप में प्रतिबिम्बित करने में ही असमर्थ रहता है। अगर कोई कलाकार अपनी ओर से कुछ न जोड़ केवल वस्तु का यथार्थ रूप उतारने का प्रयत्न करे तो उसे सदा पूर्णत्व के नीचे ही रहना पड़ेगा। ऐसी दशा में प्रतिबिंब का मूल्य बिंब के मूल्य से घट जाता है।

दूसरी बात अधिक महत्त्वपूर्ण है। जैसे तालस्ताय ने कहा है "कला एक मानसिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म रूप में अनुभूत अनुभूतियाँ इतने स्पष्ट रूप में लायी जाती हैं कि वे अन्यों की भी अनुभूति के योग्य बन सकें।"[1] वस्तु के वास्तविक रूप के चित्रण का उद्देश्य चित्रण-मात्र नहीं है बल्कि वास्तविक वस्तु जो प्रभाव उत्पन्न करती है वह प्रभाव चित्रण द्वारा उपस्थित करना है। प्राय समाज या किसी व्यक्ति का कोई तत्त्व कलाकार को प्रभावित करता है, लेकिन वही तत्त्व अन्यों को प्रभावित नहीं करता। कलाकार अपने चित्रण द्वारा वही प्रभाव दूसरों पर उत्पन्न करना चाहता है, जो स्वयं वस्तु, कलाकार पर उत्पन्न करता है। गणित की भाषा में कहें तो वस्तु, कलाकार प्रतिबिंब पाठक इनका संबंध यों होगा

वस्तु कलाकार प्रतिबिंब पाठक

वस्तु किसी व्यक्ति पर जो प्रभाव उत्पन्न करता है वही प्रभाव अपने चित्रण द्वारा उत्पन्न करना कलाकार का ध्येय नहीं रहता बल्कि वह अपने मन पर

---

making anything that may be imagined to look real, it may even make the impossible seem possible.

—Baker The History of the English Novel, Part VII, P 330.

१ Artistic (and also scientific) creation is such mental activity as brings dimly perceived feelings (or thoughts) to such a degree of clearness that these *feelings* (or thoughts) are transmitted to other people

—Tolstoy Essay on Art, compiled in 'What is Art & Essays on Art' P 51

देता है जबकि आदर्शवाद वस्तु के व्यक्त सत्य को न मानकर, उस व्यक्त सत्य के परे उपस्थित उसकी भावात्मक (Ideal) सत्ता को वास्तविक मानता है। प्लेटो काण्ट, शीलर, हेगल आदि आदर्शवादियों के अनुसार हमारा व्यक्त सत्य वास्तविक सत्य नहीं है। इसके विरुद्ध यथार्थवादी इसी व्यक्त सत्य को वास्तविक मानता है उसके अतिरिक्त उससे परे किसी अन्य पूर्ण एवं अनन्त सत्ता की कल्पना उसे सह्य नहीं है।

यथार्थवाद इस संसार को इसके जीवन को और जीवन के समस्त अंगों को यथार्थ मानकर उनको समझने का प्रयत्न करता है। इसे समझने के सतत प्रयत्न से ही यथार्थवादी कला जन्म लेती है। पर आदर्शवादी इन सबको अपूर्ण मानकर एक पूर्णता की ओर उन्मुख रहता है। आदर्शवादी दर्शन का यह सिद्धान्त आदर्शवादी कला का भी आधार है।

सामान्यतः माना जाता है कि यथार्थवाद ही मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है आदर्शवाद एक तरह का वितण्डावाद है जो मानव के अब तक के संचित ज्ञान का निषेध करता है।[1] आदर्शवाद की आधार-भित्ति भी यथार्थवाद ही है। अपनी या सामाजिक मान्यताओं के अनुसार यथार्थों का श्रेणी-विभाजन कर स्वीकृति या निषेध करता आदर्शवाद है।[2]

उपन्यास जीवन का ज्ञान है और जीवन का ज्ञान संचित करने में यथार्थवादी और आदर्शवादी के दृष्टिकोण बिलकुल भिन्न हैं। यथार्थवादी समझता है कि वास्तविक ज्ञान तभी प्राप्य है जब वस्तु ज्ञाता से स्वतन्त्र हो और आदर्शवादी का सिद्धान्त है कि वस्तु-ज्ञाता से पूर्णतः स्वतन्त्र हो तो ज्ञान असंभव है। इन दोनों में किस दृष्टिकोण से उपन्यास उत्कृष्टता पाता है और विभिन्न उपन्यासकारों ने किसको किस रूप में अपनाया है यही हमारी चर्चा का विषय है। पहले ही हमें मानना पड़ेगा कि इन दोनों वादों की अपनी-अपनी सीमाएं हैं और उपन्यास में आकर उनके रूप में भी दार्शनिक रूप से बहुत कुछ भिन्नता आ सकती है क्योंकि दार्शनिक के सिद्धान्त अमूर्त रूप में ही रहते हैं, जबकि उपन्यासकार को इन सिद्धान्तों को मूर्त रूप देकर उपस्थित करना पड़ता है।

यथार्थवाद की सीमाएं

१२८ मनुष्य की ज्ञान-साधना की शक्तियां स्वयं परिमित होती हैं अतः

---

१ "It is generally assumed by idealists no less than realists that realism is natural attitude of man, that idealism appears only as the result of sophistication or a malicious critisism of human knowledge."

—Urban Beyond Realism and Idealism P 40.

२ "Idealism starts from a basis of realistic vision but deliberately selects and rejects from the plethora of facts"

—H. Read Art & Society P 249

वह वास्तविक सत्य का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। यथार्थ का ज्ञान अपने-आप नहीं होता, ज्ञान के लिए मनुष्य को अपनी बुद्धि एवं मन को भी प्रवृत्त करना पड़ता है। जब मनुष्य की बुद्धि एवं मन ज्ञान-प्राप्ति के उपादान बनते हैं, तब वस्तु के तटस्थ अध्ययन कहाँ तक संभाव्य है ?[१] निश्चित ही आज तक मनुष्य ने जो ज्ञान राशि संचित की है वह पूर्ण नहीं, उसका बहुत कुछ विकास अभी बाकी है। किन्तु इस अपूर्णता के कारण यथार्थवाद का तिरस्कार नहीं किया जाता। हमारा संचित ज्ञान कितना भी अपूर्ण हो, उसमें कितनी ही त्रुटियाँ हों, हमें उसीके आधार पर आगे भी सत्य को ढूँढ़ना है। अतः हमारा पूर्वसंचित ज्ञान ही भविष्य के समस्त ज्ञानार्जन की नींव ठहरता है।

जहाँ तक कला का संबंध है, यथार्थवादी वस्तु के पूर्ण और वास्तविक रूप को उसी तरह कला में उतारनेवाला नहीं है। 'आधुनिक यथार्थवादी केवल यथार्थ का प्रतिबिंब करनेवाला नहीं है। वह यथार्थ से प्रेम करता है और उस प्रेम को स्वीकृत करता है, और यही उसे लेखक बनाता है। वह लेखक इसलिए है कि वह यथार्थ के रूप का उसी तरह अनुसरण करने के बदले अपने इच्छानुसार वस्तुओं का पुनर्संघटन करता है। वह संसार को खण्ड-खण्ड करके उन खण्डों का उपयोग कर निर्माण करता है जैसे कोई बालक क्रीड़ा की ईंटों से भवन निर्माण करता है। वह सृजन करता है।'[२] यथार्थवादी अगर इस तरह का सृजन न करे तो कलाकार न बनेगा, और अगर ऐसा सृजन करे तो उसे तथ्यों से बहुत कुछ हटना पड़ता है। यथार्थ से प्रेम करना, संसार के खण्ड-खण्ड करके उनसे अपने इच्छानुसार रूप का निर्माण करना, इन सब प्रवृत्तियों में उसका आग्रह, उसका आदर्श ही मुख्यतया काम करता है। पर यह भी स्मरणीय है कि अगर लेखक का आदर्श अत्यन्त नियंत्रित रहे, वह यथार्थ की सीमाओं के अन्दर ही रहे तो ऐसा आदर्श यथार्थ का विरोधी नहीं हो सकता।

यथार्थ को उसके पूर्णत्व में बनाए रखने के लिए और एक बात भी बाधक है। सत्य बुद्धि का विषय है और बुद्धि द्वारा उसका अध्ययन विज्ञान है। बुद्धि द्वारा विवेचित सत्यों को अनुभूति के क्षेत्र में लानेवाली चीज कला है।[३] केवल यथार्थ या शुद्ध यथार्थ जैसे बुद्धि को प्रभावित करता है उसी तरह अनुभूति को नहीं प्रभावित करता। उस यथार्थ को एक ऐसे रूप का निर्माण करना पड़ता है जो अनुभूति-क्षेत्र में सफल हो। विज्ञान से समर्पित सत्य को कला का रूप देने में यथार्थवाद को बहुत सतर्क रहना होगा।

---

१ "The error of realism has been to believe that the real reveals itself to contemplation, and that consequently one could draw an impartial picture of it. How could that be possible since the very perception is partial.. ?" —Sartre What is Literature P 44

२. Boudouin Contemporary Studies, P 177

३ See —Tolstoy What is Art & Essays on Art, P 277

आदर्श आदर्शवाद और उनकी सीमाएं

१२९ आदर्श व्यक्त सत्य से परे एक अव्यक्त अस्तित्व है जिसकी कल्पना और जिसको प्राप्त करने का आग्रह और प्रयत्न मनुष्य करता आया है। जब मनुष्य संसार में स्पष्ट दिखाई पड़नेवाले प्रत्येक सुन्दर वस्तु का विनाश होते देखता है तब उसपर विश्वास खो बैठना अस्वाभाविक नहीं है। सुबह को अपना रंगीन सौंदर्य दिखाते और मोहक सुगंधि फैलाते हुए खिलनेवाला गुलाब का फूल शाम को झड़ जाता है रात के अंधेरे में जगमग करते तारे सुबह के कोमल प्रकाश में ही लुप्त हो जाते हैं प्रातःकालीन आकाश का मोहक रक्त-रंग शीघ्र ही नष्ट हो जाता है षोडसवर्षीय अभिनव सुन्दरी युवती का सौन्दर्य कुछ मासों में ढलने लगता है इन सबको देखता हुआ मनुष्य इनके सौन्दर्य पर अविश्वास करे तो यह आश्चर्य की बात नहीं है। चिन्ताशील मनुष्य इस क्षणस्थायी सौन्दर्य के पीछे एक स्थायी सौन्दर्य-सत्ता का अन्वेषण करे तो वह सहज ही है। वह इस जीवन में जो कुछ सुन्दर या असुन्दर है सबको नश्वर समझकर इससे परे एक अनश्वर सत्य ढूंढ निकालने का प्रयत्न करता है। आदर्शवादी के अनुसार इस विश्व की प्रकृति ऐसी है कि इसमें सबसे उन्नत और सबसे मूल्यवान गुणों का चिरन्तन विकास करना चाहिए या समय-गति के साथ-साथ अधिकाधिक प्रगाढ़ और विस्तृत रूप में विकास करना चाहिए।[1]

निस्सन्देह जीवन का अधिकाधिक विकास साहित्य का ध्येय है अतः आदर्शवाद उसका अनिवार्य अंग है। पर इस आदर्शवाद की गति किस सीमा तक होगी यह भी सोचने की बात है। बड़े से बड़े निराशावादी को भी मानना पड़ेगा कि जीवन में बहुत कुछ विकास हुआ है और होता रहता है कम से कम कुछ क्षेत्रों में मनुष्य में दैहिक एवं सामाजिक रूप में कई दोष हैं—नीच वृत्तियां और पाशविक विकार। पर इनके बीच में हम यथार्थ से भी इनकार नहीं कर सकते कि इसी मानव में एक उज्ज्वल स्फुलिंग प्रस्फुटित होकर वर्षों के निरन्तर परिश्रम से शत-शत पीढ़ियों के संघर्ष से कई देशों में कई जातियों के कई संस्कृतियों के आदान प्रदान से अधिकाधिक उज्ज्वल होता आया है और आगे भी होता रहेगा। इस तरह अपार परिश्रम से आज तक प्राप्त ज्ञान राशि का और बौद्धिक मानसिक आध्यात्मिक सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में हुए क्रम-बद्ध विकास का निषेध नहीं किया जा सकता। इन सब विकासों को जीवन का आदर्श मानें तो उत्कृष्ट यथार्थवादी सदा आदर्शवादी भी रहेगा क्योंकि इनके जीवन के यथार्थ होने के कारण यथार्थवादी इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। वस्तुतः आज तक जो विकास हुआ है वह यथार्थ है अतः यथार्थवादी का विषय है।

---

१ "By Idealism I understand the doctrine that the nature of the universe is such that those characteristics which are highest and most valuable must either be manifested eternally or must be manifested in greater and greater intensity and in a wider and wider extent as time goes on" —Urban Beyond Realism & Idealism.

आगे निश्चित ही विकास होगा उस विकास का मार्ग दिखाना और वह रास्ता साफ करना आदर्शवादी का कर्तव्य है। यहीं आदर्शवादी के पथ-विगमित होने की सम्भावना रहती है। आगे का मार्ग निर्धारित करने के लिए कलाकार को भूत और वर्तमान की परिस्थितियों का और मनुष्य की शक्तियों एवं सीमाओं का अध्ययन करना होगा। आज तक जो विकास हुआ है उसीके आधार पर जीवन को आगे बढ़ाया जा सकता है। जो आदर्शवादी भूत और वर्तमान के जीवन का अध्ययन किये बिना—यथार्थवादी बने बिना—कहीं दिग्दूर से कोई आदर्श खींच लाकर जीवन पर लादने का प्रयत्न करे, तो उसे विफल होना पड़ेगा। और आज तक विकास भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में हुआ है ?

नैतिकता के क्षेत्र में आदर्शवाद ने कोई महत्त्वपूर्ण देन दी है यह बहुत संदिग्ध है। कितने ही धर्मों ने सैकड़ों वर्षों तक—बल्कि सहस्रों वर्षों तक—मानवता के उद्धार का प्रयत्न किया। पर क्या हम आज निश्चित रूप में कह सकते हैं कि मनुष्य उत्तरोत्तर एक उन्नततर नैतिक संस्कृति की ओर बढ़ता आ रहा है ? मानवता का इतिहास कहता है नहीं। गुण-दोष मनुष्य में सदा वर्तमान रहे हैं। स्थान समाज और समय के अनुसार उनके अनुपात में अन्तर आता होगा—पर यह नहीं कह सकते कि गुण बढ़ते ही आए हैं और दोष घटते ही आए हैं। महाभारत काल से लेकर इस न्यूक्लियर युग तक व्यभिचार बंद नहीं हुआ है। दंभ और दर्प ईर्ष्या और क्रोध लोभ और मोह मद और मात्सर्य का इतिहास पूर्णतः शृंखलाबद्ध रहा है। 'नहि वैराणि शाम्यन्ति दीर्घकालधृतान्यपि' युधिष्ठिर के इन शब्दों का सबल प्रमाण बीसवीं शती का पूर्वार्ध दो बार दे चुका है। 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे' भगवान के जन्म लेने पर भी संसार नैतिक क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ा। भगवान कुछ नहीं कर सके। सामाजिक नियमों और धार्मिक बन्धनों से कुछ नहीं हुआ। जब कभी धर्म ने दबाव डालकर मनुष्य को चारित्रिक शुद्धि के लिए बद्ध किया तब प्रकृति ने विद्रोह किया। इसीलिए प्रत्येक धर्म ने किसी न किसी समय ढोंग का रूप धारण किया। धर्म की छत्रछाया में हमेशा विडम्बना पनपती रही है। ऐसी दशा में नैतिकता के क्षेत्र में आदर्शवाद का क्या मूल्य हो सकता है ? यथार्थवादी जीवन के इन तथ्यों के प्रति आंख मूंदकर उनका निषेध नहीं करता। वह यह देखता है कि धर्म और ईश्वर ने मनुष्य को एक ओर उत्थान दिया है तो दूसरी ओर पतन भी दिया है। एक ओर एकता का संदेश दिया है तो दूसरी ओर भाई भाई का गला काटने की प्रेरणा भी दी है। वह जीवन के उन अधिक रूढ़-मूल तत्त्वों का अन्वेषण और विश्लेषण करता है जो धर्म ईश्वर नीति नियम सदाचार सबको चुनौती देते हुए मानव के आदि से अब तक बने रहते हैं। जब जीवन के सुधार में हम सफल नहीं हुए हैं तो एक बार उस जीवन का विशद अध्ययन क्यों न किया जाय ? यह अध्ययन यथार्थवादी के लिए ही नहीं आदर्शवादी के लिए भी लाभप्रद है क्योंकि यथार्थ की नींव पर ही आदर्श को खड़ा करना पड़ता है और यथार्थ को आदर्श बनाने में ही उसकी सफलता है।

किन्तु धर्म और साहित्य में जिन रूढ़िगत आदर्शों का काफी प्रचार हुआ

है वह एक तरह का रोमान्तिक आदर्शवाद है जिसमें एक परमस्त उदात्त जीवन की कल्पना और उसे प्राप्त करने के उपदेश-मात्र को आदर्शवाद मानकर उसे बहुत सीमित कर दिया गया है। यहाँ आदर्शवाद केवल उपदेशवाद बनकर रह जाता है। जीवन के उन्नयन में उपदेशवाद का अधिक महत्त्व नहीं है कला में उपदेशवाद निरुपयोगी ही नहीं कभी-कभी हानिकारक भी है।

क्या वास्तविक जीवन में मनुष्य उस सम्पूर्णता की ओर जा रहा है जिसका वह स्वप्न देखता है जिसका वह उपदेश देता फिरता है और जिसके सम्बन्ध में उसने ढेर के ढेर ग्रन्थ रचे-रचाए हैं? अगर जा रहा है तो साहित्य में उसका चित्रण यथार्थ वाद है। अगर नहीं जा रहा है तो उस सम्पूर्णता की कल्पना और साहित्य में उसका चित्रण कौन है ढकोसला है अतः आज तक के और आज के जीवन का अध्ययन कर— उसको गति देनेवाली शक्तियों को पहचानकर उनको पहुँच के अन्दर के किन्तु साध्य आदर्शों को ही उपन्यास में (और अन्य साहित्यिक विधाओं में भी) स्थान दिया जा सकता है। यथार्थ होने की सम्भावना में ही आदर्श की सार्थकता है। यही यथार्थवादी दृष्टिकोण है।

१३० यथार्थ का आदर्श—जीवन की प्रगति और उन्नति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि साहित्य में आदर्श जीवन के लक्षण दिखाए जाएं और उनको अपनाने का उपदेश दिया जाय। ऐसा उपदेशवाद रचनात्मक कला में न केवल निरुपयोगी होता है अपितु कला की दृष्टि से संघातक भी होता है क्योंकि उपदेश अपने आपमें अनुभूति-प्रधान नहीं होता जबकि अनुभूति कला का अनिवार्य अंग है।

किसी व्यक्ति के सर्वोत्कृष्ट गुणों से भूषित होने-मात्र से हम उससे निकटत्व का अनुभव नहीं करते भले ही वह हमारी श्रद्धा और आदर का पात्र हो सके। जो आदमी जितना अधिक उत्कृष्ट होता है वह उतना हमसे दूर होता है, हमारी समझ के बाहर होता है। इसके विरुद्ध देखा जाता है कि हम ऐसे व्यक्तियों से अधिक निकटता का अनुभव करते हैं जिनमें मानव-सहज दुर्बलताएं काफी मिलती हैं। यह एक आश्चर्य की बात है—किन्तु मनोवैज्ञानिक सत्य है कि किसी व्यक्ति से हम स्नेह करने लगते हैं तो उसका कारण उस व्यक्ति के उत्कृष्ट गुण नहीं होते बल्कि यही कारण होता है कि वह हमारी समझ से परे नहीं है वह अपनी साधारणता और दुर्बलता से समन्वित होकर भी हमारे निकट (मानसिक रूप में) है। यथार्थवादी उपन्यासकार मानव की ऐसी सहज साधारणता से हमें अवगत कराता है जिससे हम उसके निर्मित पात्रों के और मानव-मात्र के निकट आते हैं उनसे सहानुभूति प्रकट करते हैं। इस तरह यथार्थवाद पाठक की मानसिक उदारता का प्रेरक है और यही यथार्थवाद का आदर्श है।

मनुष्य में त्रुटियां होती हैं, असहीनताएं होती हैं। त्रुटियां और असहीनताएं मानव जीवन के यथार्थ हैं मनुष्य के ही विशेष धर्म हैं। यथार्थवादी उन त्रुटियों और असहीनताओं को पहचानता है उनके सूक्ष्म विवेचन को अपने शिल्प की सार्थकता समझता है। वह एक आदर्श जीवन का चित्र प्रस्तुत नहीं करता क्योंकि वह मनुष्य

की बौद्धिक शक्तियों पर अविश्वास नहीं करता। वह कदापि यह नहीं मान सकता कि मनुष्य बेवकूफी के कारण गिरता है अथवा ठीक रास्ता न जानने के कारण पथ विचलित होता है। उसका दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य स्वयं जानते हुए ही पतित होता है ठीक रास्ता जानकर भी गलत रास्ते से जाता है। वह देखता है कि मनुष्य जो व्यभिचारी और पियक्कड़ होता है स्वार्थलोलुप होकर भाईचारे के समस्त बन्धनों को तोड़ देता है और भाई-भाई का गला काटता है पाशविक अत्याचार करता है यह सब नादानी या अज्ञान के कारण नहीं करता अपने दंभ और दर्प के कारण करता है अपने काम और मोह के कारण स्वार्थ और विलासिता के कारण करता है। अतः इन सबके सम्बन्ध में सदुपदेश देने से अथवा आदर्श जीवन का नमूना प्रस्तुत करने से कोई लाभ नहीं होता। इसके विरुद्ध मानवता को समझने से मनुष्य के अधिक निकट आने की संभावना है अतः यथार्थवादी मानवता की सहज वृत्तियों को समझकर, मनुष्य को मनुष्य के निकट लाने का प्रयत्न करता है। यही प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों के यथार्थवादी भागों में किया है। यही नागार्जुन और रेणु कर रहे हैं। और यही यूरोपीय साहित्य के विश्वविख्यात यथार्थवादियों ने किया है।

इससे भी एक कदम आगे बढ़कर समाज का निरीक्षण करनेवाले प्रकृतिवादियों ने यही निष्कर्ष निकाला है कि किसी भी तरह मनुष्य की प्राकृतिक पाशविक वृत्तियां (यौन-विकार आदि) लुप्त नहीं होतीं नहीं हो सकती। अतः वे यथार्थ के चित्रण से भी मनुष्य के उन्नयन का प्रयत्न नहीं करते। उनकी कला का ध्येय मनुष्य को विश्लिष्ट कर समझने तक में आकर समाप्त हो जाता है।

दृष्टिकोण के अनुसार विभिन्न वाद

६३१ यथार्थ और आदर्श की प्रतिष्ठा करते हुए उपन्यास रचना करनेवाले लेखकों के दृष्टिकोण के अनुसार जो विभिन्न वाद प्रचलित हुए हैं वे निम्नलिखित हैं

१ आदर्शवाद

२ यथार्थवाद
- आदर्शोन्मुख यथार्थवाद
- यथातथवाद (सामाजिक यथार्थवाद)
- आलोचनात्मक यथार्थवाद
- प्रकृतिवाद
- नग्नतावाद (उग्रवाद)
- मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद (यथार्थ यथार्थवाद)
- समाजवादी यथार्थवाद

हिन्दी में या किसी विशेष यूरोपीय भाषा के उपन्यास साहित्य में इन सबका विकास नहीं हुआ है। देशकाल के अनुसार भिन्न-भिन्न वादों का विकास हुआ उनकी अब चर्चा करेंगे।

है यह एक तरह का रोमान्तिक आदर्शवाद है जिसमें एक अत्यन्त उदात्त जीवन की कल्पना और उसे प्राप्त करने के उपदेश-मात्र को आदर्शवाद मानकर उसे बहुत सीमित कर दिया गया है। यहां आदर्शवाद केवल उपदेशवाद बनकर रह जाता है। जीवन के उन्नयन में उपदेशवाद का अधिक महत्त्व नहीं है कला में उपदेशवाद निरुपयोगी ही नहीं कभी-कभी हानिकारक भी है।

क्या वास्तविक जीवन में मनुष्य उस सम्पूर्णता की ओर जा रहा है जिसका वह स्वप्न देखता है जिसका वह उपदेश देता फिरता है और जिसके सम्बन्ध में उसने ढेर के ढेर ग्रन्थ रचे रचाए हैं? अगर जा रहा है तो साहित्य में उसका चित्रण यथार्थ वाद है। अगर नहीं जा रहा है तो उस सम्पूर्णता की कल्पना और साहित्य में उसका चित्रण ढोंग है ढकोसला है अतः आज तक के और आज के जीवन का अध्ययन कर—उसकी प्रति देनेवाली शक्तियों को पहचानकर उनकी पहुंच के अन्दर के लिए साध्य आदर्शों को ही उपन्यास में (और अन्य साहित्यिक विधाओं में भी) स्थान दिया जा सकता है। यथार्थ होने की संभावना में ही आदर्श की सार्थकता है। यही यथार्थवादी दृष्टिकोण है।

३३० यथार्थ का आदर्श—जीवन की प्रगति और उन्नति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि साहित्य में आदर्श जीवन के लक्षण दिखाए जाएं और उनको अपनाने का उपदेश दिया जाय। ऐसा उपदेशवाद रचनात्मक कला में न केवल निरुपयोगी होता है अपितु कला की दृष्टि से घातक भी होता है क्योंकि उपदेश अपने आपमें अनुभूति प्रधान नहीं होता जबकि अनुभूति कला का अनिवार्य अंग है।

किसी व्यक्ति के सर्वोत्कृष्ट गुणों से भूषित होने-मात्र से हम उससे निकटत्व का अनुभव नहीं करते भले ही वह हमारी श्रद्धा और आदर का पात्र हो सके। जो आदमी जितना अधिक उत्कृष्ट होता है वह उतना हमसे दूर होता है, हमारी समझ के बाहर होता है। इसके विरुद्ध देखा जाता है कि हम ऐसे व्यक्तियों से अधिक निकटता का अनुभव करते हैं जिनमें मानव-सहज दुर्बलताएं काफी मिलती हैं। यह एक आश्चर्य की बात है—किन्तु मनोवैज्ञानिक सत्य है कि किसी व्यक्ति से हम स्नेह करने लगते हैं तो उसका कारण उस व्यक्ति के उत्कृष्ट गुण नहीं होते बल्कि यही कारण होता है कि वह हमारी समझ से परे नहीं है वह अपनी साधारणता और दुर्बलता से समन्वित होकर भी हमारे निकट (मानसिक रूप में) है। यथार्थवादी उपन्यासकार मानव की ऐसी सहज साधारणता से हमें अवगत कराता है जिससे हम उसके निर्मित पात्रों के और मानव-मात्र के निकट आते हैं उनसे सहानुभूति प्रकट करते हैं। इस तरह यथार्थवाद पाठक की मानसिक उदारता का प्रेरक है और यही यथार्थवाद का आदर्श है।

मनुष्य में त्रुटियां होती हैं बलहीनताएं होती हैं। त्रुटियां और बलहीनताएं मानव जीवन के यथार्थ हैं मनुष्य के ही विशेष धर्म हैं। यथार्थवादी उन त्रुटियों और बलहीनताओं को पहचानता है उनके सूक्ष्म विवेचन को अपने शिल्प की सार्थकता समझता है। वह एक आदर्श जीवन का चित्र प्रस्तुत नहीं करता क्योंकि वह मनुष्य

की बौद्धिक शक्तियों पर अविश्वास नहीं करता। वह कदापि यह नहीं मान सकता कि मनुष्य बेवकूफी के कारण गिरता है अथवा ठीक रास्ता न जानने के कारण पथ विचलित होता है। उसका दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य स्वयं जानते हुए ही पतित होता है ठीक रास्ता जानकर भी गलत रास्ते से जाता है। वह देखता है कि मनुष्य जो व्यभिचारी और पियक्कड़ होता है स्वार्थलोलुप होकर भाईचारे के समस्त बन्धनों को तोड़ देता है और भाई-भाई का गला काटता है पाशविक अत्याचार करता है यह सब नादानी या अज्ञान के कारण नहीं करता अपने दंभ और दर्प के कारण करता है अपने काम और मोह के कारण स्वार्थ और विलासिता के कारण करता है। अतः इन सबके सम्बन्ध में सदुपदेश देने से अथवा आदर्श जीवन का नमूना प्रस्तुत करने से कोई लाभ नहीं होता। इसके विरुद्ध मानवता को समझने से मनुष्य के अधिक निकट आने की संभावना है अतः यथार्थवादी मानवता की सहज वृत्तियों को समझकर मनुष्य को मनुष्य के निकट लाने का प्रयत्न करता है। यही प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों के यथार्थवादी भागों में किया है। यही नागार्जुन और रेणु कर रहे हैं। और यही यूरोपीय साहित्य के विश्वविख्यात यथार्थवादियों ने किया है।

इससे भी एक कदम आगे बढ़कर समाज का निरीक्षण करनेवाले प्रकृतिवादियों ने यही निष्कर्ष निकाला है कि किसी भी तरह मनुष्य की प्राकृतिक पाशविक वृत्तियां (यौन-विकार आदि) लुप्त नहीं होतीं नहीं हो सकतीं। अतः वे यथार्थ के चित्रण से भी मनुष्य के उन्नयन का प्रयत्न नहीं करते। उनकी कला का ध्येय मनुष्य को विशिष्ट कर समझने तक में आकर समाप्त हो जाता है।

दृष्टिकोण के अनुसार विभिन्न वाद

३३१ यथार्थ और आदर्श की प्रतिष्ठा करते हुए उपन्यास रचना करनेवाले लेखकों के दृष्टिकोण के अनुसार जो विभिन्न वाद प्रचलित हुए हैं वे निम्नलिखित हैं

१ आदर्शवाद

२ यथार्थवाद
- आदर्शोन्मुख यथार्थवाद
- यथार्थवाद (सामाजिक यथार्थवाद)
- आलोचनात्मक यथार्थवाद
- प्रकृतिवाद
- नग्नतावाद (उग्रवाद)
- मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद (यथार्थ यथार्थवाद)
- समाजवादी यथार्थवाद

हिन्दी में या किसी विशेष यूरोपीय भाषा के उपन्यास साहित्य में इन सबका विकास नहीं हुआ है। देशकाल के अनुसार जिन-जिन वादों का विकास हुआ उनकी अब चर्चा करेंगे।

ठीक या गलत का निर्णय नहीं किया जाता जो हो उसे उसी तरह स्वीकृत किया जाता है। गाल्सवर्दी ने एक वंश की कई पीढ़ियों की जो कहानी लिखी है वह समाजशास्त्र और इतिहास है पर इसको उपन्यास बनानेवाली चीज पात्रों और परिस्थितियों के साथ लेखक का रागात्मक संबन्ध है जो किसी समाज शास्त्रकार या ऐतिहासिक में नहीं होता। प्रेमचन्द में इस रागात्मकता की कमी नहीं है, पर वे इतिहासकार या समाजशास्त्रकार के समान तटस्थ नहीं रह पाते। वे समाज की भलाइयों और बुराइयों को देखते हैं देखते ही नहीं उनमें परिवर्तन लाने की उत्कट इच्छा भी करते हैं। तुर्गनेव गोर्की[1] और गाल्सवर्दी से यहीं वे भिन्न हैं।

प्रेमचन्द के इस दृष्टिकोण का कारण ढूंढते हुए कुछ आलोचकों ने उन्हें आदर्शवादी कहा है[2] औरों ने व्यावहारिक आदर्शवादी[3] और अन्यों ने सुधारवादी[4] वे स्वयं अपने-आपको आदर्शोन्मुख यथार्थवादी मानते हैं और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का समर्थन करते हैं।[5] फिर भी इस आदर्शवादी दृष्टिकोण के बावजूद वे समाज का जो रूप और व्यक्ति का जो चरित्र प्रस्तुत करते हैं उन्हें प्रस्तुत करने का ढंग यथार्थवादी का है। भाषा और शैली निरीक्षण और विवेचन निश्चित ही यथार्थवादी है। परिस्थितियों और पात्रों को आँख के सामने उपस्थित कर देने में हिन्दी के बहुत कम कलाकार प्रेमचन्द के निकट पहुँचे हैं। वे पात्रों के बाह्य रूपों का ही नहीं उनके हर शब्द का उनके हर मनोभाव का जो सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं वह वे यथार्थवादी ढंग से ही करते हैं, भले ही ये पात्र और उनके मनोभाव प्रेमचन्द की नैतिक और सामाजिक मान्यताओं के आधार पर अङ्कित हों। इससे ही उनका यथार्थवाद समाप्त हो जाता है इस यथार्थवादी चित्रण और प्रतिपादन से प्रेमचन्द जो सिद्ध करना चाहते हैं वह आदर्श है। विषय का चुनाव विषय-निरीक्षण का दृष्टिकोण जीवन का मूल्यांकन इन सबमें वे आदर्शवादी ही हैं। विषय की दृष्टि से उनका आदर्शवाद निम्नलिखित बातों में देख सकते हैं

१३५ (क) जिन बुराइयों को समाज के अभिशाप के रूप में और जिन समस्याओं को समाज की उन्नति में बाधक के रूप में प्रेमचन्द देखते हैं उनको सुधारने या सुलझाने का मार्ग उन्होंने बताया है। समाधान मुख्य कथा की समस्या के साथ ही मिला होता है जैसे 'प्रतिज्ञा' में विधवाश्रम-स्थापना 'सेवासदन' में सेवासदन की स्थापना 'प्रेमाश्रम' में आश्रम की स्थापना 'कर्मभूमि' में अमरकान्त द्वारा चमार गाँव

---

१ गोर्की का 'मां' आदर्शवादी है। अतः 'फोमा गोर्देयेव' और 'आरतमोनोव' की ही चर्चा *की जाती है; साथ 'मैकेनल' और 'बाध्यस्वर' के नाम भी लिये जा सकते हैं।*

२ नन्ददुलारे वाजपेयी। आधुनिक साहित्य पृ० १६८।

३ जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' प्रेमचन्द की उपन्यास कला पृ० ३१।

४ "Premchand was a reformer first and an artist next"

—Madan Gopal Premchand P 45.

५. 'उपन्यास' शीर्षक लेख, 'कुछ विचार' और 'साहित्य का उद्देश्य' में संकलित।

[illegible] सुधार, मुखदा का मन्दिर प्रवेश-आन्दोलन आदि 'रंगभूमि' में सूरदास के देश प्रेम [illegible] काम आदि। कहीं-कहीं मुख्य कथा से भिन्न कथानक में सुधार का मार्ग बनाया [illegible]ता है जैसे 'निर्मला' में निर्मला की शोकान्त कथा की तुलना में उसकी बहन के [illegible]दर्श दाम्पत्य-जीवन की कथा।

३३६ (ख) प्रेमचन्द जीवन के सर्वांगीण रूप को नहीं उन्हीं भागों को लेते हैं [illegible]नमें सुधार की आवश्यकता हो भले ही पात्रों को यथार्थ बनाने के लिए मुख्य कथानक से सबद्ध कुछ घटनाएं लायी गयी हों। (और फिर भी उनका समाज-चित्रण अति विस्तृत है।)

३३७ (ग) जीवन की पदगियों को भी प्रेमचन्द नग्न यथार्थ के रूप में [illegible]हीं देखत। जहां-जहां अश्लीलता के आने की सम्भावना है वहां प्रेमचन्द बड़ी सतर्कता [illegible] अपनी प्रतिभा का उपयोग करते हैं। 'सेवासदन' में वारांगनों के चित्र में भी हम [illegible]क पवित्रता एवं भव्यता देख सकते हैं वहाँ जाकर भी सदनसिंह पाप का शिकारी [illegible]हीं बनता प्रेम का पुजारी बनता है और आगे चलकर शान्ता का उद्धार करता है। [illegible]ायाकल्प' की लौंगी हरिसेवक की रखेली के रूप में हमारी घृणा का पात्र नहीं बनती [illegible]नोरमा की माता के रूप में श्रद्धा का ही पात्र बनती है। 'गबन' की जोहरा त्याग [illegible]ौर सहानुभूति की मूर्ति बनकर आती है उसके गंगा में बह जाने में उसका रहा-सहा [illegible]ालिन्य भी धुल जाता है। इस तरह प्रेमचन्द हर जगह कुत्सितता से बचने का और [illegible]क अलौकिक सत्य और सौंदर्य देखने का प्रयत्न करते हैं। 'कलम' के इन शब्दों में [illegible]मचन्द का आदर्श प्रकट होता है "यथार्थ का रूप अत्यन्त भयंकर होता है और यदि [illegible]म यथार्थ ही को आदर्श मान लें तो संसार नरक-तुल्य हो जाय। हमारी दृष्टि मन की [illegible]र्बलताओं पर न पड़नी चाहिए बल्कि दुर्बलताओं में भी सत्य और सुन्दर की खोज [illegible]रनी चाहिए।"[1] यही प्रेमचन्द का आदर्श है। यथार्थों का मुँह पर मुँह सामना करने [illegible]ी शक्ति प्रेमचन्द में नहीं है। कुत्सितता से वे डरते-से या कम से कम सकुचाते-से [illegible]गते हैं अतः उनके संपूर्ण साहित्य में एक भद्रता और शिष्टता है। दुर्बलताओं के [illegible]ीच में भी 'सत्य' और 'सुन्दर' को खोज निकालने के लिए ही उन्होंने आदर्शों की [illegible]ापना की है वेश्याओं में भी मानवात्मा के दर्शन किए हैं।

३३८ (घ) यथार्थवादी जीवन के सत्यों को सत्य के रूप में स्वीकृत करता [illegible] उनकी भलाई-बुराई की व्याख्या नहीं करता और न उनको अपूर्ण मानकर एक [illegible]र्णता का स्वप्न ही देखता है। जीवन को अपूर्ण मानना ही आलोचना की दृष्टि [illegible] देखना ही आदर्शवादी की प्रवृत्ति है। प्रेमचन्द ने अपने सबसे अधिक यथार्थवादी [illegible]पन्यास 'गोदान' में भी यही किया है। वे इसमें भले ही सुधारवाद या उपदेशवाद [illegible]क नहीं पहुंचते तो भी यह निश्चय है कि होरी के जीवन से प्रेमचन्द स्वयं सन्तुष्ट [illegible]हीं हैं। जमींदार पटेदार, साहूकार और नागरिक पात्रों के जीवन के प्रति प्रेमचन्द [illegible]दम्य घृणा ही रखते हैं। इस सहानुभूति और घृणा के कारण उपदेश और सुधार [illegible] होने पर भी 'गोदान' का दृष्टिकोण आदर्शवादी का ही है।

---

1 [illegible] पृ० ११२।

ठीक या गलत का निर्णय नहीं किया जाता जो हो उसे उसी तरह स्वीकृत किया जाता है। गाल्सवर्दी ने एक वंश की कई पीढ़ियों की जो कहानी लिखी है वह समाज-शास्त्र और इतिहास है पर इसको उपन्यास बनानेवाली चीज पात्रों और परिस्थितियों के साथ लेखक का रागात्मिक संबन्ध है, जो किसी समाज शास्त्रकार या ऐतिहासिक में नहीं होता। प्रेमचन्द में इस रागात्मिकता की कमी नहीं है, पर वे इतिहासकार या समाजशास्त्रकार के समान तटस्थ नहीं रह पाते। वे समाज की भलाइयों और बुराइयों को देखते हैं देखते ही नहीं उनमें परिवर्तन लाने की उत्कट इच्छा भी करते हैं। तुर्गनेव गोर्की[1] और गाल्सवर्दी से यहीं वे भिन्न हैं।

प्रेमचन्द के इस दृष्टिकोण का कारण ढूंढते हुए कुछ आलोचकों ने उन्हें आदर्शवादी कहा है,[2] औरों ने व्यावहारिक आदर्शवादी[3] और अन्यों ने सुधारवादी[4] वे स्वयं अपने-आपको आदर्शोन्मुख यथार्थवादी मानते हैं और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का समर्थन करते हैं।[5] फिर भी इस आदर्शवादी दृष्टिकोण के बावजूद वे समाज का जो रूप और व्यक्ति का जो चरित्र प्रस्तुत करते हैं उन्हें प्रस्तुत करने का ढंग यथार्थवादी का है। भाषा और शैली निरीक्षण और विवेचन निश्चित ही यथार्थवादी है। परिस्थितियां और पात्रों को आंख के सामने उपस्थित कर देने में हिन्दी के बहुत कम कलाकार प्रेमचन्द के निकट पहुंचे हैं। वे पात्रों के बाह्य रूपों का ही नहीं उनके हर शब्द का उनके हर मनोभाव का जो सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं वह वे यथार्थवादी ढंग से ही करते हैं भले ही ये पात्र और उनके मनोभाव प्रेमचन्द की नैतिक और सामाजिक मान्यताओं के आधार पर गठित हों। इतने से उनका यथार्थवाद समाप्त हो जाता है इस यथार्थवादी चित्रण और प्रतिपादन से प्रेमचन्द जो सिद्ध करना चाहते हैं वह आदर्श है। विषय का चुनाव विषय-निरीक्षण का दृष्टिकोण जीवन का मूल्यांकन इन सबमें वे आदर्शवादी ही हैं। विषय की दृष्टि से उनका आदर्शवाद निम्नलिखित बातों में देख सकते हैं

११५ (क) जिन बुराइयों को समाज के अभिशाप के रूप में और जिन समस्याओं को समाज की उन्नति में बाधक के रूप में प्रेमचन्द देखते हैं उनको सुधारने या सुलझाने का मार्ग उन्होंने बताया है। समाधान मुख्य कथा की समस्या के साथ ही मिला होता है जैसे 'प्रतिज्ञा' में विधवाश्रम-स्थापना 'सेवासदन' में सेवासदन की स्थापना 'प्रेमाश्रम' में आश्रम की स्थापना कर्मभूमि में अमरकान्त द्वारा चमार गांव

---

१ गोर्की का 'मां' आदर्शवादी है। यहां 'फोमा गोर्देयेव' और 'आरतमनोव' की ही चर्चा की जाती है; साथ 'मैपनल' और 'कारखानदार' के नाम भी लिये जा सकते हैं।

२. नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य पृ. १६८।

३. जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' प्रेमचन्द की उपन्यास कला पृ. ११।

४ "Premchand was a reformer first and an artist next"
—Madan Gopal Premchand P 45

५. 'उपन्यास' शीर्षक लेख 'कुछ विचार' और 'साहित्य के उद्देश्य' में संकलित।

का सुधार, सुक्खा का मन्दिर प्रवेश-आन्दोलन आदि, 'रंगभूमि' में सूरदास के देश प्रेम के काम आदि। कहीं-कहीं मुख्य कथा से भिन्न कथानक में सुधार का मार्ग बनाया जाता है, जैसे 'निर्मला' में निर्मला की शोकान्त कथा की तुलना में उसकी बहन के आदर्श दाम्पत्य-जीवन की कथा।

११६ (ख) प्रेमचन्द जीवन के सर्वांगीण रूप को नहीं उन्हीं भागों को लेते हैं जिनमें सुधार की आवश्यकता हो, भले ही पात्रों को यथार्थ बनाने के लिए मुख्य कथानक से असंबद्ध कुछ घटनाएं लायी गयी हों। (और फिर भी उनका समाज-चित्रण अति विस्तृत है।)

११७ (ग) जीवन की पंकिलता को भी प्रेमचन्द नग्न यथार्थ के रूप में नहीं देखते। जहां-जहां अश्लीलता के आने की संभावना है वहां प्रेमचन्द बड़ी सतर्कता से अपनी प्रतिभा का उपयोग करते हैं। 'सेवासदन' में दालमण्डी के चित्र में भी हम एक पवित्रता एवं सभ्यता देख सकते हैं, वहां जाकर भी सदनसिंह पाप का शिकारी नहीं बनता, प्रेम का पुजारी बनता है और आगे चलकर आत्मा का उद्धार करता है। 'कायाकल्प' की लौंगी हरिसेवक की रखेली के रूप में हमारी घृणा का पात्र नहीं बनती मनोरमा की माता के रूप में श्रद्धा का ही पात्र बनती है। 'गबन' की जोहरा त्याग और सहानुभूति की मूर्ति बनकर आती है, उसके गंगा में बह जाने में उसका रहा-सहा कालिम्य भी धुल जाता है। इस तरह प्रेमचन्द हर जगह कुत्सितता से बचने का और एक अलौकिक सत्य और सौंदर्य देखने का प्रयत्न करते हैं। चक्रधर के इन शब्दों में प्रेमचन्द का आदर्श प्रकट होता है, "यथार्थ का रूप अत्यन्त भयंकर होता है, और यदि हम यथार्थ ही को आदर्श मान लें तो संसार नरक-तुल्य हो जाय। हमारी दृष्टि मन की दुर्बलताओं पर न पड़नी चाहिए, बल्कि दुर्बलताओं में भी सत्य और सुन्दर की खोज करनी चाहिए।"[1] यही प्रेमचन्द का आदर्श है। यथार्थों का मुँह दर मुंह सामना करने की शक्ति प्रेमचन्द में नहीं है। कुत्सितता से वे डरते-से या कम से कम सकुचाते-से लगते हैं, अतः उनके संपूर्ण साहित्य में एक भद्रता और शिष्टता है। दुर्बलताओं के बीच में भी 'सत्य' और 'सुन्दर' को खोज निकालने के लिए ही उन्होंने आदर्शों की स्थापना की है, वेश्याओं में भी मानवात्मा के दर्शन किये हैं।

११८ (घ) यथार्थवादी जीवन के तथ्यों को सत्य के रूप में स्वीकृत करता है, उनकी भलाई-बुराई की व्याख्या नहीं करता, और न उनको अपूर्ण मानकर एक पूर्णता का स्वप्न ही देखता है। जीवन को अपूर्ण मानना ही आलोचना की दृष्टि से देखना ही आदर्शवादी की प्रकृति है। प्रेमचन्द ने अपने सबसे अधिक यथार्थवादी उपन्यास 'गोदान' में भी यही किया है। वे इसमें भले ही सुधारवाद या उपदेशवाद तक नहीं पहुंचते तो भी यह निश्चय है कि होरी के जीवन से प्रेमचन्द स्वयं सन्तुष्ट नहीं हैं। जमींदार, पट्टेदार, साहूकार और नागरिक पात्रों के जीवन के प्रति प्रेमचन्द अवश्य घृणा ही रखते हैं। इस सहानुभूति और घृणा के कारण उपदेश और सुधार न होने पर भी 'गोदान' का दृष्टिकोण आदर्शवादी का ही है।

---

१ कायाकल्प पृ १२१।

१३९ प्रेमचन्द की क्षमताहीनताएँ—स्पष्ट है कि प्रेमचन्द वस्तुतः आत्मा में आदर्शवादी हैं। उनका आदर्शवाद जहाँ सुधारक बना है वहाँ यथार्थ को अधिक धक्का लगा है। आदर्श प्रायः सुचिन्तित विचार के परिणाम नहीं हैं अतः खोखले और निरर्थक-से लगते हैं। इन आदर्शों को प्रेमचन्द ने जिस शैली में प्रकट किया है वह प्रचारात्मक उपदेश की शैली है। जहाँ प्रश्नों का विश्लेषण करने या उनको मूर्त रूप देने के बदले केवल तर्क-जालों से या भाषणों से व्यक्त किया गया है वहाँ उपन्यास की सबसे कमजोर कड़ियाँ मिलती हैं। यह आदर्शवाद यथार्थ में बाधक है ही और दो-एक बातें भी हैं जो प्रेमचन्द के उपन्यासों के यथार्थ को आघात पहुँचाती हैं। इनमें संयोग की घटनाएँ, घटनाओं की जटिलता, रोमान्टिक कल्पना और आवश्यकता से अधिक भावुकता मुख्य बातें हैं। 'निर्मला' में उदयभानुलाल का पत्नी से झगड़ा करके बाहर निकलने पर मतई द्वारा मारा जाना, तोताराम के अपनी वीरता की डींग हाँकते समय ही साँप का आना आदि। 'रंगभूमि' में सोफिया का माँ से झगड़कर निकलने पर अग्निकाण्ड देखना, विनयमोहन और वीरपालसिंह का मिलन, नाटक का उसी जगह पर तमाशा होना जहाँ सोफिया विनय से मिल सके, विनय के प्रेम से निकल भागते समय ही क्लार्क की मोटर से भिल्नी का दब जाना और लोगों का विद्रोह करना आदि। 'गबन' में रमानाथ को चुंगी में ही नौकरी मिलना जहाँ से रुपया उठा लाया जा सकता है, रतन का कंगन के लिए छः सौ रुपया उसीको देना—वह भी ठीक छः सौ रुपया—फिर उसका कलकत्ता पहुँचने के बाद की कितनी ही घटनाएँ, ये सब बिलकुल संयोग की हैं और केवल कथा को आगे बढ़ाने के लिये हैं। घटनाओं की जटिलता ने 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' और 'गबन' को बहुत ही बोझिल बना दिया है। इन चारों उपन्यासों में—और कुछ कम मात्रा में अन्य उपन्यासों में—कई असाधारण घटनाएँ भी हैं, जो कोरी भावुकता के कारण घटती हैं। सभी उपन्यासों में अनेकानेक हत्याएँ और आत्महत्याएँ कथा को प्रभावशाली बनाने के सस्ते उपाय हैं। निर्मला और होरी की शोकान्त मृत्युओं को हम मान ही लें पर हमें मानना पड़ेगा कि 'वरदान' में कमलाचरण का ट्रेन से कूदकर मरना, 'प्रतिज्ञा' में वसन्तकुमार का और 'सेवासदन' में कृष्णचन्द्र का गंगा में डूब मरना, 'प्रेमाश्रम' में गायत्री की आत्महत्या, गौसखाँ की हत्या, मनोहर की आत्महत्या, ज्ञानशंकर की गंगा में डूबकर आत्महत्या, 'निर्मला' में उदयभानुलाल की हत्या, 'कायाकल्प' में चक्रधर का मरण और उसके पिता की आत्महत्या, अहिल्या के दुःख से मर जाना, 'रंगभूमि' में एकसाथ ही सूरदास का गोली से मरना, विनय और सोफिया की आत्महत्याएँ और सोफिया की माँ का दुःख से मरना, 'गबन' में जोहरा का गंगा में बह जाना, इतनी हत्याएँ करते समय प्रेमचन्द ने औचित्य और अनौचित्य का विचार नहीं किया। इसी तरह पात्रों को सन्यासी बनाने की प्रथा भी केवल भावुकता है।

प्रेमचन्द और कुछ यूरोपीय उपन्यासकारों का यथार्थवाद

१४० प्रेमचन्द को रूसी उपन्यासकारों से विशेषकर टाल्सटाय से प्रेरणा

मिली थी किन्तु तॉल्स्तॉय की अन्तर्दर्शिता और पात्रों के द्वन्द्वों के विश्लेषण की क्षमता प्रेमचन्द में नहीं है। जहाँ तक यथार्थवादी शैली का सबन्ध है प्रेमचन्द की तुलना तॉल्स्तॉय गोर्की और बीसवीं शती के रूसी उपन्यासकारों से की जा सकती है। विशेषकर पात्रों के अन्तर्द्वन्द्वों के सूक्ष्म विश्लेषण से बचकर बाह्य चेष्टाओं और परिस्थितियों को मूर्त रूप में प्रकट करने की जो प्रवृत्ति शोलोखोव फेदिन और अन्य आधुनिक रूसी उपन्यासकारों में है वही प्रेमचन्द में भी है। बीसवीं शती के फ्रेंच और अंग्रेजी उपन्यासकारों में जो विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति है उससे प्रेमचन्द दूर है। साथ सामाजिक और पारिवारिक जीवन की साधारण अनुभूति को आकृष्ट करनेवाले प्रसंगों का समावेश जैसे रूसी उपन्यासों में किया जाता है वैसे ही डिकेन्स थैकरे जेन आस्टिन और मेरिया एजवर्थ ने किया था। डिकेन्स और थैकरे में थोड़ी-बहुत आलोचना की दृष्टि भी थी जेन आस्टिन इससे भी मुक्त थीं और समाज की विकासोन्मुख प्रवृत्तियों के प्रकटन को छोड़कर समाज और पारिवारिक जीवन के अन्य पक्षों के निरूपण में बहुत-कुछ वर्तमान रूसी उपन्यासकारों के समान यथार्थवादी थी। प्रेमचन्द की शैली भी इन सबकी शैलियों से बहुत-कुछ मिलती है।

किन्तु विषय और दृष्टिकोण के आधार पर भी यूरोपीय उपन्यासकारों से प्रेमचन्द की तुलना करें तो प्रेमचन्द डिकेन्स के सबसे निकट ज्ञात होते हैं। उनमें बीसवीं शती के यूरोपीय उपन्यासकारों की तटस्थता नहीं है बीसवीं शती के फ्रेंच और अंग्रेजी उपन्यासकारों के विश्लेषण की प्रवृत्ति नहीं है रूसी उपन्यासकारों की यथार्थ के विकास की चेतना नहीं है। तॉल्स्तॉय की दार्शनिकता तुर्गनेव की निरपेक्षता ह्यू गो और दास्तायवस्की की अन्तर्दर्शिता ये सब उनमें अप्राप्य हैं। इसके विरुद्ध डिकेन्स के प्रायः सभी गुण उनमें मिलते हैं।

प्रेमचन्द और डिकेन्स का दृष्टिकोण ही शुद्ध यथार्थवादी का नहीं है आलोचनात्मक यथार्थवादी का है। दोनों ही समाज की पतित पददलित दरिद्र निम्नवर्गीय जनता के कष्टों से अवगत थे उसके प्रति अपार सहानुभूति रखते थे उसके सुधार के लिए अत्यन्त आकुल थे। अपने-अपने समकालीन समाज में जो-जो बुराइयाँ थीं अत्याचार थे उन सबको दोनों प्रकाश में लाए। दोनों ने दिखाया कि समाज में पाप कैसे पलते हैं, पाशविकता मनुष्यता की हत्या कैसे करती है भलाई एवं सद्भावना से सम्पन्न व्यक्तियों को जीवन में कितना कष्ट भोगना पड़ता है। दोनों ने उपन्यास पर उपन्यास इसी नतिकतावादी दृष्टिकोण से लिखे। पर नैतिकता का विवेचन करनेवाले इन उपन्यासों में तॉल्स्तॉय दास्तायवस्की ह्यू गो आदि के समान पाप-पुण्य का विवेचन नहीं है। इन तीनों लेखकों ने (और कुछ अंश तक अनातोले फ्रांस ने भी) व्यक्ति एवं समाज को पतन की ओर ले जानेवाली बाह्य वृत्तियों को मानवात्मा को अभिभूत करनेवाली शाश्वत समस्याओं के रूप में देखा। अतः इनके उपन्यासों में दुष्‌वृत्तियाँ तत्कालीन समाज की समस्याएँ नहीं हैं जैसेकि प्रेमचन्द या डिकेन्स के उपन्यासों में पर मानवता के ही चिरन्तन प्रश्न हैं। इसीलिए इनके उपन्यासों में पाप-पुण्य का सघर्ष घोर मानसिक द्वन्द्व के रूप में प्रकट हुआ है। अन्ना करैनिना मस्लोवा फिलिपनोवना रस्कोलनिकोव ग्रां-वल-जां आदि के मानसिक द्वन्द्व में लेखकों ने इसी पाप-पुण्य के

शाश्वत द्वन्द्व को प्रकट किया है। इसी कारण भाव की दृष्टि से देखे जाएं तो इनके उपन्यास बहुत कुछ काव्यमय लगते हैं। प्रेमचन्द इनसे बिलकुल भिन्न हैं। उन्होंने यथार्थ-बुराई का अध्ययन सामाजिक स्तर पर ही किया है। पाप उनके लिए सामाजिक अत्याचार और अभिशाप है। उनके उपन्यासों में जहां द्वन्द्व और संघर्ष है वहां भी व्यक्ति के अन्तर्जगत् की संकुल वृत्तियों का विश्लेषण नहीं मिलता। निर्मला मन्साराम जालपा आदि कुछ पात्रों में अवश्य मानसिक द्वन्द्व का विश्लेषण किया गया है पर इनके द्वन्द्व भी किसी मौलिक नैतिक समस्या के रूप में नहीं हैं, केवल सामाजिक अथवा पारिवारिक परिस्थिति के अनुकूल जीवन में समझौता (Adjustment) करने के प्रयत्न से जनित हैं। 'निर्मला' में सामाजिक एवं पारिवारिक वातावरण को बहुत कुछ उपेक्षित करके और तोताराम मन्साराम एवं निर्मला के मानसिक व्यापारों तक ही विषय को सीमित रखकर एक उत्कृष्ट व्यक्तिवादी उपन्यास की रचना की जा सकती थी। पर तब लेखक भारतीय समाज के घोर अभिशाप अनमेल विवाह के मर्मकर परिणामों को दिखाने में असमर्थ होता। पर वस्तुतः प्रेमचन्द का ध्येय सामाजिक था अतः उन्होंने अपने पात्रों को व्यक्तिवादी न बनाने से अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि की है।

समाज के वास्तविक रूप को प्रकाश में लाने तथा उसकी सत्-असत् वृत्तियों को निरावृत कर दिखाने के ध्येय से रचित उपन्यासों का वस्तु प्रधान या घटना प्रधान होना स्वाभाविक है। प्रेमचन्द और डिकेन्स के सभी उपन्यासों में घटनाओं का आधिक्य समाज के विस्तृत वातावरण को यथार्थ रूप में प्रदर्शित करने में और सैकड़ों समस्याओं को सामने लाने में सहायक हुआ है। किन्तु इस घटनाधिक्य के कारण व्यक्तियों के आन्तरिक यथार्थों को प्रकट करने के लिए पर्याप्त अवसर नहीं आये हैं। टाल्सटाय दास्तायवस्की आदि के उपन्यासों में व्यक्ति का जो गहन अध्ययन हुआ है, वह प्रेमचन्द में अप्राप्य ही है। इसके विरुद्ध विविध सामाजिक स्तरों एवं प्रकारों के सैकड़ों व्यक्तियों को सामने लाकर प्रेमचन्द ने तत्कालीन भारतीय समाज के प्रायः सम्पूर्ण रूप का परिचय दिया है। डिकेन्स ने भी इसी तरह इंग्लैंड के समाज की भिन्न भिन्न श्रेणियों के व्यक्तियों का सामान्य अध्ययन प्रस्तुत किया है। दोनों का ध्येय पात्र का नहीं पात्रों का अध्ययन करना है। और ये पात्र भी प्रायः लेखक के किसी ध्येय की सिद्धि अथवा सिद्धांत के स्थापन के लिए निर्मित होने के कारण बहुत कुछ अपूर्ण एवं एकांगी रह गये हैं। इन पात्रों को समतलीय (Flat) कहा जा सकता है। पर इन लेखकों ने अपने सीमित दृष्टिकोण से परिमित क्षेत्र में जिन पात्रों का निर्माण किया है वे यथार्थ-से लगते हैं। यद्यपि ये पात्रों की आन्तरिक भावनाओं का विश्लेषण नहीं करते तो भी उन भावनाओं को बाह्य वृत्तियों द्वारा व्यंजित करने में काफी सफल हुए हैं। कला की दृष्टि से प्रेमचन्द और डिकेन्स निस्सन्देह अपने-अपने समय के सर्वश्रेष्ठ कलाकार थे लेकिन यथार्थवाद के परकालीन सर्वांगीण विकास की तुलना में प्रेमचन्द और डिकेन्स का यथार्थवाद एकांगी तथा सीमित ही है।

३८१ 'गोदान' में यथार्थवाद—'गोदान' में प्रेमचन्द सुधारवाद से पूर्णतया

और आदर्शवाद से बहुत कुछ मुक्त हैं। जीवन के कटु से कटु अनुभवों ने उन्हें आदर्शों और उपदेशों के बोझिलपन से अवगत कर दिया था और उन्हें ज्ञात हो गया था कि उत्कृष्ट उपन्यास-सृजन के लिए आदर्श जीवन की परिकल्पना उतनी आवश्यक नहीं है जितना यथार्थ जीवन का अध्ययन तथा विश्लेषण। उनके इसी मानसिक परिवर्तन का परिणाम है 'गोदान'। यहां प्रेमचन्द प्रत्यक्ष आलोचना तथा उपदेशों से प्रायः मुक्त होकर गोर्की के बहुत निकट पहुंच गए हैं। विधि की विडम्बनाओं और समाज के अत्याचारों से जीवन-भर संघर्ष करता हुआ होरी धीरे-धीरे परिक्षीण होकर मुकता जाता है उठने के उसके सारे प्रयत्न बेकार जाते हैं। आखिर समाज पूरी निर्ममता से उसे दबोच ही लेता है। फिर भी प्रेमचन्द यहां उसकी रक्षा करने की आवश्यकता नहीं समझते। अपने अन्य उपन्यासों में इस दमित वर्ग के उद्धार की जो आतुरता उन्होंने दिखायी है वह 'गोदान' में लुप्तप्राय है। होरी के जीवन के चित्रण में प्रेमचन्द ने गोर्की के समान ही बड़ी निरपेक्षता से अन्त तक निर्वाह किया है। लेकिन जहां प्रेमचन्द ने जमींदार, पट्टेदार, साहूकार आदि की धनलोलुपता एवं निर्दय अत्याचारों को प्रकट किया है वहां उनका विद्रोही मन बल उठा है और वे पूर्ण निरपेक्षता का पालन नहीं कर पाए हैं। यहीं उनका आदर्शवादी रूप स्पष्ट हुआ है। ज्ञात होता है कि प्रेमचन्द का साहित्यिक जीवन सामाजिक यथार्थवाद को प्राप्त करने का सतत प्रयत्न कर रहा है। 'गोदान' में वे उसे पाते-पाते रह गए हैं। फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि 'गोदान' हमारा सबसे अधिक यथार्थवादी उपन्यास है और आज तक और कोई उपन्यासकार उसका अतिक्रमण नहीं कर सका है। केवल रेणु कुछ विषयों में तनिक आगे बढ़ सके हैं।

प्रेमचन्द के परवर्ती आदर्शोन्मुख यथार्थवादी

३४२ प्रेमचन्द के परवर्ती उपन्यासकारों में भी तीव्र आलोचना करनेवाले उपवादियों को और दो-एक मनोविश्लेषकों को छोड़कर सभीका यथार्थवाद आदर्शोन्मुख है, चाहे उनका यथार्थवाद शुद्ध यथार्थवाद हो या आलोचनात्मक चाहे मनोवैज्ञानिक हो या और किसी प्रकार का।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में यह आदर्शवाद दार्शनिकता लिए हुए पात्रों के उदात्तीकरण (Sublimation) के रूप में आता है। सुनीता का ममता-प्रदर्शन हरिप्रसन्न की मोहान्धता दूर करता है 'परख' में कट्टो और बिहारी अपने मनोवांछित जीवन को न पाकर, देश-सेवा का महान कार्य करने लगते हैं। इसके बाद के उपन्यासों में जैनेन्द्र ने आदर्शवाद को पूर्णतया छोड़ दिया है।

वृन्दावनलाल वर्मा के सामाजिक और ऐतिहासिक सभी उपन्यास आदर्शोन्मुख यथार्थवादी हैं। 'लगन' में दहेज प्रथा से होनेवाली कठिनाइयों को दिखाते हुए वर वधुओं के साहस से आगे बढ़कर विवाह करने का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। 'कुण्डली-चक्र' का अजित पूना को अयोग्य वर से बचाता है और स्वयं उससे विवाह कर लेता है। वर्माजी के ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐतिहासिक परिस्थितियों और घटनाओंका

जीवन में होनेवाली प्रक्रियाएं और विकृतियां यथार्थ के धरातल पर खड़ी हैं। वासना की तृप्ति उच्छृंखल अनुभवों से नहीं होती। भारती और अश्क ने जो आदर्श प्रस्तुत किए हैं वे पात्रों पर लेखक द्वारा लादे गए आदर्श नहीं हैं, पात्रों के ही अनुभवों और विवेकपूर्ण चिन्तन के परिणाम हैं। 'गुनाहों का देवता' की पम्मी और 'गिरती दीवारें' का चेतन समझ जाते हैं कि वासना की तृप्ति के लिए इधर-उधर भटकते रहने से कोई लाभ नहीं होता। अनुभव के यथार्थ उन्हें जीवन के तत्त्वों से अवगत कराते हैं। पम्मी स्वयं वैवाहिक जीवन की ओर लौटती है, तो चेतन केवराम से वास्तविक जीवन की बातें सुनकर अपनी परिणीता और परित्यक्ता पत्नी चन्दा पर फिर मुग्ध हो जाता है। यथार्थ जीवन पर आधारित होने के कारण ये आदर्श अस्वाभाविक नहीं लगते। जीवन से ही क्रमिक विकास-से लगते हैं।

हिन्दी के आदर्शवाद की कमजोरी

१४३ 'गिरती दीवारें' और 'गुनाहों का देवता' में जो सुचिन्तित और क्रम विकसित आदर्शवाद है वह प्राय: हिन्दी के और किसी उपन्यास में नहीं है। जीवन की परिस्थितियों और कटु अनुभवों से संघर्ष करते हुए मनुष्य का क्रमिक विकास ही वास्तविक आदर्श है। इसका अभाव हिन्दी उपन्यास में सर्वत्र दिखाई पड़ता है। दास्तायवस्की के नायक रस्कोलनिकोव का अन्त सामान्य जीवन के लिए उपयोगी नहीं है पर बुढ़िया को मारने का अपराध करने के बाद उसकी जो मानसिक प्रतिक्रिया होती है वह जीवन के एक महान आदर्श की ओर संकेत करती है। पाप-पुण्य का यह द्वन्द्व ही वस्तुत: आदर्श का विकास करता है। यहां पाप के द्वारा ही जीवन के सत्यों का जो आविष्कार होता है वह 'गिरती दीवारें' और 'गुनाहों का देवता' में तो हुआ है लेकिन हिन्दी के अन्य उपन्यासों में नहीं। हमारे उपन्यासकार प्राय: जीवन की समस्याओं को और पात्रों की कठिनाइयों को ऊपर से देखते हैं और जैसे बम से विध्वस्त प्रदेशों की भूखी जनता को वायुयान द्वारा भोजन-सामग्री दान की जाती है उसी तरह ऊपर से बने-बनाए आदर्शों के ढेरों की वर्षा करते हैं। प्रेमचन्द तक के आदर्श इस तरह के हैं और बाद के अधिकांश उपन्यासकार प्रेमचन्द से ऊपर नहीं उठ सके हैं।

१४४ आदर्शवाद के पूर्वग्रहण के कारण इन लेखकों के यथार्थ के विश्लेषण में भी एक विशेष दृष्टिकोण रहता है जीवन को अच्छाई और बुराई में बांटने का गामों सर्तों और सियारों को छांटने का। उनका आदर्शवाद रूढ़िवादी है। अत: उनका जीवन-विश्लेषण एक निश्चित परिपाटी के अनुसार चलता है। अच्छाई और बुराई को निश्चित करने का इनका आधार भी चिन्तन नहीं है। धार्मिक और नैतिक आदर्श वाद का जो उपदेशवादी और सुधारवादी रूप है उसीको उपन्यास में भी आदर्शवाद के रूप में अपनाया गया है। ये लेखक जीवन के सत् और असत् का निर्णय उसी बालक के समान करते हैं जिसके अनुसार 'यह ठीक है और वह गलत है क्योंकि हमारे मास्टर साहब ने ऐसा ही कहा है' या ऐसा करना चाहिए, वैसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि हमारे मास्टर साहब ने ऐसा ही कहा है। परम्परागत परिपाटियों के

आदर्शवाद से मुक्त होकर, स्वकीय चिन्तन से जीवन का विश्लेषण कर मानवतावाद की स्थापना करनेवाला उपन्यासकार हिन्दी में नहीं हुआ है। आदर्शवादी को चिन्तक होना चाहिए, पर हमारा कोई आदर्शवादी चिन्तक नहीं हुआ है। अतः उनका आदर्शवाद उच्च धरातल तक नहीं पहुंच पाया है।

२

यथार्थवाद : सामाजिक यथार्थवाद

१४७. आदर्शों की शृंखलाएं निर्मित करना और जीवन के कुत्सित अंशों की आलोचना करना अधिक कठिन कार्य नहीं है। लेकिन जीवन और समाज से पूर्ण तथा तटस्थ रहकर उनके वास्तविक रूप को उपन्यास में उतार रखना सहज कार्य नहीं है। ग्राम जीवन के अभ्युदय की आकांक्षा से प्रेरित लेखक आदर्शवादी बन जाते हैं और उनका आदर्शवाद यथार्थमिश्रित होकर आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का या समाजवादी यथार्थवाद का रूप धारण कर लेता है। आलोचना की दृष्टि से लिखनेवाले लेखक आलोचनात्मक यथार्थवादी या नग्नतावादी बन जाते हैं। इन दोनों से भिन्न तटस्थ दृष्टि से जिन उपन्यासों की रचना की जाती है वे तीन श्रेणियों के होते हैं (१) मनोवैज्ञानिक (२) प्रकृतिवादी और (३) सामाजिक यथार्थवादी। इन तीनों में लेखक का ध्येय अध्ययन और अभिव्यंजन के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता। लेखक को अपनी व्यक्तिगत अभिरुचि का दमन करना पड़ता है और अपनी पूर्वगृहीत मान्यताओं को दूर रखकर जीवन का निरीक्षण करना पड़ता है। यहां हम सामाजिक यथार्थवादी उपन्यासों के यथार्थवाद का विवेचन करेंगे। प्रकृतिवादी और मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का अध्ययन बाद में किया जायगा।

वस्तुतः सामाजिक यथार्थवादियों की संख्या हर साहित्य में कम रही है क्योंकि अधिकांश लेखक अपने कुछ पूर्वगृहीत धारणाओं के आधार पर और अपने किसी दृष्टिकोण से ही लिखा करते हैं। इस अध्ययन की सुविधा के लिए अंग्रेजी से बेनेट और गाल्सवर्दी, फ्रेंच से बाल्ज़ाक और फ्लाबेयर और रूसी से तुर्गनेव, चेखव, इल्या एहरनबर्ग और शोलोखोव को लें और हिन्दी के उपन्यासों के साथ उनका अध्ययन करें।

१४८. समाज के विस्तृत वातावरण में व्यक्तियों को यथार्थ रूप में लाकर खड़ा करनेवाले उपन्यास हैं 'टेढ़े मेढ़े रास्ते', 'मैला आंचल' और 'परती : परिकथा'। 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में कथानक की अस्वाभाविकता कुछ है, एक ही परिवार के चार

---

१ सामाजिक यथार्थवाद (Social Realism) और समाजवादी यथार्थवाद (Socialist Realism) दोनों बिलकुल भिन्न हैं। समाजवादी यथार्थवाद में समाजवाद की ओर अग्रसर करने वाले एक समाज की गतिविधियों का निरीक्षण रहता है और वह ऐसे समाज की स्थापना को प्रोत्साहन देता है—एक तरह से वह आदर्शवाद ही है। पर सामाजिक यथार्थवादी का ऐसा कोई ध्येय नहीं होता।

व्यक्तियों का चार विभिन्न मतों और प्रवृत्तियों का समर्थक होना संयोग की बात-सी है। इसको और दो-एक अस्वाभाविक घटनाओं को छोड़ दें तो 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' भारत के मध्यमवर्गीय युवकों में फैली हुई मानसिक अस्थिरता और चंचलता का यथार्थ चित्रण है। सन् १९३१ के लगभग भारतीय समाज की दशा बहुत ही चंचल थी और वह गांधीजी के सत्याग्रह-आन्दोलन के पुनरारंभ के आसपास का समय था। राजनीति की यह अस्थिरता समाज में भी थी। विभिन्न पार्टियां निश्चित नहीं कर पा रही थीं कि कौन-सा मार्ग सही है, कौन-सा नहीं। पार्टी के सदस्य बहुत कुछ या तो पार्टी के आदर्शों से अनभिज्ञ थे या उनको जानने पर भी ठीक तरह उनका पालन नहीं करते थे। जमींदार लोग अपने अभिमान और सुरक्षा दोनों की एकसाथ रक्षा के लिए चिन्तित थे। 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' का वातावरण यही है और यह वातावरण ही उसका मुख्य विषय भी है। पंडित रामनाथ तिवारी ब्रिटिश शासन में अपने वर्ग को सुरक्षित समझकर सरकार के विरुद्ध होनेवाले हर आन्दोलन का विरोध करते हैं। पर वे स्वयं बड़े अभिमानी हैं और समझते हैं कि सरकार का अस्तित्व हम जमींदारों के कारण है। उनके पुत्र दयानाथ कांग्रेसी, उमानाथ साम्यवादी और प्रभानाथ क्रान्तिकारी हो जाते हैं तो पंडितजी ममता के सभी बन्धनों को तोड़कर उन्हें घर से निकाल देने में नहीं हिचकते। साथ-साथ अपने कुल गौरव की रक्षा के लिए जेल जानेवाले दयानाथ की पत्नी और बच्चों को अपने आश्रय में रखना चाहते हैं और प्रभानाथ के मुखबिर बनकर दूसरों के आगे झुकने को पसन्द नहीं करते। बेटों की दशा विचित्र है, दयानाथ जो देश के लिए बड़े-बड़े त्याग करता है, नगर-कांग्रेस के सभापति न चुने जाने से कांग्रेस छोड़ देता है, साम्यवादी उमानाथ पुलिस के आतंक से डरकर देश छोड़ देता है और क्रान्तिकारी मुखबिरी के लिए तैयार होकर फिर विचार बदल देता है और अपनी प्रेमिका के हाथ से विष खाकर जीवनत्याग करता है। वर्माजी की सबसे बड़ी सफलता इस बात में है कि वे इन सबका चित्रण करते समय किसी दल के दृष्टिकोण को नहीं अपनाते, किसी पूर्वगृहीत आदर्श के मापदण्ड से पात्रों को नहीं नापते। जहां कहीं किसी आदर्श या सिद्धान्त का समर्थन या विरोध किया गया है वह पात्रों के मुंह से कराया गया है और वह पात्रों की प्रकृति के अनुकूल ही कराया है। डा० रामविलास शर्मा ने कितने ही ऐसे उद्धरणों का उल्लेख करके वर्माजी की कड़ी आलोचना की है[1] जो सचमुच वर्माजी के मुंह से निकलते तो उनको प्रतिक्रियावादी समझा जा सकता है। हिन्दी के अन्य अधिकांश उपन्यासकार अपने मतों को कुछ पात्रों पर लाद देते हैं। प्रायः सभी आदर्शवादी पात्रों के मत लेखक के अपने मत होते हैं। इसी तरह 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' के पात्रों में भी हम वर्माजी के मत ढूंढने लगें तो लेखक के प्रति अन्याय होगा। इसमें विभिन्न दलों की चर्चा करते हुए भी उनके पारस्परिक संघर्षों को दिखाते हुए भी वर्माजी किसीका पक्ष नहीं लेते। निरपेक्षता की दृष्टि से यह एक उत्तम यथार्थवादी उपन्यास है। इसका एकहरतवर्ग ने 'आंधी' में इसी टकनीक

---

१ प्रेमचन्द रचना की प्रस्तावना।

से यथार्थवाद को उन्नतम शिखर तक पहुँचाया है। विभिन्न राष्ट्रों के गुण-दोषों को दिखाने या किसी देश की नीति का समर्थन या विरोध करने के लिए वे आकुल नहीं हैं। पात्रों को अपने-अपने मत प्रकट करने को स्वतंत्र छोड़ दिया जाता है। रूसी जनता को रूस की अपनी दृष्टि से फ्रांस दृष्टि से और जर्मन दृष्टि से देखा गया है पर एहरनबर्ग की अपनी कोई दृष्टि नहीं है। 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में भी पात्रों को लेखक ने अपने से पूर्णतया मुक्त कर रखा है कहीं उनपर जबरदस्ती से अपने मतों का आरोप नहीं किया है। इसके विरुद्ध रांगेय राघव ने 'सीधा-सादा रास्ता' में जो सीधा-सादा रास्ता दिखाया है वह लेखक के विचारों से स्वतंत्र नहीं है। किसी एक मार्ग को ठीक बताने के लिए लेखक को कुछ विचारधाराओं का समर्थन करना पड़ता है और वह निरपेक्ष नहीं रह पाता। रांगेय राघव जातीय आदर्श प्रस्तुत कर पाए हैं कलात्मक दृष्टि से उनके सम्मिलित दृश्य यथार्थवादी हैं पर उनके दृष्टिकोण पर व्यक्तिगत विचारों का प्रभाव अवश्य है।

भगवतीचरण वर्मा ने अपनी निष्पक्षता के कारण पात्रों को यथार्थ बनाया है पर 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' को तत्कालीन सामाजिक उथल-पुथलों के प्रतिबिंब के रूप में देखें तो ज्ञात होगा कि वर्माजी ने एक महान यथार्थ की उपेक्षा की है ऐसे यथार्थ की जो समाज की जान था। वैसे सन् १९३२-३३ के आसपास कांग्रेस में मत-मतान्तरों के होने पर भी उसमें अधिक शिथिलता नहीं आयी थी जिसके कारण वह बिलकुल दुर्बल और आदर्शहीन ज्ञात हो जैसेकि वर्माजी ने दिखाया है। दूसरी पार्टियों की भी यही दशा थी। पार्टियाँ कितनी ही शिथिल रही हों उनमें कितने ही मत-मतान्तर रहे हों उनके रास्ते भिन्न-भिन्न रहे हों पर सबमें 'स्वतंत्रता प्राप्ति' की एक अदम्य अभिलाषा थी जो सब दुर्बलताओं पर विजय पाकर काम कर रही थी। जनता मूर्ख और अज्ञ रही हो पर उसमें स्वतंत्रता का असीम आग्रह था स्वाधीनता के लिए प्राण लुटा देने का साहस था। ऐसा न होता तो आज भारत का इतिहास ही कुछ और होता। इस महान जन-शक्ति की उपेक्षा वर्माजी ने की है पर रांगेय राघव ने इसे पहचाना है। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास प्रस्तुत करनेवाला कोई भी उपन्यास इस जन-शक्ति की उपेक्षा करे तो यह उनके यथार्थवाद में एक बड़ा कलंक माना जायगा। इसी कारण से तुर्गनेव के उपन्यासों की विशेषकर 'पिता और पुत्र' की क्रान्तिकारी आलोचकों ने कड़ी आलोचना की थी। तुर्गनेव के 'रुदिन' के रुदिन में 'अछूत भूमि' के नेज़दानोव में और 'पिता और पुत्र' के बज़ारोव में क्रान्तिकारियों के केवल उपरिप्लव (Superfluous) व्यक्तित्व का चित्रण किया। वे सभी पात्र आदर्शवादी थे क्रान्ति के इच्छुक या सुधार के समर्थक थे। पर वे अपने परम्परागत दौर्बल्य पर विजय नहीं प्राप्त कर पाये और जीवन में पराजित हुए। बज़ारोव संस्कृति के सभी बन्धनों को तोड़ने के प्रयत्न में नास्तिवादी (Nihilist) बन जाता है जीवन के सभी मौलिक तत्त्वों तक का निषेध करता है पर अन्त में आत्महत्या कर लेता है। नेज़दानोव क्रान्तिकारी दल का संगठन करता है पर समय पर साहस खो बैठता है। वर्माजी के पात्र भी इसी तरह उपरिप्लव हैं अतः तुर्गनेव के पात्रों के समान ही वे जितने यथार्थ हैं उतने ही

नकारात्मक है।

'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' इन दोनों से बिलकुल मुक्त हैं। रेणु ने अपनी आत्मा को बिहार के ग्रामों की आत्मा से मिला दिया है। इसके बाद कहीं भी वे स्वयं बोल नहीं पाते हर जगह किसी न किसी पात्र का दृष्टिकोण रहता है। वस्तुतः संपूर्ण उपन्यास का विकास ही ग्रामीणों के हृदय के अन्दर होता है। उनकी चेतना-प्रवाह शैली (Stream of consciousness style) से मिलती-जुलती शैली इस कार्य में सहायक हुई है।

जीवन एक शृंखलाबद्ध कथा नहीं है—विशेषकर समाज का जीवन। उसमें वैचित्र्य होता है वैविध्य होता है। अब तक के उपन्यास साहित्य में वैविध्यपूर्ण शिथिल जीवन की कुछ संबद्ध घटनाओं को लेकर शृंखलाबद्ध कहानी का रूप दिया जाता था। यह पाठक की भावात्मक तनातनी (Emotional tension) को आदि से अन्त तक बनाए रखने के लिए और भावों के क्रमिक विकास द्वारा रस सचार करने के लिए उपयोगी है। लेकिन ऐसी कथा में जीवन की पूर्णता नहीं रहती। रेणु के उपन्यासों में सामाजिक जीवन को उसकी पूर्णता में देखा गया है। दोनों उपन्यासों में भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् के ग्रामीण-जीवन को कथावस्तु बनाया गया है। ग्राम के सभी तरह के लोग उनकी आशाएं आकांक्षाएं कुंठाएं, ईर्ष्याएं, पारस्परिक प्रेम और घृणा विश्वास और अविश्वास सब कुछ सामने लाये गये हैं। इनका वातावरण पुहरमम के 'आँधी' और 'नवम तरंग' के समान विस्तृत नहीं है किन्तु ग्राम के सीमित वातावरण के अन्दर के जीवन का पूर्ण अभिव्यक्त है। दोनों उपन्यास शोलोखोव के 'नयी जुती जमीन' से अधिक मिलते हैं। विशेषकर परती परिकथा' में भी नयी जमीन ही जोती जाती है। यथार्थवाद की दृष्टि से देखा जाय तो इनमें ग्राम के सामाजिक जीवन का एक विस्तृत चित्र मिलता है व्यक्तियों के आधिक्य के कारण और उनके भाव-विकास के अभाव के कारण उन से अधिक समय तक हार्दिक संबन्ध बनाए रखकर उनकी अनुभूतियों से अपनी अनुभूति मिला देने का अवसर पाठक को नहीं मिलता।

'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' दोनों में जमींदारों उनके पुत्रों विविध अफसरों और अवसरवादियों की स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों पर कठोर व्यग्य किया गया है। पर यह आलोचनात्मक यथार्थवादियों की आलोचना से बिलकुल भिन्न है। आलोचनात्मक यथार्थवादियों का आक्रोश और आवेश रेणु में नहीं है वे अत्यन्त सन्तुलित रहकर बाल्जाक और चेखव के समान पूर्ण निरपेक्षता से सत् और असत् वृत्तियों को निरावृत करते जाते हैं। गाल्सवर्दी के संबन्ध में एक आलोचक ने कहा है कि उनका उपन्यास जीवन जैसा नहीं है जीवन ही है।[1] यही रेणु के उपन्यासों के संबन्ध में कह सकते हैं।

भगवतीचरण वर्मा और रेणु समाज के अत्याचारों की आलोचना न करने पर

[1] Schalit John Galsworthy P 115

भी उनपर चोर का प्रहार करते हैं। उनके स्वयं लेखक वास्ताक और गास्तवर्दी के समान ही कटु व्यंग्य-से प्रहार करते हैं व्यंग्य करते हुए भी लेखक बिलकुल उदासीन से रहते हैं, लगता है कि उनको इन बातों से कुछ है ही नहीं। पात्रों को रंगमंच पर ला खड़ा करके लेखक का अन्तर्धान हो जाना यथार्थवादी की सफलता है। रेणु के पात्रों के सम्पर्क में आते ही हम उनके साथ ही जीने लगते हैं और लेखक को एकदम भूल जाते हैं। रेणु की ओज प्रवाह शैली भी इसमें सहायक रही है।

१८७ इन तीन-चार उपन्यासों के अतिरिक्त किसी भी हिन्दी उपन्यास में समाज का आदर्श और आलोचना से मुक्त केवल यथार्थ चित्रण नहीं मिलता। थोड़े बहुत संवरण के साथ दो-चार और उपन्यासों के भी नाम लिए जा सकते हैं अश्क का 'गरम राख' उदयशंकर भट्ट का 'सागर लहरें और मनुष्य' देवेन्द्र सत्यार्थी का 'कठपुतली' और अश्क के 'गिरती दीवारें' में तर्क-वितर्कों और लम्बे-चौड़े भाषणों द्वारा जो आलोचना की गयी है वह उपन्यास का सबसे बड़ा दोष है। 'गरम राख' इस दोष से बहुत कुछ मुक्त है अतः अधिक यथार्थवादी है। किन्तु उसका सामाजिक क्षेत्र बहुत ही सीमित है। समाज के मध्यवर्ग के कुछ युवकों के वैषम्यपूर्ण जीवन का जो रूप अश्कजी ने प्रस्तुत किया है वह अधिक वैयक्तिक है। इन युवकों के सांस्कृतिक जीवन का खोखलापन और उसके बीच में क्रियाशील रहनेवाली उनकी कुछ कृतियों आदि स्पष्ट प्रकट हुई हैं। वैयक्तिक वासनाएं ही इन युवकों के सामाजिक जीवन को रूप देती हैं। यह सामाजिक जीवन मध्यवर्ग का सम्पूर्ण जीवन नहीं है उसका एक लघु अंश-मात्र है। देवेन्द्र सत्यार्थी के 'कठपुतली' में विशाल राष्ट्रीय वातावरण में वैयक्तिक जीवन का विकास किया गया है। भारत का विभाजन स्वातन्त्र्य-प्राप्ति हिन्दू मुसलमान दंगा इन महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय संघर्षों के बीच में प्रतिभाशाली कलाकार सुनील का जीवन ठोकरें खाता रहता है। सैकड़ों वर्षों की परतंत्रता ने भारत की जो दुरवस्था बना रखी है उसमें विशेषकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त पूर्व और पश्चात् की अव्यवस्थित दशा में अत्यन्त प्रतिभाशाली युवक सुनील को न अपनी सर्व-शक्तियों का विकास करने का अवसर मिलता है न उसका सदुपयोग करने का। कलाकार के व्यक्तित्व और सामाजिक जीवन के बीच निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। उसका सहज संवेदनशील व्यक्तिगत जीवन पराजयों से कुण्ठित हो जाता है। साथ-साथ हिन्दू-मुस्लिम दंगा गांधीजी की हत्या आदि हृदयविदारक घटनाएं उसे भयंकर धक्का पहुंचाती हैं। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का काफी विकास कप सत्यार्थी ने दिखाया है। सुनील को नाटक लिखते समय चलता और नाटक-कम्पनी की रुचि का विचार करना पड़ता है लिखने पर अति तुच्छ रकमा के लिए कृतियों का विक्रय करना पड़ता है अपनी बुरी आर्थिक दशा के कारण हर दम दूसरों का मुंह ताकना पड़ता है। आजकल भारत के सभी साधारण लेखकों को इन कठिनाइयों का सामना करना ही पड़ता है। इन सबकी चर्चा करते समय भी सत्यार्थीजी यथासाध्य असन्तुलित और आवेशपूर्ण आलोचनाओं से और सैद्धान्तिक मीमांसाओं से दूर रहते हैं।

सागर लहरें और मनुष्य' का सामाजिक मूल्य दूसरी तरह का है। इसे आधार

उपन्यास (Novel of Manner) कहा जा सकता है और हिन्दी में अपने ढंग का एक ही उपन्यास है। बरसोवा के मछुओं का जीवन इसका विषय है। लेखक ने उनके आचार-विचारों पारस्परिक व्यवहारों तथा परम्परागत स्वीकृत नैतिक मान्यताओं को साकार कर दिखाया है। इन सागर-पुत्रों का जीवन सदा लहरों से संघर्ष करता रहता है। पर इस संघर्ष के बीच में भी वह नीरस नहीं है। इस जीवन में भी प्रेम और घृणा पलती है हार्दिकता और विद्वेष का विकास होता है। उपन्यास के प्रथम तीन भागों का इस जीवन को चित्रित करने में ही उपयोग किया गया है। पात्रों की भाषा तक यथार्थ की बारीकियों को ध्यान में रखकर रखी गयी है। किन्तु अन्तिम भाग में आकर लेखक को जब आदर्श और आलोचना की धुन सवार हो जाती है तब यथार्थ का दम घुटने लगता है। ग्रामीण जीवन की तुलना में जब नागरिक जीवन को प्रस्तुत करने गये तब लेखक नागरिक जीवन की आलोचना किए बिना नहीं रह सके और आलोचना की ही दृष्टि से जो दृश्य निर्मित किए गए हैं उनमें अतिरंजना कम नहीं है। इसके साथ-साथ पात्रों के अपार मोह के कारण 'मन परिवर्तन' का सहारा लेकर उनका आदर्शीकरण किया गया है। रत्ना को विलासपूर्ण जीवन की जो सनक सवार हुई थी उसे दूर करके उसे नर्स के सेवामय जीवन में लगाना और प्रेम से निराश महानन्द को चित्रित बना देश-सेवा में लगाना लेखक के आदर्शवाद के ही परिचायक है।)

नागार्जुन के 'रतिनाथ की चाची' और 'बलचनमा' में प्रत्यक्ष आलोचना कम है फिर भी कई स्थानों में आलोचना का मूड तो प्रकट होता ही है। सामाजिक कुरा चारों से सम्बन्धित दृश्यों का विधान करते समय वे पूर्णतया निरपेक्ष नहीं रह पाये हैं फिर भी यह मान सकते हैं कि वे यथार्थवाद के बहुत निकट तक पहुंच गये हैं।

१४८ इन सामाजिक यथार्थवादियों के उपन्यास सूक्ष्म निरीक्षण और कलात्मक अभिव्यंजना से उत्कृष्ट होने पर भी जीवन के चिरंतन तत्वों के प्रौढ़ एवं गंभीर सं रहित होने के कारण सर्वदेशीय और सर्वकालीन होने में असमर्थ हैं। तुर्गनेव चेखव बालजाक और फ्लाबेयर की कला की उत्कृष्टता पर सन्देह नहीं किया जा सकता है, पर जीवन का मूल्यांकन करने में और जीवन को प्रेरणा देने में वे सर्वथा असमर्थ हुए हैं। अगर फ्लाबेयर और तुर्गनेव के उपन्यास प्रसिद्ध हुए हैं तो उसका कारण उनमें प्रस्तुत मनोवैज्ञानिक अध्ययन है। तुर्गनेव ने परम्परागत संस्कृति से संघर्ष करते हुए विकसित होने को प्रयत्नशील जीवन को दिखाया है पर उसमें भी वे विकास के बदले विकास को अवरुद्ध करनेवाले सांस्कृतिक बन्धनों को ही स्पष्ट कर सके। चेखव और बालजाक अधिकांश तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के विश्लेषण तक ही सीमित रह गए हैं। टाल्सटाय और दास्तायवस्की के समान पशु से उठकर मानव बने हुए (अथवा बनते हुए) मनुष्य के शाश्वत मनस्तत्वों का विवेचन वे नहीं कर सके। अन्तरात्मा अपराध-वृत्ति (Crime-instinct), अपराध-बोध (Crime-consciousness) वासना और संयम इन सबको तत्कालीन जीवन से ऊपर उठाकर दिखाना सामाजिक यथार्थवादियों का काम नहीं था। भगवतीचरण वर्मा रेणु नागार्जुन देवेन्द्र सत्यार्थी

आदि लेखकों में भी यही बतलाता है। 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' 'मैला आँचल' 'धरती परिकथा' 'कठपुतली' आदि में किसीमें भी मनुष्य के ममस्तत्वों का गंभीर अध्ययन नहीं है। इनमें सामाजिक जीवन के विविध रूप देख सकते हैं उनके पात्रों से निकट परिचय प्राप्त कर सकते हैं, और उनसे सहानुभूति का अनुभव कर सकते हैं। पर यह परिचय केवल उसी परिचय के समान है जो हम अपने निकट और आत्मीय मित्रों से रखते हैं। निस्सन्देह ये उपन्यास इस दृष्टि से देखे जाएं, तो अपना महत्त्व रखते हैं। पर इससे बढ़कर दार्शनिक अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कराने की शक्ति उनमें नहीं है जैसेकि टाल्सटाय दास्तायवस्की और ह्यू गो के उपन्यासों में है।

४

आलोचनात्मक यथार्थवाद (Critical Realism)

३४९ आलोचनात्मक यथार्थवाद को वस्तुतः यथार्थवाद की एक विशिष्ट धारा के रूप में गणना करना कठिन है क्योंकि यथार्थवाद नग्नतावाद आदि से पूर्ण तया मुक्त होकर वह अपना अस्तित्व न रखता है, न रख सकता है। सामान्यतः आलोचनात्मक यथार्थवाद साहित्य में उस प्रवृत्ति का नाम है जिसमें समाज की कलुष प्रवृत्तियों की विवेचना और आलोचना की जाती है। प्रायः देखा जाता है कि उपन्यासों को केवल इसी आलोचना से भर देना कठिन है अतः पूर्णतया आलोचनात्मक यथार्थवादी उपन्यास अधिक नहीं मिलेंगे। हम यह देख चुके हैं कि बुराइयों और दुर्बलताओं को जीवन की अपूर्णता के रूप में देखना आदर्शवादी दृष्टिकोण ही है। आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यासों के विवेचन के प्रसंग में हम इस बात पर भी विचार कर चुके हैं कि ऐसे उपन्यासों में भी जीवन की कुत्सित प्रवृत्तियों को निराकृत किया जाता है। आदर्श की स्थापना करने के पहले जीवन की अपूर्णता को दिखाना ही पड़ता है। हिन्दी के अधिकांश आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यासकारों ने इस तरह अपूर्ण जीवन की निम्नस्तर की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते समय उनकी आलोचना भी की है। ऐसे प्रसंगों में व आलोचनात्मक यथार्थवादी बन गए हैं। इस बात की विवेचना की जा चुकी है यहाँ आवृत्ति अनावश्यक है।

३५० आदर्श की स्थापना न करनेवाले कुछ उपन्यासकारों ने भी मनुष्य की निम्न पाशविक प्रवृत्तियों की कठोर आलोचना की है। जब ऐसे लेखकों का यथार्थ चित्रण अरवश्य निराकृत हो जाता है तब यथार्थवाद नग्नतावाद का रूप धारण कर लेता है। हिन्दी में उग्र चतुरसेन मन्मथनाथ गुप्त आदि के कुछ उपन्यास इस वाद के अन्तर्गत आते हैं। उनकी चर्चा आगे की जायगी। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि 'नग्नतावाद' भी आलोचनात्मक यथार्थवाद का ही एक रूप है। अतः सभी नग्नतावादी उपन्यासकारों को आलोचनात्मक यथार्थवादी मानना चाहिए। किन्तु यहाँ उनकी चर्चा नहीं की जा रही है और इसलिए नहीं की जा रही है कि प्रकृतिवादियों से उनकी

तुलना करने की आवश्यकता के कारण 'प्रकृतिवाद' और 'नग्नतावाद' का विवेचन एकसाथ करना उपयोगी है।

३५१ आदर्शोन्मुख यथार्थवादी तथा नग्नतावादी उपन्यासों को छोड़ दें तो आलोचनात्मक प्रवृत्ति हमारे अधिक उपन्यासों में नहीं मिलती। अत यहाँ हम आलोचनात्मक यथार्थवाद का स्वरूप दिखाने-मात्र के उद्देश्य से दो-एक उपन्यासों से कुछ प्रसंग उद्धृत करेंगे। प्रसादजी के 'कंकाल' और 'तितली' सामाजिक अत्याचारों की कठोर आलोचनाओं से भरे हुए हैं। 'कंकाल' में आलोचना अधिक तीव्र है पर वह अधिक यथार्थ नहीं है। 'तितली' में यथार्थ अधिक है पर आलोचना उतनी तीक्ष्ण नहीं है। दोनों उपन्यासों में समाज की अस्वस्थ प्रवृत्तियों को अतिरंजन की हद तक पहुँचाया गया है। आलोचना के प्रसंगो के दो-एक उदाहरण देखें

मंगलदेव के हिन्दू धर्म की निन्दा करते हुए विजय निरंजन से कहता है "क्या हिन्दू होना परम सौभाग्य की बात है? जब उस समाज का अधिकांश पददलित और दुर्दशाग्रस्त है जब उसके अभिमान और गौरव की वस्तु धरा-पृष्ठ पर नहीं बची— उसकी संस्कृति विडम्बना उसकी संस्था सारहीन और राष्ट्र—बौद्धों के शून्य के सदृश बन गया है जब संसार की अन्य जातियां सार्वजनिक भ्रातृभाव और साम्यवाद को लेकर खड़ी हैं तब आपके इन खिलौनों से भला उसकी सन्तुष्टि होगी? [1] और एक प्रसंग में विजय यमुना से कहता है 'देखो यह बीसवीं सदी में तीन हजार बी सी का अभिनय। समग्र संसार अपनी स्थिति रखने के लिए चंचल है। रोटी का प्रश्न सबके सामने है फिर भी मूर्ख हिन्दू अपनी पुरानी असभ्यताओं का प्रदर्शन कराकर पुण्य सचय किया चाहते हैं। [2] इस तरह के कई प्रसंग प्रसाद के दोनों उपन्यासों में मिलते हैं।

रांगेय राघव के 'विषादमठ' और 'घरौंदे' आलोचनात्मक यथार्थवाद के अच्छे उदाहरण हैं। विशेषकर प्रथम उपन्यास में यथार्थ का पक्ष अधिक पुष्ट है। बंगाल के अकाल के समय की करुणाजनक परिस्थिति को लेखक ने चित्रित किया है। उनका ध्येय मनुष्य की दयनीय दशा को तथा संकट के अवसर में भी उसके पाशविक व्यवहारों को दिखाना है। अत मनुष्य की सद्भावनाओं के प्रति उनका ध्यान ही नहीं गया है। एक जगह शोभा के शिशु और शबनम का प्यार दूसरी जगह इन्दु द्वारा शबनम की सहायता—ऐसी दो तीन घटनाओं के अतिरिक्त और कहीं भी मानव-हृदय की सद्वृत्तियों का आभास नहीं मिलता। सम्पूर्ण उपन्यास में एक के बाद एक करुणाजनक दृश्य प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें आलोचना दो प्रकार से आयी है। जितने मार्मिक दृश्य उपस्थित किये गये हैं, वे मनुष्य की पशुता पर परोक्ष रूप से आघात करनेवाले हैं। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं सीधी आलोचना भी की गयी है। जैसे

'मेहनत करके दूसरों को भरपेट खिलानेवाले आज भूखे मर रहे हैं जिनका खाना जमींदार, पुजारी महाजन और सरकार ने खाया या देवताओं ने जिनकी मेंट

१ कंकाल पृ ८८।
२ कंकाल पृ० १०० ।

लेकर समस्त शक्ति को लूट लिया था आज वह मजदूर और किसान इस भयानक युद्ध
में मिट्टी में गड़े पड़े थे। उस समय बंगाल का हर घर कब्रिस्तान बन चुका था।'[1]

'घरौंदे' में लेखक ने तत्कालीन युवक-युवतियों के अनैतिक जीवन के विविध
पहलुओं पर प्रकाश डाला है। यद्यपि इसके पात्र अधिकांश छात्र-छात्राएं हैं और
वातावरण विद्यालय का ही है तथापि छात्र-जीवन का यथार्थ चित्रण इसमें नहीं
मिलता। लड़के-लड़कियों की इश्कबाजी पर लेखक ने जितना ध्यान दिया है उतना
छात्र-जीवन की अन्य बातों पर नहीं। पर जिस जीवन का चित्रण रांगेय राघव ने
किया है वह यथार्थ रूप में सामने आता है और उसकी कुत्सितता स्पष्ट प्रकट होती
है। इस दृष्टि से—और इसी दृष्टि से यह यथार्थवादी है और आलोचनात्मक भी।

इनके अतिरिक्त आदर्शोन्मुख यथार्थवाद और नग्नतावाद के अन्तर्गत आनेवाले
उपन्यासों में आलोचनात्मक यथार्थवाद का प्रभाव द्रष्टव्य है।

५

समाजवादी यथार्थवाद (Socialist Realism)

१५२ सन् १९१७ का रूसी विप्लव ऐसा महान संघर्ष था जिसने केवल रूस
की राजनीति की काया ही नहीं पलटी बल्कि संसार की राष्ट्रीय मीमांसा में दार्शनिक
चिन्तन में और अर्थशास्त्र में भी मौलिक विचार-विप्लव की प्रेरणा दी। रूस में साम्य-
वादी शासन की स्थापना विश्वव्यापी प्रभाव डालनेवाली घटना थी और उसका
प्रभाव संसार की विचार धाराओं पर भी पड़ा। यूरोपीय साहित्य भी इससे
अस्पृष्ट नहीं रह सका पहले रूस में और उसके बाद पोलैण्ड रूमानिया चकोस्लोवेकिया
आदि देशों के साहित्यों को इस क्रान्ति ने प्रभावित किया। इसीका परिणाम है
साम्यवादी यथार्थवाद का उदय।

बीसवीं सदी के प्रथम और अगली उपन्यास साहित्य के यथार्थवाद ने मनुष्य
की अन्तस्सत्ता की विभिन्न संकुल प्रवृत्तियों की व्याख्या करने का प्रयत्न करते हुए
मनोविज्ञान के क्षेत्र में पदार्पण किया। लेकिन रूसी उपन्यास ने व्यक्ति के आन्तरिक
पहलुओं की बहुत कुछ उपेक्षा करते हुए, समाज की ह्रासोन्मुख और विकासोन्मुख
प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए, एक नये प्रकार के यथार्थवाद को जन्म दिया।
एंगेल्स और मार्क्स के समाजवादी चिन्तन से प्रभावित और नवनिर्मित साम्यवादी समाज
द्वारा सम्मानित इस यथार्थवाद का समाजवादी यथार्थवाद नाम पड़ा।

१५३ समाजवादी यथार्थवाद की परिभाषा—समाजवाद को प्राप्त
अथवा समाजवाद की ओर अग्रसर होनेवाले समाज की विविध प्रवृत्तियों को यथार्थ-
वादी चित्र-विधान द्वारा प्रस्तुत करने की प्रणाली को समाजवादी यथार्थवाद

---

[1] विषाद मठ, पृ० ६।

कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार उसी देश के साहित्य में समाजवादी यथार्थवाद का विकास हो सकता है जिसका समाज स्वयं समाजवादी हो चुका हो अथवा हो रहा हो। गोर्की ने भी माना है कि वास्तविक व्यवहार में जो समाजवादी रचनात्मक प्रवृत्तियां हैं उन्हीके प्रतिबिम्ब के रूप में साहित्य में समाजवादी यथार्थवाद विकसित हो सकता है।[२] इस परिभाषा का आधार यही है कि यथार्थवाद समाज का वास्तविक प्रतिबिंब है और जो समाज समाजवादी या समाजवादोन्मुख नहीं है उसका साहित्य यथार्थवादी हो तो समाजवादी नहीं हो सकता और समाजवादी हो तो यथार्थवादी नहीं रह सकता। अतः समाजवाद यथार्थवादी साहित्य के विकास के लिए समाज की विशेष परिस्थिति—समाजवाद—आवश्यक है।

समाजवादी समाज का यथार्थ चित्रण-मात्र साहित्य नहीं हो सकता। किसी रचना को साहित्यिक बनानेवाली वस्तु मानवी विकारों का प्रत्यक्षीकरण व्याख्या अथवा विश्लेषण है। रागात्मकता समाजवादी दर्शन में भी साहित्य का अनिवार्य अंग है। अतः समाजवादी यथार्थवादी उपन्यासों में सामाजिक वातावरण में मनुष्य का मनुष्य के विकारों का चित्रण किया जाता है।[३]

समाजवादी यथार्थवाद के उद्देश्य और विशेषताएं

३५४ वैसे यथार्थवाद का विषय ही समाज का वास्तविक चित्रण है। समाजवादी यथार्थवाद समाज का वास्तविक चित्रण करते हुए भी अपना एक विशेष दृष्टिकोण रखता है उस दृष्टिकोण के अनुसार यथार्थ के आवश्यक अंगों को स्वीकृत करता है, अनुपेक्षित भागों की उपेक्षा करता है। निम्नलिखित विषय साधारणतः समाजवादी यथार्थवाद के अनिवार्य अंग हैं

(१) पूंजीवादी बूर्ज्वा संस्कृति का पतन और सब तरह की प्रतिक्रियावादी शक्तियों की पराजय।

(२) प्रतिक्रियावादी शक्तियों से संघर्ष करते हुए, समाजवादी सामाजिक व्यवस्था की ओर अग्रसर होनेवाले समाज की विकासोन्मुख प्रवृत्तियां।[४]

---

१ "Socialist Realism concerns itself with the aims, qualities and manifestations of Socialist society as it exists and as it is in the making " —Reavey Soviet Literature Today P 20

२ "Socialist Realism in literature can appear only as a reflection of the facts of socialist creative activities as they exist in actual practice " —Gorky Literature & Life, P 144

३ The subject of painting and indeed of literature according to this theory is man first and foremost, the human passions set in their social background." —Reavey Soviet Literature Today P 22.

४ "Realism means that we make a selection from the point of

(३) समाजवादी यथार्थवाद एक अंश तक आदर्शवादी होता है। समाजवादी समाज की स्थापना उसका आदर्श है। किसी विशेष दर्शन या समाज प्रणाली पर आसक्ति वस्तुतः आदर्शवादी प्रवृत्ति है। यथार्थ पर आधारित होने पर भी समाजवादी यथार्थवाद जीवन की भावात्मक प्रक्रियाओं को प्रतिबिंबित करता है।[१] दूसरी आदर्शवादी प्रवृत्ति जो समाजवादी यथार्थवाद में भी स्वीकृत है वह यह है कि कोई समाजवादी यथार्थवादी जीवन की कुत्सितताओं का नग्न चित्रण नहीं करता। गोर्की ने मास्ने येव को एक पत्र में तीक्ष्ण लेखनी से लिखा था कि साहित्य में कुत्सितता का चित्रण हानिकारक है।[२] पर वह आदर्शवाद से इस बात में भिन्न है कि वह कोई कल्पित आदर्श प्रस्तुत नहीं करता किसी त्रुटिरहित शुद्ध आदर्श पात्र का सृजन नहीं करता बल्कि जीवन और मनुष्य की बलहीनताओं को भी समझता है।

(४) समाजवादी यथार्थवादी अपार आशावादी होता वह इस कलुषित और विच्छिन्न समाज में भी मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक विकास का अवसर देखता है। दुराचारों और कुत्सित वृत्तियों को देखकर भी वह समाज पर आस्था रखता है निर्माण की आशा रखता है।

(५) समाजवादी यथार्थवादी साहित्य में एक नई तरह का मानवतावाद मिलता है। यह नया मानवतावाद मनुष्य की असीम शक्ति पर विश्वास करता है। पहले मानवतावाद ने मनुष्य को पाशविक मनोवृत्तियों से मुक्त होते हुए उच्चतर प्राणी के रूप में देखा था तो यह नया मानवतावाद प्रकृति की सभी शक्तियों पर विजय पाते हुए शक्ति-पुंज के रूप में मनुष्य को देखता है।

(६) समाजवादी यथार्थवाद में जीवन के निरीक्षण और अध्ययन का ढंग

---

view of what is essential from the point of view of guiding principles. Select all phenomena which show how the system of capitalism is being smashed, how socialism is growing, not embellishing socialism but showing that it is growing in battle in hard toil and sweat."
—Karl Radek's speech, Quoted by Read Art and Society P 269-270

१ "We set out from real active men, and on the basis of their real life process we demonstrate the development of the ideological reflexes and echoes of this life process."

—Marx & Engels The German Ideology Quoted in 'Literature & Art P 11

२. "To display for the world one's scrars to scratch them, in public and ooze their pus, to spurt one s gall into people's eyes as many are doing today and as our evil genius Feodor Dostoevsky had done most disgustingly is an infamous occupation and certainly a harmful one. —Slavonic Review XVII. 50 Jan 1939 P 436.

माना है कि साहित्य का ध्येय यथार्थ से ऊपर उठकर हृदय की अभिलाषाओं को भी प्रकट करना है परन्तु इस बात पर भी ध्यान दिया है कि हमारी शक्ति द्वारा प्राप्य स्थिति की परिमिति का भी विचार करना चाहिए।[1]

३५६ क्रान्ति के पश्चात्—गोर्की ने अपने उपन्यासों में जिस सामाजिक चेतना की प्रतिष्ठा की उसके विकास का अवसर अक्तूबर क्रान्ति (१९१७) के पश्चात् ही पाया। साम्यवादी शासन के स्थापित हो जाने पर, रूसी नयी व्यवस्था में विकसित होनेवाले समाज की प्रवृत्तियों का प्रदर्शन साहित्य का ध्येय हो गया। समय-समय पर लिखी रचनाएं तत्कालीन देशीय समाज का और राष्ट्रीय विकास का परिचय देती हैं। प्रथम शृंखला उन उपन्यासों की है जो 'नयी आर्थिक योजना' के समय (N E.P Period) में लिखे गए। इनमें मुख्य हैं—फेदिन के नगर और वर्ष 'वास्यकाल-युद्ध' 'असाधारण ग्रीष्म' ग्लादकोव का 'सिमेंट' आदि। इसके बाद के पंचवर्षीय योजना उपन्यासों में कतेव का 'आगे बढ़ो समय!' (१९३३) ग्लादकोव का 'शक्ति' (१९३३) लिबिदिन्स्की का 'एक वीर का जन्म' (१९३) पिलनियाक का 'वोल्गा कैस्पियन को बहती है' (१९३०) शोलोखोव का 'नयी जुती जमीन' (१९३२-३३) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त दोनों श्रेणियों के उपन्यासों में देशीय विकास का यथार्थ चित्रण उपलब्ध है। इनमें उस जनता का जीवन है जो नयी शासन व्यवस्था और सामाजिक सिद्धान्तों को स्वीकृत करने पर भी अपनी परम्परागत संस्कृति और उससे प्रभावित मनोभावों को नहीं छोड़ पायी है। पूंजीवादी मनोवृत्ति पूर्ण तया लुप्त नहीं हुई थी और वह समय-समय पर सामाजिक विकास में बाधक बन जाती थी। राष्ट्रीय योजनाओं में सहयोग देनेवालों में भी कुछ लोग अवसर पाकर अपने व्यक्तिगत लाभ का प्रयत्न करते थे। इस तरह प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी शक्तियों के संघर्ष से होकर बढ़ती हुई जनता का इतिहास इन उपन्यासों में है।

३५७ इसके बाद सन् १९३४ से १९४१ तक का काल ही वस्तुतः समाजवादी यथार्थवाद का काल माना जाता है। अब तक सामाजिक विकास से सम्बन्धित जितने उपन्यास लिखे गए थे लेखकों ने अपने ही आदर्श और प्रेरणा से लिखे थे। यद्यपि पंचवर्षीय योजना के काल में Russian Association of Proletarian Writers में लेखकों के सामने कुछ निश्चित योजनाएं रखी थीं तथापि अधिकांश श्रेष्ठ लेखक संघ में नहीं थे बाहर रहकर संघ को थोड़ा-बहुत सहयोग देते थे और 'सहगामी' कहे जाते थे। सन् १९३२ में यह संघ विसर्जित किया गया और सन् १९३४ में गोर्की

---

[1] "I am not a naturalist. I want literature to rise above reality and to look down on reality from above, because literature has a great purpose than merely to reflect reality It is not enough merely to depict already existing things—we must also bear in mind the things we desire and things which are possible of achievement.

—Gorky Literature & Life, P 145

की अध्यक्षता में यू० एस० एस० आर० के सोवियत लेखकों का संघ 'Union of Soviet Writers of U. S. S. R.' स्थापित हुआ। उसने सोवियत लेखकों के सामने समाजवादी यथार्थवाद की योजना रखी। राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और व्यवसायीकरण ही साहित्य के ध्येय माने गए। साहित्य में तीन बातें आवश्यक मानी गयीं—समाजवादी वस्तु, राष्ट्रीय रूप और यथार्थवादी प्रतिबिम्बन।[1] संघ के निर्देशन में समाजवादी यथार्थवाद का बहुत प्रचार हुआ और प्रायः सभी लेखकों ने इन निश्चित सिद्धान्तों को अपनाया। लगभग सन् १९४१ तक इसी योजना के अनुसार दर्जनों उपन्यास लिखे गए। किन्तु इस काल में 'अग्निदीक्षा' (How the Steel was Tempered) आदि दो-एक उपन्यासों के अतिरिक्त और अधिक उपन्यास प्रसिद्ध नहीं हुए। स्पष्ट ही यह योजना की पराजय का परिचय देता है। साहित्यिक क्षेत्र में आरोपित नियन्त्रण और नियम स्वच्छन्द विकास में बाधक ही होता है।

नयी आर्थिक योजना (N. E. P. Period) से लेकर सन् १९४१ तक के रूसी उपन्यासों में जो समाजवादी यथार्थवाद है वह रूसी साहित्य की अपनी चीज है। समाजवादी यथार्थवाद की जो विशेषताएं ऊपर कही गयी हैं वे सब इनमें मिलती हैं। बुर्जुआजी का पतन, सर्वहारा वर्ग का अभ्युदय, देश की क्रमिक सामाजिक उन्नति, प्रतिक्रिया-शक्तियों से लड़ते हुए विजय प्राप्त करनेवाली जनता, प्राकृतिक शक्तियों को जीतनेवाली योजनाएं आदि से पूर्ण ये उपन्यास तत्कालीन रूस के विकास का इतिहास प्रस्तुत करते हैं।

१५८. किन्तु इनमें अधिकांश उपन्यासों में वह शक्ति नहीं है जो मन की वैकारिक तनातनी (Emotional Tension) को बनाए रख सके। फेदिन, फादेयेव, शोलोखोव आदि कुछ लेखकों को छोड़कर किसी लेखक ने मानव-जीवन का यथार्थ अध्ययन नहीं किया है। यह कमी द्वितीय महायुद्ध-काल तक और उसके बाद भी बहुत कुछ बनी रही। प्रेम और कुटुम्ब-सम्बन्धों की पूर्णतया उपेक्षा कभी नहीं की जा सकती, इन उपन्यासों में भी नहीं की गयी। लेकिन लैंगिक आकर्षण का मादक रूप और अन्य कौटुम्बिक-बन्धनों का मोहक रूप जो उपन्यास के अनुभूतिमय अंश के आधार होते हैं बहुत कुछ उपेक्षित हो गए। इन उपन्यासों के विशाल सामाजिक जीवन के बीच में कौटुम्बिक जीवन के कुछ आकर्षक दृश्य यत्र-तत्र बिखरे पड़े मिलते हैं, लेकिन कहीं भी मुख्य कथावस्तु किसी पात्र के मानसिक जीवन के आधार पर नहीं चलती जिस से इनमें तीव्र अनुभूति की कमी दिखाई पड़ती है। शोलोखोव के 'दोन' उपन्यासों के पश्चात् ही रूसी उपन्यास में अनुभूति-तत्त्व का क्रमिक विकास समाप्त हो गया। शोलोखोव के ही 'नयी जुती जमीन' को 'दोन' उपन्यासों से तुलना करने पर यह बात स्पष्ट होगी। मेलेखोव कुटुम्ब के विभिन्न अंगों की कथा प्रस्तुत करनेवाले दोन उपन्यास सामाजिक जीवन का इतिहास तो हैं, उससे बढ़कर कितने ही मानव-संबन्धों का साकार चित्रण करनेवाले भी हैं। इनमें भाव-तत्त्व और शिल्प-विधान की विशिष्टता

---

1. Reavey: Soviet Literature Today. P. 18.

करता है और यह कहना कि मानव-चेतना उसकी जीवन-सत्ता को निरूपित करती है गलत है।[1] यह दृष्टिकोण पूर्णत: मार्क्सवादी है।[2] और इसी दृष्टिकोण से 'चढ़ती धूप' और 'उल्का' की रचना की गयी है। परम्परागत संस्कृति के बन्धनों से संघर्ष करते चलनेवाले व्यक्ति ही दोनों उपन्यासों के नायक हैं। उनकी बढ़ती हुई बौद्धिक चेतना और पीढ़ियों से चलते आनेवाले जीवन-व्यापी संस्कारों का घात प्रतिघात ही उनके विषय हैं। 'चढ़ती धूप' का नायक मोहन परिस्थितियों से संघर्ष करता हुआ आगे बढ़ता है। वातावरण उसकी क्रियाओं को उसके मानसिक विकास और जीवन को रूप देता है। 'उल्का' में परम्परागत संस्कृतियों और बूर्जुआ समाज के बँधे हुए आचार विचारों के विरुद्ध विद्रोह करनेवाली नारी का चरित्र प्रस्तुत है। यहाँ विद्रोह केवल एक मानस कल्पना नहीं है उसका आधार अधिक दृढ़ है क्योंकि परिस्थितियों से दबे हुए पात्रों के जीवन में वह एक आवश्यकता हो जाता है। फिर भी दोनों उपन्यासों में लेखक पूर्णतया सफल नहीं हुए हैं। उनमें क्रान्ति का रूप सामाजिक नहीं है। मोहन की समस्या व्यक्तिगत ही रह गयी है और मिल की हड़ताल सर्वहारा वर्ग की अनिवार्य आवश्यकता न होकर केवल पार्टी और मोहन का कार्य रह गया है। 'मंथन' में मजदूरों के उस यातनापूर्ण जीवन की ओर ध्यान ही नहीं दिया है जो हड़ताल को उनकी अनिवार्य आवश्यकता बना देता है। 'उल्का' की समस्या भी वैयक्तिक है परन्तु वह वैयक्तिकता की सीमा को कुछ पार कर जाती है। दोनों उपन्यासों में मोहन ममता तारा प्रकाश चाँद आदि सभी मुख्य पात्र आदर्श हो गये हैं। दोनों में सामाजिक कुरीतियों की प्रत्यक्ष आलोचना भी है। विविध सिद्धान्तों का तार्किक निरूपण और लेक्चरबाजी भी कम नहीं है। इन कमियों के होते हुए भी दोनों उपन्यासों के संघर्षमय जीवन का चित्रण प्रगतिवाद की विशेषता है।

यहाँ यशपाल के उपन्यासों की थोड़ी चर्चा आवश्यक है। यशपाल के आदर्श साम्यवादी हैं लेकिन उनके उपन्यासों को समाजवादी यथार्थवादी या प्रगतिवादी कहना कठिन है क्योंकि उनका सामाजिक आधार बहुत शिथिल है। 'दादा कामरेड' और 'पार्टी कामरेड' में क्रान्तिकारी दल की विविध प्रवृत्तियों का लेखा है। सनसनी दार और कहीं-कहीं रोमान्टिक घटनाएं एक रोचक लोक की सृष्टि करती हैं पर उनकी यथार्थता पर सन्देह होने लगता है। 'देशद्रोही' में विविध पार्टियों और नेताओं के कामकर्मों और चालबाजियों पर जितना ध्यान दिया गया है उतना जन-जीवन पर नहीं। डा खन्ना का रोचक जीवन प्राचीन उपन्यास के वीर नायक (Adventurous Hero) का सा है। यशपाल ने जो संघर्ष दिखाया है वह राजनीति से अधिक सम्बन्ध रखता है सामाजिक विकास से नहीं।

---

१ चढ़ती धूप भूमिका पृ ४।

२ Life is not determined by consciousness, but consciousness by life. —Marx & Engels Literature & Art P 11

६

प्रकृतिवाद (Naturalism)

३६२ प्रकृतिवाद[1] ऐसा एक वाद है जिसका हिन्दी में अधिक प्रचार नहीं हुआ है किन्तु जिसके सम्बन्ध में गलत और निराधार धारणाओं का काफी प्रचार हुआ है। हमारे आलोचकों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में प्रकृतिवाद की जो परिभाषा या व्याख्या दी है और जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं उनसे स्पष्ट होता है कि उनके विचार कितने अपरीक्षित हैं। हो सकता है हिन्दी में प्रकृतिवादी साहित्य के अभाव के कारण उसके समीचीन अध्ययन की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई हो।" प्रायः इन आलोचकों की परिभाषा अपूर्ण है और प्रकृतिवाद के एक ही अंग—वह भी बहुत मुख्य अंग नहीं है—का विवेचन करती है।

डा० श्रीकृष्ण लाल ने चतुरसेन शास्त्री, उग्र, चन्द्रशेखर पाठक और इलाचन्द्र जोशी को प्रकृतिवादी मानते हुए कहा है कि इन प्रकृतिवादियों ने "ऐसे चरित्रों की सृष्टि की जो पुकार-पुकारकर कहते हैं कि मनुष्य और पशु में कोई विशेष अन्तर नहीं, विशेषकर विषय भोग की दृष्टि से वे पशुओं से भी नीच और निकृष्ट हैं। पुरुष और स्त्रियों के बाह्य सौन्दर्य के उत्तेजक चित्रण पर ही इन लेखकों का ध्यान अधिक गया है और चरित्रों का विकास अधिकांश परिस्थितियों के झुकाव और प्रगति के आधार पर चित्रित किया है।[2] स्पष्ट है कि डा० श्रीकृष्ण लाल नीच और पतित वर्ग के कुत्सित जीवन के बाह्य रूप के चित्रण को प्रकृतिवाद का विषय मानते हैं। लेकिन प्रकृतिवाद इससे बहुत कुछ अधिक है। डा० श्रीकृष्ण लाल ने अपने प्रस्तुत उदाहरणों में—उग्र, चतुरसेन आदि में—वस्तु विन्यास और चरित्र-चित्रण बहुत ही तुच्छ कोटि के माने हैं, उनके उपदेश-मूल्य को मान्यता दी है, केवल सामाजिक जीवन-चित्रण में सुरुचि के अभाव की शिकायत की है।[3] यह विचार भी भ्रमपूर्ण है क्योंकि आगे के विवेचन से स्पष्ट होगा। उग्र और चतुरसेन प्रकृतिवादी ही नहीं हैं।

दूसरे आलोचक शिवदानसिंह चौहान ने 'धर्म राज' का उदाहरण देते हुए दैनिक जीवन की औसत और असंबद्ध घटनाओं के 'हू-बहू' 'यथातथ्य' 'ब्योरेवार चित्रण' को उसकी विशेषता मानी है।[4] आगे उनका कथन है 'प्रकृतिवादी उपन्यासों में मनुष्य अपनी मनुष्यता, व्यक्तित्व और ऐतिहासिक-सामाजिक महत्ता खोकर

---

१ व्यक्तिगत रूप में मैं 'Naturalism' के अनुवाद के रूप में 'प्रकृतिवाद' को ठीक नहीं समझता। किन्तु हिन्दी में इसके काफी प्रचलित होने के कारण इस शब्द को स्वीकार करता हूँ — वैसे 'Naturism' के लिए 'प्रकृतिवाद' और Naturalism के लिए 'प्राकृतिकतावाद' अधिक उचित लगते हैं।

२ आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० ३१५।

३ देखें आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० ३१६।

४ साहित्यानुशीलन, पृ० १६६।

ऐसा ही मन या बायोलॉजिकल (Biological) प्राणी बन जाता है और कला की मूल वस्तु-विचार न होकर मन्तर या बाह्य जीवन की कोई घटना बन जाती है।[१] यह विचार भी एकांगी है और प्रकृतिवाद को पूर्णतया स्पष्ट नहीं करता।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी प्रकृतिवाद में जीवन के स्वस्थ उपकरणों का अभाव 'विकृत और असंतुलित चरित्रों की जीवन-गाथा' देखते हैं।[२] डा हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है 'इसके अनुसार मनुष्य प्रकृति का उसी प्रकार से क्रमशः विकसित जन्तु है जिस प्रकार संसार के अन्य प्राणी। उसमें पशु-सुलभ आकर्षण विकर्षण ज्यों के त्यों वर्तमान हैं। प्रकृतिवादी लेखक मनुष्य को काम-क्रोध आदि मनो रागों का मदुर-भाव समझता है उसके अर्थहीन आचरणों कामासक्त चेष्टाओं और अहंकार से उत्पन्न कामिक वृत्तियों का विशेष भाव से उल्लेख करता है।[३] डा द्विवेदी की व्याख्या प्रकृतिवाद की वस्तु के सम्बन्ध में कुछ निश्चित सिद्धान्तों की ओर संकेत करती है। यह व्याख्या त्रुटिरहित है फिर भी अपूर्ण है क्योंकि प्रकृतिवाद के लिए अत्यन्त अपेक्षित कुछ बातों का उल्लेख इसमें नहीं हुआ है। किन्तु डा द्विवेदी ने जो कुछ कहा है उसका निषेध नहीं किया जा सकता है।

वस्तुतः हिन्दी के ही नहीं इंग्लैण्ड और स्वयं फ्रांस तक के कई विद्वानों ने प्रकृतिवाद और उसके प्रवर्तक माने जानेवाले जोला का जमकर विरोध किया था[४] और जोला और मोपासां के पश्चात् प्रकृतिवाद का एकदम विनाश ही उसकी कमजोरी की ओर संकेत करता है। किन्तु परकालीन यथार्थवाद पर उसका जो प्रभाव पड़ा और उसने स्वयं जो महत्त्वपूर्ण विश्वप्रसिद्ध रचनाएं उपस्थित कीं उनका निषेध नहीं किया जा सकता है।

प्रकृतिवाद क्या है ?

३६३ अब हम प्रकृतिवाद के प्रवर्तकों की व्याख्याओं से और उनकी प्रकृतिवादी रचनाओं से समझने का प्रयत्न करेंगे कि प्रकृतिवाद वस्तुतः क्या है उसका स्वरूप क्या है उसके अनुपेक्षणीय अंग क्या हैं? प्रकृतिवाद का जन्म फ्रांस में हुआ और इसके प्रथम प्रवर्तक गनकोर भाई थे।[५] किन्तु एक वाद के रूप में साहित्य में उसका प्रतिष्ठापन करनेवाले और पहले-पहल उसकी व्याख्या करनेवाले प्रसिद्ध उपन्यासकार एमील जोला थे। जोला की पुस्तक 'ल रोमान एक्सपेरिमेण्टल

१ साहित्यानुशीलन पृ ११७।

२ नया साहित्य : नये प्रश्न पृ १।

३ हिन्दी साहित्य, पृ ४२७-२८।

४ आनातोले फ्रांस ने जोला के प्रकृतिवाद को अश्लील और निराशामय कहकर जोरदार शब्दों में उसका आक्षेप किया। देखें सतुब्बेर ॥ की पार दिनकी। बाद सेन्ट्सबरी प्रकृतिवाद के सर्वथा विरोधी हैं। देखें History of French Novel में प्रकृतिवाद पर लिखित अध्याय।

५ Saintsbury History of the French Novel, P 460

(Experimental Novel) ही प्रकृतिवाद का प्रथम सैद्धान्तिक ग्रन्थ है। इस नाम से ही स्पष्ट है कि ज़ोला जीवन को एक प्रयोग के रूप में देखते थे। इसके बाद ब्रुनतिएर के 'ल रोमान नेचुरलिस्ट' (प्रकृतिवादी उपन्यास) में इसके सिद्धान्तों को और स्पष्ट किया गया। इन दोनों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रकृतिवाद का विवेचन बिलकुल भिन्न दो पहलुओं को लेकर करना चाहिए (१) ज्ञान-वृद्धि के माध्यम के रूप में—अर्थात्—एक विज्ञान के रूप में और (२) एक कला-प्रणाली के रूप में। इनमें प्रथम का सम्बन्ध अधिक वस्तु से है दूसरे का अभिव्यंजन से।

इन दोनों की विस्तृत विवेचना करने के पहले कुछ प्रसिद्ध प्रकृतिवादियों और उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है।

फ्रेंच प्रकृतिवादी

१६४ गनकोर भाई—(एडमण्ड द गनकोर और जूल द गनकोर) इन दोनों भाईयों ने मिलकर सन् १८५१ और १८७० के बीच में जो उपन्यास लिखे वे प्रथम प्रकृतिवादी उपन्यास थे। विषय और वस्तु-विन्यास की दृष्टि से वे भयंकर यथार्थवादी थे मनुष्य की पाशविकता का चित्रण करनेवाले थे किन्तु प्रकृतिवाद के अन्य कई गुण इनके उपन्यासों में न थे।[१]

१६५ एमील ज़ोला—प्रकृतिवाद के सर्वमान्य प्रवर्तक ज़ोला के बीस उपन्यासों की एक माला जो 'रोगन मोक्वार उपन्यास-माला' नाम से प्रसिद्ध है हमारी दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसका प्रत्येक उपन्यास अपने-आपमें पूर्ण है किन्तु प्रत्येक उपन्यास को पूर्ण रूप में समझने के लिए सबको क्रमानुसार पढ़ना आवश्यक है। इसके बिना एक या दो उपन्यासों को पढ़कर प्रकृतिवाद की विवेचना करनेवाले प्रकृतिवाद को समझ ही नहीं पाते हाथी के पैर या पूंछ या सूड को ही हाथी समझने की भूल करते हैं।

आगे के अध्ययन के लिए इन बीसों उपन्यासों के विषय का ज्ञान आवश्यक है अतः इनमें मुख्य उपन्यासों के उल्लेख के साथ उनकी सम्पूर्ण वस्तु संक्षेप में यहां दी जाती है। फ्रेंच में इसका नाम 'रोगन मोक्वार द्वितीय साम्राज्य के एक कुटुम्ब का प्राकृतिक और सामाजिक इतिहास'[२] ही व्यक्त करता है कि ज़ोला का ध्येय इसमें एक वंश-परम्परा का वैज्ञानिकी (Heredity) और परिवेश (*Environment*) के

१ *The important* novels are Charlis Demailly Soeur Philomine, Renee Mauperin, Germinie Lacerteux, Manette Solomom. After Jules death Edmond alone wrote La Fille Elisa La Faustin Cherie etc. →

२ Les Rougon Macquart, Histoire naturelle et sociale d'une famille sous le Second Empire (The Natural and Social History of the Rougon Macquart *Family under the* Second Empire).

प्रभावों के आधार पर वैज्ञानिक अध्ययन करता है। पैतृकता मनुष्य के रूप-रंग उसके रक्त मस्तिष्क विकार यहाँ तक कि उसके भाग्य तक की निर्णायक शक्ति है। इसके साथ-साथ परिवेश का प्रभाव भी जीवन में कई परिवर्तन लाता है मनुष्य के रूप रंग और स्वभावों को बहुत कुछ प्रभावित करता है किन्तु पैतृकता का पूर्ण लोप असंभव है। इस वैज्ञानिक सत्य का प्रतिपादन ही जोला का मुख्य ध्येय है। रोगन मोक्वार-वंश की उत्पत्ति आदिलेद फोक नामक स्त्री से होती है जो अपने-आपको वासनामय जीवन के आवेश में खो जाती है। उसका अनियंत्रित आवेग उसे उन्मादालय तक पहुंचाता है जहाँ वह मर जाती है। पर मरने के पहले अपने औरों उत्तराधिकारियों को वासना में डूबते हुए, विविध अपराध करते हुए और तरह-तरह के रोगों के शिकार होते हुए देखती है। इतना ही नहीं उसी वंश-परम्परा के कुछ व्यक्ति पैतृकता के चमत्कार से और परिवेश की अनुकूलता से अति मेधावी भी बने हैं। आदिलेद ने एक परिश्रमी कृषक रोगन से विवाह किया था। पर एक पुत्र पियर रोगन के जन्म के बाद विधवा हो गयी। बिना विलंब एक पियक्कड़ चरित्र-हीन व्यक्ति मोक्वार से उसके दो अवैध सन्तानें पैदा होती हैं। इस तरह एक ओर वैध रोगन वंश-परम्परा और दूसरी ओर अवैध मोक्वार वंश-परम्परा चलती है। दोनों परम्पराओं में कुछ सामान्य गुण हैं, अति तीव्र इच्छाएं, स्वायत्त करने का आग्रह सांसारिक सुख भोग के पूर्ण अनुभव का आवेग। लेकिन प्रथम परम्परा के सभी व्यक्ति आदिलेद के चंचल रक्त और रोगन के अधिक दृढ़ रक्त के सम्मिश्रण के कारण अधिक विवेकी हैं, अधिक सन्तुष्ट हैं और जीवन में सामान्यतः विजयी होते हैं और कभी-कभी अतिशय विजय प्राप्त करते हैं जबकि मोक्वार-परम्परा के सब माता-पिता दोनों के विलासमय चंचल उन्मादग्रस्त जीवन के परिणाम में तरह-तरह की विकृतियों के शिकार बनते हैं—अपार विलासिता मद्यपान प्रत्येक प्रवृत्ति की अति मात्रा उन्माद आदि के अथवा आश्चर्यजनक प्रतिभाशाली या कलाकार बनते हैं। चित्त-विकृति (Neurosis) के दो भिन्न रूपों का(क्योंकि प्रतिभा भी एक तरह की चित्त-विकृति है) अध्ययन जोला ने वैज्ञानिक आधार पर किया है। रोगन और मोक्वार के व्यक्तियों के विवाह से उत्पन्न सन्तानों की चित्त-वृत्तियां अधिक जटिल हो जाती हैं भिन्न व्यक्तियों में जो समानताएं और विषमताएं हैं जो-जो गुण भिन्न-भिन्न मात्रा में आरोपित हैं यह सब जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान के जटिल नियमों के आधार पर है। मेण्डल के पैतृकता-सम्बन्धी सिद्धान्तों[1] के अध्ययन से जोला की वैज्ञानिकता अधिक स्पष्ट होगी।

---

१ मेण्डल का नियम मेण्डल ने कई प्रयोगों से सिद्ध किया है कि किसी एक रंग के एक ही शुद्ध रंग के फूलों के पारस्परिक परागण (Pollination) से अगली पीढ़ी में उसी रंग के फूल मिलते हैं। पर दो भिन्न रंगों के फूलों के परागण से अगली पीढ़ी में दोनों भिन्न रंगों के तथा मिश्रित रंगों के फूल मिलते हैं। फिर मिश्रित रंगों के फूलों के पारस्परिक परागण से बाद की पीढ़ी में शुद्ध रंगों के फूलों का मिलना भी संभव है। साधारणतः इस प्रकार के

माक्विलेव और मोक्कार का पुत्र एन्तोइन मोक्कार आवारे का जीवन बिताता है। वह और उसकी पत्नी मद्यप हैं। इनकी पुत्री जेर्वे जो संपूर्ण उपन्यास-माला में सबसे दयनीय पात्र है (L Assommoir में उसकी जीवनी है) बचपन में ही मां बाप की चंचल वृत्ति और मद्य-प्रेम से प्रभावित होती है। चौदह साल की उम्र में एक सुन्दर, पर उत्तरदायित्वहीन युवक लान्तियर के संबन्ध से एक पुत्र क्लाद को और जल्दी ही और दो पुत्र जाक और एतीन को जन्म देती है। जेर्वे लान्तियर के साथ पारिस जाती है जहां उसकी सारी संपत्ति नष्ट की जाती है और वह अनाश्रित छोड़ दी जाती है। दूसरे एक मद्यप कूपो से विवाह करके वह स्वयं मद्यपान में डूब जाती है और दयनीय मृत्यु के मुंह पड़ती है। क्लाद एक उत्कृष्ट कलाकार बनता है पर कला जीवन की भयंकर निराशा से उत्पन्न उन्माद से आत्महत्या कर लेता है। 'ल ऑवर' में उसकी कथा है। 'ल बेत ह्यू मेन' में जाक की कथा है जो हत्या-वृत्ति के चित्त-रोग से पीड़ित है। जेर्वे और कूपो की पुत्री अन्ना कूपो या नाना की कथा 'नाना' में है जो जोला के उपन्यासों में सबसे प्रसिद्ध है। वंशगत असाम्भाविकता से प्रभावित और पारिस की नैतिक उच्छृंखलता से पली नाना कौमारावस्था में ही घर छोड़ जाती है और वेश्यावृत्ति स्वीकृत कर अन्त में दयनीय मृत्यु मरती है। एतीन इस परम्परा में सबसे कम असाधारण व्यक्ति है जिसका जीवन 'जर्मिनल' में वर्णित है। एतीन की साधारणता और नाना की असाधारणता के बीच में साधारणता और असाधारणता के विभिन्न अनुपातों के आधार पर चित्त-वृत्तियों के कई स्तर विभिन्न पात्रों में दिखाए गए हैं।

इतना बड़ा रोगन मोक्कार-वंश का प्राकृतिक जीवन। इसके साथ-साथ वातावरण के रूप में ऐश्वर्य और आडंबरपूर्ण पारिस की निश्चिन्त उच्छृंखल विलासिता से लेकर ('नाना' और 'ल अस्समोर' में) जीवन के लिए मरण से लड़नेवाले और नित्य दारिद्र्य को अनुभव करते हुए भी अवसर कुअवसर पर वासना-पूर्ति का मार्ग ढूंढ़ निकालनेवाले खनिज-मजदूरों के संघर्षमय जीवन तक का (Germinal में) विस्तृत चित्रण है। यह वातावरण रोगन मोक्कार-वंश के स्वभावों को अधिक स्पष्ट करने के लिए नहीं बल्कि वैज्ञानिकों और परिवेश के बाद प्रत्याशाओं से पात्रों के जीवन को रूप देने के निमित्त चित्रित किया गया है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह वातावरण (Background) वस्तुतः परिवेश (Environment) है जिसमें जीवन पलता है।

यह है जोला की प्रथम उपन्यास-परम्परा का विषय। इसके बाद एक उपन्यास त्रयी 'तीन शहर' निकला जिसमें यूरोप के सबसे बड़े धार्मिक शहर लूर्द और रोम

मिश्रित वातावरण की सुविधा होने पर शुद्ध रंगों के फूल कम होते हैं, मिश्रित रंग के अधिक। यह शुद्ध रंगों के ही नहीं अन्य गुणों के संबन्ध में भी लागू होता है, फूलों में ही नहीं जन्तुओं में भी।

—See, Cutler Evolution, Heredity and Variation, P

बाधा पड़ जाती है। इस विषय में मिस रिचर्डसन को अधिक सफलता मिली है। उनकी मिरियम का चरित्र प्रकृतिवादी ढंग से विकसित है। अपने पूर्वजों से प्राप्त संस्कारों को वैयक्तिक जीवन की परिस्थितियों से मुंह दर मुंह सामना करानेवाली मिरियम का चरित्र उत्तम उदाहरण है। इन दोनों उपन्यासों में एक बात द्रष्टव्य है कि ज़ोला और मोपासां के उपन्यासों में परिवेश की जो विस्तृति है वह इनमें नहीं है।

हिन्दी के तथाकथित प्रकृतिवादी

५६९ ऊपर कुछ प्रकृतिवादी उपन्यासों के विषय-मात्र का जो ढांचा दिया गया है उसे हिन्दी के तथाकथित प्रकृतिवादियों के (उग्र, चतुरसेन, मन्मथनाथ गुप्त आदि) उपन्यासों की तुलना करें तो स्पष्ट होगा कि ये प्रकृतिवाद से कोसों दूर हैं। आगे के विश्लेषण से यह बात और स्पष्ट हो जायगी कि विषय, वस्तु-विन्यास, शैली, दृष्टिकोण किसी भी बात में ये प्रकृतिवादी नहीं हैं।

प्रकृतिवाद की विशेषताएं

५७० पहले ही कहा जा चुका है कि प्रकृतिवाद को पूर्णतया समझने के लिए उसे दो रूपों में देखना पड़ेगा—विज्ञान के रूप में और कला प्रणाली के रूप में। अठारहवीं और उन्नीसवीं शती में भौतिक विज्ञान, जीव-विज्ञान एवं मनोविज्ञान के क्षेत्र में जो महत्त्वपूर्ण आविष्कार हुए, उनका साहित्य पर प्रभाव आश्चर्य की बात नहीं है। बढ़ते हुए भौतिकवाद ने जीवन के प्रति अब तक जो दार्शनिक दृष्टिकोण था उसको एकदम झकझोर दिया। जीवन की नैतिकता के जो नियम परम्परा से निर्धारित किये गए थे उन सबको निरर्थक सिद्ध कर दिया और इन्द्रियगत सत्यों एवं परीक्षित तथ्यों के आधार पर जीवन के पुनर्मूल्यांकन का प्रयत्न किया। यहीं से साहित्य में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रतिष्ठापन होता है।

प्रकृतिवाद वैज्ञानिक अध्ययन के रूप में

५७१ ज़ोला के 'प्रयोगवादी उपन्यास' (Experimental Novel) नामक ग्रंथ के नाम से ही स्पष्ट है कि ज़ोला उपन्यास में प्रतिपादित जीवन को एक प्रयोग के रूप में ही देखना चाहते हैं।[1] उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा, 'प्रयोगी प्रकृति का परीक्षण कर विधि-निर्णय करनेवाला होता है, हम उपन्यासकार मनुष्यों और उनके विकारों का

---

१ यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि आजकल 'प्रयोगवादी कविता' शब्द का जिस अर्थ में हिन्दी के रूढ़िवादी आलोचक प्रयोग करते हैं उसके समान अर्थ में यहां 'प्रयोगवादी उपन्यास' का प्रयोग नहीं हुआ है। हिन्दी के बहुत से कवि और आलोचक प्रयोगवाद को शैलीगत प्रयोग तक ही सीमित रखते हैं जो भारी भूल है। प्रयोग वस्तुतः मानव के अन्तर्निहित भावों विचारों और संस्कारसंचित प्रवृत्तियों के पारस्परिक संघर्ष एवं परिवर्तन का नाम है, चाहे वह कविता में हो, चाहे उपन्यास में। इसी अर्थ में यहां इस शब्द का प्रयोग हुआ है।

परीक्षण कर विधि-निर्णय करनेवाले हैं। [1]

विविध रासायनिक पदार्थों के विविध अनुपातों में संयुक्त होने पर कितने ही नवीन पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिनके मौलिक एवं रस-गुण पदार्थों के अनुपात पर और रासायनिक प्रक्रिया की परिस्थितियों पर आश्रित रहते हैं। मनुष्य की चित्त-वृत्तियों की क्रियाएं भी इसी तरह की होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति में कितनी ही मानसिक ग्रन्थियां और स्वाभाविक वृत्तियां होती हैं जो उसे पैतृक-सम्पत्ति के रूप में मिली होती हैं अथवा सामाजिक संस्कृति-संचित। ये सब संचित चित्त-वृत्तियां निरन्तर परिवेश के भावात्मक अंगों के साथ संपर्क में और संघर्ष में आती हैं और न जाने कितनी नूतन वृत्तियों को जन्म देती हैं। रासायनिक प्रक्रिया में जैसे शक्ति (Energy) का किसी रूप में आवर्तन या विसर्जन होता है और कभी-कभी भयंकर विस्फोट होता है उसी तरह का अपार शक्ति-विसर्जन और विस्फोट मानसिक प्रक्रियाओं में भी संभव है। इसी दृष्टि से जोला और मोपासां मानव-जीवन का अध्ययन करते हैं।

३७२ किन्तु इस प्रयोग के संबन्ध में कई सन्देह हो सकते हैं। क्या विज्ञान के सिद्धान्तों और नियमों के समान जीवन के भी सिद्धान्त और नियम बनाये जा सकते हैं? और क्या रासायनिक प्रक्रियाओं के समान भावों की प्रक्रियाएं भी निश्चित नियमों से बंधी हुई हैं? रस-योग या अन्य कोई वैज्ञानिक प्रक्रिया प्रयोगी के व्यक्तित्व से प्रभावित नहीं होती। पर क्या मनुष्य के भाव भी ऐसे होते हैं? सच्ची बात तो यह है कि जब कोई कलाकार मनोभावों के संबन्ध मे प्रयोग करता है, तब उसमें उसके अपने दृष्टिकोण और वैयक्तिक इष्टानिष्टों नैतिक धारणाओं और यहां तक कि तत्कालीन मानसिक दशा का भी प्रभाव पड़ता है। एक ही परिस्थिति में एक ही पात्र के भावों से उलझनेवाले विभिन्न कलाकार एक ही परिणाम पर पहुंच नहीं सकते। वैज्ञानिक प्रयोग में वैयक्तिक प्रभाव नहीं होता आन्तरिक चेतना नहीं रहती न तिकता की धारणाएं और सौन्दर्य की मान्यताएं नहीं होतीं। पर कला में ये सब अनुपेक्षणीय हैं। ऐसी दशा में विज्ञान के मापदण्ड से जीवन का मापन करना और वैज्ञानिक अध्ययन की नींव पर कला का महल खड़ा करना कहां तक उचित होगा?

३७३ केवल प्रयोगों से केवल अध्ययन से केवल तथ्यों से कला का सृजन नहीं हो सकता।[2] किन्तु प्रयोग अध्ययन और तथ्य कला-सृजन में उपयोगी अवश्य होते

१ "The experimentalist is the examining magistrate of nature, we novelists are examining magistrates of men and their passion."
—Zola, Quoted by Grabo Technique of the Novel P 251

२. "It is perfectly true that novel-writing ought to be based on experience in practical life, and that infinite documents are procurable. Infinite notes may be made from that life. It is utterly untrue that any observation any experiment, any document is good novel."
— Saintsbury History of the French Novel P 470.

है। जोला और मोपासा इस बात से अनभिज्ञ नहीं थे इसीलिए उनके उपन्यासों में क्वे से क्वे अध्यायों में भी बीच-बीच में जीवन के स्पन्दन सुनायी पड़ते हैं। किन्तु प्रकृतिवाद की मूल वृत्ति के रूप में उन्होंने जिस वस्तु को देखा वह जीवन का वैज्ञानिक अध्ययन ही है। वह अध्ययन मुख्यतया दो आधारों पर है (१) डार्विन स्पेन्सर आदि के पैतागतिकी परिवेश परिणामवाद आदि से सबन्धित सिद्धान्तों के आधार पर और (२) मनोविज्ञान के नियतिवाद के आधार पर।

१७४ डार्विन और स्पेन्सर ने निम्नतम श्रेणी से लेकर पशुओं के क्रमिक विकास का अध्ययन करके मनुष्य के पूर्वजों का भी निश्चय किया। इस निर्णय से मनुष्य में जो पाशविक प्रवृत्तियां अवशिष्ट हैं उनके कारणों पर भी प्रकाश पड़ा। किन्तु डार्विन और स्पेन्सर के ये सिद्धान्त जीव-विज्ञान और शरीर-विज्ञान से ही अधिक संबन्धित थे। मनोभावों के क्षेत्र में उनका प्रवेश न था। किन्तु फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों ने जिस नियतिवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया उसमें और डार्विन के परिणामवाद में बहुत समानता है। मनोवैज्ञानिक नियतिवाद को सभी मतों के मनोविज्ञ मान्यता देते हैं। इसके अनुसार मनुष्य की चित्त-वृत्तियां बहुत कुछ जन्म से ही निश्चत हो जाती हैं।[1]

जोला और मोपासा के सभी पात्रों के जीवन इन नियमों के आधार पर निर्मित हैं। रोगन और मोक्वार-वर्गों का सामान्य गुण-विकार तीव्रत्व—आदिलेड से प्राप्त है क्योंकि आदिलेड का यह स्वभाव प्राय पूर्णत्व की दशा में है। रोगन से उसके पुत्रों में अधिक सन्तुलित दशा की संभावना है क्योंकि रोगन स्वयं सन्तुलित है। किन्तु आदिलेड के समान ही पूर्णतया असन्तुलित मोक्वार से उसके जो सन्तानें होती हैं उनका भी अपनी हर वृत्ति में तीव्र होना स्वाभाविक है।[2] परवर्ती पीढ़ियों में स्वभावों और चित्त-वृत्तियों की अधिक संकुलता पायी जाती है, यह भी मेण्डल से स्वीकृत है। मोपासा के 'उन वी' में जीन और जूलिएन के पुत्र को लीजिए। जीन कुलीन मर्यादा का पालन करनेवाली है उसकी लैंगिक चेतना अधिक सक्रिय नहीं है। अधिक खर्च और आडंबर

---

१ "According to him (Freud) man has acquired somewhere in his phylogenetic history certain innate unlearned strivings, or urges or instincts.

—See Brown Psychodynamics of Abnormal Behaviour P 156

२. मेण्डल (Mendel) का सिद्धान्त वस्तुत वनस्पतियों और पशुओं से सम्बन्धित था और पूर्वतया उनके शारीरिक गुणों के सम्बन्ध में लागू था। किन्तु प्रोफेसर डिवरोज ने सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य की चित्तवृत्तियां भी इस नियम से शासित हैं। उक्त नियमानुसार पूर्ण चित्त-विकृति और पूर्ण चित्त-अविकृति के व्यक्तियों की संख्या कम होगी। आंशिक चित्त-विकृति अधिकांश लोगों में पायी जाती है। जोला के पात्रों में भी यही दशा है।

—See Doncaster Heredity in the Light of Recent Research, P 49-50

का स्वभाव चाहे परिवेश के कारण हुआ हो अब वह उसके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है। कूलिएन कंजूस है उसके यौन-विकार तीव्र हैं। अब इन दोनों के पुत्र में कूलिएन की यौन-तीव्रता और थीन का कार्यशीलापन दोनों आ जाते हैं। रोम्या रोलाँ का ज्यां क्रिस्तॉफ एक मद्यप का पुत्र है अतः बाल्यकाल में उसका मद्यलुब्धन कम नहीं है, बिना कारण ही उसका घोर मचाना आदि में उसकी चित्त विकृति (Neurosis) स्पष्ट है। किन्तु परिवेश की प्रेरणा से यही चित्त-विकृति कलात्मक प्रतिभा का रूप धारण कर लेती है।

अब इनकी तुलना में चतुरसेन और मन्मथनाथ गुप्त के उपन्यासों को लीजिए। इनमें किसीका ध्येय इस तरह का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं है। समाज में दिखायी पड़नेवाली साधारण या असाधारण प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक और जीव वैज्ञानिक कारण ढूंढ़ निकालने के बदले ये सभी कुत्सित वृत्तियों का अपराध समाज धर्म और संस्कृति के रूढ़िवाद विकृत रूप के उसके बन्धनों के उसके अन्धविश्वासों के मत्थे थोपकर शान्ति की सांस लेते हैं। उनका चिन्तन सामाजिक रूढ़ियों की ऊपरी तह को पार कर पात्रों की चित्त-वृत्ति तक पहुंचता ही नहीं। समाज पर आघात करने के आवेश में ये ऐसे दृश्यों का निर्माण करते हैं जो अश्लील तो हैं ही साथ-साथ सभ्यता की समूची सीमाओं का उल्लंघन भी कर जाते हैं।[1] अध्ययन उनका ध्येय नहीं है विश्लेषण उनकी परिपाटी नहीं है। आलोचना और सुधारवाद (चाहे वह परोक्ष हो) के आधार पर चलनेवाला लेखक कभी प्रकृतिवादी नहीं होता।

यहां यह प्रश्न आ सकता है कि क्या पैतामतिकी परिवेश जीवन का प्राकृतिक विकास इन सबका अध्ययन उपन्यास के लिए आवश्यक है। उत्तर 'हां' भी है 'नहीं' भी। इनका अध्ययन उपन्यास में अनिवार्य नहीं है किन्तु यह भी आवश्यक नहीं है कि इन सबका बहिष्कार किया जाय। जीवन को समझने का किसी भी तरह का प्रयत्न औपन्यासिक कला में निषिद्ध नहीं है। पर प्रकृतिवादी उपन्यास वही माना जायगा जिसमें जीवन का प्राकृतिक विकास प्रतिबिम्बित हो।

इस बात को भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि विज्ञान की प्रणालियों के आधार पर मनुष्य को एक जीव-यंत्र-मात्र मान लेना कहां तक उचित है? प्रकृतिवाद के सिद्धान्त चाहे जो कुछ हों प्रकृतिवादी रचनाओं से यह स्पष्ट होता है कि उनमें अनुभूति की अवहेलना नहीं हुई है, सौन्दर्य की उपेक्षा नहीं की गयी है। जोला प्रभृति वैज्ञानिक सिद्धान्तों को उपन्यास में लाना चाहते थे किन्तु अन्य विषयों का एकदम बहिष्कार नहीं चाहते थे। कलाकार को अपनी सौन्दर्यानुभूति अपनी व्यक्तिगत अनुभूति इन सबको व्यंजित करने की स्वतन्त्रता है पर यह स्वतन्त्रता इतनी ही है कि सौन्दर्यानुभूति और वैयक्तिक अनुभूतियां रोमान्टिक कल्पना या आदर्श का आश्रय लेकर

१. उदाहरण देकर इस बात को अधिक स्पष्ट करने से हिचक रोकती है। 'बुधुआ की बेटी' में बुधुआ के बचपन में वर्णित बातें 'दोज़ख़ कि आग' में बनोरियालीमित वेश्या से सिरजी के ब्याह [illegible] में निकेतन का सामूहिक व्यभिचार आदि ऐसे प्रसंगों के नमूने हैं।

मानव विकास के आधारभूत सत्यों के विरोधी न हों। चोला के उपन्यासों में बिखरे पड़े तीव्र अनुभूति के प्रसंग इसके प्रमाण हैं। 'जर्म नैल' और 'लॉ डिबाक्ल' में मानव हृदय के सूक्ष्म स्पन्दनों को प्रतिध्वनित करनेवाले प्रसंग कितने ही हैं। इनको देखते हुए प्रकृतिवाद के कला-मूल्य को भी मानना पड़ता है।

कला-प्रणाली के रूप में (As an Aesthetic Method)

१७२ प्रकृतिवाद वैज्ञानिक ज्ञान का माध्यम ही नहीं एक कलात्मक प्रणाली भी है। जैसे उसने वस्तु-क्षेत्र में नया दृष्टिकोण लाने का प्रयत्न किया उसी तरह उपन्यास के रूप को भी बहुत कुछ परिवर्तित किया।

प्रकृतिवादी अभिव्यंजन का आधार यथार्थ कथन है। यथार्थवादी प्रकृतिवाद के पहले भी हुए थे और यथार्थवादी न होने पर भी हरएक उपन्यास में थोड़ा-बहुत यथार्थ होता ही है। किन्तु प्रकृतिवादी ने यथार्थ को उसके पूर्ण नग्न रूप में देखा और इस कारण उसका बहुत कुछ विरोध भी हो चुका है। यह नग्नता ही नहीं और कई विशेषताएं भी प्रकृतिवादी यथार्थ में हैं।

१७६ प्रकृतिवाद ने प्रथम प्रथम कथानक को हर तरह की कृत्रिमता से मुक्त कर दिया। एक शृङ्खलाबद्ध कथा कहना उसके लिए अनिवार्य नहीं है किन्तु जीवन का निरीक्षण आवश्यक है। जीवन असल में कथा नहीं है जीवन से कथा को चुन लेना पड़ता है। और यह चुनना प्रकृतिवादी को पसन्द नहीं है। एक शृंखलाबद्ध कहानी के लिए आवश्यक घटनाओं को जीवन से चुन लें तो उसके अन्य कई अंशों की उपेक्षा होती है। अतः जीवन के एक भाग का भी पूर्ण चित्र नहीं मिलता। प्रकृतिवादी या तो जीवन के विशाल रूप को देखता है जैसे रोगन मोक्कार-परम्परा या 'लॉ डिबाक्ल' में या केवल अध्ययन के ध्येय से एक परिमित खंड को ले लेता है जैसे 'जेम एमी' में। प्रकृतिवादी उपन्यास में कथा के पूर्ण होने की आवश्यकता नहीं रहती किन्तु उसमें प्रतिपादित जीवन पूर्ण रहता है।

उग्र, चतुरसेन, भगवतनाथ आदि के उपन्यास इसके बिलकुल भिन्न हैं। उनमें जीवन के किसी एक खण्ड का पूर्ण रूप नहीं मिलता। अपने ध्येय की पूर्ति के लिए निर्मित की गयी एक कथा या अनेक कथाएं इनके प्रत्येक सामाजिक उपन्यासों में मिलती हैं।

१७७ विषय वृक्ष के समान—अगर लेखक यह पहले ही जाने कि वह अन्त में कहां पहुँचेगा अथवा वह निर्णय कर ले कि कहां पहुँचना चाहिए, तब पात्रों को, नग, अन्त या, लक्ष्य तक पहुँचाने का प्रयत्न, यह चलवाने की, करते रूप जाता है। पात्र विविध कल्पित संघर्षों से होकर लक्ष्य तक पहुँचाये जाते हैं उनका जीवन निश्चित पथ से चलता है—या अधिक सही शब्दों में—चलाया जाता है। यह उग्र प्रभृतियों ने किया है और यही चोला मोपासां और रोम्या रोलां ने नहीं किया है। इनके उपन्यासों में वस्तु एक वृक्ष के समान बढ़ती है, जिसका कोई निश्चित रूप नहीं रहता जिसके रूप के सम्बन्ध में पहले कोई धारणा नहीं बनायी जा सकती है। ऐसी कथावस्तु

प्रकृतिवादी उपन्यास की विशेषता है। लेखक द्वारा संचालित कथानक से युक्त उपन्यास की वस्तु का विकास उस भवन के निर्माण के समान होता है जिसका कोई ज्यामिति रूप निश्चित रहता है।[1]

अगर कथानक लेखक द्वारा संचालित न हो तो उसमें 'Suspense' न होने की संभावना रहती है। इसीलिए शायद हमारे उपर्युक्त उपन्यासकारों ने कथानक को स्वयं संचालित किया है। किन्तु क्या ज़ोला के उपन्यास 'Suspense' से रहित हैं? निश्चित ही पाठक को चकित करनेवाले प्रसंग ज़ोला में नहीं हैं, उसके जीवन-सम्बन्धी धारणाओं के सामने एक आश्चर्य चिन्ह लगानेवाली घटना ज़ोला में नहीं है। लेकिन उनमें दूसरी तरह का एक Suspense है। स्वयं जीवन में Suspense होता है जो किसी भी कल्पित कथा के Suspense से अधिक प्रभविष्णु होता है। जीवन के ऐसे प्रसंगों को ज़ोला ने पहचाना है। लाखों तक के जीवन में भी अननुभूत और अज्ञात सत्यों को भी ज़ोला के उपन्यासों में अपने सामने उपस्थित देखकर हम स्तम्भित रह जाते हैं। उनकी वास्तविकता और साधारणता भी Supsense का कारण बन जाती है।

१७८ व्यंजना का अभाव—प्रकृतिवादी यथार्थ शैली की और एक विशेषता व्यंजना-शक्ति का अभाव है। प्रकृतिवादी का अभिव्यंजन हमेशा सीधा होता है। उसमें कथन की वक्रता नहीं रहती चमत्कार नहीं रहता।[2] लेकिन प्रकृतिवादी शैली कभी विचारों को अमूर्त रूप में प्रकट नहीं करती। प्रत्येक विचार को एक मूर्त रूप दिया जाता है। ज़ोला और मोपासाँ कहीं भी नैतिक आदर्श-सम्बन्धी तर्क-वितर्कपूर्ण विचार प्रस्तुत नहीं करते। नैतिक पतन को वे मूर्त रूप में दिखाते हैं पर उसकी आलोचना कर, किसी आदर्श की स्थापना नहीं करते। हमारे तथाकथित प्रकृतिवादियों में यह गुण नहीं के बराबर है। उनके उपन्यासों में नैतिक आदर्शों के सम्बन्ध में विस्तृत विचार विशेषकर तार्किक विचार—भरे पड़े हैं। रोम्या रोलाँ का उपन्यास भी इस दोष से मुक्त नहीं है। 'ज्याँ क्रिस्ताफ़' जब कला आदि के सम्बन्ध में अपने तर्क उपस्थित करता है, तब उपन्यास की सबसे कमज़ोर कड़ियों का सृजन होता है। ऐसे प्रसंगों में रोम्या रोलाँ निश्चित ही मार्क्सवादी के अधीन हो जाते हैं और उपन्यास के लिए आवश्यक मूर्तता की सृष्टि नहीं कर सकते।

१७९ निरीक्षण—प्रकृतिवाद का यथार्थ पूर्णतया निरीक्षण पर अवलंबित है। निरीक्षक ही प्रयोग कर सकता है निरीक्षण के बिना प्रयोग व्यर्थ है। ज़ोला एक-

---

१ See—Grabo Technique of the Novel P 672.

२ *About Maupassant's style Saintsbury says* "Maupassant had no tricks—the worst curse of art at all times.

—History of French Novel, Part I, P 514

"Naturalism disdains literary graces and purports to tell the truth about life as it has been revealed by science."

—Myers Later Realism P 23

एक उपन्यास लिखने के पहले उसमें प्रतिबिम्बित जीवन का पूरा अध्ययन कर लेते थे। प्रत्येक पात्र परिस्थिति घटना भाव-विभाव इन सबके संबंध में विधास नोट तैयार करके लिखते थे। अपने उपन्यास के विषय के संबंध में उन्होंने प्रामाणिक ग्रन्थों का अध्ययन किया स्थलों का सन्दर्शन किया मनुष्यों की आदतों का बारीकी से निरीक्षण किया। इस तरह तैयार किये गये विशाल ज्ञान-भण्डार से महीनों और कभी-कभी वर्षों तक के प्रयत्न से एक रचना को जन्म देते थे।[१] मोपासाँ का निरीक्षण भी कम नहीं होता था। उनकी चेतना और ग्रहण-शक्ति अत्यन्त तीव्र थी और फिर उनका जिन्दगी साहित्यिक सिद्धान्त था— 'निरीक्षण करो फिर निरीक्षण करो और एक बार निरीक्षण करो।[२] 'वाँ क्रिस्ताफ़े' में कथानक की तुलना में जो अति विस्तृत कलेवर है उसका कारण रोम्याँ रोलाँ का निरीक्षण ही है। जीवन और कला बड़ी बारीकी से जो अध्ययन किया गया था वही पृष्ठ के पृष्ठ रंगने के लिए पर्याप्त सिद्ध हुआ है।

हिन्दी के किसी भी उपन्यासकार में ऐसी निरीक्षण-क्षमता है इसमें सन्देह है। उग्र आदि के उपन्यासों में कहीं भी कथानक को आगे बढ़ाने या समाज की कुत्सित वृत्तियों को दिखाने के अतिरिक्त और किसी विषय की ओर लेखक का ध्यान नहीं जाता। पात्रों के स्वभाव के बाह्य अथवा आन्तरिक अंगों को व्यक्त करने या परिस्थिति को पूर्णता प्रदान करने के निमित्त उन्होंने अपनी सृजन-शक्ति का उपयोग नहीं किया है।

६८० प्रकृतिवादी निरीक्षण का परिणाम : अनावश्यक विस्तार—निश्चित दृश्य हो सक्रिय घटना हो अथवा कोई मानसिक व्यापार हो उसको मूर्त रूप देना—यथार्थ की चरम सीमा तक पहुंचाना—प्रकृतिवादी आवश्यक मानता है परिणाम यह होता है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुओं और भावों के विवरण से उपन्यास के कुछ भाग भर जाते हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा

"ला बोरो में सारा प्रांगण निस्तब्धता में डूबा हुआ था। वह एक निर्जीव कारखाने के समान था बड़े-बड़े रोड सब खाली थे सब कुछ निश्चल था। विस्तृत के धूसर आकाश के नीचे तीन-चार पीपे भूसे पड़े थे जो कुछ अचेतन वस्तुओं के ढेर के ऊपर उदास-से दिखायी पड़ रहे थे। जरा नीचे पतली लकड़ियों की मेंड़ा के बीच में कोयले का जो ढेर पड़ा था वह कम होता जा रहा था और काले रंग की जमीन दिखायी पड़ रही थी। नाले के किनारे पर एक गाड़ी जो खाली नहीं हुई थी नाले के गंदे पानी में प्रतिबिंबित सोयी-सी दिखायी पड़ रही थी और खाई के पास जहाँ पानी के बरसते हुए भी रसायन-विकार से धुम्रवेध धुआं दे रहा था एक सफेद के बम आकाश की ओर दीख रहे थे।[३] यह शैली अत्यन्त प्रभावक है पर इसमें

---

१ See—Thomas & Thomas Living Biographies of Famou Novelists, P 267

Germinal' का प्रत्येक अध्याय इस निरीक्षण का परिणाम है।

२ "Observe then observe and observe again. —See, Ibid P 2

३ Germinal Tancock s Translation P 217

सिये को थम करना पड़ता है वह अप्रतीम है।

इस तरह के वर्णन सैकड़ों मिलते हैं फ्रैंच के प्रकृतिवादी उपन्यासों में और यह प्रकृतिवादी शैली की खास विशेषता है। डोरोथी रिचर्डसन के उपन्यासों में भी ऐसे वर्णन कम नहीं हैं किन्तु हिन्दी के किसी भी यथार्थवादी में इस तरह बारीकी से अध्ययन करने की प्रवृत्ति नहीं है। कभी-कभी यह अनावश्यक वर्णन उबानेवाला हो जाता है, किन्तु यथार्थ के सम्यक् प्रकटन में यह उपयोगी ही है। उग्र चतुरसेन आदि इस शैली से कोसों दूर हैं अतः उनको शैली के आधार पर भी प्रकृतिवादी कहना अनुचित है।

१८१ प्रकृतिवाद का एकांगी निरीक्षण—प्रकृतिवाद के निरीक्षण की सबसे बड़ी कमजोरी उसका एकांगी दृष्टिकोण है। उसमें जीवन का निरीक्षण तो है किन्तु जीवन के निकृष्ट अंशों पर ध्यान केन्द्रित रहता है। निस्सन्देह सड़कों और कारखानों में सड़ते हुए जीवन में जोला और मोपासाँ पाशविकता से ऊपर उठी हुई वात्सल्य मानवता के क्षणिक प्रकाश को देखते हैं पर यह क्षणिक प्रकाश शीघ्र ही उस पशुत्व के भयंकर अन्धकार में लुप्त हो जाता है। जोला की दृष्टि में जीवन में नंगापन अधिक है, सबलता कम। मोपासाँ के 'उन वी' में जीन का जीवन पशुत्व और मूर्खता से ऊपर उठा हुआ है किन्तु 'बेल एमी' के विलासशील नागरिकों का जीवन मनुष्य की सबसे निकृष्ट प्रवृत्तियों को दिखाता है। रोम्या रोलाँ इससे बहुत आगे बढ़े हुए हैं। उन्होंने नगर के दोनों तरह के जीवन का निरीक्षण किया है एक वह जीवन जो उच्छृङ्खल है, पैसों को पानी की तरह बहानेवाला है थियेटरों होटलों और मधुशालाओं में जीवन की खुशियाँ देखनेवाला है दूसरा वह जीवन है जिसमें बहन अपने जीवन की सारी अभिलाषाएं दबाकर भाई को पढ़ाने के लिए नौकरी करती है उसी भाई के लिए अपना सब कुछ तजती है।

हिन्दी के उग्र आदि समाज के यथार्थ चित्रकारों ने जोला के समान बल्कि जोला से भी अधिक जीवन के कुत्सित अंश को ही देखा है। इन कुत्सित अंशों को देखने की उनकी प्रेरणा दूसरी रही हो किन्तु इस बात में वे प्रकृतिवाद से दूर नहीं हैं। और केवल इस विषय में वे प्रकृतिवादी हैं।

१८२ तटस्थता—यथार्थवादी जीवन को उसी रूप में देखकर, उसके रूप को उसकी प्रेरणाओं को समझने के अतिरिक्त और कोई ध्येय नहीं रखता। स्वच्छन्दतावादियों के समान वह एक मनमोहक कल्पित संसार में अपने-आपको खोना नहीं चाहता और न आदर्शवादियों के समान तत्कालीन जीवन से उन्नततर एक जीवन का स्वप्निल रूप प्रस्तुत करना ही चाहता है। उसके सामने जीवन को रूप देने की समस्या नहीं रहती जीवन और मनुष्य के रूप को समझने से ही वह सन्तुष्ट है। इस तरह जीवन और मनुष्य को समझने से जीवन को कोई दिशा मिलती है या नहीं वह जीवन के अभ्युदय में उपयोगी है या नहीं यह दूसरी बात है। यथार्थवादी की यह ज्ञान-पिपासा प्रकृतिवादी में उत्कट दशा में होती है। और ज्ञानार्जन के लिए तटस्थ रहना अत्यन्त आवश्यक है। लेखक को अपनी नैतिक मान्यताओं का स्थापनाओं को

और संस्कार-संचित सामाजिक धारणाओं को एक ओर रखकर पूर्ण बौद्धिक दृष्टि-कोण से विषय का समीक्षण करना पड़ता है और यह समीक्षण पूर्णतया निर्मम-सा लगता है।

इस तटस्थता के कारण प्रकृतिवादी तीन बातों से दूर रहता है

(क) वह कभी प्रत्यक्ष आलोचना नहीं करता।

(ख) वह सामान्यीकृत (Generalised) सिद्धान्तों को प्रत्यक्ष रूप में नहीं कहता।

(ग) अपने आदर्शों को उपदेश या तर्कों के रूप में प्रकट नहीं करता।

प्रकृतिवादी कला का ध्येय समाज की वीभत्सता को दिखाना तो है लेकिन उस उसके नग्न रूप में दिखाने के बाद प्रकृतिवादी चुपचाप रह जाता है। यह मौन प्रत्यक्ष आलोचना से अधिक प्रभाव डालता है। जैसे धीरे-धीरे धुआँ देते हुए अग्निपर्वत को देखकर ही पता चलता है कि उसके अन्दर एक भयंकर अग्निलोक है उसी तरह बिलकुल शान्त दीखनेवाले धूमिल शब्दों से उसके लेखक के हृदय की अग्नि-शिखा का आभास मिलता है। उग्र चतुरसेन आदि इसके बिलकुल विरुद्ध हैं। वे किसी अनीति या अत्याचार को देखकर तुरन्त चिल्ला उठते हैं। बाहरी की मौन ध्वनि से अनभिज्ञ ये लेखक शब्दों की मार्मिकता को केवल बाह्य समझते हैं। जोला और मोपासाँ जैसे आलोचना से दूर रहते हैं रोम्या रोलाँ नहीं रह पाते। उनके ज्याँ क्रिस्तॉफ़ के मुँह से तत्कालीन कला समाज और संस्कृति की आलोचना की जाती है और यह आलोचना कहीं-कहीं अति दीर्घ होकर औपन्यासिक वास्ता में बाधक तक बन जाती है ऐसे आलोचनात्मक भाग उपन्यास के सबसे बलहीन भाग ही हैं।

आलोचना के साथ ही आनेवाली और बातें हैं सामान्यीकृत सिद्धान्त और आदर्श का उपदेश। उग्र आदि हिन्दी के 'प्रकृतिवादियों' के उपन्यास ऐसे प्रसंगों से भरे पड़े हैं। मानव-हृदय के निगूढ़ सत्यों का सामान्य परोक्ष कथन जोला आदि में भी मिलते हैं किन्तु उग्र प्रभृतियों में तत्कालीन सामाजिक दशा के किसी रूप को देखकर सामान्य सिद्धान्त पर पहुँच जाता है और वह स्पष्ट कहा जाता है। एक उदाहरण देखें

"धनिक किसीको कुछ दे या न दे पर धन का समाज पर ऐसा कुप्रभाव है कि उसके साथ खून माफ़।"[२]

---

१ "In telling the truth naturalism professes to follow exactly the method of science, that is, collection of detailed evidence and impersonal setting forth of conclusions.

—Myers Later Realism, P 23.

२. 'कलकत्ता रहस्य' या 'कढ़ी में कोयला' शीर्षक भाग १ पृ ४८; देखें और एक उदाहरण "एक धोबी की पत्नी कसाई के साथ भाग गयी। पति पुत्र पुत्री घर सब सबको छोड़ कर कसाई के साथ आखिर किस चीज के लिए भागी? शायद यही औरतों की असली चीज है चाहे उसी चार की आवश्यकता।

—चीनी की पृ० ११।

इसके साथ-साथ उपदेश का यह रूप देखिए

अपनी पत्नी को छोड़ दूसरे की औरत पर नजर न डालो। वीर्य बचाओ। मो भौंकवालों [1]

३८६ भयंकर विषय सूक्ष्म रेखा—प्रकृतिवादी जो विषय लेता है उनमें बीभत्स विषय कम नहीं होते। भयंकर से भयंकर अत्याचारों से और कुत्सित से कुत्सित नीच वृत्तियों से बचने का वह प्रयत्न नहीं करता। परन्तु जब इनको उपन्यास में लाता है तब अपनी बहुत सँभालकर चलाता है। केवल घटना-मात्र का कठोर कथन न कर वह कला की सूक्ष्म रेखाओं से भावों को प्रकट करता है वातावरण को स्पष्ट करता है जो एक समर्थ चित्रकार की कोमल तूलिका ही कर सकती है। विशेषकर फ्रेंच भाषा की ही यह विशेषता है कि बिलकुल असभ्य विषय को भी उसमें सभ्यता का आवरण पहनाकर प्रस्तुत किया जा सकता है। जोला के उपन्यासों का अनुवाद करते समय उनके जैसे सभ्य शब्दों में असभ्य और अश्लील भावों को प्रकट करना असंभव हो जाता है।[2]

हत्या और व्यभिचार ऐसी घरेलू चीजें नहीं हैं, जिनका हम अपनी सुविधा और इच्छानुसार व्यवहार कर सकें। साधारण लेखक इनको कला में लाकर कला कर्म को निभा नहीं पाता। ये उसी कलाकार के व्यवहार के विषय हैं, जो जीवन के सब तरह के अनुभवों के कारण प्रत्येक परिस्थिति में मानसिक सन्तुलन रखने की क्षमता प्राप्त कर चुका हो अपनी अनुभूति-शक्ति को अत्यधिक चेतन (Sensitive) बना चुका हो सत्-असत् को दोनों से निरपेक्ष रहने की शक्ति पा चुका हो और जिसकी तूलिका अति सूक्ष्म रेखाओं से और हल्के से हल्के रंगों में चित्र का रूप देने में समर्थ हो। यही वह चीज है जो जोला में है जो अन्य प्रकृतिवादियों में कम है हिन्दी के प्रकृतिवादियों में नहीं है और उग्र प्रभृतियों में कतई नहीं है। उग्र चतुरसेन और मन्मथनाथ के हाथ में कलम नहीं कुठार है और कुठार लिए कोई प्रकृतिवादी नहीं बन सकता।

३८७ प्रकृतिवादी का नैराश्यमय दृष्टिकोण—प्रकृतिवादी के दृष्टिकोण की अस्वस्थता का मुख्य कारण उसका नैराश्य बताया जाता है और यह बहुत कुछ सत्य भी है। कला जीवन में सौन्दर्य खोज निकालती है, पर जीवन प्रकृतिवादी उपन्यासों में प्रायः नीच वृत्तियों से भरा है। अतः जीवन की नीचता में जीवन के पतन में सौन्दर्य का दर्शन करना प्रकृतिवादी का स्वभाव है और पतन में सौन्दर्य खोजनेवाला निश्चय ही निराशावादी है। जो जीवन के सर्वांगीण रूप को देखता है वह सुख-दुःखमय सभी अनुभवों को छोड़ और उल्लासमय सभी अनुभूतियों को देखता है। इन सबको देखते हुए, मानव-जीवन की विधि का निर्णय करनेवाला भयंकर निराशावादी भी सदा बुराई और दुःख में जीवन का अन्त नहीं पाएगा।

---

१ घरी में जोला पृ १ १।

किन्तु प्रकृतिवादियों ने विशेषकर जोला ने जीवन की निराशा को ही निरखा। वास्तविक जीवन में इधर-उधर मानवता के जो प्रकाश दिखायी पड़ते हैं वे अत्यन्त क्षीण लगते हैं। किन्तु मनुष्य की वास्तविकता-मात्र को देखनेवाले जोला सदा असीम दया और सहानुभूति से उनको देखते हैं। जोला और मोपासां निर्मम रहते हैं किन्तु यह निर्ममता केवल बहाना है और बहाने में वास्तविकता को छिपाना अधिक काल तक सम्भव नहीं है। अतः जगह-जगह पर उनके हृदय के कोमल अंशों के दर्शन अनायास हो ही जाते हैं। जोला के प्रसिद्ध उपन्यास 'नाना' को ही लीजिए। पारिस के विलास में डूबे सैकड़ों पुरुषों की आराध्यदेवी बन वेश्या जीवन व्यतीत करनेवाली नाना की दयनीय मृत्यु को देखकर हमें निर्ममता से यह कहने का साहस नहीं होता कि 'अच्छा हुआ मुई मर मिटी।' बल्कि हम एकदम विचलित होकर, दीर्घ श्वास लेते हुए कहने को विवश होते हैं कि 'आखिर एक और रंगीली कहानी का भी अन्त हुआ।'

पर जोला नाना की मृत्यु में सौन्दर्य देखते हैं। केथरीन के पतन में (जर्मिनल) चेर्वे (ल एस्समोर) के मरण में और श्माव की आत्महत्या में उनको सौन्दर्य ही दीखता है। उनका एक भी उपन्यास सुखान्त नहीं है। पात्रों को विशेषकर स्त्रियों को दुःखित करने में उन्हें सुख मिलता है। इसीलिए प्रकृतिवादी के सम्बन्ध में सार्त्र ने कहा है

"वह (प्रकृतिवादी) तो बहुत दिनों तक जलता रहा जलकर राख बन गया उस ज्वाला को ज्वलित रखने के लिए और शिकारों की आवश्यकता हुई, विशेषकर स्त्रियों की। वे उसको ज्वलित करती और वह ज्वालाहुत ज्वाला को वापस करेगा। उसने अपने चारों ओर के हर व्यक्ति पर निर्माण्य लाना चाहा।"[१]

प्रकृतिवादी बीते हुए अतीत में मरती हुई जवानी में मुरझाते हुए पुष्पों में और मिटते हुए संसार में ही सौन्दर्य देखता है किन्तु संसार का जीवन मरण ही नहीं जन्म भी है मुरझाना ही नहीं खिलना भी है मिटना ही नहीं बनना भी है। इस बात से प्रकृतिवादी अनभिज्ञ थे अथवा जानकर भी उन्होंने इसकी *अवहेलना* की विशेषकर जोला ने। अन्य प्रकृतिवादियों में जोला से अधिक आशा है। जोला की इस भयंकर निराशा का अनातोले फ्रांस ने जोरदार शब्दों में विरोध किया था।[२] फ्रांस के कथन में बहुत कुछ सत्य है, लेकिन उसे उसके मुख-मूल्य (Face Value) पर हम

१ Sartre What is Literature, P 99-100.

२ "There is in all of us, in the small as well as in the great, in the humble as well as in the lofty an instinct of the beautiful a desire for all that adorns and beautifies and this, spread throughout the world, makes the charm of life M. Zola does not know it. Desire and modesty are sometimes charmingly blended in human *souls*. *M Zola* does not know it There are on earth magnificent forms and noble

स्वीकृत नहीं कर सकते । फ्रांस आदर्शवादी थे उनका दृष्टिकोण ही ज़ोला को देखने के लिए अपर्याप्त था । फ्रांस की शिकायत है कि जीवन में आशा और मर्यादा भी कभी कभी है ज़ोला इसे नहीं देखते । पर सच्ची बात है कि जीवन में कभी-कभी जो आशा और मर्यादा दिखायी पड़ती है उसे ज़ोला देखते हैं पर सम्पूर्ण जीवन में फैली हुई वास्तविकता के रूप में नहीं देखते क्षणिक खेल के समान ही देखते हैं ।

मोपासां और रोम्या रोलाँ में ज़ोला की तुलना में अधिक आशा है । मोपासां 'बेल एमी' 'उन वी' 'मार्ट कोर' सबमें जीवन के पतनोन्मुख स्वभाव को ही देखते हैं, पर सबमें विशेषकर 'उन वी' में मानव-सहज सवेदना भी है । जीन पति की उच्छृंखलता और पुत्र के अपव्यय गमन से मलीन हुयी है, किन्तु पुत्र की बालिका को बैठ बनाकर अपना लेती है । 'उन वी' का अन्तिम वाक्य—रोसली का कथन—मोपासां के दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है सचमुच जीवन न उतना अच्छा है न बुरा है जितना कि लोग समझते हैं । लगभग यही दृष्टि रोम्या रोलाँ की भी है, किन्तु वे समाज के विविध वर्गों के जीवन में सत् और असत् को बंटा हुआ पाते हैं ।

६.८ मानवता का हृदय-स्पन्दन—किसी भी कलात्मक रचना की उत्कृष्टता का कारण उसमें मानवता का प्रतिबिम्बन होना है । यहां मानवता से तात्पर्य सांसारिक मनुष्य के ऊपर उठी हुई तथा बलहीनताओं और पाप-वृत्तियों से दूर रहनेवाली एक कल्पित सत्ता से नहीं है बल्कि इसी संसार के साधारण मनुष्य के दुर्बल किन्तु पवित्र व्यक्तित्व से है यही व्यक्तित्व जो राग विराग प्रेम-द्वेष शान्ति-अशान्ति क्रोध क्षोभ मोह त्याग इन सबको क्षण-क्षण के लिए अपनाता जाता है । यथार्थवादी इस संकुल एवं विचित्र व्यक्तित्व को कला का आधार बनाता है और ऐसे दृश्यों का विधान करता है जिनमें पात्रों की मानवता स्पष्ट प्रकट होती है । उत्कृष्ट प्रकृतिवादियों में भी ऐसे सन्दर्भ अगणित मिलते हैं और ये ही सन्दर्भ प्रकृतिवादी उपन्यासों को विश्व-साहित्य में स्थायी महत्त्व के अधिकारी बनाते हैं । उदाहरण के लिए दो-तीन दृश्य चुनेंगे

एटीन बिना पैसे के और बिना रोटी के घूम-फिरकर आया है । कथरीन यह जानकर अपनी रोटी का एक हिस्सा देने को तैयार होती है । ज़ोला यथार्थवादी संस्पर्श देते हैं

'मेरे से एक हिस्सा ले लो ?

---

thoughts. M Zola does not know it. Even many weaknesses many errors and many faults have a touching beauty of their own. Grief is sacred The sanctity of tears is at the base of all religions. Misery should suffice to make a man august in the eyes of men. Zola does not know it.

—From La Vie Litteraire I, P 236 Translated and quoted by

उसने इनकार किया और भूख की पीड़ा से कांपती हुई आवाज में कहा कि मुझे भूख नहीं है। तब वह प्रसन्नता से बोली 'तुम्हें शायद यह अच्छा नहीं लगता। देखो इधर इस ओर ही मैंने काटा है। दूसरी ओर तुम्हें दे दूँगी।'[1]

महाब छोटी बच्ची का आठ साल की बालिका के साथ छोड़ गयी थी भूखी बालिका रोने लगती है

'भट्टी के पास मक्कीर की बाहों में एस्टील नया फाड़कर चिल्ला रही थी। चीनी खतम हो गयी थी अतः उसका रोना बन्द कर देने का उपाय न जानकर उसने अपना स्तन पिलाने का बहाना किया। यह चालाकी पहले काम करती थी पर अब सब प्रयत्न बेकार हुआ। उसने चोली खोलकर अपनी आठ साल की छाती को उसके मुँह में दिया पर चर्म के अतिरिक्त और कुछ न पाकर बच्ची और जोर से रोने लगी।"

"उसे मुझे दे दो" माँ ने आकर सब सामान नीचे रखकर कहा "नहीं तो एक शब्द भी सुनने नहीं देगी।

"उसने अपना उभरा हुआ स्तन निकालकर बच्ची के मुँह में दे दिया और रोना एकदम बन्द हो गया।[2]

'उन वी' में बीन पति से घृणा करती है उससे असद रहती है। एकमात्र पुत्र के बीमार होने पर, उसके मर जाने की आशंका से उसका हृदय तड़पता है। उसकी व्यथा का सारा हृदय सुरक्षा के रूप में एक और सन्तान उत्पन्न करने की अभिलाषा इस उद्देश्य से पति का सामीप्य प्राप्त करना इन सबका हृदय अत्यन्त मार्मिक हुआ है।[3]

'जाँ क्रिस्तॉफ़' में क्रिस्तॉफ़ को प्याना सीखने से इनकार करने पर पिता ने पीटा

"वह रोया रोया। फिर उसने छोटे गन्दे हाथों से आँखें पोंछ दीं और सारा चेहरा गंदा हो गया। रोते हुए भी उसकी आँखें चारों ओर की चीजों से न हटीं उनमें उसे कुछ आकर्षण हुआ। तुरन्त एक मकड़ी चलने लगी और उसे देख रोना बंद कर दिया तब धीरे से फिर रोने लगा अपने रुदन की आवाज की ओर ही ध्यान देते हुए, सिसकते हुए और खुद न जानते हुए कि वह क्यों रो रहा है।'[4]

अतः अब है ऐसे प्रसंग उदाहरण बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जीवन के अन्धकारमय पहलुओं से अधिक आकृष्ट होने पर भी प्रकृतिवादी मनुष्य की दबस पशु के रूप में नहीं देखते थे उसकी कभी-कभी जगमगाती हुई मानवता से भी अभिज्ञ थे।

---

१ Germinal, P 54

२ Germinal P 101

३ A Woman s Life (Une Vie s Tr) Chap. X.

४ Jean Christophe Part I P 87

३८६ नग्नतावादी या उग्रवादी—इन सबकी तुलना में चतुरसेन उग्र मन्मथनाथ आदि को प्रकृतिवादी कहना अनुचित लगता है। प्रकृतिवादियों में और इनमें जो समता है वह केवल इसी बात में है कि ये भी प्रकृतिवादियों के समान जीवन के निकृष्ट अंगों को देखते हैं और इनकी शैली में भी प्रकृतिवादियों का नुगा पन है। पर प्रकृतिवाद के विरोधी जो तत्त्व इनमें मिलते हैं उनकी संख्या और महत्त्व अधिक है। ये जीवन की बुराई का नग्न चित्रण करते हैं अत उनको नग्नतावादी कहना उचित होगा अथवा उनकी उग्र आलोचनात्मक शैली के आधार पर उग्रवादी कहना भी असंगत नहीं है। संक्षेप मे इनके उपन्यासो की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

१ जीवन के केवल कुत्सित अंगों का निरूपण।

२ इन अंगों को चित्रित करने के लिए ही कथानक का निर्माण।

३ बने-बनाए पात्र जो लेखक की समस्याओं और विचारों को प्रस्तुत करते हैं। अत चरित्र की अपूर्णता।

४ भयंकर आक्रोश और आलोचना का भाव जो शब्दो में भी प्रतिबिंबित है।

५ आलोचना उपदेश और सामान्यीकरण।

६ शैली का नुगापन या तीखापन।

७ कभी-कभी अत्यन्त अस्वाभाविक दृश्यों का विधान।

८ वातावरण और चरित्र-चित्रण की अपूर्णता। घटनाओं पर ध्यान देने वाला लेखक यथार्थ वातावरण की सृष्टि नहीं करता। सामाजिक कुत्सितता को दिखाने के निमित्त निर्मित पात्र एकांगी और दमित हैं।

हिन्दी उपन्यास में प्रकृतिवाद के तत्त्व

किन्तु हिन्दी का उपन्यास साहित्य प्रकृतिवाद से पूर्णतया अप्रभावित नहीं है। थोड़ा-बहुत मनोवैज्ञानिक आधार लेकर लिखनेवाले कुछ उपन्यासकारों की रचनाओं में प्रकृतिवादी तत्त्वों का समावेश जाने-अनजाने हुआ है। इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय ऐसे ही लेखक हैं। जोशीजी के 'पर्दे की रानी' की निरंजना का चरित्र परम्परागतिकी और मनोवैज्ञानिक नियतिवाद से निर्णीत है। परिस्थितियों से उसके संस्कार का संबंध होता है जैसे ही यह संघर्ष स्पष्ट नहीं दिखाया गया हो।

३८७ 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ एक चरित्रहीन पिता और सती साध्वी माता का पुत्र है। पारसनाथ में इन दोनों के संस्कार हैं। पिता उससे एक दिन कह देता है कि पारस असल में उसका पुत्र नहीं है वह उसकी माता की अवैध सतान है। इसी विश्वास के आधार पर पारस का जीवन चलता है। उसे स्त्री-जाति के सतीत्व पर विश्वास नहीं रहा। उसका अब विश्वास है कि ससार में केवल वे ही स्त्रियां सती साध्वी होने का ढोंग रच सकती हैं जिन्हें या तो समाज के कड़े बन्धनों ने स्वेच्छाचरण का मौका नहीं दिया है या जिन्हें वांछित पुरुष प्राप्त नहीं हो पाये हैं।[1] इस

१ प्रेत और छाया पृ २१।

तरह सभी जाति की भलाई पर विश्वास खोकर वह अपने संपर्क में आनेवाली हर स्त्री का चरित्र भंग करने का प्रयत्न करता है। उनमें किसीसे विवाह नहीं करता। इस तरह स्त्रियों को पतित करने में उसे एक पाशविक आनन्द मिलता है। लेखक को इस बीच में समाज के दूषित नैतिक आदर्श को भी खोलकर दिखाने का अवसर मिलता है। आखिर पारस का संबन्ध एक वेश्या से होता है। जब एक दिन वह पिता से सुनता है कि उसकी माता सती थी तो उसमें एक बड़ा परिवर्तन आ जाता है और वह उस वेश्या से विवाह कर गार्हस्थ्य जीवन बिताता है। इस मन-परिवर्तन को मनोविज्ञान कितनी सम्मति देगा इसमें सन्देह है यह मन्त्र जोशीजी का रोमान्तिक आदर्श ही दीखता है।

विषय के समान शैली की दृष्टि से भी ये दोनों उपन्यास प्रकृतिवादी हैं। बिना आवरण के ही यथार्थों को कहने की पद्धति जोशी ने अपनायी है उनके अन्य उपन्यासों में शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाय तो विषय प्रकृतिवादी नहीं है, किन्तु 'संन्यासी' 'निर्वासित' 'जहाज का पंछी' आदि में समाज के कालेपन का जो चित्रण है वह प्रकृतिवादियों के समाज-चित्रण के समान है। फिर भी इनमें समाज का जो चित्रण आया है बहुत ही संकुचित है। इसका प्रथम कारण यह है कि जोशीजी के उपन्यास प्राय अत्यधिक वैयक्तिक हैं और व्यक्ति के 'अन्तरतम' की विवेचना करते हुए उनको समाज का विस्तृत रूप देखने का अवसर नहीं मिला है। दूसरा कारण यह है कि इन सबमें जोशी का उद्देश्य समाज की दुर्वृत्तियों की आलोचना करने का ही है अध्ययन करने का नहीं। प्राय उपन्यास के आदर्शवादी अन्त (जैसे संन्यासी' 'निर्वासित' 'प्रेत और छाया' आदि में) भी प्रकृतिवाद के विरुद्ध है।

३८८ अज्ञेय का 'शेखर' भी व्यक्तिवादी उपन्यास है और उसका आधार मनोविज्ञान है। शेखर का व्यक्तित्व असाधारण है और इस असाधारण व्यक्तित्व का अपने-आपमें पूर्ण अध्ययन अज्ञेय ने किया है। लेकिन शेखर के बंध में उसके व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि तैयार नहीं की गयी है।

शेखर म सेक्स का जो विकास दिखाया गया है वह उस लैंगिक चेतना का रूप है जो समस्त प्राणियों में 'नैसर्गिक' रूप से विकसित होती है। यौन चेतना हर समय उन्मुक्त होने के अवसर की प्रतीक्षा करती रहती है और सामाजिक मर्यादा के कारण अथवा व्यक्तिक प्रहृन्ता के कारण उसे दबाने पर तरह-तरह की चित्त-विकृतियों का कारण बनती है। शेखर के जीवन की प्राय सभी घटनाएं जो कभी विचित्र-सी लगती हैं इसी तरह सचालित हैं।

अज्ञेय के दृष्टिकोण में जो तटस्थता है वह उनको जोशी से भी अधिक प्रकृतिवादी शैली के निकट लाती है। 'शेखर' भी व्यक्तिवादी उपन्यास है और व्यक्तित्व के विकास में सामाजिक परिवेश उतना ही उपेक्षित रह गया है जितना कि जोशी के उपन्यासों में।

३८९ नदी के द्वीप गम राज पथ की खोज—उपेन्द्रनाथ अश्क के 'गर्म राख' और डा देवराज के 'पथ की खोज' को कुछ आलोचकों ने प्रकृतिवादी माना

है।[1] लेकिन इन्हें बड़े संकोच के साथ ही प्रकृतिवादी माना जा सकता है। इनमें जीवन की क्षुद्र वृत्तियों का जो यथार्थ चित्रण हुआ है उन्हींके आधार पर शिवदानसिंह चौहान ने इन्हें प्रकृतिवादी माना है। इस दृष्टि से इनके साथ 'नदी के द्वीप' का भी नाम लिया जा सकता है। इन तीनों में पुरुष की वासना जो सदा मुक्त विकास की चेष्टा करती रहती है अवसर पाकर पाशविक रूप में प्रकट होती है। यह वासना प्रेम से भिन्न है और केवल शारीरिक संबन्ध का आग्रह रखती है। भुवन रेखा के प्रति आकृष्ट होता है उसे पतित करता है किन्तु उससे विवाह करना नहीं चाहता। 'गर्म राख' में जगमोहन और सत्या के बीच में आकर्षण है, पर यहां सत्या की काम-चेतना अधिक जागरित है। वह एकान्त मार्ग से जगमोहन के साथ जाते हुए उसे निकटत्व का अवसर देती है उसका कपड़ा ले-पहनकर उसके हृदय को विचलित करती है और अन्त में उन दोनों का यौन-सम्बन्ध हो जाता है। पर विवाह के लिए जगमोहन तैयार नहीं होता। 'पथ की खोज' का चन्द्रनाथ प्रत्येक पढ़ी-लिखी युवती से आकृष्ट होता है, पर किसीसे अपना प्रेम प्रकट करने का दम उसमें नहीं है। लेखक ने उसके क्षुद्र व्यक्तित्व को अंकित किया है। साधना और उसके बीच आकर्षण बढ़ता जाता है पर आपत्ति-बिन्दु (Danger Point) तक पहुंचते-पहुंचते साधना सम्भल जाती है। इन सब उपन्यासों में मनुष्य की क्षुद्रता और पाशविकता का चित्र थोड़ी-बहुत मनोवैज्ञानिकता के साथ प्रकृतिवादी की खुली शैली में है किन्तु इनको पूर्णतया प्रकृतिवादी कह भी नहीं सकते क्योंकि प्रकृतिवादी के लिए आवश्यक वैज्ञानिक अध्ययन सूक्ष्म निरीक्षण तटस्थ दृष्टिकोण आदि का इनमें बहुत कुछ अभाव है।

७

यथार्थवाद और मनोविज्ञान

यथार्थ यथार्थवाद और मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद

१९० कला न केवल बुद्धि का विषय है न केवल हृदय का। बौद्धिक यथार्थों को हृदय की अनुभूति के क्षेत्र में उपस्थित करना ही कला का ध्येय है अतः केवल बाह्य जगत् के तथ्यों से अवगत करने-कराने से कला अपनी सार्थकता को अक्षुण्ण नहीं रख सकती। जब तक मनुष्य के आन्तरिक भावों का हृदय के विभिन्न ग्रन्थियों के विकारों भ्रमों और संघर्षों का ज्ञान न मिलेगा तब तक मनुष्य को पूर्णतया समझना असंभव है। आन्तरिक तत्त्वों का ज्ञान दूसरों को समझने में ही नहीं अपने-आपको समझने में भी अत्यन्त उपयोगी होता है। अतः यथार्थवाद में मनुष्य की बाहरी परिस्थितियों और चेष्टाओं के चित्रीकरण का जो महत्त्व है वही—बल्कि उससे भी अधिक

---

१ शिवदानसिंह चौहान : साहित्यानुशीलन में '[illegible]' 'गर्म राख' और 'पथ की खोज' पर लिखित अध्याय।

तरह स्त्री जाति की भलाई पर विश्वास खोकर वह अपने संपर्क में आनेवाली हर स्त्री का चरित्र भंग करने का प्रयत्न करता है। उनमें किसीसे विवाह नहीं करता। इस तरह स्त्रियों को पतित करने में उसे एक पाशविक आनन्द मिलता है। लेखक को इस बीच में समाज के दूषित नैतिक आदर्श को भी खोलकर दिखाने का अवसर मिलता है। आखिर पारस का संबन्ध एक वेश्या से होता है। अब एक दिन वह पिता से सुनता है कि उसकी माता सती थी तो उसमें एक बड़ा परिवर्तन आ जाता है और वह उस वेश्या से विवाह कर गार्हस्थ्य जीवन बिताता है। इस मन-परिवर्तन को मनोविज्ञान कितनी सम्मति देगा इसमें सन्देह है, यह अन्त जोशीजी का रोमान्तिक आदर्श ही दीखता है।

विषय के समान शैली की दृष्टि से भी ये दोनों उपन्यास प्रकृतिवादी हैं। बिना आवरण के ही यथार्थों को कहने की पद्धति जोशी ने अपनायी है उनके अन्य उपन्यासों में शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाय तो विषय प्रकृतिवादी नहीं है किन्तु 'संन्यासी' 'निर्वासित' 'जहाज का पंछी' आदि में समाज के कालेपन का जो चित्रण है वह प्रकृतिवादियों के समाज-चित्रण के समान है। फिर भी इनमें समाज का जो चित्रण आया है बहुत ही संकुचित है। इसका प्रथम कारण यह है कि जोशीजी के उपन्यास प्रायः अत्यधिक वैयक्तिक हैं और व्यक्ति के 'अन्तरतम' की विवेचना करते हुए उनको समाज का विस्तृत रूप देखने का अवसर नहीं मिला है। दूसरा कारण यह है कि इन सबमें जोशी का उद्देश्य समाज की कुरीतियों की आलोचना करने का ही है अध्ययन करने का नहीं। प्रायः उपन्यास के आदर्शवादी अन्त (जैसे 'संन्यासी' 'निर्वासित' 'प्रेत और छाया' आदि में) भी प्रकृतिवाद के विरुद्ध है।

१८८ अज्ञेय का 'शेखर' भी व्यक्तिवादी उपन्यास है और उसका आधार मनोविज्ञान है। शेखर का व्यक्तित्व असाधारण है और इस असाधारण व्यक्तित्व का अपने-आपमें पूर्ण अध्ययन अज्ञेय ने किया है। लेकिन शेखर के वंश में उसके व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि तैयार नहीं की गयी है।

शेखर में सेक्स का जो विकास दिखाया गया है वह उस यौगिक चेतना का रूप है जो समस्त प्राणियों में 'नैसर्गिक' रूप से विकसित होती है। यौन चेतना हर समय उन्मुक्त होने के अवसर की प्रतीक्षा करती रहती है और सामाजिक मर्यादा के कारण अथवा व्यक्तिक यहमन्यता के कारण उसे दबाने पर तरह-तरह की चित्त-विकृतियों का कारण बनती है। शेखर के जीवन की प्रायः सभी घटनाएं जो कभी विचित्र-सी लगती हैं इसी तरह संचालित हैं।

अज्ञेय के दृष्टिकोण में जो तटस्थता है वह उनको जोशी से भी अधिक प्रकृतिवादी शैली के निकट लाती है। 'शेखर' भी व्यक्तिवादी उपन्यास है और व्यक्तित्व के विकास में सामाजिक परिवेश उतना ही उपेक्षित रह गया है जितना कि जोशी के उपन्यासों में।

१८९ नदी के द्वीप यम राज पथ की खोज—उपेन्द्रनाथ अश्क के 'धर्मराज' और डा० देवराज के 'पथ की खोज' को कुछ आलोचकों ने प्रकृतिवादी माना

है।[1] लेकिन इन्हें बड़े संवरण के साथ ही प्रकृतिवादी माना जा सकता है। इनमें जीवन की क्षुद्र वृत्तियों का जो यथार्थ चित्रण हुआ है उन्हींके आधार पर शिवदानसिंह चौहान ने इन्हें प्रकृतिवादी माना है। इस दृष्टि से इनके साथ 'नदी के द्वीप' का भी नाम लिया जा सकता है। इन तीनों में पुरुष की वासना जो सदा मुक्त विकास की चेष्टा करती रहती है अवसर पाकर पाशविक रूप में प्रकट होती है। यह वासना प्रेम से भिन्न है और केवल शारीरिक संबन्ध का आग्रह रखती है। भुवन रेखा के प्रति आकृष्ट होता है उसे पतित करता है किन्तु उससे विवाह करना नहीं चाहता। 'धर्म राज' में जगमोहन और सत्या के बीच में आकर्षण है, पर यहां सत्या की काम-चेतना अधिक जागरित है। वह एकान्त मार्ग से जगमोहन के साथ जाते हुए उसे निकटता का अवसर देती है उसका कपड़ा ले-भागकर उसके हृदय को विचलित करती है और अन्त में उन दोनों का यौन-सम्बन्ध हो जाता है। पर विवाह के लिए जगमोहन तैयार नहीं होता। 'पथ की खोज' का चन्द्रनाथ प्रत्येक पढ़ी-लिखी युवती से आकृष्ट होता है पर किसीसे अपना प्रेम प्रकट करने का दम उसमें नहीं है। लेखक ने उसके क्षुद्र व्यक्तित्व को चित्रित किया है। साधना और उसके बीच आकर्षण बढ़ता जाता है, पर आपत्ति-बिन्दु (Danger Point) तक पहुंचते-पहुंचते साधना संभल जाती है। इन सब उपन्यासों में मनुष्य की क्षुद्रता और पाशविकता का चित्र थोड़ी-बहुत मनोवैज्ञानिकता के साथ प्रकृतिवादी की सुमी शैली में है, किन्तु इनको पूर्णतया प्रकृतिवादी कह भी नहीं सकते क्योंकि प्रकृतिवादी के लिए आवश्यक वैज्ञानिक अध्ययन सूक्ष्म निरीक्षण तटस्थ दृष्टिकोण आदि का इनमें बहुत कुछ अभाव है।

७

यथार्थवाद और मनोविज्ञान

यथार्थ यथार्थवाद और मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद

३१० कला न केवल बुद्धि का विषय है न केवल हृदय का। बौद्धिक यथार्थों को हृदय की अनुभूति के क्षेत्र में उपस्थित करना ही कला का ध्येय है अतः केवल बाह्य जगत् के तथ्यों से अवगत करने-कराने से कला अपनी सार्थकता को अक्षुण्ण नहीं रख सकती। जब तक मनुष्य के आन्तरिक भावों का हृदय के विभिन्न ग्रन्थियों के विकारों द्वन्द्वों और संघर्षों का ज्ञान न मिलेगा तब तक मनुष्य को पूर्णतया समझना असंभव है। आन्तरिक तत्त्वों का ज्ञान दूसरों को समझने में ही नहीं अपने-आपको समझने में भी अत्यन्त उपयोगी होता है। अतः यथार्थवाद में मनुष्य की बाहरी परिस्थितियों और चेष्टाओं के चित्रीकरण का जो महत्त्व है वही—बल्कि उससे भी अधिक

---

१ शिवदानसिंह चौहान साहित्यानुशीलन में 'मुक्ता' 'धर्म राज' और 'पथ की खोज' पर लिखित अध्याय।

महत्त्व उसके अन्तर्निहित सत्यों का उद्‌घाटन करने में और उसकी संकुल मानसिक ग्रन्थियों को खोल दिखाने में है। जब से मनोविज्ञान को उपन्यास में स्थान दिया गया तब से इस दृष्टिकोण का विकास हुआ है और आज विश्व-उपन्यास की एक मुख्य धारा इसी आधार पर चल रही है।

सामान्य मनोविज्ञान और यथार्थ

१६१ प्रेमचन्द—हिन्दी में प्रथम मनोविज्ञान को उपन्यास में प्रेमचन्द ने ही स्थान दिया। उनका मनोविज्ञान आज के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के मनोविज्ञान से भिन्न था किन्तु यथार्थवादी होने से उसकी शक्ति अपार थी। प्रेमचन्द अपने समाज को जानते थे उस समाज के हर व्यक्ति को पहचानते थे। किसान मजदूर, सेठ-साहूकार जमींदार मिल-मालिक कारिन्दा पटवार, अध्यापक सुधारक हर तरह की सामाजिक श्रेणियों के व्यक्तियों का उन्हें अच्छा ज्ञान था। किन्तु निम्नवर्गों के प्रति उनकी विशेष सहानुभूति थी अतः उनके मानसिक विश्लेषण में प्रेमचन्द की सफलता प्रशंसनीय हुई है और आज इस कार्य में वे हमारे सबसे बड़े कलाकार बने हुए हैं।

प्रेमचन्द ने फ्रायड युग और एडलर का अध्ययन नहीं किया था। उन्हें संकुल मानसिक ग्रन्थियों का ज्ञान नहीं था वैयक्तिक कुण्ठाओं से विशेष काम नहीं था पर मनुष्य समाज में कैसे व्यवहार करता है उन सामाजिक प्रवृत्तियों की मानसिक प्रेरणाएं क्या हैं इन सबका उन्हें पर्याप्त ज्ञान था। वही ज्ञान जो एक माता में सहज में ही आ जाता है जिसके कारण वह अपने बच्चे का रुदन और उसका कारण एकदम समझ लेती है और एक कुशल मनोविज्ञ से भी अधिक कुशलता से वह उसे शान्त कर लेती है। प्रेमचन्द का मनोविज्ञान पात्रों को खण्ड-खण्ड करके हमारे सामने नहीं रखता बल्कि उन्हें हमारे सम्मुख साकार खड़ा करके उसके हृदय के स्पन्दनों को स्पष्ट सुनने देता है। 'सेवासदन' में भोली बाई के गाने सुनने पर सुमन पर पड़नेवाले प्रभाव को प्रेमचन्द की लेखनी ने कितनी सरलता से उतार दिया है। सुभद्रा और सुमन पर पड़नेवाले प्रभाव में अन्तर है दोनों की परिस्थितियां भिन्न हैं, प्रेमचन्द इसे जानते हैं। सुमन विवाह कांक्षिणी सुन्दरी युवती है जिसे धनाभाव के कारण कोई नहीं चाहता है। पर वह देखती है कि भोली उतनी सुन्दरी भी नहीं फिर भी उसपर लोग मुग्ध हैं। 'सुमन ने भी उसी पद को धीरे-धीरे गुनगुनाकर गाया और अपनी सफलता पर मुग्ध हो गयी।'[१] एक अबोध बालिका के अवचेतन के सूक्ष्म स्पन्दन यहां सुनाई पड़ते हैं। वह उस गाने के प्रति गानेवाली के प्रति फिर उसपर मुग्ध आस्वादकों के प्रति अपना ध्यान केन्द्रित करती है। फिर जाकर दर्पण में अपना रूप देखकर निश्चय कर लेती है कि मैं भोली से कम सुन्दरी नहीं हूं। वहां उसके मन में एक संघर्ष आता है अपनी पराधीनता और विवशता तथा भोली की स्वच्छन्दता एवं स्वतंत्रता के संबंध में।

---

१ सेवासदन पृ ४८।

प्रेमचन्द हृदय की अगाधता तक नहीं जाते जैसे वात्स्यायनजी या इलाचन्द्र जाते हैं किन्तु दो-तीन सरस रेखाओं से पात्रों को हमारे हृदय में बिठा देते हैं। 'निर्मला' के कितने ही स्थानों में मनोविज्ञान और यथार्थवाद का सहयोग कला की उत्कृष्टता का कारण बना है। लड़कियों को अपने घर छोड़ने की विवशता के बारे में निर्मला और कृष्णा के बातचीत कुटुम्ब की सबसे बड़ी समस्या की चर्चा करते हुए उदयभानु और कल्याणी में होनेवाला झगड़ा और निर्मला तोताराम मन्साराम इनके पारस्परिक व्यवहारों में क्रमशः आनेवाले परिवर्तन आदि का बिलकुल यथार्थवादी ढंग से विकास किया गया है। प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों में भी ऐसे प्रसंग कितने ही मिलते हैं। केवल दो-एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। 'गबन' के प्रथम अध्याय की बिसाती और मानकी की बातचीत का या दूसरे अध्याय की मानकी और जालपा की बातचीत को लीजिए। मानकी के लिए चन्द्रहार मंगवाया जाता है। बेटी जालपा पिताजी से चन्द्रहार का आग्रह करती है उनके वादे से तृप्त न होकर माता के पास जाकर कहती है "अम्माजी, मुझे भी अपना-सा हार बनवा दो।"

मां—वह तो बहुत रुपयों में बनेगा बेटी!

जालपा—तुमने अपने लिए बनवाया है मेरे लिए क्यों नहीं बनवातीं?

मां ने मुस्कराकर कहा "तेरे लिए तेरी ससुराल से आएगा।"[1]

जोशी या अज्ञेय के समान प्रेमचन्द हृदय की चीर फाड़ करने की जान-तोड़ मेहनत करते दिखायी नहीं पड़ते। बड़े लाघव से उनकी लखनी चलती है। 'गोदान' में होरी के यह प्रश्न क्या ससुराल जाना है जो पाचों पोशाक लायी है? ससुराल में भी तो कोई जवान साली-सलहज नहीं बैठी है जिसे जाकर दिखाऊं। कितने लाघव से कितनी सरलता से पर कितनी मार्मिकता से बदलकर उसके निराशापूर्ण जीवन से पले हृदय को प्रकट करने लगते हैं "साठ तक पहुंचने की नौबत तक न आने पायेगी धनिया! इसके पहले ही चल देंगे। मानव-मन को समझने में हमारे मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार प्रेमचन्द के छोर तक अभी नहीं पहुंच पाये हैं। हृदय की चीर-फाड़ करने वाले अज्ञेय जोशी या देवराज आदि उस हृदय के अन्दर की ग्रंथियों को देखते हैं उनकी क्रिया प्रतिक्रियाओं को देखते हैं पर उस हृदय का देख नहीं पाते। उनके लिए हृदय ग्रन्थियों की प्रक्रिया का स्थान-मात्र है पर प्रेमचन्द के लिए वह सम्पूर्ण मानव है। प्रेमचन्द का यही यथार्थवादी मनोविज्ञान है, जो उनके पात्रों को हमारे हृदय के अन्दर बिठा देता है जबकि अज्ञेय और जोशी के पात्र हमारे मस्तिष्क के चारों ओर मंडराते रहते हैं और बहुत प्रयत्न करने पर भी हम उन्हें ठीक-ठीक समझ नहीं सकते उनसे निकटता का अनुभव नहीं कर सकते।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रेमचन्द का यथार्थवाद त्रुटिरहित नहीं है। प्राय उनके पात्र लेखक के निश्चित मार्ग से होकर ही चलते हैं अत उनके जीवन में स्वाभाविक गति का अभाव है। सुमन से लेकर प्रेमशंकर सूरदास जालपा, आदि सभी पात्र

---

१ गबन पृ २।

प्रेमचन्द के कुछ निश्चित सिद्धांतों का उद्घाटन करने के लिए ही जीवित रहते हैं। विशेषकर इन पात्रों का अन्त में मुधारक बन जाना या कोई आदर्श उपस्थित करना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विशेष मूल्य नहीं रखता—और प्रायः अस्वाभाविक भी है। प्रेमशंकर और सूरदास के जीवन अन्त में ही नहीं सम्पूर्ण रूप से लेखक के उद्देश्य के अनुकूल ही निर्मित हैं। किन्तु होरी में बहुत अन्तर है। निश्चित ही होरी का चरित्र भारतीय कृषक के विवश और व्यथापूर्ण जीवन को दिखाने के उद्देश्य से निर्मित है। पर उसके चरित्र में इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक अंशों का ही चित्रण नहीं है, उसे एक मनुष्य के रूप में उपस्थित करने के लिए आवश्यक सभी पक्षों पर ध्यान दिया गया है। उसकी कमजोरियां अहंकार भाई के प्रति द्वेष के साथ-साथ प्रेम बिरादरी की चिन्ता इस तरह उसके मानसिक क्षेत्र के सभी पक्षों का चित्रण है।

३१२ अन्य लेखक—कई अन्य उपन्यासकारों ने भी सामान्य मनोविज्ञान द्वारा पात्रों को यथार्थ बनाने का प्रयत्न किया है लेकिन रेणु को छोड़कर कोई भी लेखक प्रेमचन्द से अधिक सफलता नहीं पा सका है। सियारामशरण के 'नारी' में पितृहीन हल्ली और उसकी माता की आकांक्षाएं बहुत कुछ यथार्थ रूप में प्रकट की गयी हैं, लेकिन भावुकता का एक मन्द स्पर्श उस यथार्थ को थोड़ी बाधा पहुंचाता है। उषादेवी के 'जीवन की मुस्कान' में सविता का मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी भावुकता से रहित नहीं है। इसके बाद इस तरह पात्रों के मानसिक पक्ष को स्वाभाविकता के साथ प्रस्तुत करनेवाले उपन्यासकार अश्क का 'गिरती दीवारें' और रांगेय राघव के 'सीधा-सादा रास्ता' में समाज के मध्यवर्गीय लोगों की मानसिक प्रवृत्ति को यथार्थवादी-स्वरूप में दिखाया गया है। 'गिरती दीवारें' में चेतन के परिवार के विभिन्न व्यक्तियों के रूप देखने के योग्य हैं। शराब पीकर हुल्लड़ मचानेवाला पिता जीवन-यापन के लिए ठीक या गलत रास्ता ढूंढनेवाला भाई, अपने व्यक्तिगत आग्रहों और परिवार के लोगों की इच्छाओं के बीच बननेवाला चेतन ये सब मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के पात्र बने हैं। प्रेमचन्द के बाद उन्हीं के मार्ग पर चलते हुए सामान्य मनोविज्ञान के द्वारा यथार्थ पात्रों की सृष्टि करनेवाले सफल लेखक नागार्जुन और फणीश्वरनाथ रेणु हैं। 'रतिनाथ की चाची' में गौरी का पेट गिराने की जिम्मेदारी लेनेवाली चमाइन अपने अन्दर-बाहर को प्रकट करती हुई हमारे सामने साकार खड़ी हो जाती है। ज्यादा रुपये के लिए अड़ती हुई वह परिस्थिति को स्पष्ट करती है "तुम लोग तो जमवाली हो हाकिम भी तुम्हारी तरफदारी कर लेगा। कितने जोखिम का काम है पेट गिराना! पता चल जाय तो सरकार मेरा सत्यानाश कर देगी और फिर रुपया पाने के बाद भी जीभ निकालकर चमाइन बोली "भला यह भी क्या कहने की बात है मलिकाइन? आपकी बदनामी क्या हमारी बदनामी नहीं है? पर एक बात कहती हूँ माफ करना बड़ी जातवालों की तुम्हारी यह बिरादरी बड़ी मलेच्छ, बड़ी निष्ठुर होती है मलिकाइन"[1] रेणु ने उपन्यासों में कथानक की शृंखलाबद्धता का बलिदान करके भी पात्रों

---

१ रतिनाथ की चाची पृ ९१।

के मानसिक भावों का जो चित्रण किया गया है वह उन पात्रों को यथार्थ बनाने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। रेणु की विशेषता यह है कि उनका हर शब्द पात्रों के मन से जन्म लेता है। अतः प्रत्येक शब्द कथानक को आगे बढ़ाने के साथ-साथ पात्रों के व्यक्तिगत या सामाजिक मनोभावों को भी स्पष्ट करता जाता है। 'मैला आँचल' से एक साधारण विवरणात्मक प्रसंग को ले सकते हैं। फुलिया 'पुरैनियाँ टीसन' से आई है एकदम बदल गई है फुलिया। साड़ी पहनने का ढंग बोलने-बतियाने का ढंग सब कुछ बदल गया है। तहसीलदार साहब की बेटी कमली मलिया के नीचे जैसी छोटी चोली पहनती है वैसी वह भी पहनती है। आँचल में चाभी का गुच्छा बाँधती है पैर में लीली का रंग लगाती है। हाँ खलासीजी बहुत पैसा कमाते हैं शायद। अरे खलासी के मुँह पर झाड़ू मारो। " ये शब्द वस्तुतः रेणुजी के नहीं हैं। ग्रामीण लोग फुलिया को जिस रूप में देखते हैं वही रूप यहाँ प्रस्तुत है। फुलिया की दशा ग्रामीणों के मन के दर्पण में प्रतिबिम्बित होती है उसी प्रतिबिम्ब को रेणुजी ज्यों का त्यों उतार रखते हैं। 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' में सौ-सौ हैं ऐसे प्रसंग जो एक तुलना अपर्याप्त होगा। इन प्रसंगों से पात्रों को जैसे हम समझ सकते हैं, उनके हृदय तक जैसे हम पहुँच सकते हैं वैसे मनोविश्लेषक उपन्यासकार अज्ञेय और जोशी के पात्रों को समझना और उनके हृदय तक पहुँचना असम्भव है।

१२६ रूसी उपन्यासों में यथार्थवादी मनोविज्ञान—इसी तरह दास्तायवस्की तुर्गनेव और टाल्सटाय के पश्चात् रूसी उपन्यास का मनोविज्ञान पात्रों को उनकी पूर्णता में समझने का प्रयास करता आया है। टाल्सटाय तुर्गनेव और दास्तायवस्की मनोविज्ञान की एक ऐसी दशा में थे जिसमें वे मानसिक द्वन्द्वों की असाधारण परिस्थितियों में भी पात्रों को यथार्थ बना सके हैं और उनके भावों के साथ हमारे भावों को भी मिला सके हैं। चेखव ने इसका अन्त कर दिया असाधारण भावों का चेखव ने पूर्णतया तिरस्कार किया। उनके लघु उपन्यासों में पात्रों की मानसिक दशाओं को उतना महत्त्व नहीं मिला है जितना बाह्य वस्तुओं को। गोर्की से लेकर मनोभावों का यथार्थवादी चित्रण मिलता है जो आज तक अपना प्रभाव अक्षुण्ण रखता आया है। गोर्की शोलोखोव फेदिन इल्या एहरनबर्ग फादेयेव कोजेवनिकोव कोप्तयेवा कोचकेतोव आदि सभी नवीन उपन्यासकारों ने पात्रों की मानसिक क्रियाओं और ग्रन्थियों का विश्लेषण किये बिना उनको निकट परिचय से समझा है। ये सब मनुष्य को एक मनोविश्लेषक की दृष्टि से नहीं बल्कि एक साधारण मनुष्य की दृष्टि से देखते हैं। 'नयी जुती जमीन' के कई पात्र अपनी मनुष्यता के कारण हमारे बहुत निकट आते हैं। एक पात्र है श्चूकर, जो हर विषय में झूठ बोलता है आत्मप्रशंसा करता है। एक दिन उसने नये कानून का भंजन कर अपने बछड़े को मार डाला। किन्तु जब अफसर नागुलनोव आकर तलाशी करता है तब बचने का प्रयत्न करता है। "मैं पाप में घसीटा गया मेरी बुढ़िया ने मुझे विवश कर दिया, मुझपर दया करो। लेकिन इसके बाद जब लोग पूछते हैं कि अफसर क्यों आया था तब उसका जवाब है "मेरी तबीयत आज ठीक नहीं थी देखने आये थे। मेरे बिना उनका कोई काम ठीक नहीं चलता

और आधुनिक रूसी उपन्यासकारों के यथार्थवाद से भिन्न है और अधिक अनावृत्तता से मनोवृत्तियों का अध्ययन करनेवाले तास्सताय दास्तायवस्की तुर्गनेव मोपासाँ आदि के यथार्थवाद से भी भिन्न है।

हिन्दी में अज्ञेय और जोशी को मनोवैज्ञानिक उपन्यास के प्रतिनिधि रचयिता मान सकते हैं। धर्मवीर भारती और डा देवराज के कुछ उपन्यासों में भी इस विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति का आभास मिलता है। फ्रेंच में प्रूस्त मसरो मारिया जूल रोमे जीद आदि और अंग्रेजी में मई सिन्क्लेयर वरजीनिया वूल्फ, मिस रिचर्डसन डी एच लारेन्स आदि वैज्ञानिक रूप में पात्रों का मनोविश्लेषण करनेवाले लेखक हैं। इस समीक्षा प्रथम ध्येय मनुष्य के अन्दर संघर्ष करनेवाली विषम और संकुल ग्रन्थियों का विश्लेषण है। विशेषकर ये सब सेक्स से सम्बन्धित सुकुमारता-मात्र का अध्ययन कर रह जाते हैं। फ्रायड आदि मनोविज्ञों के सिद्धान्तों का जीवन में आरोप करनेवाले ये लेखक मनुष्य के उन सहज और स्वाभाविक प्रवृत्तियों को नहीं देखते जो साधारण लोगों की दृष्टि में भी आती हैं और जो समस्त मानवता में विद्यमान होने के कारण सबके लिये आस्वाद्य हैं।

ऐसी विशिष्ट वृत्तियाँ कभी-कभी अत्यन्त असाधारण हैं और केवल उन्हीं से पात्रों को सज्जित करने पर वे भी असाधारण हो जाते हैं। इस असाधारणता पर आवरण डालकर उसे भी सहज संभाव्य और आस्वाद्य बनानेवाली चीज फ्रेंच उपन्यासों में प्रत्येक चेष्टा का सूक्ष्म अध्ययन है और अंग्रेजी उपन्यासों में इन असाधारण वृत्तियों का अति की मात्रा तक पहुंचने से बचाकर पात्रों में उनके साथ ही साधारण प्रवृत्तियों का मिश्रण कर देना है।

प्रूस्त मनोवृत्तियों का बाह्य चेष्टाओं के रूप में रूपान्तर करते हैं किसी भी मनोभाव को जिसे सीधे दो-एक वाक्यों में प्रकट कर सकते हैं, बाह्य प्रवृत्तियों द्वारा व्यंजित करने के लिए पृष्ठों तक विस्तृत करते हैं। पर इससे मनोवृत्तियाँ सूक्ष्म न रहकर स्थूल बन जाती हैं। मारिया के 'जो खो गया' (That Which Was Lost) में एक उत्तरदायित्वरहित वनमोही पति को पाकर कुण्ठित हरीन की मनोव्यथा का क्रमिक विकास है साथ-साथ सामाजिक वातावरण भी लुप्त नहीं हुआ है, क्योंकि इसके सम्बन्ध में आनेवाले अन्य पात्रों का भी पर्याप्त महत्त्व है। दुहमेल का 'सलाविन' असाधारण प्रवस्य है पर यह असाधारणता सम्पूर्ण उपन्यास में एक अन्तर्धारा के रूप में ही आती है और जो बाह्य जीवन है वह विचित्र-सा नहीं लगता। 'सलाविन' की विचित्रता उसकी विकार तीक्ष्णता है जो समय-समय पर विचित्र प्रवृत्तियों के रूप में प्रकट होते हैं जैसे अफसर के कान से आकृष्ट होकर उसे छू लेना।

अंग्रेजी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में भी सामाजिक वातावरण की पूर्ण उपेक्षा करके वैयक्तिक कुण्ठाओं के आधार पर सम्पूर्ण कथानक का विकास कहीं नहीं होता। इनमें मनोवैज्ञानिक तत्त्व केवल कथानक के अस्थिपंजर के समान हैं, उनपर चढ़ाये गये मांस और रक्त सामान्य जीवन के हैं अतः यथार्थ के भासित होने में बाधा नहीं पड़ती। डी एच लारेन्स के 'पुत्र और प्रेमी' (Sons and Lovers) को

लीजिए। पाल मरिल एक असाधारण व्यक्ति है जो अपनी माता से असीम प्रेम पाकर, अपने परिचय में आनेवाली लड़कियों से उसी तरह के व्यवहार की इच्छा करता है जैसाकि माँ से मिलता है। पर केवल इस असाधारण व्यक्तित्व के फारमूला के आधार पर उपन्यास का निर्माण नहीं हुआ है। एक कुटुम्ब का सम्पूर्ण वातावरण उसमें आ जाता है। पात्रों और परिस्थितियों के सन्तुलन को लारेन्स सदा सुरक्षित रखते हैं। उन्होंने स्वयं इस सन्तुलन की आवश्यकता मानी है और अच्छे उपन्यास के लिए व्यक्तियों वस्तुओं और घटनाओं को नहीं उनके जीवित सम्बन्धों को आवश्यक माना है।

अब हम हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की यथार्थता की परीक्षा करें। 'शेखर' का आरंभिक अध्याय बाल-मनोविज्ञान का उत्कृष्ट उदाहरण है और है यथार्थ वादी कला का अच्छा उदाहरण। शेखर सचमुच जीवित रहता है लेकिन इसके बाद जीवन से उसका संबन्ध कुछ टूट-सा जाता है। प्रारंभिक भाग की कई घटनाएं और उनके प्रतिपादन की शैली यथार्थ के बहुत निकट है किन्तु बाद में लेखक शेखर की असाधारणता की ओर आकृष्ट होता है। इस असाधारणता को लेखक थोड़ा-बहुत यथार्थ के रूप में प्रस्तुत कर सका है। शैली और वातावरण इसमें उपयोगी हुए हैं। अन्य पात्रों से उसके सम्बन्धों में भी एक सन्तुलित व्यवस्था है, यद्यपि ये सभी संबन्ध शेखर की मानसिक क्रियाओं के विश्लेषण के लिए ही रचित हैं। 'नदी के द्वीप' में अज्ञेयजी अधिक उलझी हुई मनोवृत्तियों में स्वयं उलझकर रह गये हैं और जीवन को यथार्थ रूप में प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। यौन-विकारों की विकृतियां जीवन में सत्य हो सकती हैं, संकुल मनोवृत्तियां वास्तविक हो सकती हैं, पर केवल इन्हीं के आधार पर पात्र-सृष्टि नहीं हो सकती। यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या उपन्यास में जीवन के सर्वांगीण चित्रण की आवश्यकता है क्या केवल कुछ विशिष्ट विकारों को या मानसिक ग्रन्थियों को लेकर उनका विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। विशिष्ट मनोवृत्तियों और ग्रन्थियों का अध्ययन हो सकता है किन्तु इस बौद्धिक अध्ययन को अनुभूतिपूर्ण बनाने के लिए और उनमें यथार्थ के आभास के लिए—सर्वोपरि उनमें जीवन फूंकने के लिए उन मनोवृत्तियों या ग्रन्थियों को जीवन से अलग नहीं करना होगा। जीवन से सबद्ध रखने पर ही वे यथार्थ ज्ञात हो सकते हैं। अज्ञेय अपने पात्रों को ही समाज से अलग नहीं करते। कहीं-कहीं स्वयं उनकी असाधारण मानसिक ग्रन्थियों को उनके जीवन से भी अलग कर रखते हैं। ये पात्र इन ग्रन्थियों से ही निर्मित हैं, अतः अपूर्ण हैं असाधारण हैं और सामान्य दृष्टि में अयथार्थ हैं।

इलाचन्द्र जोशी ने भी सामान्य जीवन की घटनाओं की यथासंभव उपेक्षा की है। असाधारण मनोवृत्तियों को मूर्त रूप देने के लिए उन्होंने जो घटनाएं रची हैं, अधिकांश रोमान्टिक हैं। 'प्रेत और छाया' में वैयक्तिक रूप में और 'जहाज का पंछी' में सामाजिक रूप में घटनाएं अत्यन्त विचित्र हुई हैं। कोई भी घटना ऐसी नहीं है

१ देखो D.H Lawrence Selected Literary Criticism P 109

और आधुनिक रूसी उपन्यासकारों के यथार्थवाद से भिन्न है और अधिक प्रधानता से मनोवृत्तियों का अध्ययन करनेवाले टाल्सटाय दास्तायवस्की तुर्गनेव मोपासां आदि के यथार्थवाद से भी भिन्न है।

हिन्दी में जैनेन्द्र और जोशी को मनोवैज्ञानिक उपन्यास के प्रतिनिधि रचयि मान सकते हैं। धर्मवीर भारती और डा देवराज के कुछ उपन्यासों में भी विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति का आभास मिलता है। फ्रेंच में प्रूस्त मवरो मारिया रोमें बीद आदि और अंग्रेजी में मर्ड सिन्क्लेयर वरजीनिया वुल्फ मिस रिचर्ड डी एच लारेन्स आदि वैज्ञानिक रूप में पात्रों का मनोविश्लेषण करनेवाले हैं। इन समीक्षा प्रथम ध्येय मनुष्य के अन्दर संघर्ष करनेवाली विषय और ग्रन्थियों का विश्लेषण है। विशेषकर ये सब लेखक ये सम्मिलित सकुशलता-सा अध्ययन कर रह जाते हैं। फ्रायड आदि मनोविज्ञों के सिद्धान्तों का जीवन में करनेवाले ये लेखक मनुष्य के उन सहज और स्वाभाविक प्रवृत्तियों को नहीं दे साधारण लोगों की दृष्टि में भी आती हैं और जो समस्त मानवता में विद्यम के कारण सबके लिये आस्वाद्य हैं।

ऐसी विशिष्ट वृत्तियाँ कभी-कभी अत्यन्त असाधारण हैं और के से पात्रों को सज्जित करने पर वे भी असाधारण हो जाते हैं। इस असाधा आवरण डालकर उसे भी सहज संभाव्य और आस्वाद्य बनानेवाली उपन्यासों में प्रत्येक चेष्टा का सूक्ष्म अध्ययन है और अंग्रेजी उपन्यासों में इन वृत्तियों का अति की मात्रा तक पहुँचने से बचाकर पात्रों में उनके साथ प्रवृत्तियों का मिश्रण कर देना है।

प्रूस्त मनोवृत्तियों का बाह्य चेष्टाओं के रूप में रूपान्तर करत मनोभाव को जिसे सीधे दो-एक वाक्यों में प्रकट कर सकते हैं, बाह्य प्र भावित करने के लिए पृष्ठों तक विस्तृत करते हैं। पर इससे मना रहकर स्थूल बन जाती है। मारिया के 'जो खो गया' (That Whi में एक उत्तरदायित्वरहित बनमोही पति को पाकर कुंठित दर्शन क्रमिक विकास है साथ-साथ सामाजिक वातावरण भी लुप्त नहीं उनके सम्बन्ध में आनेवाले अन्य पात्रों का भी पर्याप्त महत्त्व है। दुरा असाधारण अवश्य है पर यह असाधारणता सम्पूर्ण उपन्यास म ग म हो जाती है और जो बाह्य जीवन है वह विचित्र-सा नहीं लगा विचित्रता उसकी विकार तीव्रता है जो समय-समय पर विचि में प्रकट होते हैं जैसे अप्सरा के काम से आकृष्ट होकर उसे छू

अंग्रेजी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में भी सामाजिक उपेक्षा करके यौनिक कुण्ठाओं के आधार पर सम्पूर्ण कथानक होगा। इनमें मनोवैज्ञानिक तत्त्व केवल कथानक के अस्थिपंजर चढ़ाये गये मांस और रक्त सामान्य जीवन के हैं, अतः यथार्थ नहीं पड़ती। डी एच लारेन्स के 'पुत्र और प्रेमी' (S

उपन्यास में लाने के लिए तथाकथित तथ्यों का परिज्ञान ही पर्याप्त नहीं है लेखक को स्वयं अपनी रागात्मकता के माध्यम से तथ्यों को कला का रूप देना होगा।

३९८ उपन्यास—आधुनिक उपन्यास—जीवन के समान नहीं होता जीवन ही होता है। उसमें पात्रों और वातावरण को वही रूप देना होगा जिससे यह ज्ञात हो सके कि वे हमारे जीवन से दूर नहीं हैं हमसे दूर नहीं हैं। बाह्य जगत् द्वारा अन्तर्जगत् की व्याख्या ही स्थूल के द्वारा सूक्ष्म की अभिव्यक्ति ही किसी रचना को यथार्थवादी और सहज विश्वसनीय बनाकर हमारे निकट ला सकता है। इससे अन्तर्जगत् की उपेक्षा नहीं होती बल्कि जो लेखक बाह्य जगत् का आश्रय लेकर अन्तर्जगत् की जितनी स्पष्ट और जितनी मार्मिक व्याख्या करेगा वह उतना ही यथार्थवादी माना जायगा। इसीसे बाह्य तथा अन्तर्जगत् विश्वसनीय होंगे। यह विश्वसनीयता यथार्थवाद की जान है। जान कूपर पाविस कहते हैं "पात्र इतने यथार्थ हों कि हम उनमें अपने-आपको रख सकें और वातावरण इतना यथार्थ हो कि हम उसमें चल-फिर सकें।"[१]

इस प्रभाव के लिए व्यक्ति और वस्तु का भौतिक विवरण पर्याप्त नहीं है, उन सबकी अन्तरात्मा को समझकर उन्हींको कथा के माध्यम से व्यक्ति करना पड़ेगा। विश्व के प्रसिद्ध उपन्यासकारों ने यही किया है।

३९९ पात्र की यथार्थता के सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है। प्रायः पात्र को स्वतंत्र छोड़ देने की बात कही जाती है और कुछ लेखक इस तरह पात्रों को छोड़ देने में बड़े गौरव का भी अनुभव करते हैं।[२] लेकिन क्या कोई पात्र लेखक से पूर्णतया मुक्त हो सकता है? अथवा क्या उन्हें मुक्त होकर मनमानी करने का अधिकार देना अभिवांछित है? वस्तुतः लोक-जीवन में कोई मनुष्य स्वतंत्र नहीं होता उसकी हर प्रवृत्ति उसकी आन्तरिक दशाओं और बाह्य परिस्थितियों से परिचालित रहती है। जब कोई भी मनुष्य स्वतंत्र नहीं है तब पात्रों को क्या स्वतंत्रता दी जाय? पात्र को यथार्थ बनाने के लिए लेखक को उन *नियमित करके* परिस्थिति के अनुकूल प्रवृत्त कराना पड़ेगा। उसको स्वतंत्रता देने का इतना ही अर्थ हो सकता है कि लेखक अपनी वैयक्तिक अभिरुचि के अनुकूल अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए या अपनी मान्यताओं की स्थापना के लिए उनकी परिस्थितिनिरपेक्ष स्वाभाविक प्रवृत्तियों में बाधा न डाले। लेखक को पात्रों पर पूरा नियंत्रण रखना पड़ता है किन्तु उनके जीवन को अपनी इच्छानुसार गठित करने के लिए नहीं परिस्थिति के अनुकूल उनको गति देने के लिए।

---

१ "The characters must be so real that we can throw ourselves into them and the background so real that we can walk about in it.
—Powys Dostoevsky P 15

२ देखें 'गुनाहों का देवता' की भूमिका।

जिसे देखकर हमें यह आभास हो कि यह जीवन की साधारण घटना है। 'संन्यासी' 'निर्वासित' 'प्रेत और छाया' इन सबके नायकों के जीवन कुछ यौन विकारों चार पांच लड़कियों से परिचय और संबन्धों तथा उनके परिणामों तक सीमित रहती है। जोशीजी सूक्ष्म और मारिया के समान सूक्ष्म विवरण की शैली से इन असाधारण पात्रों की साधारण क्रियाओं को मूर्त भी नहीं बनाते। केवल 'मुक्तिपथ' में सुनन्दा की यह वृत्ति का विकास क्रमगत और मूर्त हुआ है। 'सुबह के भूले' में कहीं-कहीं पात्रों एवं परिस्थितियों को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने में जोशीजी सफल हुए हैं।

८
यथार्थवाद
पात्र वातावरण शैली

१९६ पात्र और वातावरण की पारस्परिक अनुकूलता और दोनों के अनुरूप *शैली*—इनको प्राप्त करने में उपन्यासकार सफल हो जाय तो वह जीवन को यथार्थ रूप में प्रकट करने में प्रायः सफल हो जाता है। पात्र यथार्थ तभी होगा जब वे परिस्थितियों के अनुकूल एवं जीते-जागते रहें वातावरण यथार्थ तब होगा जब वह पात्र को पूर्णतया प्रकट करने में सफल हो और शैली यथार्थ तब होगी जब वह वातावरण के अनुसार जीनेवाले पात्र की दशा के अनुरूप हो।

१९७ साहित्य का आदिम और अन्तिम लक्ष्य मनुष्य है, चाहे उसमें मनुष्य को सुधारने का ध्येय हो चाहे उसे समझने भर का। इसलिए शैली और वातावरण भी अपने-आपमें महत्त्वपूर्ण न होकर मनुष्य को व्यक्त करने में ही सार्थकता रखते हैं। यथार्थवादी को मनुष्य को यथार्थ रूप में दिखाना पड़ता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे समस्त उपलब्ध उपादानों का उपयोग करना होगा। जहां तक वातावरण और शैली का प्रश्न है उनको वही रूप देना पड़ेगा जो पात्रों की प्रकृति को और उनके मनोभावों को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक हो।

उपन्यास में पात्र का व्यक्तित्व वही होना चाहिए जो जीवन में होता है।[1] उपन्यास जीवन का प्रतिबिंब होता है अतः जीवन को समझने के लिए उपन्यास का विधान ऐसा होना चाहिए कि उसके पात्रों और दृश्यों का समतल चित्र (Flat Picture) ही नहीं संपूर्ण रूप और चेष्टाएं हमारे मन में जम जाएं। यथातथ्य विवरण से एक तरह का समतल प्रभाव (Flat Impression) हो सकता है। लेकिन जीवन का सत्य इससे परे है उसमें तथ्य ही नहीं तथ्य को मानव-मन से संबद्ध करनेवाला रागात्मिक संबन्ध भी होता है। इस रागात्मक संबन्ध में समन्वित सत्य को

१ "In fiction personality consists of essentially the same quali ties as belong to it in the actual life." —Myers Later Realism, P 3

उपन्यास में उतारने के लिए तथाकथित तथ्यों का परिज्ञान ही पर्याप्त नहीं है, लेखक को स्वयं अपनी रागात्मकता के माध्यम से तथ्यों को कला का रूप देना होगा।

१६८. उपन्यास—आधुनिक उपन्यास—जीवन के समान नहीं होता, जीवन ही होता है। उसमें पात्रों और वातावरण को वही रूप देना होगा जिससे यह बात हो सके कि वे हमारे जीवन से दूर नहीं हैं, हमसे दूर नहीं हैं। बाह्य जगत् द्वारा अन्तर्जगत् की व्याख्या ही, स्थूल के द्वारा सूक्ष्म की अभिव्यक्ति ही किसी रचना को यथार्थवादी और सहज विश्वसनीय बनाकर हमारे निकट ला सकती है। इसमें अन्तर्जगत् की उपेक्षा नहीं होती, बल्कि जो लेखक बाह्य जगत् का माध्यम लेकर अन्तर्जगत् की जितनी स्पष्ट और जितनी मार्मिक व्याख्या करेगा वह उतना ही यथार्थवादी माना जायगा। इसीसे बाह्य तथा अन्तर्जगत् विश्वसनीय होगा। यह विश्वसनीयता यथार्थवाद की जान है। जान कूपर पाविस कहते हैं, "पात्र इतने यथार्थ हों कि हम उनमें अपने आपको रख सकें और वातावरण इतना यथार्थ हो कि हम उसमें चल-फिर सकें।"[1]

इस प्रभाव के लिए व्यक्ति और वस्तु का भौतिक विवरण पर्याप्त नहीं है, उन सबकी अन्तरात्मा को समझकर उन्हींको कला के माध्यम से व्यक्त करना पड़ेगा। विश्व के प्रसिद्ध उपन्यासकारों ने यही किया है।

१६९. पात्र की यथार्थता के सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है। प्रायः पात्र को स्वतंत्र छोड़ देने की बात कही जाती है, और कुछ लेखक इस तरह पात्रों को छोड़ देने में बड़े गौरव का भी अनुभव करते हैं।[2] लेकिन क्या कोई पात्र लेखक से पूर्णतया मुक्त हो सकता है? अथवा क्या उसे मुक्त होकर मनमानी करने का अधिकार देना अभिवांछित है? वस्तुतः लोक-जीवन में कोई मनुष्य स्वतंत्र नहीं होता, उसकी हर प्रवृत्ति उसकी आन्तरिक दशाओं और बाह्य परिस्थितियों से परिचालित रहती है। जब कोई भी मनुष्य स्वतंत्र नहीं है, तब पात्रों को क्या स्वतंत्रता दी जाय? पात्र को यथार्थ बनाने के लिए लेखक को उसे नियमित करके परिस्थिति के अनुकूल प्रवृत्त कराना पड़ेगा। उसको स्वतंत्रता देने का इतना ही अर्थ हो सकता है कि लेखक अपनी वैयक्तिक अभिरुचि के अनुकूल, अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए या अपनी मान्यताओं की स्थापना के लिए उसकी परिस्थितिजनित स्वाभाविक प्रवृत्तियों में बाधा न डाले। लेखक को पात्रों पर पूरा नियंत्रण रखना पड़ता है, किन्तु उनके जीवन को अपनी इच्छानुसार गठित करने के लिए नहीं, परिस्थिति के अनुकूल उसको गति देने के लिए।

---

१. 'The characters must be so real that we can throw ourselves into them and the background so real that we can walk about in it.
—Powys Dostoevsky P 15

२. मैं 'गुनाहों का देवता' की भूमिका।

यथार्थाभास कुछ उदाहरण

४०० पात्र और वातावरण में यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करने पर हिन्दी के अधिकांश उपन्यासकारों ने विशेष ध्यान नहीं दिया है। उपन्यास की कहानी पर ध्यान देनेवाला अथवा समाज की आलोचना के लिए आकुल लेखक इस विषय के प्रति अधिक आकृष्ट नहीं होता। प्रेमचन्द ने ही जहां अपने सुधार-सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किये हैं, वहां यथार्थ पर बहुत आघात किया है। पर अन्य स्थानों में जीवन की वास्तविक परिस्थितियां उपस्थित करने में और पात्रों को यथार्थ बनाकर उनमें प्राण-प्रतिष्ठा करने में उनको बड़ी सफलता मिली है।

अब हम हिन्दी के उपन्यासों में प्राप्त कुछ यथार्थ दृश्यों को उदाहरण के रूप लेकर देखें। यहां इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि ये प्रसंग बिना किसी नियम के ही चुने जा रहे हैं ऐसे सैकड़ों प्रसंग प्राप्त हो सकते हैं, हमें अपने विषय और दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिये वो ही चार आवश्यक हैं अतः विभिन्न प्रकार के इने-गिने उदाहरण ही दिए जा रहे हैं।

४०१ साधारण से साधारण घटनाएं भी उपन्यास में यथार्थ रूप में प्रस्तुत किये जाने पर मोहक हो जाती हैं। चिरपरिचित घरेलू दृश्य भी अरोचक नहीं होते। उग्र के 'शराबी' का एक प्रसंग दीजिए, जहां वे आलोचना से मुक्त होकर केवल यथार्थ दृश्य अंकित करते हैं

हीरा और एक लड़का घरौंदा बनाकर खेलते हैं।

लड़के ने स्वाभाविक स्पर्धा से देखा—सचमुच हीरा के सामने अधिक धूल थी। उसका महल बड़ा था। पड़ोसी दूसरे पड़ोसी की इस मृण्मयी महानता को न सह सका।

"मैं तेरा महल बिगाड़ दूंगा" उसने आवावेश से कहा साथ ही हाथ भी बढ़ाया।

"मैं भी तेरा बिगाड़ दूंगी हूं मैं किसीसे कमजोर हूं? खबरदार, इधर हाथ न बढ़ाना।

"क्या कर लेगी?

ऐसा घूंसा मारूंगी कि चिल्लाता भाग खड़ा होगा।

"मैं अपनी मां को पुकारूंगा।

"उसको भी मारूंगी झोंटा पकड़कर।

"मैं बाबा को बुला लूंगा तब। वे तेरे कान पकड़कर तीन तमाचे जड़ देंगे। तू मैं चिल्लाने लगेगी।[1]

इस तरह के दृश्य हमें जीवन की दार्शनिकता की ओर अथवा गम्भीर समस्याओं की ओर आकृष्ट नहीं करते परन्तु इनसे जीवन के प्रति रागात्मिक दृष्टि का विकास होना स्वाभाविक है। अश्कजी के 'गिरती दीवारें' से एक उदाहरण लीजिए।

---

[1] शराबी पृ० ८।

(ऐसे कई उदाहरण हैं पूरा बाईसवाँ अध्याय यथार्थ चित्रण का श्रेष्ठ उदाहरण है।)
चेतन के ससुराल में रहते समय का एक प्रसंग है

"बस सुनाइये जीजाजी छन्द! और लड़कियों ने उसका कोट खींचा। एक निमिष के लिए चेतन की आंख नीला से चार हुई।

"जीजाजी छन्द"

लेकिन उसी समय पण्डित वेणीप्रसाद अपने हिलते हुए शरीर के साथ आये और हाथ जोड़कर उन्होंने कहा "अब महाराज उठिये।

चेतन अनिच्छापूर्वक उठने लगा था कि नीला ने उसके कोट का दामन पकड़ लिया। चेतन फिर बैठ गया। पण्डितजी ने फिर हाथ जोड़े। वह फिर उठने लगा। नीला ने फिर दामन खींचा" नीला ने तनिक रोष-भरे स्वर में कहा पिताजी आप बैठने भी दीजिए अभी एक भी छन्द नहीं सुना हमने।"

अनावश्यक आडंबर नहीं आश्चर्यजनक घटनाएं नहीं केवल एक साधारण घटना का सरस वर्णन है जिससे जीवन का रूप साकार सामने आया है।

इन प्रसंगों में केवल एक जीवित चित्र ही नहीं पात्र भी अपनी विशेषताओं के साथ अपना पूर्ण व्यक्तित्व प्रकट कर देते हैं। मनुष्य सब समान होते तो हैं पर हर मनुष्य का अपने चलने-फिरने का ढंग होता है बोलचाल की रीति होती है जिसके कारण उनके व्यक्तित्व की पहचान होती है। हिन्दी के कुछ नवीनतम उपन्यासों में इन व्यक्तिगत विशेषताओं का बारीकी से अध्ययन किया गया है। रेणु के दोनों उपन्यासों में इसके सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। किन्तु उनके किसी पात्र से निरन्तर संबन्ध स्थापित करना कठिन है अतः ये व्यक्तिगत विशेषताएं अधिक प्रभाव नहीं डालतीं भले ही वे यथार्थ दृश्य के निर्माण में सहायक हुई हों। भगवतीप्रसाद वाजपेयी के हाल में प्रकाशित उपन्यास 'यथार्थ से आगे' में दृश्य-विधान से ऐसा हुआ है कि दृश्यों की यथार्थता के साथ-साथ व्यक्तियों की वे सब विशेषताएं प्रकट हुई हैं जो उन्हें हमारे चिरपरिचित-सा बना देती हैं। 'गोपी मामा' 'नीमा' 'बड़ा लड़का' 'बड़ी बहू' आदि के नाम सुनते ही हमारे सामने एक विशेष तरह का वातावरण आ जाता है और एक-एक के प्रति हमारा विशेष मूड बन जाता है। हर दो-तीन वाक्य बोलते "राम राम शिव शिव' कहनेवाला गोपी मामा बहू के हमारे घर आनेवाला बड़ा लड़का बोलने में अपना एक विशेष 'टोन' रखनेवाली नीमा—(यह टोन लाना लेखक की सबसे बड़ी सफलता है।) ये सब पात्र बहुत स्पष्ट हैं। पात्र एक-दूसरे को अच्छी तरह जानते हैं उनके एक-दूसरे के सामने के आचरण इसे स्पष्ट करते हैं। उदाहरण के रूप में एक दृश्य लिया जा सकता है। गोपीलाल के पुत्र ने झूठ बोलकर अपनी पत्नी को तगड़ी बनवा दी। बहू की तगड़ी देखकर सास महारानी को भी चस्का लग जाता है। अतः

शाम को जब (गोपी मामा) खाने बैठे तो आज श्रीमतीजी भी उनके पास आ

पहुँची और पंखा हाथ में लेकर उनके ऊपर झलने लगीं।

गोपी लाला समझ जाते हैं कि आज कोई बात है। आज बड़े भाग हैं बड़े की माँ! मगर किसी मतलब से ही मेरी खातिरदारी हो रही है। राम राम सिव-सिव।

लेखक दोनों को अच्छी तरह जानते हैं। हर शब्द उनके व्यक्तित्वों के अनुकूल है। बड़े की माँ कहती है

"तुम मुझसे मजाक मत किया करो रंजना के बाबू! ऐसा मजाक अब इस उमर में हमें अच्छा नहीं लगता। कहते हो बड़े भाग हैं शरम नहीं आती तुमको ऐसी बात कहते हुए? भूमिसरा खूब तैयार की गयी है अब तोप से गोला छूटता है कभी ऐसी चीज बनवा दी होती तो कहने में भी अच्छा लगता। क्या कभी चमड़ी पहनने के मेरे दिन या आज भी मगर मैं पहनूं तो बुरी लगेगी? मगर तुम्हारे घर आकर मेरी कोई कदर न हुई, सीठी बनी रही।"[१]

इस प्रसंग को पढ़ते समय रूसी उपन्यासों के चरित्र चित्रण का स्मरण आता है। तास्सताय से लेकर आज तक के उपन्यासकार वैयक्तिक विशेषताओं और पात्रों के टोन पर ध्यान देते आ रहे हैं। व्यक्तियों की मनोभूमि की भाव-छाया को सम्पूर्ण वातावरण में विस्तृत कर देने में तास्सताय सिद्धहस्त हैं। विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्व से परिचित होते समय पाठक के मूड को उसके अनुसार परिवर्तित कर सहानुभूति की तरंगें उत्पन्न करनेवाले उपन्यासों में शायद 'अन्ना करेनिना' विश्व-साहित्य में ही सर्वश्रेष्ठ है। जिन अध्यायों में एक या दो ही पात्र आते हैं—और अधिकांश अध्याय ऐसे ही हैं—उनको पढ़ते समय होनेवाली हमारी मानसिक दशा के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट होगी। अन्ना के परिचय में आते ही हमारी मनोभूमि में एक शोकात्मक गम्भीर वातावरण फैल जाता है तो किट्टी और लेविन के परिचय से एक उद्वेगमय प्रसन्नता और काली के सम्पर्क से एक प्रौढ़-गम्भीर शान्ति आ जाती है। यह प्रभाव अनुभूति वाजपेयी के उपन्यासों से उतनी नहीं होती तो भी कुछ अवश्य होती है। उनके और रेणु के पात्रों की वैयक्तिक विशेषताएं किन्हाबातन्तर रूसी उपन्यास में की सी हैं जिससे हम पात्रों की गहनतम अनुभूतियों के अन्तस्तल तक नहीं पहुँचते बल्कि उनसे चिरपरिचित बन्धुओं के समान एक स्वस्थ सम्पर्क स्थापित कर लेते हैं। इल्या एहरनबर्ग के 'आँधी' में ऐसे प्रश्न-प्राप्त प्रसंग हैं, जो वातावरण और पात्रों के यथार्थ रूप के कारण अत्यन्त मोहक हैं। लेखक की दृष्टि निर्जीव वस्तुओं की बारीकियों पर नहीं जाती पर प्रत्येक जीवन-स्पन्दन को पहचानती है।

छोटे बगीचे में दो मुर्गियाँ खोयी-सी घूम रही थीं। एक युवती हाथ में एक हाँडी लिये निकल आयी उसे देख मुर्गियों में मानो प्राण आ गये।

"मोरी अबकिलए कैसा है?" एक पड़ोसिन ने बाड़े के ऊपर से पूछा।

"जरा अच्छा हुआ है लगता है कि कर्पिम गिलास से ही अच्छा हुआ

---

[१] बयाव मे आगे पृ २१९।

पर बहन अभी उठ नहीं सकता। मैंने डाक्टर को बुला भेजा है।"

"किसी जवान डाक्टर को मत बुलाओ 'जवान सब बदमाश होते हैं।'

इन रमणियों की गपशप सुनकर हमारा बीमार उत्सुक हो जाता है—उठ-बैठकर सुनने लगता है। पर जब डाक्टर आवे तब ऐसा बैठना नहीं चाहिए अतः

दरवाजे पर खटखट हुआ। बीमार आदमी ने जल्दी ही लेटकर कम्बल ओढ़ लिया। डाक्टर दरवाजा खोलकर अन्दर आया।[१]

'आँधी' युद्ध-सम्बन्धी उपन्यास है। एक हजार पृष्ठों के इस उपन्यास को सरस बनानेवाली चीज़ ऐसे ही यथार्थ व्यक्ति और वातावरण हैं। शोलोखोव फेदिन फ़ादयेव कोचेतोव आदि के उपन्यासों में भी ऐसे अनेक यथार्थ दृश्य मिलते हैं। अंग्रेजी में फ़ील्डिंग से लेकर डी एच लारेन्स तक के उपन्यासों में यथार्थ दृश्यों के निर्माण में तरह-तरह के उपायों का उपयोग किया गया है। किसी तरह के मनोविश्लेषण या अथाह अध्ययन के बिना केवल सामान्य घरेलू जीवन-धारा को सरल रम्य रूप में प्रतिबिंबित करनेवाले जेन आस्टिन के उपन्यास और प्रत्येक प्रवृत्ति में कोई मनोवैज्ञानिक सत्य और रागानुभूति का समावेश करनेवाले डी एच लारेन्स के उपन्यास यथार्थवादी शैली की दो सीमाएं हैं। लारेन्स ने यथार्थ का आधार लेकर पात्र की सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्तियों का जिस कुशलता से अध्ययन किया है बहुत कम अन्य उपन्यासकारों ने किया है। हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में 'शेखर' के प्रथम भाग को छोड़कर किसीमें भी इस तरह नित्य जीवन की साधारण से साधारण घटनाओं के पीछे काम करनेवाली मानसिक प्रेरणाओं की ओर संकेत तक नहीं किया गया है।

४०२ वातावरण के सूक्ष्म निरीक्षण में दृश्य को साकार करने की शक्ति रहती है। दृष्टि-क्षेत्र (Field of Vision) में आनेवाली लघुतम वस्तुओं को भी आवश्यक महत्त्व देकर कला का रूप दिया जा सकता है। जब सूक्ष्म वस्तुओं को एक-एक करके आँखों के सामने लाया जाता है तभी यह भ्रम हो सकता है कि हम उसी वातावरण में चल-फिर रहे हैं जिसमें पात्र स्वयं विचरते हैं। यशपाल के ऐसे वातावरण-चित्रण का एक उदाहरण देखिए

"मास पर झुलनेवाले इन मकानों की पाँच-पाँच मंजिलें कहीं-कहीं मिडिल बाजार की सकीर्णता को उसी प्रकार प्रकट करती हैं जिस प्रकार खाईं और छोटे-छोटे मकानों की एक ही मंजिल इस बाजार की अकिंचनता को। माल की ओर के मकानों की निचली मंजिलें प्रायः बन्द ही रहती हैं। दरवाजों और खिड़कियों के शीशों पर धूल की बड़ी मोटी परत जमी रहती है और यदि किसी खिड़की का कोई शीशा टूट जाता है तो वह उसी प्रकार अपनी कानी आँखों से तारादेवी के टीले की ओर ताकता रहता है। गोदामों और तहखानों के अतिरिक्त इस पंक्ति में जो कमरे हैं वे भी या तो

१ दि स्टार्म पृ० ३६६।

२ दिव्या पृ० ३६८।

बन्द ही रहते हैं और यदि कहीं-कहीं खुले भी हैं तो किसी कलाकार, बाजेवाले, अथवा किसी चावफरोश ने दूसरों से भी बदतर बना दिया है।[1]

४०३ यह एक निरवस दृश्य है पर वर्णन के द्वारा उसमें जान डाल दी गयी है। प्रत्येक वस्तु जीवित होकर आकर्षण का पात्र बन जाती है। अश्कजी ने ऐसे निरवस दृश्यों के वर्णन में सूक्ष्मता पर जितना ध्यान दिया है व्यक्तियों के चित्रण में नहीं। व्यक्तियों की सूक्ष्म से सूक्ष्म गति और चलन का निरीक्षण यशपाल नागार्जुन रेणु और उदयशंकर भट्ट के कुछ उपन्यासों में मिलता है। यशपाल के 'कुनिया की शादी' से एक दृश्य देखें

'श्यामू ने धेरे से जाकर कटिया के गले का फन्दा खोल दिया और वह भैंस के नीचे जाकर दूध चूँघने लगी। थोड़ी ही देर में भैंस पन्हा गयी। श्यामू ने कटिया को पकड़कर एक ओर खूँटे से बाँध दिया और स्वयं दुहावनी लेकर दूध निकालने बैठ गया। अपनी दुहावनी डटाडट किनारे तक भरकर श्यामू ने कटिया के गले का फुन्दा फिर खोल दिया और वह भी उछलती कूदती फुदकती दौड़कर अपनी माँ के थनों से चिपट गयी। खूब भी भरकर पूँछा उसने और भैंस ने भी प्यार से अपनी थूथनी घुमा-घुमाकर अपनी बच्ची को निहार, चुमकारा।'[2]

यथार्थ का दूसरा रूप वातावरण का प्रभाव

४०४ यथार्थवाद के उत्कृष्टतम रूपों के लिए वातावरण अनिवार्य नहीं माना जा सकता है, और न बाह्य व्यक्तित्व का चित्रण ही आवश्यक है। निश्चित ही बाह्य वातावरण और बाह्य व्यक्तित्व का सूक्ष्म चित्रण यथार्थ दृश्य उपस्थित करने में सहायक है। पर यह यथार्थवाद का एक ही रूप है। दूसरे रूप में इस तरह बाह्य वस्तुओं के सूक्ष्म चित्रण की उपेक्षा करके हार्दिक विकारों के क्रमिक विकास द्वारा पाठक के हृदय की तन्त्रियों में भी सहकंपन (Sympathetic Vibration) उत्पन्न किए जाते हैं। हेनरी जेम्स ने यथार्थवाद के इस रूप को सर्वश्रेष्ठ माना है जिसमें साधारण कलात्मकता परम्परागत ऐक्य और सन्तुलन की भी उपेक्षा करके अनुपपत्ति असामंजस्य और असंबद्धता को भी स्थान दिया जाता है। यह असंगत्य असंबद्धता आदि व्यक्तित्व की विषमता को प्रकट करने और मैकारिक तीक्ष्णता को अभिव्यंजित करने में अत्यन्त उपयोगी है। प्रायः ऐसी यथार्थवादी रचनाओं में एक काव्यात्मक रहस्यानुभूति भरी रहती है और कभी-कभी रोमान्टिक स्वच्छन्दता भी।[3] यथार्थवाद के उस रूप को जो बाह्य यथार्थों को ही सर्वस्व मानता है, जेम्स ने निम्न स्थान ही दिया। जेम्स का यह मत असंगत नहीं है। क्या पहले हृदय का विषय है फिर बुद्धि का अतः हमें इस बाह्य जगत् से एक निमिष के लिए खींच ले जाकर पात्रों के मानसिक जगत् में

१ गिरती दीवारें पृ ७४१।

२ कुनिया की शादी, पृ २१।

३ See, James Notes on Novelists, P 321

लेखक प्रविष्ट करा दे तो उसे अनुचित नहीं कह सकते। लौकिक दृष्टि से देखने पर ऐसे पात्रों की यथार्थता पर भले ही हमें सन्देह हो पर बिना कोई प्रश्न किये उनके विकारों को उनकी अनुभूतियों को स्वीकृत करने के लिए हम तैयार हो जाते हैं। मानसिक जगत् का प्रत्यक्षीकरण करनेवाले लेखक को बाह्य वातावरण की आवश्यकता नहीं रहती। विकारों के विकास में वातावरण उपयोगी हो सकता है पर वह अनिवार्य नहीं है। प्रेमी और प्रेमिका अनुराग की चरम दशा में बसन्त और मलय पवन को पसन्द भले ही करें, पर उसके लिए हठ कभी नहीं करेंगे। स्नायुसमूहों में अनियंत्रित कम्पन भरनेवाली तीव्र अनुभूति की दशा में उनका ध्यान वातावरण की समस्त उद्दीपक वस्तुओं से विमुख होकर न जाने किस अलौकिक वस्तु पर केन्द्रित हो जाता है। जब पात्र स्वयं वातावरण के लिए हठ नहीं करें तब लेखक क्यों करे ?

४०५ आन्द्रे जीद के 'दस करवाजा' नामक उपन्यास को लीजिए। इसके प्रथम दो-तीन अध्यायों में जो अस्पष्ट वातावरण है वह भी शीघ्र लुप्त हो जाता है और फिर उपन्यास अन्त तक केरोप और एशिया की मनोभूमि के आधार पर चलता है। सामाजिक वातावरण अप्रत्यक्ष है ही साथ-साथ वह वातावरण भी लुप्त हो जाता है जिसमें पात्र विचरण करते हैं। इसीलिए पात्र कुछ वायवीय होकर अस्वाभाविक से हो गए हैं। किन्तु वातावरण का यह अभाव उनकी भाव-तीव्रता को अधिक स्पष्ट करता है उनके विकारों के विकास के साथ-साथ हमारे हृदय में भी एक समान विकार विकसित करने को विवश करता है। इसी तरह मांसो मारिया के 'जो खो गया' (That which was Lost) की एक रात की घटनाएं मार्सेल और तोवा की मानसिक पृष्ठभूमि पर घटित होती हैं। मारिया का 'काले देवता' (The Dark Angels—Les Anges Noirs) गब्रिएल ग्रेदेर की मानसिक कथा है जो बचपन से ही पुरोहिताई के लिए पाला जाता है किन्तु बुराई से बुराई की ओर जाता है। मासल और ग्रदेर के मानसिक पतन के विकास को दिखाने के लिए मारिया ने किसी बाह्य वातावरण की आवश्यकता नहीं समझी। वातावरण के और पात्रों की ही सामान्य बाह्य क्रियाओं के अभाव के कारण कुछ अमंबद्धता और असंतोष हम सबम है और पात्र सब असाधारण लगते हैं। लेकिन इसके परिणामस्वरूप हम उसकी भाव-धारा में विलीन होकर बाह्य जगत् से ही पराङ्मुख हो जाते हैं और उत्कट राग-विरागों के विस्मय संसार में विचरण करने लगते हैं। भाव का यथार्थ बाह्य यथार्थ से रत्तिक भी कम नहीं बल्कि यही शायद वास्तविक यथार्थ है।—भावों का यथार्थ ही दास्तायवस्की के 'यथार्थ यथार्थ' का आधार है। (पर दास्तायवस्की वातावरण को विलुप्त नहीं करते।)

४ ६ हिन्दी में पूर्णतया वातावरणरहित उपन्यास नहीं है। किन्तु 'सुनीता' और 'मुक्तिपथ' में वातावरण की कमी दर्शनीय है। 'मुक्तिपथ' इस दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। लेखक का ध्यान सदा राजीव और सुनन्दा के भाववक्र में ही लगा रहता है। लौकिक जीवन के सुखमय पक्षों के अभाव में कुण्ठाग्रस्त राजीव का मानसिक जीवन असंतोषपूर्ण है। वह अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है और बाह्य संसार से विच्छिन्न है। उसके संपर्क में आनेवाली सुनन्दा की मनोभूमि में जो

आंकियां भाती हैं वह उपन्यास का मुख्य भाकर्षण है। स्वयं कुण्ठाग्रस्त राजीव उसे वासनाओं को दमित रखने की प्रेरणा देता है और व्यक्तित्व के विकास का मार्ग दिखाता है। और परिणाम? सुनन्दा का व्यक्तित्व विकसित होता है यहां तक कि वह अपनी स्वतंत्रता की घोषणा करके राजीव के यहां से चली जाती है। इन दोनों की मनोवृत्तियों की सूक्ष्म रेखाओं को अंकित करते हुए जोशीजी वातावरण की आवश्यकता नहीं समझते। अन्य उपन्यासों में जब-तब जहां वे भाव विकास में लगे हैं वहां भी वातावरण को भूल जाते हैं पर संपूर्ण उपन्यास में भाव-विकास का क्रम नहीं दिखा पाते। एक उदाहरण ले सकते हैं 'निर्वासित' का प्रारंभ एक सार्वजनिक सभा में होता है। पर क्या सभा एक वातावरण के रूप में आती है? लेखक महीप और नीलिमा की ओर ही आकृष्ट है।

'सुनीता' में सामाजिक वातावरण का अभाव है लेकिन दृश्य-वातावरण स्पष्टतः अंकित है। परन्तु उस वातावरण का भी चित्रण ऐसा हुआ है कि उसके प्रति हमारा ध्यान नहीं जाता पात्रों की मनोवृत्तियां हमें हठात् आकृष्ट करती हैं।

अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' म वातावरण है अवश्य है। पर क्या उसमें किसी सामाजिक अथवा पारिवारिक दृश्य का रूप सामने आता है? प्रेमचन्द के उपन्यासों में जैसे कितने ही दृश्य पात्रों के सामने नाचते हुए से प्रकट होते हैं वैसे 'नदी के द्वीप' पढ़ते समय होता है? बिलकुल नहीं। प्रत्येक दृश्य को पढ़ते समय हमारा ध्यान पात्रों की मनोवृत्तियों पर ही केन्द्रित रहता है। पात्रों में कितने ही असात्म्य हों हम उनकी अनुभूतियों से बच नहीं पाते।[1]

इन उपन्यासों को पढ़ते समय यह बौद्धिक प्रश्न नहीं करना चाहिए कि यह संभव है या नहीं? यह पात्र समाज में मिलता है या नहीं? हमें अपनी हार्दिक चेतना को बौद्धिक बन्धन से मुक्त करके भाव और अनुभूति के क्षेत्र में स्वतंत्र विचरण के लिए छोड़ देना चाहिए। इन सबमें संसार की वास्तविक अनुभूतियों के ही अतिरंजित रूप मिलते हैं। जिन्हें हम अतिरंजन होने से वास्तविकता का बृहत् रूप भी कह सकते हैं और दूसरी दृष्टि से अवास्तविक भी कह सकते हैं।

ऊपर बाह्य और आन्तरिक यथार्थ के दो रूप बताये गए हैं। इनके लिए आव श्यक उपादानों क भजन से लेखक जब विरत होता है, तब यथार्थवाद अरक्षित अवस्था में आकर दुर्बल हो जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वस्तुनिष्ठ यथार्थवाद में दृश्य उपस्थित करने में और अन्तर्निष्ठ यथार्थवाद में पात्रों के विकारों से पाठक के विकारों को मिला देने में लेखक असमर्थ हुआ तो उसकी भयंकर पराजय होती है। इस पराजय के कई कारण होते हैं जिनपर हम संक्षेप में विचार करेंगे।

कुछ दोष

४०७ कला का असात्म्य असंतुलन असंभाव्यता और स्वच्छन्दता—प्रेमचन्द से पूर्व के उपन्यासों में असंभव और जटिल घटनाओं का जो आधिक्य है वह स्वयं

---

१ विस्तृत विवेचना अनुच्छेद २२१ २२६ में की गयी है।

उपन्यासों को अयथार्थ बना देता है। प्रेमचन्द के बाद के कई श्रेष्ठ लेखकों के उपन्यासों में भी इसी कारण से वस्तु की यथार्थता में सन्देह होने लगता है। प्रसाद के उपन्यासों की घटनाएं अलग-अलग यथार्थ हो सकती हैं पर इतने संयमपूर्ण विषम जीवन बितानेवाले पात्र जीवन में शायद ही मिलेंगे। कुछ घटनाएं भी बिलकुल अस्वाभाविक हैं जैसे 'कंकाल' में तारा का गंगा में कूदने का प्रयत्न करते ही संन्यासी का आकर पकड़ लेना फिर दूसरी बार कूदकर भी सुरक्षित दूसरे सन्यासी के यहाँ पहुंच जाना 'तितली' में महन्तजी के अमानुषिक अत्याचार, मधुवन द्वारा उसकी हत्या आदि। कौशिक के दोनों उपन्यास प्रतापनारायण श्रीवास्तव और भगवतीप्रसाद वाजपेयी के प्रायः सभी उपन्यास उषादेवी के 'पिया' और 'पथचारी' चतुरसेन और भगवतीप्रसाद वाजपेयी के प्रारंभिक उपन्यास आदि ऐसे उपन्यास हैं जो घटनाओं की जटिलता असंगति या अस्वाभाविकता के कारण कमजोर हैं। यहाँ कुछ श्रेष्ठ उपन्यासकारों के ऐसे प्रसंगों का उल्लेख करना असंगत न होगा जिनके द्वारा यथार्थ की हत्या होती है। वृन्दावनलाल वर्मा के 'लगन' और 'कुण्डलीचक्र' में विचित्र घटनाएं हैं ही। पर अधिक प्रौढ़ माने जानेवाले 'कभी न कभी' को ही लीजिए। मजदूरों के जीवन में रोमांस ढूंढने के प्रयत्न में लेखक ने सनसनी पैदा करनेवाली कई घटनाएं समाविष्ट की हैं जैसे लक्ष्मण का रास्ते में भयंकर अजगर देखना (पृ १४) आदि देवलू के प्रति लक्ष्मण का प्रेम दिखाने के लिए उसकी बीमारी में भी देवलू के लिए मछली दुबवाकर वर्माजी ने हद कर दी है

"दूसरे दिन भी लक्ष्मण को ज्वर था। परन्तु वह करवा-सागर चला गया और किराये की बाइसिकल लेकर दो-तीन गाँवों का चक्कर काटने को निकल पड़ा।"[1]

यह है विवाह के लिए लड़की ढूंढने का तरीका!

इसी 'कभी न कभी' के परिचय में और प्रायः सभी अन्य सामाजिक उपन्यासों की भूमिकाओं में वर्माजी ने दावा किया है कि प्रायः उनकी सभी घटनाएं आँखों-देखी हैं। फिर भी उनके सभी सामाजिक उपन्यासों में ऐसी ही अविश्वसनीय घटनाएं मिलती हैं। वर्माजी वकील हैं अतः उनकी कानूनी दृष्टि में आँखों-देखी सभी घटनाएं सत्य हैं। उन घटनाओं को नित्य-जीवन में प्राप्य स्थान अथवा उनके मानवी मूल्य के बारे में वर्माजी सोचते तक नहीं। तथ्यों को वे सत्य मानते हैं कानूनी सत्य केवल तथ्य है साहित्यिक सत्य इससे भिन्न है।

इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में कई घटनाएं हैं जिन्हें कोई भी साधारण या असाधारण मनोविज्ञान (Abnormal Psychology) मान्यता नहीं देता। 'निर्वासित' को वे स्वयं 'भारतीय जीवन की झांकी'[2] मानते हैं। हम इस मानें तो मानना पड़ेगा भारतीय जीवन रोमान्स के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है हमारे लड़के-लड़कियों को प्रेम

---

१ कभी न कभी पृ ९१।

२. देख निर्वासित की भूमिका।

माधिमा आती है यह उपन्यास का मुख्य आकर्षण है। स्वयं कुण्ठाग्रस्त राजीव उसे वासनाओं को दमित रखने की प्रेरणा देता है और व्यक्तित्व के विकास का मार्ग दिखाता है। और परिणाम ? सुनन्दा का व्यक्तित्व विकसित होता है यहाँ तक कि वह अपनी स्वतंत्रता की घोषणा करते राजीव के यहाँ से चली जाती है। इन दोनों की मनोवृत्तियों की सूक्ष्म रेखाओं को अंकित करते हुए कोशीजी वातावरण की आवश्यकता नहीं समझते। अन्य उपन्यासों में यत्र-तत्र जहाँ वे भाव विकास में लगे हैं वहाँ भी वातावरण को भूल जाते हैं पर संपूर्ण उपन्यास में भाव-विकास का क्रम नहीं दिखा पाते। एक उदाहरण से सकते हैं 'निर्वासित' का प्रारंभ एक सार्वजनिक सभा में होता है। पर क्या सभा एक वातावरण के रूप में आती है ? लेखक महीप और नीलिमा की ओर ही आकृष्ट है।

'सुनीता' में सामाजिक वातावरण का अभाव है लेकिन दृश्य-वातावरण स्पष्टतः अंकित है। परन्तु उस वातावरण का भी चित्रण ऐसा हुआ है कि उसके प्रति हमारा ध्यान नहीं जाता पात्रों की मनोवृत्तियाँ हमें हठात् आकृष्ट करती हैं।

अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' में वातावरण है अवश्य है। पर क्या उसमें किसी सामाजिक अथवा पारिवारिक दृश्य का रूप सामने आता है ? प्रेमचन्द के उपन्यासों में जैसे कितने ही दृश्य आँखों के सामने नाचते हुए से प्रकट होते हैं वैसे 'नदी के द्वीप' पढ़ते समय होता है ? बिलकुल नहीं। प्रत्येक दृश्य को पढ़ते समय हमारा ध्यान पात्रों की मनोवृत्तियों पर ही केन्द्रित रहता है। पात्रों में कितने ही असामंजस्य हों हम उनकी अनुभूतियों से बच नहीं पाते।[1]

इन उपन्यासों को पढ़ते समय यह बौद्धिक प्रश्न नहीं करना चाहिए कि यह संभव है या नहीं ? यह पात्र समाज में मिलता है या नहीं ? हमें अपनी हार्दिक चेतना को बौद्धिक बन्धन से मुक्त करके भाव और अनुभूति के क्षेत्र में स्वतंत्र विचरण के लिए छोड़ देना चाहिए। इन उपन्यासों में संसार की वास्तविक अनुभूतियों के ही अतिरंजित रूप मिलते हैं। किन्तु हम अतिरंजन होने से वास्तविकता का वृहत् रूप भी कह सकते हैं और दूसरी दृष्टि से अवास्तविक भी कह सकते हैं।

ऊपर बाह्य और आन्तरिक यथार्थ के दो रूप बताये गए हैं। इनके लिए भाव त्मक उपादानों के सृजन से लेखक जब विरत होता है तब यथार्थवाद अपरिहार्य अवस्था में आकर दुर्बल हो जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वाह्यनिष्ठ यथार्थवाद में दृश्य उपस्थित करने में और वस्तुनिष्ठ यथार्थवाद में पात्रों के विकारों से पाठक के विकारों को मिला देने में लेखक असमर्थ हुआ तो उसकी भयंकर पराजय होती है। इस पराजय के कई कारण होते हैं जिनपर हम संक्षेप में विचार करेंगे।

कुछ दोष

४ ७ कला का असामंजस्य असन्तुलन असंभाव्यता और स्वच्छन्दता—प्रेमचन्द से पूर्व के उपन्यासों में असंभव और जटिल घटनाओं का जो आधिक्य है वह स्वयं

[1] विस्तृत विवेचना अनुच्छेद १२५-१२६ में की गयी है।

आदर्शों को भी कतिपय स्थानों पर लेक्चरबाजी से प्रकट किया है[1] और ऐसे स्थानों में पात्रों का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहता। उपर्युक्त सभी प्रसंगों में पात्रों के स्वाभाविक जीवन में बाधा डालकर लेखक उनपर अपने मत और सिद्धान्त लादने का प्रयत्न करते हैं।

४०९ दार्शनिक मूड —कहीं-कहीं आदर्शवाद एक तरह के दार्शनिक मूड का कारण बन जाता है। दर्शन जीवन और उपन्यास में अच्छा है पर साधारण पात्रों का दार्शनिक बन जाना यथार्थ-विरोधी है। कौशिक के 'भिखारिणी' में प्रम के सवन्ध में रामनाथ और जजकिशोर का वार्तालाप[2] दार्शनिक होने से ही अस्वाभाविक लगता है। और एक निरीह बालिका अपने पिता का दु ख दूर करने के लिए कहती है, "अपने ऊपर इसलिए हंसो कि तुमने संसार को नहीं समझा संसार पर इसलिए हंसो कि संसार ने तुमको नहीं समझा अपनी भूलों पर इसलिए हंसो कि उनका सुधार असंभव है अपनी लालसाओं पर इस वास्ते हंसो कि वे अनधिकार चेष्टा थीं [3] यहां कथन की नाटकीयता में सन्देह नहीं है पर क्या इस तरह बोलनेवाले पात्र भी कहीं मिलेंगे ? भगवतीप्रसाद वाजपेयी के यथार्थवाद में बीच-बीच में बाधा डालनेवाली चीज यह दार्शनिकता है। उनकी यह प्रवृत्ति जो 'पिपासा' में शुरू हुई[4] 'यथार्थ से आगे' तक पहुंचने पर भी समाप्त नहीं हुई है। 'यथार्थ से आगे' में यथार्थवादी चरित्र चित्रण और कथा-विकास बहुत प्रभावशाली है, पर बीच-बीच में लंबे भाषण और दार्शनिक विवेचन खटकते हैं।[5] यही वाजपेयीजी के यथार्थ से पीछे ले जानेवाली चीज है। पात्रों के मनोभावों की विविध दशाओं में उन्हीं के अनुसार सुनायी पड़नेवाली दार्शनिक रेडियो-वार्ता या गीता-श्लोक या सिनेमा-वार्ता आदि बिलकुल असाधारण संयोग है और फिलॉसफर के ही हथकंडे हैं।

इनके अतिरिक्त आदर्शवादी पात्र कथानक आदि भी यथार्थवादी कला के सौन्दर्य पर आघात कर सकते हैं। अनियंत्रित आलोचनाएं यथार्थ में बाधा ही डालती हैं।

प्रादेशिक बोली और यथार्थ

४१० हिन्दी उपन्यास में जिन नवीनतम यथार्थवादी प्रवृत्तियों का विकास हुआ है उनमें एक प्रादेशिक बोलियों का प्रयोग है। पात्रों की यथार्थता के लिए उनकी भाषा की स्वाभाविकता अनिवार्य है। स्वाभाविकता की चरम दशा तभी प्राप्त होगी जबकि पात्रों की बोली को उसी रूप में उपन्यास में रखा जाय यही सोचकर आजकल कुछ उपन्यासकारों ने पात्रों की प्रादेशिक बोलियों का उपयोग किया है। विशेषकर आंचलिक उपन्यासों में यह एक अनिवार्य अंग-सा हो गया है। किन्तु इस प्रयोग से जो

१ दादा कामरेड पृ १४९ १५०।
२ भिखारिणी पृ ४६।
३ भिखारिणी, पृ ११६।
४ पिपासा में कमलनयन के शब्द पृ २२ २६ और नरेन्द्र के विचार, पृ ६ ।
५ देखें यथार्थ से आगे पृ २८ ११० १६१।

की आंखमिचौनी और मांस सड़ाने के अतिरिक्त कोई काम ही नहीं है। अन्त में जो क्रान्ति आती है उसमें भारत की राष्ट्रीय क्रान्ति का वास्तविक रूप नहीं है कुछ सनसनी कुछ चरम संभाषण और मनःपरिवर्तन बस क्रान्ति समाप्त। प्रारंभिक भाग में पूर्णतया महीप और ठाकुर के प्रेम-युद्ध की चालबाजियां हैं। क्या और समिता के प्रति ठाकुर के अत्याचार की कथा[1] 'पर्दैविवन माइट्स' और 'डेकामेराल' की कथाओं से बहुत भिन्न नहीं है। श्रीराय की कहानी बिलकुल रोमान्टिक है। जोशी का हाल का उपन्यास 'जहाज का पक्षी' यथार्थ की दृष्टि से देखा जाय तो भयंकर पराजय है। जोशीजी ने समाज की भिन्न-भिन्न बुराइयों की आलोचना करनी चाही उन सबसे होकर नायक को एक बार घुमा दिया है और उन सबके सम्बन्ध में लम्बे-लम्बे भाषण दिलाये हैं। घटनाएं सब रोचक हैं पर उनपर सहज विश्वास नहीं किया जा सकता।

४०८ आदर्शवाद—वस्तुतः आदर्शवाद अपने-आपमें यथार्थवाद का विरोध नहीं है पर कल्पित आदर्शों का अमूर्त प्रकटन पात्रों और वातावरण को अस्पष्ट और अस्वाभाविक बना देता है। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों के सबसे कमजोर भाग वही हैं, जहां पात्र आदर्शों का प्रचार करने लगते हैं। टाल्सटाय के उपन्यासों में भी कलात्मक चारुता उन्हीं भागों में कम है जहां आदर्शवादी प्रचार मुख्य हो गया है। 'अन्ना करेनिना' के लेविन के जीवन में आदर्श को मूर्त करने के बावजूद भी लंबे-लंबे भाषणों और विवरणों में औपन्यासिक तत्त्व लुप्त हो गये हैं। हिन्दी में प्रायः कोई लेखक इस दोष से पूर्णतया मुक्त नहीं है। यथार्थवादियों में भगवतीचरण वर्मा (केवल 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में) रांगेय राघव नागार्जुन एवं रेणु को और मनोवैज्ञानिकों में केवल अज्ञेय को प्रचारवाद से बहुत कुछ मुक्त कह सकते हैं। अन्य सभी लेखक पात्रों को आदर्श बनाते हैं और आदर्शों का प्रत्यक्ष कथन करते हैं। जैनेन्द्र 'त्यागपत्र' में विवाह के सम्बन्ध में तर्क करते समय हैं 'विवाह की ग्रन्थि दो के बीच की ग्रन्थि नहीं है वह समाज के बीच की भी है विवाह भावुकता का प्रश्न नहीं व्यवस्था का प्रश्न है'[2] उनका आदर्शवाद प्रायः दार्शनिक चिन्तन का रूप धारण कर लेता है तब पृष्ठों तक उपन्यास के लक्षण नहीं दीखते। इसी तरह उग्र के 'जीजी जी' में पूरा एक अध्याय ही स्त्रियों की सामाजिक विवशता के बारे में है,[4] जो निबन्ध के समान है और कई प्रश्नों के उत्तरों से भरा है। इलाचन्द्र जोशी के 'जहाज का पक्षी' में समाज की आलोचना और आदर्श का प्रदर्शन दोनों लेखकवाणी के द्वारा किये गये हैं।[5] यशपाल ने अपने क्रान्तिकारी

१ निर्वासित अध्याय १८।
२ त्यागपत्र पृ १७।
३ त्यागपत्र पृ ४२ से ४५ तक।
सुनीता पृ १५४ से १६६ तक।
४ जीजी जी पृ ४७-५१।
५ जहाज का पंछी है पृ ४१-४५, १ ६, १८८-१९८, ४२१-४२८ ४६८ ४६६।

भावनाओं को भी कतिपय स्थानों पर लेक्चरबाजी से प्रकट किया है,[1] और ऐसे स्थानों में पात्रों का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहता। उपर्युक्त सभी प्रसंगों मे पात्रों के स्वाभाविक जीवन में बाधा डालकर लेखक उनपर अपने मत और सिद्धान्त लादने का प्रयत्न करते हैं।

४०९ दार्शनिक मूड —कहीं-कहीं आदर्शवाद एक तरह के दार्शनिक मूड का कारण बन जाता है। दर्शन जीवन और उपन्यास मे अच्छा है पर साधारण पात्रों का दार्शनिक बन जाना यथार्थ-विरोधी है। कौशिक के 'भिखारिणी' में प्रेम के संबन्ध में रामनाथ और जवकिशोर का वार्तालाप[2] दार्शनिक होने से ही अस्वाभाविक लगता है। और एक निरीह बालिका अपने पिता का दु ख दूर करने के लिए कहती है 'अपने ऊपर इसलिए हंसो कि तुमने संसार को नहीं समझा संसार पर इसलिए हंसो कि संसार ने तुमको नहीं समझा अपनी भूलों पर इसलिए हंसो कि उनका सुधार असंभव है, अपनी लालसाओं पर इस वास्ते हंसो कि वे अनधिकार चेष्टा थीं "[3] यहां कथन की नाटकीयता में सन्देह नहीं है पर क्या इस तरह बोलनेवाले पात्र भी कहीं मिलेंगे? भगवतीप्रसाद वाजपेयी के यथार्थवाद मे बीच-बीच में बाधा डालनेवाली चीज यह दार्शनिकता है। उनकी यह प्रवृत्ति जो 'पिपासा' में शुरू हुई[4] 'यथार्थ से आगे' तक पहुंचने पर भी समाप्त नहीं हुई है। 'यथार्थ से आगे' म यथार्थवादी चरित्र चित्रण और कथा-विकास बहुत प्रभावशाली है पर बीच-बीच मे सब भाषण और दार्शनिक विवेचन खटकते हैं।[5] यही वाजपेयीजी के यथार्थ के पीछे से आनेवाली चीज है। पात्रो के मनोभावों की विभिन्न दशाओं मे उन्हींके अनुसार सुनायी पड़नेवाली दार्शनिक रेडियो-वार्ता या गीता-श्लोक या सिनेमा-वार्ता आदि बिलकुल असाधारण संयोग हैं और फिलॉसफर के ही हथकंडे हैं।

इनके अतिरिक्त आदर्शवादी पात्र कथानक आदि भी यथार्थवादी कला के सौन्दर्य पर आघात कर सकते हैं। अनियंत्रित आलोचनाएं यथार्थ म बाधा ही डालती हैं।

प्रादेशिक बोली और यथार्थ

४१० हिन्दी उपन्यास में जिन नवीनतम यथार्थवादी प्रवृत्तियों का विकास हुआ है उनमे एक प्रादेशिक बोलियों का प्रयोग है। पात्रो की यथार्थता के लिए उनकी भाषा की स्वाभाविकता अनिवार्य है। स्वाभाविकता की चरम दशा तभी प्राप्त होगी जबकि पात्रों की बोली को उसी रूप में उपन्यास में रखा जाय यही सोचकर आजकल कुछ उपन्यासकारों ने पात्रों की प्रादेशिक बोलियों का उपयोग किया है। विशेषकर आंचलिक उपन्यासों में यह एक अनिवार्य अंग-सा हो गया है। किन्तु इस प्रयोग से जो

---

1 बाबा बटेसरनाथ पृ १४९ १५०।

2 भिखारिणी पृ ४६।

3 भिखारिणी पृ ११९।

4 पिपासा में कमलनयन के शब्द पृ ४४-४५ और नरेन्द्र के विचार पृ ९।

5 यथार्थ से आगे पृ ९८ ११० १६६।

प्रयोजन होता है उसके सम्बन्ध में भी सोचना आवश्यक है।

४११ वैसे प्रादेशिक बोलियों का उपयोग हिन्दी उपन्यास के लिए कोई नयी बात नहीं है। हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों में ही यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। सन् १८८६ के कई वर्ष पहले लिखित और १८८६ में प्रकाशित बाबू राधाकृष्ण दास के 'निस्सहाय हिन्दू' में ग्रामीण व्यक्तियों के मुँह से प्रादेशिक बोली का ही व्यवहार किया गया है

'सोहनलाल—कहो अब हम मदनमोहन का कही यो के कितनौ समझायो कुछ सुनबै नाही करता कितना कहा कि तू हमरे साथ बाजार चला करो अपना काम काज सीखो तुई तीन सौदा कराय दिया आठ दस आना मिल गया न कोई की नौकरी न चाकरी पर मनत नाही हम करी सो करी हम तो ओके मारे तप होय गये हाहा ठोठी बेल कूप में दिन बितावना आय ।'[1]

४१२ इसी तरह भाषा को यथार्थ बनाने के लिए अपनायी गयी दूसरी प्रवृत्ति अंग्रेजों द्वारा हिन्दी में बातचीत कराते समय उनकी हिन्दी में अपनी उच्चारण का समावेश करना है। 'कुसुम कुमारी' में अंग्रेज मजिस्ट्रेट की बोली इसका उदाहरण है। इसके बाद भी कई उपन्यासों में यत्र-तत्र इन दोनों प्रकार के भाषा-सम्बन्धी विशेष प्रयोग किये गये। किन्तु उनको न सार्वजनिक प्रचार मिला और न वे विशेष सम्मान के पात्र ही हुए। क्रमशः इस प्रयोग की उपेक्षा की गयी। प्रेमचन्द ने एक बार स्पष्ट लिखा दिया कि महाजनों जमींदारों और किसानों की भाषाओं को यथायुक्त बनाने के लिए विभिन्न बोलियों के उपयोग की आवश्यकता नहीं है। भाषा के—साहित्यिक भाषा के—शब्द भंडार से ही आवश्यकतानुसार शब्दों को चुनकर और उपयुक्त शैली में वाक्य रचना करके अपेक्षित प्रभाव लाया जा सकता है। कुछ शब्दों में बहुत ही असाधारण हेर-फेर करने के अतिरिक्त उन्होंने कभी संपूर्ण शैली को नहीं बदला। होरी यद्यपि कोई ग्रामीण बोली नहीं बोलता तो भी उसे ग्रामीण समझने में कोई कष्ट नहीं होता। होरी में प्रेमचन्द ने जिस ग्रामीण आत्मा की प्रतिष्ठा की है वही ग्रामीण आत्मा उसकी भाषा में भी है भले ही उसका कलेवर सभ्य और पुस्तकीय भाषा हो। वही भाषा का बाह्य रूप आत्मा के अभिव्यंजन में बाधक नहीं बनती। प्रेमचन्द के पश्चात् के अधिकांश लेखकों ने भी पात्रों को यथार्थ बनाने के लिए बोलियों की आवश्यकता नहीं समझी।

४१३ किन्तु हाल में कुछ उपन्यासों में पात्र और वातावरण के अनुसार बोलियों का उपयोग होने लगा है। उदाहरण के रूप में हम 'गुनाहों का देवता' 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' 'सागर, लहरें और मनुष्य' 'मैला आँचल' 'परती परिकथा' आदि को ले सकते हैं। इनमें रेणु के उपन्यासों को छोड़कर अन्य तीनों एक श्रेणी में आयेंगे रेणु के उपन्यास बिलकुल भिन्न श्रेणी के हैं। प्रथम तीनों में कुछ पात्र अपनी-अपनी प्रादेशिक बोली में बोलते हैं पर अन्तिम दोनों में प्रादेशिक बोली का प्रयोग नहीं

---

१ निस्सहाय हिन्दू, पृ ११।

हुआ है, पात्रों के कुछ शब्दों के विशेष उच्चारण को ज्यों का त्यों उतारा गया है। 'कुमाऊँ का देवता' में केवल कुमाऊँ और 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में केवल मनम् सिंह ग्रामीण-अपनी बोली में बोलते हैं। अन्य सभी पात्रों के वार्तालाप ठेठ बोलचाल की खड़ी बोली में हैं। इस तरह केवल एक पात्र के कथन को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करने की क्या आवश्यकता है जबकि अन्य पात्रों के संभाषण लेखक के साहित्यिक सांचे में ढलकर आते हैं? लगता है, लेखकों का उद्देश्य इन पात्रों के सबल ग्रामीण व्यक्तित्व पर जोर देना ही है। कथा को आगे बढ़ाने के लिए नहीं पात्रों को साकार बनाने के लिए कथोपकथन गढ़ा गया है। कुमाऊँ और मनम् सिंह के बोलने के टोन को उनकी बोलियों में जितनी सुगमता से लाया जा सकता है, किताबी भाषा में नहीं। पर अन्य पात्रों का व्यक्तित्व ग्रामीण नहीं है। सभ्य वातावरण में विचरनेवाले उन नागरिकों के भाव और रंग-ढंग साधारण बोलचाल की भाषा में भी प्रकट किये जा सकते हैं। फिर भी यथार्थवाद की कसौटी पर कसने से एक बात खटकती है। जब अन्य पात्रों के संभाषणों को ज्यों का त्यों उतारने और उनके व्यक्तित्वों का फोटोग्राफिक प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करने की चिन्ता लेखक ने नहीं की है, तब एक ही पात्र के व्यक्तित्व की इतनी चिन्ता क्यों है? इस एक पात्र की तुलना में अन्य पात्र कुछ अव्यक्त-से हो जाते हैं।

४१४ सागर, लहरें और मनुष्य में थोड़ा-सा अन्तर है। उसके अधिकांश पात्र बरसोवा गाँव के मछुए हैं। यह एक आंचलिक उपन्यास है जिसमें मछुओं के ग्रामीण जीवन के विविध अंग प्रकट किये गये हैं। उनमें हरएक का व्यक्तित्व उनके व्यक्तिगत और सामूहिक व्यवहार आचार-विचार इन सबको प्रकट करने के कारण यह एक 'आचार-उपन्यास' (Novel of Manners) है। लेखक ने रत्ना को छोड़कर सभी ग्रामीण पात्रों से मछुओं की बोली में बात चीत करायी है। इसका प्रभाव यह हुआ कि संपूर्ण उपन्यास में एक ग्रामीण वातावरण फैल गया है और उस वातावरण में विचरनेवाले पात्रों की आत्मा को समझने में अधिक सुविधा रहती है। यह बोली भी खड़ीबोली के बहुत निकट होने के कारण अधिक अस्पष्ट नहीं है। पर प्रश्न यह है कि इस विशेष बोली से जो भाव और टोन प्रकट हुए हैं, क्या खड़ीबोली की बोल-चाल की भाषा में नहीं आ सकते? क्या भाव और व्यक्तित्व वाणी पर ही निर्भर रहते हैं? विशेष तरह की आंचलिक बोली वातावरण को अधिक सरलता से स्पष्ट कर करती है पर हमें यह मानना पड़ेगा कि वह उपन्यास की प्रचुरता को बढ़ाकर किसी गंभीर उद्देश्य की सिद्धि नहीं करती। बोली से अपरिचित पाठक को एक ही उपन्यास में एकाधिक शैलियों के होने से कष्ट होता है लेखक का रास्ता भी सुगम नहीं रहता। इसीलिये जगह जगह पर जहाँ पात्र अपने स्वाभाविक जीवन उपन्यास में तल्लीन रहते हैं, लेखकों को स्वयं प्रत्यक्ष होकर व्याख्या करनी प [illegible] है।

४१५ 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' की भाषा इन सबसे अधिक व्यापक है पर उनकी कलात्मकता और प्रेषणीयता पर भी अधिक सन्देह होता है। रेणु ने किसी प्रादेशिक बोली का उपयोग नहीं किया है उनके सभी पात्र साधारण बोली ही बोलते हैं लेकिन उनके शब्द विशेष प्रकार से उच्चरित होते हैं। पात्रों के

करने की उदात्त प्रवृत्ति के बीच एक संघर्षमय दशा उत्पन्न की है। अपराध-वासना (Crime Instinct) और अपराध-बोध (Crime Conscience) इसके विषय हैं। 'महामूर्ख' में भी आत्मा की दो दशाएं दिखायी गयी हैं—एक वह जिसमें वह कुत्सित से कुत्सित नीचता की ओर पतित हो सकता है और दूसरी जिसमें वह अपार उदात्तता प्राप्त कर सकता है। 'अन्ना करेनिना' भी पाप-वासना और पाप-बोध के संघर्ष के रूपक के अतिरिक्त कुछ नहीं है। 'पुनर्जीवन' में एक ओर पाप और पाप-बोध का संघर्ष दिखाया गया है तो दूसरी ओर आत्मपीड़न से होनेवाले अभिमान का रूप। मनुष्य के हृदय पर युद्ध जो आघात करता है उसे 'युद्ध और शान्ति' स्पष्ट करता है।

इन उपन्यासों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कुछ आदर्शों का प्रतिष्ठापन किया गया है। पर वस्तुतः इनके महत्त्व का कारण ये आदर्श नहीं हैं। सम्भाव्यता की कसौटी पर ये आदर्श निरर्थक सिद्ध होंगे। पाप और पुण्य के बीच के संघर्ष में पड़ी हुई मानवात्मा की तड़पन ही इन उपन्यासों के चिरन्तन मूल्य का कारण है। यह तड़पन इसलिए अधिक मार्मिक हुई है कि उसके द्वारा लेखकों की कुछ स्वानुभूत अनुभूतियां ही प्रकट की गई हैं। पात्रों के हृदय-मन्थन में हम लेखकों की हृदय-पीड़ा का भी अनुभव कर सकते हैं। अपनी ही मानसिक चंचलता के कारण जीवन में घोर निराशा का अनुभव करनेवाली नताशा के प्रति जब पियर कहता है "मैं जो कुछ हूं वह न होता मैं संसार में सबसे सुन्दर, सबसे समर्थ सबसे अच्छा होता मैं स्वतन्त्र होता तो तुम्हारे सामने घुटने टेककर तुम्हारे प्रेम की याचना करता।"[1] तो ज्ञात होता है कि जीवन की इच्छाएं और पराधीनताएं मन में कैसा संघर्ष उत्पन्न करती हैं।

हार्दिक अनुभूति

४१८ उपर्युक्त सभी उपन्यासों में तथा जेन आस्टिन डिकेन्स जार्ज एलियट, गोर्की शोलोखोव आदि कलाकारों के उपन्यासों में हमें जीवन पर आसक्त करनेवाली जो चीज मिलती है वह लेखकों की हार्दिक अनुभूति है। इन कलाकारों के लिए जीवन वस्तुतः अध्ययन का विषय नहीं अनुभव और अनुभूति का विषय रहा है। जहां-जहां लेखक पात्रों से तादात्म्य पाकर उनके भावों से अपने भावों को मिला देता है और हृदय की वाणी को उन्मुक्त करता है वहां उपन्यास के सबसे मार्मिक प्रसंग मिलते हैं। जोला के उपन्यासों में भी ऐसे प्रसंगों की कमी नहीं है। हिन्दी में प्रेमचन्द ही एक कलाकार हुए हैं जिनकी अनुभूति जागरित होकर लेखक को पात्र से मिला सकी है। यह हार्दिक अनुभूति अध्ययन से नहीं आती बल्कि परम्परासिद्ध संस्कृति तथा वैयक्तिक साधना द्वारा ही आती है। और जब वह आती है श्रम से नहीं आती सहज रूप में ही आ जाती है। आचार्य विनोबा ने सच्ची अनुभूति का उदाहरण देते हुए सुन्दर ढंग से कहा है "किसी मां के बारे में ऐसा नहीं सुना कि उसने (बालक की मृत्यु पर) विलाप इसलिए नहीं किया कि उसने किसी कॉलेज में तालीम नहीं पायी थी और

---

[1] War and Peace, P 561

हुआ है, पात्रों के कुछ शब्दों के विशेष उच्चारण को ज्यों का त्यों उतारा गया है। 'बूनाहों का देवता' मे केवल बुआजी और 'टेढ़ मेढ़े रास्ते' में केवल मगरू मिश्र अपनी-अपनी बोली में बोलते हैं। अन्य सभी पात्रों के वार्तालाप ठेठ बोलचाल की खड़ी बोली में है। इस तरह केवल एक पात्र के कथन को ज्यों का त्यों प्रस्तुत करने की क्या आवश्यकता है जबकि अन्य पात्रो के संभाषण लेखक के साहित्यिक सांचे म ढलकर आते है? लगता है लेखकों का उपदेश इन पात्रो के सबल ग्रामीण व्यक्तित्व पर जोर देना ही है। कथा को आगे बढ़ाने के लिए नही पात्रो को साकार बनाने के लिए कथोपकथन गढ़ा गया है। बुआजी और मगरू मिश्र के बोलने के टोन को उनकी बोलियों में जितनी सुगमता से लाया जा सकता है, किताबी भाषा मे नही। पर अन्य पात्रों का व्यक्तित्व ग्रामीण नही है। सभ्य वातावरण मे विचारनेवाले उन नागरिकों के भाव और रंग-ढंग साधारण बोलचाल की भाषा में भी प्रकट किये जा सकते हैं। फिर भी यथार्थवाद की कसौटी पर कसने से एक बात खटकती है। जब अन्य पात्रो के सभाषणों को ज्यों का त्यों उतारने और उनके व्यक्तित्वो का फोटोग्राफिक प्रतिबिंब प्रस्तुत करने की चिन्ता लेखक ने नही की है तब एक ही पात्र के व्यक्तित्व की इतनी चिन्ता क्यो है? इस एक पात्र की तुलना मे अन्य पात्र कुछ अस्पष्ट-से हो जाते हैं।

४१४ 'सागर, लहरें और मनुष्य' मे थोड़ा-सा अन्तर है। उसके अधिकांश पात्र बरसोवा गाँव के मछुए हैं। यह एक आंचलिक उपन्यास है जिसमें मछुओं के ग्रामीण जीवन के विविध पक्ष प्रकट किये गये हैं। उनमें हरएक का व्यक्तित्व उनके व्यक्तिगत और सामूहिक व्यवहार, आचार-विचार इन सबको प्रकट करने के कारण यह एक 'आचार-उपन्यास' (Novel of Manners) है। लेखक ने रत्ना को छोड़कर सभी ग्रामीण पात्रों से मछुओं की बोली मे बात चीत करायी है। इसका प्रभाव यह हुआ कि संपूर्ण उपन्यास मे एक ग्रामीण वातावरण फैल गया है और उस वातावरण में विचरनेवाले पात्रों की आत्मा को समझने में अधिक सुविधा रहती है। यह बोली भी खड़ीबोली के बहुत निकट होने के कारण अधिक अस्पष्ट नही है। पर प्रश्न यह है कि इस विशेष बोली से जो भाव और टोन प्रकट हुए हैं, क्या खड़ीबोली की बोल चाल की भाषा में नही आ सकते? क्या भाव और व्यक्तित्व बोली पर ही निर्भर रहते हैं? विशेष तरह की आंचलिक बोली वातावरण को अधिक सरलता से स्पष्ट हो करती है पर हमें यह मानना पड़ेगा कि वह उपन्यास की अपरूपता को बनाकर किसी गंभीर उद्देश्य की सिद्धि नही करती। बोली से अपरिचित पाठक को एक ही उपन्यास में एकाधिक बोलियों के होने से कष्ट होता है, लेखक का रास्ता भी सुगम नही रहता। इसीलिये जगह जगह पर जहाँ पात्र अपने स्वाभाविक [illegible] उपन्यास में तल्लीन रहते हैं, लेखकों को स्वयं प्रत्यक्ष होकर व्याख्या करनी [illegible] है।

४१५ 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' की भाषा इन सबसे अधिक आकर्षण है पर उनकी कलात्मकता और अपरूपता पर भी अधिक सन्देह होता है। रेणु ने किसी प्रादेशिक बोली का उपयोग नही किया है उनके सभी पात्र साधारण बोली ही बोलते हैं, लेकिन उनके शब्द विशेष प्रकार से उच्चरित होते हैं। पात्रा के

संभाषण में ही नहीं लेखक के वर्णन में भी शब्दों के ऐसे प्रचलित ग्रामीण शब्दों का प्रयोग किया गया है। पर कोई वाक्य सम्पूर्ण रूप से ग्रामीण नहीं बनाया गया है। रेणु ने साधारण खड़ीबोली के बोलचाल और लेखन के रूप में ही बीच-बीच में हिन्दी अंग्रेजी शब्दों के ग्रामीण रूपों को बिठाकर एक विशेष तरह का चमत्कार उत्पन्न किया है। इसे कला का कोई उत्कृष्ट नमूना नहीं कहा जा सकता। निस्सन्देह इस खिचड़ी भाषा से ग्रामीण वातावरण और ग्रामीण पात्रों के बाह्य स्वरूप का यथार्थ रूप प्रकट होता है। इसमें भी सन्देह नहीं है कि इस भाषा से यथार्थ से भी परे कुछ व्यंजित होता है क्योंकि ये विशेष शब्द केवल कुछ भाव को नहीं प्रकट करते बोलनेवालों के सांस्कृतिक और सामाजिक स्तर को भी व्यंजित करते हैं। इन्हीं शब्दों के स्थान पर खड़ीबोली के साधारण शब्दों को रख दें तो सारा चमत्कार नष्ट हो जायगा। 'मैला आंचल' में— 'रौतहट टीसन में जो होमापोथी डागडर थे (पृ ४१) 'सीढ़ी में ही लगी हुई मोल कड़ी में 'जलमुनियाँ' का कठोल बैठा दिया है" (पृ ४४) "आजकल डाक्टर लोग 'पत्थल' का नकसी दाँत लगा देते हैं' (पृ ४५) 'बालदेवजी आजकल 'जाम हिन्द' कहते हैं' (पृ ४६) "ये लोग' इस्कुलिया है (पृ ४६) 'कभी तास का 'रिहर्सल' करना है।" (पृ ७७) 'गुरु ने खिमा कर दिया' (पृ० ७७) ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। 'परती परिकथा' में ग्राम में प्रचलित अंग्रेजी शब्दों पर भी ध्यान दिया गया है। तमाशा के बाद तसबीक। तसबीक करने के लिए कानूनगो से ज्यादा पावरवाले हाकिम साहब आए हैं 'हर नया हाकिम नया ऐलान करता है— बाजप्ती तमाशा हम नहीं जाने (पृ २११)।

४१६ स्पष्ट है कि यहाँ जो आकर्षण है, वह भाव में नहीं शब्दों के रूप में है—बल्कि रूप में भी नहीं साधारणतया अनभ्यस्त शब्द-योग में है। इसमें सन्देह नहीं कि रेणु ने पात्रों को यथार्थ बनाने के लिए अन्य कई उपादानों का भी उपयोग किया है और उच्चारण-सम्बन्धी यह विशेषता उनकी पूरक है। किन्तु इससे जो चमत्कार आता है वह बहुत ही कृत्रिम है और भारतेन्दु-युग की हिन्दी-अंग्रेजीमिश्रित हास्य कविताओं से अधिक उन्नत श्रेणी का नहीं है। कोई स्त्री या पुरुष साड़ी और कोट पहने तो उसमें एक विशेष कृत्रिम चमत्कार रहेगा जिसका कारण असाधारणता ही है। रेणु की भाषा में भी ऐसा ही चमत्कार है। शब्दों के अर्थग्रहण-मात्र से इन उपन्यासों का आस्वादन नहीं किया जा सकेगा। ये उपन्यास भाषा-सम्बन्धी इस विशेषता के कारण उन्हीं लोगों को अति प्रिय होगा जो उसमें वर्णित आंचलिक जीवन का उनके पात्रों और परिस्थितियों का प्रत्यक्ष ज्ञान रखते हों। अपनी आंचलिक सीमा के बाहर और उसमें प्रतिपादित जीवन से अनभिज्ञ लोगों के बीच में उसकी कला उतनी आस्वाद्य नहीं रहेगी। यथार्थ इसमें है पर यह यथार्थ सीमित क्षेत्र का है। भाषा और बोली के भी परे भाव-सत्ता का जो यथार्थ है, वही विश्व-कलाकारों की उत्कृष्ट कृतियों का निदान है। ऐसा महत्त्व रेणु के उपन्यासों को मिलेगा यह बहुत ही सन्दिग्ध है। पर इसका निषेध हम नहीं करते कि इनकी यह भाषा अपने अंचल के जीवन का वास्तविक रूप अंकित करने में सहायक है—और बहुत सहायक है।

आठवाँ अध्याय

उपसंहार : मूल्यांकन

१

स्थायी मूल्य के तत्त्व

यूरोप के जो उपन्यासकार विश्व-साहित्यकार के पद पर प्रतिष्ठित हो चुके हैं उनकी उत्कृष्ट रचनाओं में कुछ विशेष गुण मिलेंगे जो उन कृतियों को सार्वभौमिक सम्मान के पात्र बनाते हैं। यद्यपि किसी बने-बुने सिद्धान्त के आधार पर किसी उपन्यास की उत्कृष्टता का कारण बताया नहीं जा सकता है, तथापि सामान्य रूप में कुछ गुणों का उल्लेख किया जा सकता है जिनमें एक या अनेकों के होने से रचना श्रेष्ठ बनती ही है। हम अब देखें कि विश्व के श्रेष्ठ उपन्यासों के मुख्य गुण क्या हैं?

मानव-जीवन के महाभाष्य

४१७ विक्टर ह्यूगो का 'ल मिज़राब्ल' दास्तायवस्की के 'अपराध और दण्ड' और 'महामूर्ख' टाल्सटाय के 'अन्ना करेनिना' 'पुनर्जीवन' (रिसरक्शन) और 'युद्ध और शान्ति' आदि उपन्यास मानव-जीवन के महाभाष्य माने जा सकते हैं। इनमें स्वानुभूतिपूर्ण तात्त्विक दर्शन के द्वारा जीवन का विश्लेषण किया गया है। इनसे अधिक विस्तृत क्षेत्रों की व्याख्या करनेवाले और इनसे अधिक अगाध तथा कलात्मक उपन्यास कई मिलते हैं। पर उपर्युक्त उपन्यासों की विशेषता इस बात में है कि उनमें मानव की मानवता का विश्लेषण किया गया है। लाखों वर्षों के निरन्तर विकास के परिणामस्वरूप वर्तमान सभ्य दशा तक पहुँचते हुए मनुष्य में जो उदात्तता और जो पाशविकता आज भी काम कर रही है उसमें निश्चित ही असीम शक्तियाँ हैं। इन विरोधी शक्तियों का संघर्ष ही मनुष्य के विकास की मुख्य प्रेरणा है। पाशविकता से मनुष्यता की ओर प्रयाण करनेवाले मनुष्य के इस विकास को भले ही आत्मवादी व्यक्तिगत आध्यात्मिक साधना मानें और भौतिकवादी सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न स्थापित करने का प्रयत्न समझें पर इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता है कि व्यक्ति तथा समाज में इन दोनों प्रकारों की शक्तियाँ सदा काम करती आयी हैं और उन्हींके परिणामस्वरूप मानव-जाति के नैतिक नियम सामाजिक सभ्यता राष्ट्रीय संगठन आदि का विकास हुआ है। उपर्युक्त उपन्यासों में इन्हीं शक्तियों के पारस्परिक संघर्ष का रूप दिखाया गया है। 'ल मिज़राब्ल' में चरम कोटि के स्वार्थ से अविचल आत्मोत्सर्ग की ओर जानेवाला जीन-वल-जीन मनुष्य के व्यष्टि से समष्टि की ओर विकास का दिग्दर्शन कराता है। दास्तायवस्की ने 'अपराध और दण्ड' में मनुष्य की अपराध करने की पाशविक आसक्ति और उस अपराध के सम्बन्ध में सोच-विचार

करने की उदात्त प्रवृत्ति के बीच एक संघर्षमय दशा उत्पन्न की है। अपराध-वासना (Crime Instinct) और अपराध-बोध (Crime Conscience) इसके विषय हैं। 'महामूर्ख' में भी आत्मा की दो दशाएं दिखायी गयी हैं—एक वह जिसमें वह कुत्सित से कुत्सित नीचता की ओर पतित हो सकता है और दूसरी जिसमें वह अपार उदात्तता प्राप्त कर सकता है। 'अन्ना करेनिना' भी पाप-वासना और पाप-बोध के संघर्ष के रूपक के अतिरिक्त कुछ नहीं है। 'पुनर्जीवन' में एक ओर पाप और पाप-बोध का संघर्ष दिखाया गया है तो दूसरी ओर आत्मपीड़न से होनेवाले अभिमान का क्षय। मनुष्य के हृदय पर युद्ध जो आघात करता है उसे 'युद्ध और शान्ति' स्पष्ट करता है।

इन उपन्यासों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कुछ आदर्शों का प्रतिष्ठापन किया गया है। पर वस्तुतः उनके महत्व का कारण ये आदर्श नहीं हैं। सम्भाव्यता की कसौटी पर ये आदर्श निरर्थक सिद्ध होंगे। पाप और पुण्य के बीच के संघर्ष में पड़ी हुई मानवात्मा की तड़पन ही इन उपन्यासों के चिरन्तन मूल्य का कारण है। यह तप्त इसलिए अधिक मार्मिक हुई है कि उसके द्वारा लेखकों की कुछ स्वानुभूत अनुभूतियां ही प्रकट की गई हैं। पात्रों के हृदय-मन्थन में हम लेखकों की हृदय-पीड़ा का भी अनुभव कर सकते हैं। अपनी ही मानसिक चंचलता के कारण जीवन में घोर निराशा का अनुभव करनेवाली नताशा के प्रति जब पियर कहता है "मैं जो कुछ हूं वह न होता मैं संसार में सबसे सुन्दर, सबसे समर्थ सबसे अच्छा होता मैं स्वतन्त्र होता तो तुम्हारे सामने घुटने टेककर तुम्हारे प्रेम की याचना करता।"[1] तो ज्ञात होता है कि जीवन की इच्छाएं और पराधीनताएं मन में कैसा संघर्ष उत्पन्न करती हैं।

हार्दिक अनुभूति

४१८ उपर्युक्त सभी उपन्यासों में तथा जेन आस्टिन डिकेन्स जार्ज एलियट गोर्की शोलोखोव आदि कलाकारों के उपन्यासों में हमें जीवन पर आश्रित करनेवाली जो चीज मिलती है वह लेखकों की हार्दिक अनुभूति है। इन कलाकारों के लिए जीवन वस्तुतः अध्ययन का विषय नहीं अनुभव और अनुभूति का विषय रहा है। जहां-जहां लेखक पात्रों से तादात्म्य पाकर उनके भावों से अपने भावों को मिला देता है और हृदय की वाणी को सम्मुक्त करता है वहां उपन्यास के सबसे मार्मिक प्रसंग मिलते हैं। बोला के उपन्यासों में भी ऐसे प्रसंगों की कमी नहीं है। हिन्दी में प्रेमचन्द ही एक कलाकार हुए हैं जिनकी अनुभूति जागरित होकर लेखक को पात्र से मिला सकी है। यह हार्दिक अनुभूति अध्ययन से नहीं आती बल्कि परम्परागत संस्कृति तथा वैयक्तिक साधना द्वारा ही आती है। और जब वह आती है श्रम से नहीं आती सहज रूप में ही आ जाती है। आचार्य विनोबा ने सच्ची अनुभूति का उदाहरण देते हुए सुन्दर ढंग से कहा है "किसी मां के बारे में ऐसा नहीं सुना कि उसने (बालक की मृत्यु पर) विलाप इसलिए नहीं किया कि उसने किसी कॉलेज में तालीम नहीं पायी थी और

---

१ War and Peace P 561

बना बिना विलाप के चला गया। [1] बच्चे के प्रति माता का जो भाव है वह पात्रों के प्रति लेखक में आ जाय तो पात्रों की अनुभूति लेखक की भी अनुभूति बन जाती है और इसीसे उपन्यास उत्कृष्ट बनता है। यह अनुभूति मानवता के प्रति विशाल सहानुभूति का कारण बन जाती है अतः समस्त मानवता के सुख-दुःखों से प्रभावित होकर लेखक लिखता है। ऐसी सहानुभूतिपूर्ण रचना निश्चित ही हृदय के तरल विकारों को तरंगित करती है।

सामाजिक इतिहास

४१६ उपन्यास के स्थायी मूल्य का और एक कारण उसमें समाविष्ट यथार्थ सामाजिक जीवन का इतिहास होता है। किसी विशेष समय के और किसी विशेष समाज के सामान्य स्वभावों को रेखाबद्ध करनेवाले उपन्यास समाजशास्त्र की दृष्टि से महान हो जाते हैं। तुर्गनेव गाल्सवर्दी प्रूस्त आदि के उपन्यास तत्कालीन समाज के यथार्थ अध्ययन के रूप में महत्त्वपूर्ण हैं। इन उपन्यासों में ऐतिहासिक घटनाओं का विशेष स्थान न होने पर भी ये इतिहास से अधिक सामाजिक परिवर्तनों का विश्लेषण करते हैं क्योंकि इनमें समाज की आन्तरिक सत्ता का इतिहास निहित रहता है। टाल्सटाय के 'युद्ध और शान्ति' तथा थोलोखोव के उपन्यासों में महान ऐतिहासिक घटनाओं का भी समावेश किया गया है। इन वास्तविक घटनाओं में जब सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन भी सम्मिलित हो जाते हैं तब उपन्यास की क्षेत्र-विस्तृति अधिक बढ़ जाती है और उसमें जीवन का अध्ययन सर्वांगीण हो जाता है।

जीवन की स्पष्टता और सजीवता

४२० उपन्यासकार अपनी इच्छानुसार जीवन के छोटे या बड़े अंश को ले सकता है किन्तु जिस विषय को वह लेता है उसे पूर्णतया स्पष्ट और सजीव बनाना आवश्यक है। स्थायी मूल्य के किसी भी उपन्यास को लें तो स्पष्ट होगा कि उनमें जीवन निर्जीव रेखाओं द्वारा अंकित नहीं किया गया है बल्कि सजीव रूप में व्यंजित किया गया है। सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित तर्क-जालों से भरे हुए उपन्यासों में तथा आधुनिक विश्लेषणात्मक उपन्यासों में प्रायः इस सजीवता की कमी रहती है और इस कारण उनकी मार्मिकता में भी कमी का अनुभव होता है।

हृदय का शक्ति-केन्द्र

४२१ ऊपर जितनी बातें बतायी गयी हैं उनके वास्तविक आधार का अन्वेषण करें तो हमें ज्ञात होगा सभी उत्कृष्ट रचनाओं की समूची श्रेष्ठ प्रवृत्तियां लेखक के हृदय से निकलती हैं। जैसे बिजली बिजलीघर से निकलकर तारों द्वारा विभिन्न दिशाओं की ओर प्रयाण कर एक विशाल क्षेत्र में प्रकाश फैलाती है उसी

१. साहित्यिकों से पृ० ११।

तरह लेखक के हृदय के अमित-भंडार से निकलनेवाली अपार शक्ति ही उपन्यास के पात्रों में घटनाओं में और प्रत्येक शब्द में प्राण-संचार करती है। किसी उत्कृष्ट रचना की सृष्टि में कम मनोशक्ति का व्यय नहीं करना पड़ता। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उत्कृष्ट रचनाएं कठिन परिश्रम से लिखी जाती हैं। लेखक के हृदय में ही ऐसी अपार शक्ति होती है जो स्वतःस्फूर्त बहिःस्फुरण द्वारा रचनाओं को आद्यन्त सजीव बना देती है।

२

हिन्दी उपन्यास की उपलब्धियां और सीमाएं

ऊपर जिन तत्वों का उल्लेख किया गया है उनके आधार पर हिन्दी उपन्यास की उपलब्धियों का विवेचन कर तो हमें ज्ञात होगा कि हमारा साहित्य कहां पड़ा हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि विश्व-साहित्य क सामने हमारी उपलब्धियां अल्प-मात्र हैं किन्तु हम सन् १९२ से अब तक के अल्पकाल के हिन्दी उपन्यास के विकास पर दृष्टि डालें तो बड़ा ही आश्चर्य होगा। इन बातों को ध्यान में रखते हुए ही हमें हिन्दी उपन्यास की उपलब्धियों तथा सीमाओं का निर्णय करना पड़ेगा। सामान्य रूप में कहा जाय तो रूसी उपन्यास जीवन क सत्यों और यथार्थों के अधिक निकट है। वह साधारण मनुष्य की साधारण प्रवृत्तियों को प्रकट करता है पर कभी-कभी उसका प्रभाव असामान्य है। फ्रेंच उपन्यास शिल्प-विधान की दृष्टि से संसार के सभी उपन्यासों से उत्कृष्ट है। विषय तथा मनोविकारों का क्रमिक और प्रभावशाली विकास करने में फ्रेंच कलाकारों को जो सफलता मिली है अन्य किसी भाषा के उपन्यासकारों को प्राप्त नहीं हुई है। अंग्रेजी उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता उसका वैविध्य है। विषय और शिल्प-विधान का जो वैविध्य अंग्रेजी उपन्यास साहित्य में मिलता है वह कुछ विशिष्ट धाराओं का ही विकास करनेवाले फ्रेंच तथा रूसी उपन्यासों में नहीं मिलता। हिन्दी उपन्यास में ये सभी विशेषताएं थोड़ी-बहुत मिलती हैं लेकिन विशेष रूप में उल्लेखनीय विशेषता कोई भी नहीं है।

विषय की सीमा

४२२ विषय की दृष्टि से देखा जाय तो हमें मुख्यतया तीन प्रकार के उपन्यास प्राप्त हुए हैं—सामाजिक वैयक्तिक और ऐतिहासिक। अधिकांश सामाजिक उपन्यास कुछ समस्याओं के सम्बन्ध में ही लिखे गये हैं और आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यासों में उन समस्याओं को सुलझाने का भी प्रयत्न किया गया है। वैयक्तिक उपन्यास प्रायः काम-अतृप्ति से जनित कुण्ठा से पीड़ित व्यक्तियों का मनोविश्लेषण करनेवाले हैं।

जेन आस्टिन के उपन्यासों के समान घर की चहारदीवारी के अन्दर के जीवन को पूर्णता में प्रकट करनेवाले पारिवारिक (Domestic) उपन्यास गाल्सवर्दी और जोला

के उपन्यासों के समान वंश-परम्परा का इतिहास प्रस्तुत करनेवाले वंश-इतिहास के उपन्यास (Family Chronicle) 'मदाम बोवारी' 'मानन लस्का' 'साइलस मारनर' आदि के समान किसी विशेष प्रकार के व्यक्तित्व से युक्त व्यक्ति के जीवन की विवेचना करनेवाले चरित्र-उपन्यास (Character Novel) 'पाप और दण्ड' 'स मिज़राब्ल' 'अन्ना करेनिना' आदि के समान हृदय के संघर्षों को मार्मिक ढंग से चित्रित करनेवाले दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक उपन्यास 'युद्ध और शान्ति' 'दोन उपन्यास' आदि के समान किसी महान देशीय संघर्ष का इतिहास प्रस्तुत करनेवाले ऐतिहासिक-सामाजिक उपन्यास तुर्गनेव के 'पिता और पुत्र' और गनचारोव के 'ओब्लमोव' के समान पीढ़ियों के परिवर्तन से परिवर्तित मनोभावों को व्यक्त करनेवाले उपन्यास वेल्स के उपन्यासों के समान वैज्ञानिक रोमान्स आदि हमें प्राप्त नहीं हुए है। हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में अधिकांश ऐतिहासिक रोमान्स हैं। केवल वृन्दावनलाल वर्मा के 'झाँसी की रानी' में रोमान्स और इतिहास के भाव अलग किये जा सकते हैं। इतिहास के भाग में यथार्थ अधिक है।

विषय-विकास की सीमा

४२३ जैसे तीसरे अध्याय में दिखाया गया है हिन्दी के अधिकांश उपन्यास विवरण शैली में ही लिखे गये हैं। पूर्णतया दृश्य-विधान-शैली में लिखित उपन्यासों का एकदम अभाव है किन्तु विवरण-शैली के उपन्यासों में यत्र-तत्र दृश्यों का भी उपयोग किया गया है। धनोरथिक तथा सरितोपम उपन्यास का भी विकास हिन्दी में नहीं हुआ है। प्रथम के उदाहरण के रूप में 'गोदान' 'मैला आँचल' 'परती परिकथा' आदि दो-तीन उपन्यासों का तथा दूसरे के उदाहरण के रूप म केवल 'शेखर एक जीवनी' का उल्लेख किया जा सकता है। चेतना प्रवाह-उपन्यास हिन्दी में एक भी नहीं लिखा गया है।

आदर्शवाद की सीमा

४२४ असम्भाव्य आदर्शों की कल्पना सभी भाषाओं के उपन्यासों में किसी न किसी तरह होती रही है। अपनी फ्रेंच और रूसी के प्रारम्भिक उपन्यासों में थोड़ा बहुत आदर्शवाद मिलता है। तालस्ताय की उत्कृष्ट रचनाओं में भी कुछ आदर्शों का प्रतिष्ठापन किया गया है। लेकिन बौद्धिक विकास के साथ-साथ आदर्शवाद का पतन होता आया है और फ्रेंच तथा अंग्रेजी में वह लुप्त-सा हो गया है। हिन्दी उपन्यासों में जो आदर्श मिलते हैं उनमें भी बहुत-से असंभाव्य है। ऐसे आदर्श हमारे उत्कृष्ट लेखकों के नवीनतम उपन्यासों तक में मिलते हैं जैसे इलाचन्द्र जोशी के 'जहाज का पंछी' आदि में। रूसी के समाजवादी यथार्थवादी उपन्यासों मे वैज्ञानिक आधार पर अधिष्ठित जो आदर्शवाद मिलता है वह भी हिन्दी उपन्यासों में अप्राप्य है। किन्तु रेणु के उपन्यासों से संकेत मिलता है कि हिन्दी में भी ऐसे समाज-निर्माण-सम्बन्धी आदर्श प्रस्तुत करने की धारा विकसित होनेवाली है।

यथार्थवाद की सीमा

४२५ यथार्थवाद के क्षेत्र में हिन्दी उपन्यास को अभी बहुत कुछ करने को पड़ा है। यद्यपि हमारे उपन्यासों ने विश्लेषण की परिपाटी अपना ली है तथापि उनके व्यक्ति और समाज के वैज्ञानिक अध्ययन में अधिक सौष्ठव नहीं आ सका है। इसके कारणों की तथा हिन्दी उपन्यासकारों के यथार्थवाद के स्वरूप की विस्तृत चर्चा की जा चुकी है। यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यथार्थ की उच्चतम भूमि तक हमारे कलाकार नहीं पहुंच सके हैं। हमारे सामाजिक उपन्यासों से सम्बन्धित तर्क-वितर्कों से तथा काल्पनिक आदर्शों से यथार्थवाद को आघात पहुंचा है तो व्यक्तिवादी उपन्यासों में अलौकिक रोमान्टिक कल्पना तथा दार्शनिक चिन्तन से। नवीनतम सामाजिक यथार्थवादी नागार्जुन और रेणु तक काल्पनिक आदर्शों से पूर्णतया मुक्त नहीं हैं। व्यक्तिवादियों में जोशीजी के उपन्यास असाधारण घटनाओं से भरे हैं, तो जैनेन्द्र के उपन्यास भावुकतापूर्ण दार्शनिक चिन्तन से। इन दोनों प्रकार के उपन्यासों में व्यक्तिगत विशेषताओं की बारीकियों का सूक्ष्म अध्ययन नहीं मिलता। अगर जीवन केवल विकार और आवेग है तो हमारे अधिकांश उपन्यासों को कलात्मक कहा जा सकता है। पर अगर उसमें विचार, चिन्तन और बौद्धिकता का भी स्थान है तो हमें मानना पड़ेगा कि हमारे बहुत-से उपन्यास दुर्बल हैं। आज भी अधिकांश हिन्दी उपन्यासकारों का ध्येय पाठकों को चकित करनेवाली रोचक सामग्री प्रस्तुत करने का और कभी-कभी उनके पथ-विचलित पदों को ठीक रास्ते पर लाने का रहता है। इस प्रयत्न में उपन्यास घटनाओं की अधिकता से लादे जाते हैं और घटनाएं भी ऐसी होती हैं जो जीवन के किसी पहलू की व्याख्या करने के बदले पाठक को एक आश्चर्यमय भूल भुलैया की विस्मृति में डाल देती हैं। वास्तविक यथार्थ जीवन उपस्थित करनेवाले उपन्यास भी इस तरह की कल्पना से पूर्णतया मुक्त नहीं होसके। उदाहरण के लिए बिहार के ग्रामीण वातावरण का प्रतिबिम्ब उतारते हुए 'परती परिकथा' में जितन परती का ट्रैक्टर से जोतकर गुलाब की खेती करने की सोचता है। यह उपन्यास और सब प्रकार से भले ही उत्कृष्ट हो जितन की यह विचित्र सूझ सचमुच कुछ खटकती है। जो देश परतंत्रता के विषैले वायु से उन्मुक्त होकर सद्यःप्राप्त स्वतंत्रता के वातावरण में अपनी घर-घर समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न कर रहा है उसमें ट्रैक्टर से परतियों को जोतकर गुलाब की खेती करने की चिन्ता हो जाय तो उसकी यह सूझ निश्चित ही भावुक हृदय की सनक-मात्र समझी जायगी। यही अयथार्थ कल्पना प्रकट करती है कि लेखक ठोस धरती पर नहीं खड़ा है बल्कि यथार्थ की धरती और कल्पना के गगन के बीच में इधर-उधर भटकता रहता है—कभी धरती की ओर, कभी गगन की ओर। विश्लेषणवादी उपन्यासों में भी मनोविज्ञान या दर्शन के बहाने ऐसी कल्पना का उपयोग किया गया है। इन सबसे जो बात प्रकट होती है वह यही है कि हमारे लेखक यथार्थ के पथ से कुछ दूर तो बढ़ आये हैं किन्तु उन्हें और भी बहुत बढ़ना है।

आत्मविश्वास का अभाव

५२६ हमारे उपन्यासकारों ने सर्वत्र अपने विषय की सीधी व्याख्या करने का जो प्रयत्न किया है उससे हम इस अनुमान पर पहुँच सकते हैं कि या तो उन्हें पाठकों की समझने की शक्ति पर भरोसा नहीं है या फिर अपनी ही कला पर विश्वास नहीं है। कुछ इने-गिने उपन्यासों को छोड़कर सभी सामाजिक उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं को लेकर लम्बे-लम्बे भाषणों और तर्कों का विधान किया गया है, तो विश्लेषणवादी उपन्यासों में मन की उलझनों तथा आत्मा की समस्याओं की लम्बी चर्चाएं छेड़ी गयी हैं। जहां पात्रों को पाठक के सामने उपस्थित करने के बाद भी लेखक को अपने विचारों को प्रकट करने के लिए सीधे पाठक से बोलना पड़ता है वहां निश्चित ही कला की दुर्बलता प्रकट होती है। पात्रों को सामने उपस्थित कर स्वयं यवनिका के पीछे अप्रत्यक्ष हो जाना लेखक के रचनात्मक सौष्ठव के लिए आवश्यक है। अगर लेखक को अपनी सर्जन-शक्ति पर विश्वास हो तो वह अपने पात्रों पर विश्वास करेगा और उनके संसार को हमारे सामने रखकर हमारे सामने से हट जायगा। लेकिन इतना आत्मविश्वास हमारे बहुत कम लेखकों में है। 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' 'यथार्थ से आगे' 'मैला आंचल' 'परती परिकथा' आदि कुछ इने-गिने उपन्यास ही हैं जिनमें लेखक सीधे सामने आकर नहीं बोलते या पात्रों के व्यवहारों पर टीका टिप्पणी नहीं करते।

३

विश्व-उपन्यास की कुण्ठित दशा

५२७ पाश्चात्य उपन्यासों के सम्बन्ध में भी अब यह शिकायत होने लगी है उनके क्षेत्र और दृष्टिकोण अत्यन्त संकुचित हो गए हैं अतः उनमें जीवन को प्रेरणा देनेवाला कोई तात्त्विक दर्शन नहीं रहा। यूरोपीय भाषाओं के उपन्यास साहित्यों की भौतिकवादी तथा अन्तश्चेतनावादी धाराओं के अध्ययन से यह बात स्पष्ट होगी। ह्यू गो जार्ज एलियट, मेरिडिथ दास्तायवस्की ताल्सताय आदि कलाकारों ने जीवन को जैसे पूर्ण रूप में देखा था और उससे आत्मीयता का अनुभव किया था वैसे आज के पाश्चात्य उपन्यासकार नहीं कर पाते। इसका कारण यही है कि जीवन के प्रतिमानों के सम्बन्ध में कोई निश्चित सुदृढ़ धारणा न होने के कारण आज के लेखक एक अव्यवस्थित मनोदशा में उलझे हुए हैं।

अब तक जीवन के सम्बन्ध में जो दार्शनिक सिद्धान्त बनाये गए थे वे सब निर्मूल और निरर्थक सिद्ध होने लगे हैं। आत्मा और विश्वास पर आधारित मान्यताओं को बुद्धि और अविश्वास ने ढहा दिया है। इस तरह जीवन के अब तक स्थापित मूल्य निरर्थक सिद्ध हुए हैं। किन्तु उनके बदले में नये मूल्य स्थापित करने की शक्ति नयी बौद्धिकता में नहीं रही अथवा इस बौद्धिकता ने पुराने मूल्यों को बदलते देखकर नये मूल्य स्थापित करने की आवश्यकता ही नहीं समझी। जो भी हो,

इस समय संसार के चिन्तन-क्षेत्र में इस तरह की जो कुण्ठित दशा आ गयी है उस का प्रभाव उपन्यास-साहित्य पर भी पड़ा है। आज उपन्यास में कोई तात्त्विक दर्शन नहीं होता उसका सबसे बड़ा दर्शन सामान्य बुद्धि (Common Sense) ही होता है, अतः उसीके शासन में उपन्यास चल रहा है।

उपन्यास में इस प्रकार की दशा उत्पन्न करने में जो विचारधाराएं प्रेरक हुईं और जिनके कारण आज यूरोपीय उपन्यास दो विभागों में विभक्त हुआ है वे मनोविज्ञान और मार्क्सवाद हैं। इन दोनों ने उपन्यास को कई उत्कृष्ट गुणों से भूषित किया है तो उसे कुछ हानि भी पहुँचायी है।

मनोविज्ञान का प्रभाव

४२८ हम स्पष्ट कर चुके हैं कि मनुष्य को अधिकाधिक विशिष्ट करके समझने के प्रयत्न में ही उपन्यास में मनोविज्ञान का प्रतिष्ठापन हुआ। आधुनिक पाश्चात्य उपन्यासकारों ने मनुष्य की प्रत्येक प्रवृत्ति की मन की प्रत्येक दशा और भाव का तथा उलझी हुई मानसिक ग्रन्थियों का सूक्ष्म से सूक्ष्म अध्ययन किया है। इसके परिणामस्वरूप मनुष्य के व्यवहारों के सम्बन्ध में अब तक अज्ञात कई सत्य खुल गये हैं। किन्तु मनुष्य की प्रवृत्तियों को समझने के इस प्रयत्न ने हमें मनुष्य को उसकी पूर्णता में समझने में असमर्थ कर दिया है। जैसे एक विशाल चित्र के विभिन्न अंशों को अलग अलग देखने से उस चित्र का रूप हमारे सामने नहीं आता उसी प्रकार मनुष्य को छिन्न-भिन्न करके समझने का प्रयत्न करने पर उसकी पूर्णता हमारी दृष्टि में नहीं आती। यही कारण है कि टाल्सटाय आदि के पात्रों में हम जो सौन्दर्य देखते हैं वह आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के पात्रों में नहीं देखते। विश्लेषणवादी उपन्यासों के पात्रों से हार्दिक तादात्म्य प्राप्त करना भी असम्भव ज्ञात होता है।

मार्क्सवाद

४२९ दूसरी ओर मार्क्सवाद से प्रभावित विचारधाराओं ने मनुष्य के आन्तरिक जगत् की अवहेलना करके उसकी समस्त प्रवृत्तियों की प्रेरणाओं को सामाजिक सम्बन्धों में ढूँढ़ने लगा है। प्रारम्भ से ही रूसी उपन्यास का ध्येय किसी न किसी प्रकार की शिक्षा, प्रचार, या सैद्धान्तिक विवेचन रहा है। अब मार्क्सवाद ने लेखकों को व्यक्ति या समाज के विश्लेषण की ओर उन्मुख न करके और किसी प्रकार के अगाध चिन्तन की प्रेरणा न देकर, सामाजिक स्थितियों तथा साधारण व्यक्तिगत विलक्षणताओं को प्रतिबिम्बित करने-मात्र की प्रेरणा दी है। भौतिकवाद से प्रभावित समाजवादी यथार्थवादी उपन्यासों का विशेष गुण उनका चित्रण मूल्य है। अन्य किसी भी धारा के उपन्यासों में तत्कालीन देशीय स्थितियों को उसके व्यवसाय विमान व्यापार, शिक्षा आदि में होनेवाली प्रगतियों को इतनी सफलता से नहीं दिखाया गया है जितनी सफलता से समाजवादी यथार्थवादी उपन्यासों में।

इस चित्रण मूल्य और प्रचार से युक्त होने पर भी रूसी उपन्यास संकुचित

सीमाओं के भस्तर बन्द हो गया है। कुछ विशिष्ट भावों कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों और अभिव्यंजन की कुछ विशिष्ट प्रणालियों को ही स्वीकृत करके उपन्यास में संभाव्य असीम वैविध्य को समाप्त कर दिया गया है। अत आज के सोवियत उपन्यास सभी एक ही भाव से युक्त और एक ही सांचे पर ढले ज्ञात होते हैं।

व्यक्तित्व और अनुभूति का अभाव

४९० उक्त दोनों प्रकार के उपन्यासों म अध्ययन अधिक रहता है अनुभूति कम बुद्धिपक्ष दृढ रहता है हृदयपक्ष शिथिल। (यहाँ हम इस बात को नहीं भूलते कि ऐसे उपन्यासों में हार्दिक अनुभूतिपूर्ण अगणित प्रसंग मिलते हैं। यहां हमारा तात्पर्य यही है कि इनमें तात्सताय या हा गो की भांति हृदय के विकारों का क्रमिक विकास करक उनको परम सीमा तक नहीं पहुचाया गया है।) सामाजिक और समाजवादी यथार्थवादी उपन्यासों में मानसिक संघर्ष का अभाव भी रहता है। विश्लेषणवादी उपन्यासों म यद्यपि संघर्ष का स्थान रहता है तथापि वह बहुत सांकेतिक और बौद्धिक होने के कारण हृदय को प्रभावित नहीं करता।

आधुनिक उपन्यासों में लेखकों के व्यक्तित्वों का विशेष स्थान नहीं रहता। वैज्ञानिक अध्ययन में अध्येता का व्यक्तित्व अनपेक्षित है। अत सत्यों और तथ्यों पर ध्यान देनेवाले आधुनिक व्यक्तिवादी और समाजवादी उपन्यासों में लेखकों का व्यक्तित्व अत्यन्त क्षीण रहता है। उपन्यास में लेखक के व्यक्तित्व का प्रभाव आवश्यक है या नहीं इसके सम्बन्ध में हम अधिक विवेचना नहीं करते पर अध्ययन के आधार पर इतना तो कह सकते हैं कि विश्व के सभी सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों म लेखकों की आत्मा ही बोलती है। हो सकता है इस आत्मानुभूति की कमी ने ही वर्तमान पाश्चात्य उपन्यास को एक कुण्ठित दशा तक पहुंचा दिया है।

हिन्दी के आधुनिक उपन्यासों में भी इस आत्मानुभूति की कमी द्रष्टव्य है। यह कहना गलत नहीं होगा कि हमारे उपन्यासकारों म प्रेमचन्द को छोड़कर अन्य किसीके उपन्यासों में लेखक का व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित नहीं हुआ है।

प्रयत्न-लाघव का अभाव

४९१ अध्ययनपूर्ण एवं वैज्ञानिक होने के कारण आधुनिक उपन्यासों में एक प्रकार का तनाव (टेन्शन) रहता है। जेन आस्टिन हा गो और ताल्सताय जैसे उपन्यासकारों की लेखनी जिस लाघव से आगे बढ़ती है आधुनिक उपन्यासकारों की लेखनी नहीं चलती। जेन आस्टिन के उपन्यासों को पढ़ते समय लगता है कि लेखिका अपने पात्रों का या वातावरण का अध्ययन करने का प्रयत्न नहीं करती बल्कि वे उसके अत्यन्त परिचित अत आत्मीय हैं। हमें भी ऐसी प्रतीति होती है कि हम अपने परिचित वस्तुओं की ही मण्डली में प्रविष्ट हो रहे हैं। अत पात्रों को समझना हमारे लिए बिलकुल सुगम हो जाता है। ह्यूगो और ताल्सताय में भी यह प्रयत्न-लाघव देख सकते हैं।

आधुनिक फ्रेंच और अंग्रेजी उपन्यासों की तुलना में नवीनतम रूसी उपन्यासों

में लेखकों ने अधिक प्रयत्न-लाघव प्रकट किया है। उनमें सांकेतिक विषयों का परिचय देनेवाले भागों को छोड़ दें तो अन्य स्थानों में तनाव कम रहता है। पात्र साधारणता की सीमा के अन्दर ही व्यवहार करते दीखते हैं। उनके विकारों को आवश्यकता से अधिक तीव्र नहीं बनाया गया है।

प्रयत्न-लाघव की यह कमी हिन्दी उपन्यासों में भी देख सकते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यास जिस प्रकार प्रवाह गति से चलते हैं उसी प्रकार चलनेवाले परवर्ती उपन्यासों की संख्या बहुत कम है। मन्नदत्त का 'मुनिया की शादी' नागार्जुन का 'रतिनाथ की चाची' लक्ष्मीनारायण लाल का 'बया का घोंसला और सांप' आदि इने-गिने उपन्यासों में प्रेमचन्द के उपन्यासों के समान प्रयत्न-लाघव देख सकते हैं। अन्य आधुनिक उपन्यासों में या तो विषय के कारण तनातनी आ गई है जैसे जैनेन्द्र जोशी भारती अज्ञेय आदि के उपन्यासों में या भाषा के कारण जैसे रेणु के उपन्यासों तथा रांगेय राघव के विषाद मठ आदि में। इस तनातनी को उपन्यास में आवश्यक या अनावश्यक बताना कठिन है, पर यह सत्य है कि इन उपन्यासों को उसी प्रसन्न भाव से पढ़ना असंभव है जैसे प्रेमचन्द के उपन्यासों को पढ़ सकते हैं।

उपसंहार

४३२ ऊपर यूरोपीय उपन्यासों की जो विशेषताएं बतायी गयी हैं, उनके कारण यूरोपीय उपन्यास में एक अनिश्चित और गतिहीन स्थिति आ गयी है। इस बात की ओर संकेत करते हुए इलाचन्द्र जोशी तथा धर्मवीर भारती ने कहा है कि पाश्चात्य लेखकों की गति एकदम अवरुद्ध हो गयी है और भारतीय लेखक ही अपनी आध्यात्मिकता लिए उनको दिशा-निर्देशन कर सकते हैं।[1] जोशी और भारती के इस मत की सार्थकता को समय ही प्रमाणित या अप्रमाणित कर सकता है। किन्तु इस सम्बन्ध में हमें दो बातें कहनी हैं। पहली यह कि उपन्यास साहित्य में अगर कोई गत्यवरोध हुआ है तो वह स्थायी नहीं है। साहित्य के क्षेत्र में तेजी और मन्दी होती ही है, और सर्वोत्कृष्ट कलाकार रोज रोज नहीं होते। किसी भी साहित्य का अध्ययन करने से ज्ञात होगा कि उसमें उत्कृष्ट कलाकार समय-समय पर अपवाद के रूप में ही अवतीर्ण हुए हैं। अतः उपन्यास के विकास की वर्तमान मन्द गति को देखकर यह नहीं समझना चाहिए कि उपन्यास साहित्य किसी अटल टीले से जाकर अटक गया है और उसे आगे बढ़ने का कोई मार्ग दिखायी नहीं पड़ रहा है। इस सम्बन्ध में स्वयं जोशी ने सोवियत साहित्य में रोमान्स द्वारा नवजीवन के जागरित होने की बात बताते हुए कहा है " मार्क्सियन सिद्धान्तों ने वहां के (सोवियत के) कलात्मक रस प्रवाह को कुछ *समय के लिए बालू की जिस भीत से बांधने की चेष्टा की थी वह अब ढहने लगी है,* और फिर से वहां रस-संचार होने लगा है।[2] धर्मवीर भारती ने भी माना है कि

---

१ इलाचन्द्र जोशी : साहित्य चिन्तन पृ ४१ ; धर्मवीर भारती : प्रगतिवाद एक समीक्षा पृ १-२

२ इलाचन्द्र जोशी : साहित्य सर्जना पृ ७ ।

सोवियत साहित्य संकुचित दायरों से निकलकर वैयक्तिक अन्तर्जगत् और सामाजिक बाह्यजगत् का समन्वय करने आगे बढ़ रहा है।[1] सोवियत के ही नहीं अन्य यूरोपीय भाषाओं के भी उपन्यास साहित्यों के पूर्णतया अवरुद्ध होने के कोई कारण नहीं दीखते।

दूसरी बात हमें यह कहनी है कि यद्यपि हमारे उपन्यास साहित्य की वर्तमान दशा असन्तोषजनक नहीं है तथापि उसपर अभिमान करने का कोई कारण भी नहीं दीखता। उसमें ऐसी कोई प्रभविष्णु प्रवृत्ति दिखायी नहीं देती जो विश्व-उपन्यास साहित्य को प्रभावित कर सके। हां नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्यात्मवाद की मीमांसा और उपन्यास में उसका प्रयोग अब तक नहीं हुआ है, और इस प्रयोग के लिए क्षेत्र खुला पड़ा है। परिणाम भविष्य ही बता सकेगा।[2]

जो कुछ भी हो यह निश्चित है कि उपन्यास के भविष्य के सम्बन्ध में चिन्ता करने की कोई बात नहीं है क्योंकि परिस्थिति के अनुसार बदलने की जितनी शक्ति उसमें है अन्य किसी साहित्यिक विधा में नहीं है। यह लचीलापन ही उसे अमर रखने के लिए पर्याप्त होगा। साधारण घरेलू जीवन से लेकर आइन्स्टीन के आपेक्षिकता सिद्धान्त तक को उपन्यास में स्थान दिया जा सकता है शर्त केवल यही है कि उसमें विषय कोई भी रहे उसे जीवन से वंचित करना नहीं चाहिए। उपन्यास के चिरन्तन जीवन का और एक कारण यह है कि उपन्यासकार समाज का इतिहास लिखता है—ऐसा इतिहास जो कोई इतिहासकार नहीं लिख सकता—ऐसा इतिहास जो कुछ तारीखों और घटनाओं का लेखा-जोखा न देकर जीते-जागते मानव का वर्ण-रंजित जीवन प्रस्तुत करता है। अतः जब तक मनुष्य को अपना ही इतिहास जानने की अभिलाषा रहेगी तब तक उपन्यास का जीवन भी सुरक्षित रहेगा।

अनुभूति और चिन्तन के समन्वय की संभावना भी उपन्यास में अधिक रहती है। अनुभूतिमय काव्य तथा विचार प्रधान गद्य के गुण उपन्यास में समाविष्ट किये जा सकते। एक आलोचक के मत में उपन्यास काव्य और गद्य का संकर-बालक है अतः इस वैज्ञानिक युग में जीवित रहने को सबसे अधिक योग्य है।[3]

जहां तक हिन्दी उपन्यास साहित्य का सम्बन्ध है हमारी उपलब्धियां परिमित होने पर भी महत्त्वपूर्ण हैं। 'सेवासदन' से लेकर अब तक के लगभग पचास वर्षों में

---

१ धर्मवीर भारती : प्रगतिवाद एक समीक्षा पृ० १४१।

२ यहां भी यह संदेह रहता है कि निरन्तर मैकेनिज़्म की ओर अग्रसर होनेवाला बुद्धिवादी विश्व पुनः अध्यात्मवाद को स्वीकार करेगा या नहीं। विज्ञान के विनाशकारी आविष्कारों की विभीषिका से आक्रान्त विश्व कदाचित् अपनी भूल (?) समझकर अध्यात्मवाद की ओर आ जाय तो आ जाय। पर यह बात संदिग्ध ही है।

३ "If poetry is immortal we need not greatly worry about the novel which is a kind of mongrel child of poetry and prose a species most admirably adapted for survival in this practically scientific world."

— Eastman : The Literary Mind, P 225.

भगवतीप्रसाद वाजपेयी अभिनन्दन समिति	भगवतीप्रसाद वाजपेयी स (?)	भगवतीप्रसाद वाजपेयी अभिनन्दन समिति कानपुर
भोलानाथ	हिन्दी साहित्य (१९२६ १९४०) १९५४	प्रयाग विश्वविद्यालय प्रयाग
रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास सं २ ७	नागरी प्रचारिणी सभा काशी
रामविलास शर्मा	प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं, १९५४	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा
"	प्रेमचन्द और उनका युग १९५२	मेहरचन्द मुंशीराम दिल्ली
विनोदशंकर व्यास	यूरोपीय उपन्यास साहित्य १९५१	साहित्य सेवक कार्यालय काशी
शचीरानी गुर्टू	प्रेमचन्द और गोर्की (संकलन) १९५५	राजकमल प्रकाशन बम्बई
"	साहित्य दर्शन (भाग १)	गौतम बुक डिपो दिल्ली
शिवकुमार मिश्र	वृन्दावनलाल वर्मा १९५६	रवि प्रकाशन कानपुर
शिवदानसिंह चौहान	साहित्यानुशीलन १९५५	आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली
"	हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष १९५४	राजकमल प्रकाशन बम्बई
शिवनारायण श्रीवास्तव	हिन्दी उपन्यास सं २ ७	सरस्वती मंदिर बनारस
श्रीकृष्णलाल	आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास १९५२	प्रयाग विश्वविद्यालय प्रयाग
हजारीप्रसाद द्विवेदी	हिन्दी साहित्य १९५५	अतरचन्द कपूर एण्ड सन्स दिल्ली
Abraham, Gerald	Dostoevsky 1936	George Allen & Unwin Ltd. London.
Baker Ernest	The History of the English Novel (Ten Volumes)	Oxford University Press London.
Charles	Contemporary Tr.	

Belinsky V G	Selected Philosophical Works 1956	F.L.P H., Moscow
Brown	Psychodynamics of Abnormal Behaviour 1940	Mc Graw Hill Pub Co New York.
Bruford W.H.	Chekhov & His Russia, 1947	Kegan Paul, Trench Tulner & Co., London.
Caudwell, Christopher	Illusion & Reality 1950	Lawrence & Wishart Ltd. London
,,	Studies in a Dying Culture 1951	John Lane the Bodley Head Ltd. London.
Cecil, David	Early Victorian Novelists, 1948	Penguin Books Ltd., Harmondsworth.
Church, Richard	The Growth of the English Novel, 1951	Methuen & Co Ltd London
Collins, Norman	The Facts of Fiction March 1932	Victor Gollancz Ltd., London.
Cutler D Ward	Evolution Heredity and Variation, 1944	Christophers, London.
Doncaster L.	Heredity in the Light of Recent Research, 1921	Cambridge University Press, London.
Drever James	A Dictionary of Psychology 1956	Penguin Books Ltd Harmondsworth.
Eastman, Max	Literary Mind 1935	Charles Scribner's Sons New York.
Edel Leon	The Psychological Novel, 1955	Rupert Hart Davis, London.
Eliot, George	The Works of George Eliot, 1885	William Blackwood & Sons, London.
Eliot, T S.	Selected Essays, 1932	Faber & Faber Ltd London.
Engels, Frederic	Anti Duhring, 1954	F L P H., Moscow
,,	Dialectics of Nature 1954	,,
Fast, Howard	Literature and Reality 1955	People's Publishing House New Delhi.

हिन्दी उपन्यास साहित्य ने जो कुछ प्राप्त किया है वह सचमुच आश्चर्यजनक है। यूरोपीय भाषाओं में सैकड़ों वर्षों से जो विकास हुआ वही हिन्दी में इन पचास वर्षों में हुआ। इतने अल्प काल में किसी भी भाषा में इतनी वैविध्यपूर्ण प्रवृत्तियों का उद्‌गम और विकास नहीं हुआ होगा।

हमारे उपन्यास में सब कुछ है पर अत्यन्त क्षीण एवं दुर्बल दशा में है। हमारे उपन्यासकार जितनी विस्तृति प्राप्त कर सके हैं उतनी अगाधता नहीं। परिणामतः उनकी रचनाओं में भिन्न भिन्न धाराओं की अनेक प्रवृत्तियां उपलब्ध होती हैं किन्तु ये प्रवृत्तियां अधिक प्रौढ़ दशा तक नहीं पहुंच सकी हैं। किन्तु हम इस बात को विस्मरण नहीं कर सकते कि पाश्चात्य भाषाओं की तुलना में हमारे उपन्यास साहित्य का विकास बहुत ही अल्प काल में हुआ है। अतः यह अपक्वता एवं अप्रौढ़ता स्वाभाविक ही है। आज हमारे उपन्यास साहित्य में भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों का बीजारोपण हुआ है उनको क्रमबद्ध विकास द्वारा प्रौढ़ता प्रदान की जाय तो कुछ उत्कृष्ट रचनाओं के उद्‌भव की संभावना है।

हिन्दी-उपन्यास की अब तक की विभिन्न प्रवृत्तियों को तथा हमारी स्वातंत्र्योपलब्धि के पश्चात् की विशेष चेतना एवं स्फूर्तिमय गतिविधियों को देखते हुए ज्ञात होता है कि हमारी भविष्य की संभावनाएं बहुत हैं। इन दस-पन्द्रह वर्षों में विविध धाराओं के जितने उपन्यास लिखे गये हैं उनमें कई कमियों और दुर्बलताओं के होने पर भी नवजागरण के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। विशेषकर सामाजिक यथार्थवादी तथा अन्तश्चेतनावादी धाराओं की विभिन्न विकासशील प्रवृत्तियों से हमें विश्वास होता है कि हमारा उपन्यास साहित्य भविष्य के हस्त में सुरक्षित रहेगा।

'जैसा कि आज है, हमें 'गोदान' 'शेखर' 'दिव्या' 'सागर, लहरें और मनुष्य' 'झांसी की रानी' 'मृगनयनी' 'मैला आंचल' आदि आधे दर्जन से अधिक उत्कृष्ट उपन्यास प्राप्त हुए हैं, जिन्हें निस्संकोच विश्व-उपन्यास साहित्य में स्थान दिया जा सकता है।'¹

इससे भी अधिक आशाजनक विषय है, गत अस्सी के लगभग वर्षों के हमारे उपन्यास साहित्य में बिलकुल भिन्न-भिन्न और कभी-कभी परस्परविरोधी कतिपय प्रवृत्तियों का समावेश होना। जीवन की यथार्थ समस्याओं की गंभीरता से अनभिज्ञ रह कर आश्चर्यमय अनुसन्धियों से आंख-मिचौनी खेलनेवाले देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी से लेकर जीवन की गंभीर से गंभीर समस्याओं का मुंह दर मुंह सामना करनेवाले प्रेमचन्द तक जीवन की विषमताओं के सामाजिक स्वरूप को स्पष्ट करनेवाले प्रेमचन्द और प्रसाद से लेकर मानव मन की गहराई में उन विषमताओं के मूल का अन्वेषण करनेवाले जैनेन्द्र जोशी अज्ञेय और देवराज तक जीवन के उत्कृष्ट आदर्शों के मधुर स्वप्न देखनेवाले आदर्शवादी श्रीनिवासदास और लज्जाराम मेहता से लेकर कुत्सित से कुत्सित यथार्थों को निरावृत्त प्रस्तुत करनेवाले यथार्थवादी उग्र और ऋषभचरण जैन तक अतीत की विस्मृतियों को स्मृति-पट पर प्रकीर्ण करनेवाले राहुल और चतुरसेन से लेकर वर्तमान की वास्तविकता को वाणीबद्ध करनेवाले नागार्जुन और रेणु तक उपन्यास साहित्य जो विस्तृति एवं विविधता प्राप्त कर सका है, वह सचमुच एक उज्ज्वल भविष्य की आशा प्रदान करनेवाली है। * * *

सहायक ग्रन्थ

इलाचन्द्र जोशी	देखा-परखा	
	साहित्य चिन्तन १९५५	अजन्ता प्रेस पटना
	साहित्य सर्जना १९४७	छात्र हितकारी पुस्तकमाला प्रयाग
उदयभानुसिंह	महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग सं २०१८	लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ
केसरीनारायण शुक्ल और फिलिप मेरी कस्र	रूसी साहित्य १९५१	सरस्वती मन्दिर, बनारस
गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'	साहित्य वार्ता १९५६	भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली
जगन्नाथप्रसाद शर्मा	हिन्दी गद्य शैली का विकास सं २ ६	नागरी प्रचारिणी सभा काशी
जैनेन्द्रकुमार	साहित्य का श्रेय और प्रेय १९५३	पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली
त्रिभुवनसिंह	हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद सं २०१२	हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी
देवराज उपाध्याय	आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान १९५६	साहित्य भवन लि इलाहाबाद
"	साहित्य चिन्ता १९५	गौतम बुक डिपो दिल्ली
धर्मवीर भारती	प्रगतिवाद एक समीक्षा १९४९	साहित्य भवन लि इलाहाबाद
नन्ददुलारे वाजपेयी	आधुनिक साहित्य सं २०११	भारती भंडार, इलाहाबाद
"	नया साहित्य नये प्रश्न १९५५	विद्यामन्दिर, बनारस
"	हिन्दी साहित्य बीसवीं शती १९४९	इण्डियन प्रेस बुक डिपो लखनऊ
पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव	आदर्श और यथार्थ सं २ १	नागरी प्रचारिणी सभा काशी
प्रेमचन्द	साहित्य का उद्देश्य (संकलित निबन्ध) १९५४	हंस प्रकाशन इलाहाबाद

भगवतीप्रसाद वाजपेयी अभिनन्दन समिति	भगवतीप्रसाद वाजपेयी सं (?)	भगवतीप्रसाद वाजपेयी अभिनन्दन समिति कानपुर
भोलानाथ	हिन्दी साहित्य (१९२६ १९४७) १९५४	प्रयाग विश्वविद्यालय प्रयाग
रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास सं २० ७	नागरी प्रचारिणी सभा काशी
रामविलास शर्मा	प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, १९५४	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा
"	प्रेमचन्द और उनका युग १९५२	मेहरचन्द मुंशीराम दिल्ली
विनोदशंकर व्यास	यूरोपीय उपन्यास साहित्य १९५१	साहित्य सेवक कार्यालय काशी
शचीरानी गुर्टू	प्रेमचन्द और गोर्की (संकलन) १९५५	राजकमल प्रकाशन बम्बई
	साहित्य दर्शन (भाग १)	गौतम बुक डिपो दिल्ली
शिवकुमार मिश्र	वृन्दावनलाल वर्मा १९५९	रवि प्रकाशन कानपुर
शिवदानसिंह चौहान	साहित्यानुशीलन १९५५	आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली
	हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष १९५४	राजकमल प्रकाशन बम्बई
शिवनारायण श्रीवास्तव	हिन्दी उपन्यास सं २ ७	सरस्वती मंदिर बनारस
श्रीकृष्णलाल	आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास १९५२	प्रयाग विश्वविद्यालय प्रयाग
हजारीप्रसाद द्विवेदी	हिन्दी साहित्य १९५५	अतरचन्द कपूर एण्ड सन्स दिल्ली

Abraham Gerald	Dostoevsky 1936	George Allen & Unwin Ltd. London.
Baker Ernest	The History of the English Novel (Ten Volumes)	Oxford University Press, London.
Baudoin, Charles	Contemporary Studies Tr Eden	" "

Belinsky V G	Selected Philosophical Works 1956	F L.P H Moscow
Brown	Psychodynamics of Abnormal Behaviour 1940	Mc Graw Hill Pub Co., New York.
Bruford, W.H.	Chekhov & His Russia, 1947	Kegan Paul, Trench Tulner & Co London
Caudwell, Christopher	Illusion & Reality 1950	Lawrence & Wishart Ltd London
"	Studies in a Dying Culture, 1951	John Lane the Bodley Head Ltd. London.
Cecil David	Early Victorian Novelists, 1948	Penguin Books Ltd., Harmondsworth.
Church, Richard	The Growth of the English Novel 1951	Methuen & Co Ltd., London
Collins, Norman	The Facts of Fiction March 1932	Victor Gollancz Ltd. London
Cutler D Ward	Evolution Heredity and Variation, 1944	Christophers London.
Doncaster L.	Heredity in the Light of Recent Research, 1921	Cambridge University Press London.
Drever James	A Dictionary of Psychology 1956	Penguin Books Ltd Harmondsworth.
Eastman, Max	Literary Mind 1935	Charles Scribner's Sons, New York.
Edel Leon	The Psychological Novel, 1955	Rupert Hart Davis, London.
Eliot, George	The Works of George Eliot, 1885	William Blackwood & Sons London.
Eliot T S	Selected Essays, 1932	Faber & Faber Ltd., London.
Engels, Frederic	Anti-Duhring, 1954	F L. P H., Moscow
"	Dialectics of Nature, 1954	"
Fast, Howard	Literature and Reality 1955	People's Publishing House, New Delhi.

Ford Ford Madox	Mightier than the Sword 1938	George Allen and Unwin Ltd London.
Fox, Ralph	The Novel & the People, 1954	F L. P H. Moscow
Freud Sigmund	Introductory Lectures in Psycho-analysis, Tr Joan Reviere, 1952	George Allen and Unwin Ltd London.
George, W L.	A Novelist on Novels, 1918	W Collins Sons & Co Ltd. London
Gorky Maxim	An Anthology	Kutub Publishers Poona.
"	Literature and Life, 1946	Hutchinsons International Ltd. London.
"	Reminiscences of Tolstoy Chekhov & Andreev 1934	Hogarth Press, London
Gould Gerald	The English Novel Today 1924	John Castle, London.
Grabo Carl H.	The Technique of the Novel, 1928	Charles Serilner s Sons, New York.
Hare, Richard	Russian Literature (From Puskin to Present Day 1947	Methuen & Co Ltd., London.
Hemmings, F W J	The Russian Novel in France, 1950	Oxford University Press, London.
Henderson Phillip	The Novel Today 1936	John Lane the Bodley Head Ltd., London.
Hoare Dorothy	Some Studies in the Modern Novel 1938	Chatto & Windus London.
Hogarth Basil	The Technique of Novel-writing 1937	John Lane the Bodley Head Ltd., London
James, Henry	French Poets & Novelists, 1919	Macmillan & Co., London.
"	Notes on Novelists 1914	Charles Serilner s Sons, New York

James Henry	Partial Portraits, 1888	Macmillan & Co., London.
Jastrow Joseph	Frued, His Dream & Sex Theories 1915	Pocket Books Inc. New York.
Johnson, R. B.	Jane Austen 1930	J M. Dent & Sons Ltd., London
Jung, C. G	Development of Personality 1954	Routledge & Kegan Paul Ltd London.
"	Two Essays in Analytical Psychology 1953	
Kastner L. E. & Atkins H. G	A Short History of French Literature 1925	Blackie & Sons Ltd London.
Katz, David	Gestalt Psychology Tr R. Tyson, 1951	Methuen & Co Ltd London
Kerr Martin Janet	Mauriac, 1954	Bowes & Bowes, Cambridge.
Koffka, K.	Principles of Gestalt Psychology 1950	Routledge & Kegan Paul Ltd., London
Lawrence D H.	Selected Letters, 1954	Penguin Books, Harmondsworth.
	Selected Literary Criticism, 1955	William Heinemann Ltd. London
Lavrin, Janko	An Introduction to Russian Novel 1945	Methuen & Co Ltd., London.
	Goncharov 1954	Bowes & Bowes, Cambridge.
Leavis Q D	Fiction and the Reading Public, 1932	Chatto & Windus, London
Liddell, Robert	A Treatise on the Novel 1947	Jonathan Cape Ltd., London.
	Some Principles of Fiction, 1953	

Ford Ford Madox	Mightier than the Sword 1938	George Allen and Unwin Ltd., London.
Fox, Ralph	The Novel & the People, 1954	F L P H. Moscow
Freud, Sigmund	Introductory Lectures in Psychoanalysis Tr Joan Reviere, 1952	George Allen and Unwin Ltd London
George, W L,	A Novelist on Novels, 1918	W Collins Sons & Co. Ltd. London
Gorky Maxim	An Anthology	Kutub Publishers Poona.
"	Literature and Life, 1946	Hutchinsons International Ltd. London.
"	Reminiscences of Tolstoy Chekhov & Andreev 1934	Hogarth Press London.
Gould, Gerald	The English Novel Today 1924	John Castle London
Grabo Carl H	The Technique of the Novel, 1928	Charles Scribner's Sons, New York.
Hare Richard	Russian Literature (From Puskin to Present Day 1947	Methuen & Co Ltd., London
Hemmings F W J	The Russian Novel in France, 1950	Oxford University Press, London.
Henderson, Philip	The Novel Today 1936	John Lane the Bodley Head Ltd., London.
Hoare Dorothy	Some Studies in the Modern Novel 1938	Chatto & Windus, London.
Hogarth, Basil	The Technique of Novel-writing, 1937	John Lane the Bodley Head Ltd., London.
James, Henry	French Poets & Novelists, 1919	Macmillan & Co., London.
"	Notes on Novelists 1914	Charles Scribner s Sons New York.

James Henry	Partial Portraits, 1888	Macmillan & Co. London.
Jastrow Joseph	Frued, His Dream & Sex Theories 1915	Pocket Books Inc. New York.
Johnson, R. B.	Jane Austen 1930	J. M. Dent & Sons Ltd London.
Jung C. G	Development of Personality 1954	Routledge & Kegan Paul Ltd London
"	Two Essays in Analytical Psychology 1953	
Kastner L. E. & Atkins H. G	A Short History of French Literature 1925	Blackie & Sons Ltd London.
Katz, David	Gestalt Psychology Tr R. Tyson, 1951	Methuen & Co Ltd London
Kerr Martin Janet	Mauriac, 1954	Bowes & Bowes, Cambridge
Koffka K.	Principles of Gestalt Psychology 1950	Routledge & Kegan Paul Ltd., London
Lawrence, D. H.	Selected Letters 1954	Penguin Books, Harmondsworth.
	Selected Literary Criticism, 1955	William Heinemann Ltd. London
Lavrin, Janko	An Introduction to Russian Novel 1945	Methuen & Co Ltd., London.
	Goncharov 1954	Bowes & Bowes, Cambridge.
Leavis, Q. D	Fiction and the Reading Public, 1932	Chatto & Windus, London
Liddell, Robert	A Treatise on the Novel 1947	Jonathan Cape Ltd., London.
"	Some Principles of Fiction, 1953	

Ford, Ford Madox	Mightier than the Sword 1938	George Allen and Unwin Ltd., London
Fox, Ralph	The Novel & the People, 1954	F L P H. Moscow
Freud Sigmund	Introductory Lectures in Psychoanalysis, Tr Joan Reviere, 1952	George Allen and Unwin Ltd London
George, W L.	A Novelist on Novels, 1918	W Collins Sons & Co. Ltd. London
Gorky Maxim	An Anthology	Kutub Publishers, Poona.
,,	Literature and Life, 1946	Hutchinsons International Ltd., London.
,,	Reminiscences of Tolstoy Chekhov & Andreev 1934	Hogarth Press, London
Gould Gerald	The English Novel Today 1924	John Castle, London
Grabo Carl H	The Technique of the Novel, 1928	Charles Scribner's Sons, New York.
Hare, Richard	Russian Literature (From Puskin to Present Day 1947	Methuen & Co Ltd., London.
Hemmings F W J	The Russian Novel in France 1950	Oxford University Press, London.
Henderson, Philip	The Novel Today 1936	John Lane the Bodley Head Ltd London.
Hoare, Dorothy	Some Studies in the Modern Novel 1938	Chatto & Windus, London.
Hogarth Basil	The Technique of Novel writing, 1937	John Lane the Bodley Head Ltd., London
James, Henry	French Poets & Novelists, 1919	Macmillan & Co London.
,,	Notes on Novelists, 1914	Charles Scribner s Sons, New York.

James Henry	Partial Portraits, 1888	Macmillan & Co London.
Jastrow Joseph	Freud, His Dream & Sex Theories 1915	Pocket Books Inc. New York.
Johnson, R. B.	Jane Austen 1930	J. M. Dent & Sons Ltd London.
Jung, C. G	Development of Personality 1954	Routledge & Kegan Paul Ltd London.
"	Two Essays in Analytical Psychology 1953	
Kastner L. E. & Atkins H. G	A Short History of French Literature 1925	Blackie & Sons Ltd London.
Katz, David	Gestalt Psychology Tr R. Tyson, 1951	Methuen & Co Ltd London
Kerr Martin Janet	Mauriac 1954	Bowes & Bowes, Cambridge
Koffka K.	Principles of Gestalt Psychology 1950	Routledge & Kegan Paul Ltd., London
Lawrence D H	Selected Letters 1954	Penguin Books Harmondsworth.
	Selected Literary Criticism, 1955	William Heinemann Ltd. London
Lavrin, Janko	An Introduction to Russian Novel 1945	Methuen & Co Ltd., London.
	Goncharov 1954	Bowes & Bowes Cambridge.
Leavis, Q D	Fiction and the Reading Public, 1932	Chatto & Windus London
Liddell, Robert	A Treatise on the Novel 1947	Jonathan Cape Ltd., London.
	Some Principles of Fiction, 1953	

Low D M	Essay & Studies—1955 1955	John Murray London.
Lubbock, Percy	The Craft of Fiction, 1932	Jonathan Cape Ltd. London.
Mann, Klaus	Andre Gide & the Crisis of Modern Thought, 1948	Dennison Dolson Ltd., London.
Maude, Aglmer	The Life of Leo Tolstoy 1953	Oxford University Press, London.
Maugham, Somerset	Partial View 1954	William Heinemann Ltd., London
	Ten Novels & their Authors, 1954	
Maurois, Andre	Quest for Proust 1950	Jonathan Cape Ltd., London.
McKinney Fred	Psychology of Personal Adjustment 1949	John Wiley & Sons Inc., New York.
Marx, Karl	Poverty of Philosophy 1847	F L. P H., Moscow
Marx, Karl & Engels	Literature & Art (Selections) 1956.	Current Book House, Bombay
Mirsky D S	A History of Russian Literature, 1949	Routledge & Kegan Paul Ltd. London.
Muir Edwin	The Structure of the Novel 1928	Hogarth Press London
Myers, Walter L.	The Later Realism 1927	The University of Chicago Press Chicago
Nicholson, Norman	H. G Wells, 1950	Arthur Barker Ltd. London
Page, James D	Abnormal Psychology 1947	Mc Graw Hill Publishing Co., New York.
Phelps William Lyon	The Advance of the English Novel, 1919	John Murray London.
Powys, John Cowper	Dostoevsky 1946	John Lane the Bodley Head Ltd., London.

Priestly J B.	The English Novel, 1928	Earnest Benn Ltd., London.
Pritchett, V S	The Living Novel, 1946	Lhatto & Windus London.
Read Herbert	Art & Society 1937	William Heinemann Ltd., London
	Collected Essays in Literary Criticism 1938	Faber & Faber Ltd London
	Reason & Romanticism, 1926	Faber & Gwyer Ltd., London.
Reavey George	Soviet Literature Today 1946	Drummonds London.
Reed Henry	Novel Since 1939 1946	Longmans Green & Co London
Roberts, S C.	Essays & Studies 1937 1938	Oxford University Press, London
Routh H. V	English Literature & Ideas in the Twentieth Century 1948	Methuen & Co Ltd., London
Saintsbury	A Short Histroy of Lrench Literature, 1928	Oxford University Press – London
	A History of the French Novel, 1917	Macmillan & Co. London.
Sartre, Jean Paul	What is Literature Tr B Frechtman. 1950	Methuen & Co Ltd., London
Simmons, Earnest J	Leo Tolstoy 1949	John Lehmann Ltd., London.
Spender Stephen	The New Realism 1939	Hogarth Press London
Stwewart, Herbert L.	Anatole France 1927	George Allen & Unwin Ltd., London.

Strachey Lytton	Landmarks in French Literature 1948	Chatto & Windus, London.
Thomas Henry Lee & Thomas Dana Lee	Living Biographies of Famous Novelists, 1947	Halcyon House, New York.
Tolstoy Leo	What is Art and Essays on Art (Tr Aylmer Maude) 1955	Oxford University Press London
Urban Wilbur Marshall	Beyond Realism and Idealism 1949	George Allen & Unwin Ltd London.
Vivian Francis	Creative Technique in Fiction, 1946	Hutchinson's Scientific & Technical Publications, London.
Walpole, Hugh & others	Tendencies of the Modern Novel, 1934	George Allen & Unwin Ltd., London
West, Ray B	The Art of Modern Fiction 1949	Rinehart & Co Inc., New York.
Westland, Peter	History of the English Literature Vol. VI 1950	English University Press Ltd. London
Woolf Virginia	A Room of One's Own, Dec. 1929	English University Press London.
"	The Common Reader Nov 1925	
Young, Kimbal	Personality and Problems of Adjustment. 1952	Routledge & Kegan Paul Ltd., London

पत्र-पत्रिकाएं—

साहित्य (बिहार रा भा परिषद) साहित्य सन्देश आलोचना हंस आकरण Slavonic Review Essays by Diveise Hands (London) इत्यादि।

हिन्दी उपन्यासों की सूची

(प्रकाशन-कालसहित)

सूचना

- लि = लिखने का काल
- प्र = प्रथम प्रकाशन का काल (वर्ष)
- सं = उस संस्करण का काल (वर्ष) जो इस प्रबन्ध की रचना के लिये पढ़ा गया और जिससे उद्धरण दिये गये हैं।

		प्र	सं
इंशाअल्ला खाँ	रानी केतकी की कहानी	१८ ०- १	—
सदल मिश्र	नासिकेतोपाख्यान	१८ १	११२
श्रद्धाराम फिल्लौरी	भाग्यवती (लि १८७१)	१८७७	—
लाला श्रीनिवासदास	परीक्षा गुरु	१८८२	१८८२
बालकृष्ण भट्ट	नूतन ब्रह्मचारी	१८८६	१८८६
	सौ अजान एक सुजान	१८९२	—
राधाकृष्ण दास	निस्सहाय हिन्दू (लि १८८१)	१८९	१८९
देवकीनंदन खत्री	चन्द्रकान्ता	१८९१ से	—
	नरेन्द्रमोहिनी (दो भाग)	१८९४	—
	चन्द्रकान्ता सन्तति	१८९६ से	—
	कुसुमकुमारी	१८९८	१८९८
	वीरेन्द्रवीर	१८९८	१८९८
	भूतनाथ	१९ ६ से	—
किशोरीलाल गोस्वामी	त्रिवेणी	१८८८	—
	आदर्श रमणी (हृदयहारिणी)	१८९	१८९
	प्रणयिनी परिणय	१८९०	—
	लवंगलता (आदर्श बाला)	१८९०	१८९
	कुसुमकुमारी (लि १८९९)	१९ १	१९१२
	तारा	१९ २	१९ २
	चपला	१९ ३	१९१२
	प द्मनी (कुलटा कुसुम)	१९ ४	१९ ४
	कुटीरवासिनी (तरुण तपस्विनी)	१९ ५	१९ ५
	सौतिया डाह	१९ ७	१९ ७

		प्र	सं
किशोरीलाल गोस्वामी	लखनऊ की कब्र	?	१९१
	प्रणयिनी	?	१९२४
	बंग सरोजिनी वा मल्लिकादेवी	—	—
	लीलावती (आदर्श सती)	—	—
	रजिया बेगम	—	—
ठाकुर जगमोहनसिंह	श्यामा स्वप्न	१८८८	—
गोपालराम गहमरी	चतुरा चंचला	१८९४	१८९४
	भानमती	१८९४	१८९४
	नये बाबू	१८९५	—
	बड़ा भाई	१८९८	१८९८
	सास पतोहू	१८९८	—
अम्बिकादत्त व्यास	आश्चर्य वृत्तान्त	१८९३	—
अयोध्यासिंह उपाध्याय	ठेठ हिन्दी का ठाट	१८९९	—
	अधखिला फूल	१९ ७	—
लज्जाराम शर्मा	हिन्दू गृहस्थ	१९ ५	१९ ५
	आदर्श दम्पति	१९ ४	—
	बिगड़े का सुधार	१९ ७	—
	आदर्श हिन्दू	१९१४ १५	१९२८
	धूर्त रसिकलाल	१८९९	—
	स्वतंत्र रमा	१८९९	—
ब्रजनन्दन सहाय	सौन्दर्योपासक	१९१२	१९१२
	आरण्य-बाला	१९१५	१९१५
चन्द्रशेखर पाठक	रमाबाई	१९ ७	—
	वारांगना-रहस्य (५ भाग)	१९१४ २२	१९१४ २२
प्रेमचन्द	प्रेमा	१९ ५ से पूर्व	—
	सेवासदन (उर्दू बाजारे हुस्न)	१९ ७	—
	(हिन्दी)	१९१८	१९३२
	वरदान	१९ ५	१९५५
	प्रेमाश्रम (लि १९१९)	१९२२	?
	रंगभूमि	?	१९५५
	निर्मला	१९२१	१९५४
	कायाकल्प	१९२५	१९२८
	प्रतिज्ञा (प्रेमा)	१९२९	?
	गबन	१९१	१९५५
	कर्मभूमि	१९१२	?

		प्र	मं
प्रेमचन्द	गोदान	१९३६	१९४१
	मंगल सूत्र	?	?
जयशंकर प्रसाद	कंकाल	१९२९	१९२९
	तितली	१९३४	१९५४
	इरावती	?	?
विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक'	माँ	१९२९	१९२९
	भिखारिणी	?	?
चतुरसेन शास्त्री	हृदय की परख	१९१८	१९१८
	व्यभिचार	१९२४	—
	हृदय की प्यास	१९३२	१९४६
	अमर अभिलाषा	१९३३	—
	बहते आँसू (नाम से)	—	?
	नरमेध	?	?
	वैशाली की नगरवधू	१९४९	१९५५
	धर्मपुत्र	१९५४	१९५४
	सोमनाथ	१९५४	१९५४
	आलमगीर	१९५४	१९५४
	वयं रक्षाम:	१९५५	१९५५
वृन्दावनलाल वर्मा	लगन	१९२८	१९५१
	गढ़ कुण्डार	१९२९	?
	प्रेम की भेंट	१९३१	—
	कुण्डली चक्र	१९३२	१९३२
	विराटा की पद्मिनी	१९३६	१९४८
	मुसाहिबजू	९४६	१९४६
	झाँसी की रानी	१९४६	१९४८
	कचनार	१९४७	१९४७
	अचल मेरा कोई	१९४८	१९४८
	मृगनयनी	१९५	१९५०
	कभी न कभी	?	प्रथम
	प्रत्यागत	?	?
	सोना	१९५२	१९५२
	अमर बेल	१९५३	१९५३
	अहिल्या बाई	१९५५	१९५७
पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'	चन्द हसीनों के खतूत	१९२१	१९२१
	दिल्ली का दलाल	—	—

		प्र०	सं
पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'	बुधुआ की बेटी	१९२८	—
	मनुष्यानंद (नाम से)	—	१९५५
	शराबी	?	१९५४
	जीजी जी	?	?
	कढ़ी में कोयला	—	१९५५
ऋषभचरण जैन	भाई	—	—
	चम्पाकली	—	—
	हर हाइनेस	—	—
	मास्टर	—	—
	वेश्या-पुत्र	१९२९	१९२९
	सत्याग्रह	१९३	—
	वह कौन थी ?	१९५५	१९५५
जैनेन्द्रकुमार	परख	१९३	१९३
	सुनीता (सि १९५४)	१९३५	१९३५
	त्यागपत्र (सि १९३६)	१९३७	१९३७
	कल्याणी (सि १९३)	१९३९	१९५३
	सुखदा	१९५२	१९५५
	विवर्त	१९५३	१९५३
	व्यतीत	१९५३	१९५३
इलाचन्द्र जोशी	घृणामयी	१९२९	१९२९
	संन्यासी	१९४१	१९४९
	पर्दे की रानी	१९४१	१९४१
	प्रेत और छाया	१९४५	१९४७
	निर्वासित	१९४६	१९४६
	मुक्तिपथ	१९५	१९५१
	जिप्सी	—	—
	सुबह के भूले	—	—
	जहाज का पंछी	१९५५	१९५५
सियारामशरण गुप्त	गोद	१९३२	१९३२
	अन्तिम आकांक्षा	१९३३	—
	नारी	१९३७	१९५१
	झूठ सच	१९३९	—
प्रतापनारायण श्रीवास्तव	विदा	१९२८	१९२८
	विकास	१९३८	१९४१
	विसर्जन	—	—

		प्र	सं
प्रतापनारायण श्रीवास्तव	बयालीस		
भगवतीचरण वर्मा	चित्रलेखा	१९४८	१९४८
	तीन वर्ष	१९३४	१९४७
	टेढ़े-मेढ़े रास्ते	?	१९४४
	आखिरी दाँव	१९४६	१९५४
राधिकारमणप्रसाद सिंह	राम रहीम	१९५	१९५
	गांधी टोपी	१९३७	१९३७
	पुरुष और नारी	१९३८	१९३८
	टूटा तारा	—	—
यशपाल	दादा कामरेड	—	—
	देशद्रोही	१९४१	१९५३
	पार्टी कामरेड	१९४२	१९५३
	दिव्या	१९४६	१९४७
	मनुष्य के रूप	१९४५	१९५६
	अमिता	१९४९	१९४९
सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	अप्सरा	१९५६	१९५६
	अलका	१९३९	१९३९
	प्रभावती	१९३३	१९३३
	निरुपमा	१९३६	१९३६
गोविन्दवल्लभ पन्त	मुक्ति के बन्धन	१९३६	—
	चक्रकान्त	—	—
	अनुरागिनी	—	—
	अमिताभ	—	—
	एक सूत्र	१९४६	१९४६
	नूरजहाँ	१९४६	१९४६
	प्रेमपथ	१९४९	१९४९
भगवतीप्रसाद वाजपेयी	मीठी चुटकी	१९२१	—
	अनाथ पत्नी	१९२८	—
	मुस्कान	१९२८	—
	त्यागमयी (नाम से)	१९२९	१९२९
	मालिमा	१९३२	१९३२
	प्रेमनिर्वाह	१९३४	—
	पतिता की साधना	१९३४	—
	पिपासा	१९३६	१९३६
	दो बहनें	१९३७	१९४४
		१९४	

		प्र	सं
भगवतीप्रसाद वाजपेयी	निमंत्रण	१९४२	१९४२
	गुप्तधन	१९५	—
	चलते-चलते	१९५१	१९५१
	पतवार	?	?
	मनुष्य और देवता	१९५४	१९५४
	यथार्थ से आगे	१९५५	१९५५
उषादेवी मित्रा	वचन का मोल	१९३६	?
	पिया	१९३७	१९३७
	जीवन की मुस्कान	१९३९	१९४४
	पथचारी	?	१९४९
	नष्ट नीड़	१९५५	१९५५
उपेन्द्रनाथ 'अश्क'	सितारों का खेल	१९४	१९५२
	गिरती दीवारें	१९४६	१९४६
	गरम राख	१९५२	१९५२
	बड़ी बड़ी आँखें	१९५४	१९५४
उदयशंकर भट्ट	सागर लहरें और मनुष्य	?	?
	नये मोड़	?	?
रांगेय राघव	घरौंदे (लि० १९४१)	१९४६	१९४६
	अँधेरे की भूख	१९३८	१९५५
	विषाद मठ	१९४६	१९४६
	मुर्दों का टीला (लि० १९४६)	१९४८	१९५५
	अँधेरे के जुगनू	१९५३	१९५३
	चीवर	—	—
	उबाल	—	—
	सीधा-सादा रास्ता (लि० १९५१)	१९५५	१९५५
रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'	चढ़ती धूप	१९४५	—
	उल्का	१९४७	—
	नयी इमारत	१९४७	?
	मरु प्रदीप	१९५१	१९५१
अज्ञेय	शेखर: एक जीवनी (प्र० भाग)	१९४	१९५५
	शेखर: एक जीवनी (द्वि० भाग)	१९४४	१९५३
	नदी के द्वीप	१९५१	द्वितीय
हजारीप्रसाद द्विवेदी	बाणभट्ट की आत्मकथा	१९४६	१९५४
धर्मवीर भारती	गुनाहों का देवता	१९४९	१९४९

		प्र	सं
धर्मवीर भारती	सूरज का सातवाँ घोड़ा	१९५२	१९५२
प्रभाकर माचवे	परन्तु	—	—
	साँचा	१९५५	१९५५
विष्णु प्रभाकर	ढलती रात	?	—
	„ निशिकान्त (नाम से)	१९५५	१९५५
	तट के बन्धन	१९५५	१९५५
मन्मथनाथ गुप्त	अवसान	?	?
	दुश्चरित्र	?	?
	चमकी	?	?
	बलि का बकरा	?	?
	होटल दि ताज	?	?
	अंधेर नगरी	?	?
मित्रबन्धु	पुष्यमित्र	—	—
	उद्यम	—	—
राहुल सांकृत्यायन	जीने के लिए (लि १९११)	१९४	१९४८
	सिंह सेनापति	१९४२	१९४९
	विस्मृति के गर्भ में (लि १९२३-२४)	१९४५	१९४५
	सोने की ढाल (लि १९२३-२४)	१९३७	१९४६
	शैतान की आँख	१९४५	?
	मधुर स्वप्न	१९५	—
	जो दास थे	—	—
	अतमी के बच्चे	—	—
	राजस्थानी रनिवास (लि १९५२)	१९५३	१९५३
	विस्मृत यात्री (लि १९५१)	१९५५	१९५५
	जय यौधेय	१९५६	१९५६
देवेन्द्र सत्यार्थी	कठपुतली –	१९५४	१९५४
	रथ के पहिये	—	—
यज्ञदत्त शर्मा	इनसान	१९५१	१९५१
	महल और मकान	—	—
	मधु	१९५३	१९५३
	इनसाफ	१९५४	१९५४
	बदलती राहें	?	१९५४

		प्र	सं
भगवतीप्रसाद वाजपेयी	निमंत्रण	१९४२	१९४२
	वृन्दावन	१९५	—
	चलते-चलते	१९५१	१९५१
	पतवार	?	?
	मनुष्य और देवता	१९५४	१९५४
	यथार्थ से आगे	१९५५	१९५५
उषादेवी मित्रा	वचन का मोल	१९३६	?
	पिया	१९३७	१९३७
	जीवन की मुस्कान	१९३९	१९४४
	पथचारी	?	१९४९
	नष्ट नीड़	१९५५	१९५५
उपेन्द्रनाथ 'अश्क'	सितारों का खेल	१९४	१९५२
	गिरती दीवारें	१९४६	१९४६
	गरम राख	१९५२	१९५२
	बड़ी बड़ी आँखें	१९५४	१९५४
उदयशंकर भट्ट	सागर लहरें और मनुष्य	?	?
	नये मोड़	?	?
रांगेय राघव	घरौंदे (लि १९४१)	१९४६	१९४६
	अँधेरे की भूख	१९३८	१९५५
	विषाद मठ	१९४६	१९४६
	मुर्दों का टीला (लि १९४६)	१९४८	१९५५
	अँधेरे के जुगनू	१९५३	१९५३
	चीवर	—	—
	उबाल	—	—
	सीधा-सादा रास्ता (लि १९५१)	१९५५	१९५५
रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'	चढ़ती धूप	१९४५	—
	उल्का	१९४७	—
	नयी इमारत	१९४७	?
	मरु प्रदीप	१९५१	१९५१
अज्ञेय	शेखर एक जीवनी (प्र भाग)	१९४	१९५५
	शेखर एक जीवनी (द्वि भाग)	१९४४	१९५३
	नदी के द्वीप	१९५१	द्वितीय
हजारीप्रसाद द्विवेदी	बाणभट्ट की आत्मकथा	१९४६	१९५४
धर्मवीर भारती	गुनाहों का देवता	१९४९	१९४९

		प्र	स
धर्मवीर भारती	सूरज का सातवाँ घोड़ा	१९५०	१९५२
प्रभाकर माचवे	परन्तु	—	—
	साँचा	१९५५	१९५५
विष्णु प्रभाकर	ढलती रात	?	—
	" निशिकान्त (नाम से)	१९५५	१९५५
मन्मथनाथ गुप्त	तट के बन्धन	१९५५	१९५५
	अवसान	?	?
	पुरुषसिंह	?	?
	चक्की	?	?
	बलि का बकरा	?	?
	होटल दि ताज	?	?
	भंवर भंवरी	?	?
मिश्रबन्धु	पुष्यमित्र	—	—
	उदयन	—	—
राहुल सांकृत्यायन	जीने के लिए (लि १९३९)	१९४	१९४८
	सिंह सेनापति	१९४२	१९४९
	विस्मृति के गर्भ में (लि १९२३-२५)	१९४२	१९४२
	सोने की ढाल (लि १९२३-२५)	१९३७	१९४६
	शैतान की आँख	१९४२	?
	मधुर स्वप्न	१९५	—
	जो दास थे	—	—
	सतमी के बच्चे	—	—
	राजस्थानी रनिवास (लि १९५२)	१९५३	१९५३
	विस्मृत यात्री (लि १९५३)	१९५५	१९५५
	जय यौधेय	१९५६	१९५६
देवेन्द्र सत्यार्थी	कठपुतली	१९५४	१९५४
	रथ के पहिये	—	—
...दत्त शर्मा	इनसान	१९५१	१९५१
	महल और मकान	—	—
	मधु	१९५३	१९५३
	इनसाफ	१९५४	१९५४
	बदलती राहें	?	

		प्र	सं
यज्ञदत्त शर्मा	अन्तिम चरण	—	—
	कुम्भिया की धाती	१९५४	१९५४
	दीवान रामदयाल	१९५१	१९५१
नागार्जुन	रतिनाथ की चाची	१९४८	१९५१
	बलचनमा	—	—
	बाबा बटेसरनाथ	—	—
	नई पौध	१९५१	१९५१
फणीश्वरनाथ रेणु	मैला आँचल	१९५४	१९५७
	परती परिकथा	१९५७	१९५७
गुरुदत्त	भावुकता का मूल्य	१९५	१९५
	माया जाल	?	?
	स्वाधीनता के पथ पर	?	?
हंसराज रहबर	कुण्ठा	१९५५	१९५५
	कंकर (मि १९५४)	१९५१	१९५१
अमृतराय	बीज	१९५१	१९५१
डा देवराज	पथ की खोज	—	—
लक्ष्मीनारायण लाल	बया का घोंसला और साँप	१९५१	१९५१
जनार्दन मुक्तिदूत	मथुरा उपन्यास	१९५१	१९५१
शिवप्रसाद मिश्र	बहती गंगा	१९५२	१९५२

नामानुक्रमणिका

ई

उ

झ

म

प

फ

म

● ● ○

• • •

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४८	१	पश-अपश	परा-अपरा
५७	११	चन्द्रावती	चन्द्रावली
५८	११	घटनाचक्र	जिस घटनाचक्र
६७	७	बिखरे	निखरे
८६	१७	आकर्षक	आकर्षण
१२	३१	उपन्यासों	उपन्यास
११३	१२	प्रेमचन्द के	प्रेमचन्द के बाद के
२२१	१	मत्स्यजावियों	मत्स्यजापियों
२१६	१४	मापा	माना
२४३	६	मही प्रथा	पर्दा प्रथा
२५२	२६	परिच्छेद	परिच्छेद
२७२	२६	इडियम	इडियस
२८८	१५	शान्ति	शक्ति
३१४	३१	तुमने	तुम
३१५	२८	नम्रता	नम्नता
३२३	२४	कलाकार प्रतिबिम्ब	कलाकार प्रतिबिम्ब
३२४	२	प्रभावोत्पन्न	प्रभावोत्पादन
३३५	१	उपभोग	उपयोग
३५२	३४	(रिक्त स्थान में पढ़ें)	४ Realism means that we make.
३५४	७	मानव-जीवन का	मानव-जीवन को
३५४	८-९	मनुष्य का	मनुष्य को
३५४	१	परिस्थितियों से	परिस्थितियों को
३५४	२६	Studies inng	Studies in a Dying
३५४	३८	Gaudwell	Caudwell
३६२	३२	अनुच्छेद की	अनुच्छेद १८४ की
३६२	२५	दर्शन	दर्शन
३६८	९	रहती है	रहते हैं
३६४	१२	होमा	हावे
४ १	११	जरोप	यरोप
४ ५	१७	वाजपेयीजी के	वाजपेयीजी का